UNIVERSAL LIBRARY

OU_186641

UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

ll No. H301/G97M Accession No. H

thor गुप्त, रघुराज,

le मानव समाज। 1956

This book should be returned on or before the date last marked below.

मानव समाज

लेखक

रघुराज गुप्त

भूतपूर्व रिसर्च एसोशियेट, कार्नेल विश्वविद्यालय
और लैक्चरर, डी० ए० वी० कालेज देहरादून

भा र ती भ व न

पुराना नाला, देहरादून

प्रकाशक
राजेन्द्र बंसल एम० ए०
नारायण बिल्डिंग,
६३, कांवली रोड,
देहरादून ।

सर्वाधिकार लेखक द्वारा संरक्षित
पहला संस्करण १९५६
मूल्य दस रुपये

Checked 1969

मुद्रक
हकूमतलाल
विश्व भारती प्रेस
देशबन्धु गुप्ता रोड,
पहाड़गंज, नई दिल्ली।

भूमिका

सभी समझदार विचारक आज यह अनुभव करते हैं कि विभिन्न शैक्षणिक, नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक और अन्य सामाजिक समस्याओं को एकान्ततः नहीं सुलझाया जा सकता। एक ऐसे विज्ञान और विश्लेषणयन्त्र की आवश्यकता है, जो सिर चकरा देने वाली विभिन्नताओं और अन्तरों तथा विरोधी विचारों और संकीर्ण दृष्टिकोणों का संग्रह और एकीकरण, विश्लेषण और संश्लेषण करके विस्तृत और संतुलित धारणाओं को प्रस्तुत कर सके।

प्रस्तुत पुस्तक में समाजशास्त्र के समस्त पहलुओं का विशद विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है तथा पिछले तीस सालों में इससे सम्बद्ध जो गम्भीर और महत्त्वपूर्ण गवेषणाएं हुई हैं, विभिन्न निष्कर्षों पर पहुंचने में उनकी भरपूर सहायता ली गई है। खेद की बात है कि हमारे देश में इस सम्बन्ध में बहुत कम कार्य हुआ है। परिणामतः, हमे समस्त उदाहरणों के लिए विदेशों का ही मुंह ताकना पड़ता है, मानो कि हमारे यहां कोई समाज और सामाजिक-व्यवहार ही नहीं है। विदेशी समाजों पर आधारित परिणाम, जिनका सांस्कृतिक ढांचा और आदर्श हमसे पर्याप्त भिन्न हैं, हमारे देश पर अक्षरशः लागू नहीं हो सकते। ऐसी अवस्था में यह उचित है कि हम समाजशास्त्र का अध्ययन करते समय उन्हें समझने के लिए और उनकी व्याख्या करने के लिए अधिकाधिक भारतीय उदाहरणों का प्रयोग करें। तुलना के लिए अथवा देशीय आंकड़ों और विश्वसनीय तथ्यों के अभाव में, विदेशी उदाहरणों, आंकड़ों और तथ्यों का प्रयोग सर्वथा युक्ति-संगत है। इस पुस्तक में सर्वत्र यथासंभव भारतीय उदाहरण देने की चेष्टा की गई है।

समाजशास्त्र एक अत्यन्त रोचक और उपयोगी विषय है, जिसका ज्ञान समाज के प्रत्येक शिक्षित सदस्य के लिए अनिवार्य है। पर यह एक बहुत ही नया विज्ञान है, जो कि अभी विकसित और निरन्तर संवर्धित हो रहा है। जर्मनी, फ्रांस, इटली और अमरीका में इसने विभिन्न रूप धारण किये हैं, विभिन्न प्रवृत्तियों का सूत्रपात किया है, विभिन्न प्रकार से वहां के सामाजिक जीवन और उसके नेताओं को प्रभावित और आकर्षित किया है। इसलिये समाजशास्त्र के सिद्धान्तों, समाज-शास्त्र की प्रणालियों और उद्देश्य के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। यही

नहीं, एक ही देश के महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथ्यों, उनके विश्लेषण और समाधान के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की पृथक्-पृथक् सम्मतियां हैं। अन्य सामाजिक विज्ञानों की भांति इसकी भी अनेक भ्रान्तियां और च्युतियां, टोटके और अन्धविश्वास, ओझे और मसीहा हैं। ऐसी स्थिति में समाजशास्त्र के अध्ययन मे अति सावधानी और समझदारी की जरूरत है, ताकि हम अनजाने में ही किन्ही भ्रान्त तथ्यों और सिद्धान्तों को वैज्ञानिक सत्य के नाम पर न अपना लें। इस पुस्तक में इस बात का ध्यान रखा गया है कि पाठकों के सम्मुख विभिन्न दृष्टिकोणों को पक्षपातरहित होकर प्रस्तुत किया जाय, उनका विश्लेषण करके कुछ संतुलित और संश्लेषणात्मक परिणामों पर पहुंचा जाय, और साथ ही पाठकों को अपने निजी निष्कर्ष निकालने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय।

अन्त में उन सभी व्यक्तियों का, जिनसे कि मुझे इस पुस्तक को तैयार करने मे सहयोग मिला है, धन्यवाद करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं। पहले संस्करण के 'आनुवंशिकता और वातावरण' तथा समूह और 'सामूहिक व्यवहार' शीर्षक अध्यायों का ड्राफ्ट मेरे मित्र श्री सुरेन्द्रमोहन ने तैयार किया है। मित्र प्रो० हरिदत्त से परिवार और विवाह विषयक अध्याय को सुधारने और नई सूचनाएं जोड़ने में सहयोग मिला है। सही, सुबोध और उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों के घड़ने में उनका मुख्य हाथ रहा है।

प्रिय बन्धु इन्द्रराज पाल तथा मेरे पिता श्री धनराज विद्यालंकार ने मूल्यवान सामयिक सहायता प्रदान की है। इसके मुद्रण का श्रेय मेरे आदरणीय मित्र श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' को है, जिन्होंने स्नेहवश मेरे लिए अत्यधिक कष्ट उठाकर वर्तमान रूप में नया संस्करण प्रस्तुत करना सम्भव बनाया है। मै उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

नई दिल्ली
१५ दिसम्बर १९५५

रघुराज गुप्त

विषय-सूची

१.	समाजशास्त्र की विषयवस्तु	१
२.	प्राथमिक परिभाषाएं	३७
३.	प्राणिक विकास	४५
४.	मनुष्य की नस्लें	५४
५.	आनुवंशिकता और वातावरण	६३
६.	परिस्थिति-शास्त्र और भौगोलिक वातावर	८३
७.	ग्राम और नगर समुदाय	१२४
८.	समूह और सामूहिक व्यवहार	१६१
९.	संस्कृति	२१४
१०.	संस्कृति और व्यक्तित्व	२३७
११.	संस्कृति का विकास	२४७
१२.	सांस्कृतिक परिवर्तन में बाधाएं	२६४
१३.	परिवार	२७३
१४.	धार्मिक संगठन	३०१
१५.	आर्थिक संगठन	३१६
१६.	राजनैतिक संगठन	३३५
१७.	क्रीड़ा, मनोरंजन और शिक्षा	३५६
१८.	सामाजिक परिवर्तन और विघटन	३७५
परिशिष्ट		
१.	भारत की नस्लें	३९५
२.	भारतीय संस्कृति का विकास	३९९
३.	हिन्दू समाज पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभा	४०७
४.	भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य प्रभाव	४१५
५.	भारत में जातिभेद और जातिवाद	४२५
६.	हिन्दू मुस्लिम विवाह	४३३
७.	हिन्दू मुस्लिम संस्कार	४४०
	सहायक शब्द कोष	४४५
	सहायक ग्रन्थ सूची	४५५

मानव समाज

पहला अध्याय

समाजशास्त्र की विषयवस्तु

SUBJECT MATTER OF SOCIOLOGY

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। हम सब अपने पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए किसी न किसी समाज का अंग बनते हैं। इसीलिए मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी कहा गया है। पर कोई भी मनुष्य एक-सी परिस्थितियों में जन्म नहीं लेता। उसे विभिन्न वातावरणों मे रहना पड़ता है। वह विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है, विभिन्न सम्बन्धों की स्थापना करता है, विभिन्न समस्याओं को जन्म देता है। इन समूहों, सम्बन्धों और समस्याओं और उनसे सम्बन्धित विषयों का अध्ययन अपने आप जहाँ अत्यन्त रोचक है, वहाँ अत्यन्त उपयोगी भी है।

समाज और उसकी संस्थाओं का वैज्ञानिक अध्ययन केवल व्यक्तिगत मान्यताओं, पसंदगी और नापसंदगी के आधार पर करना कभी भी वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। उसके लिए यह जरूरी है कि हम एक वैज्ञानिक, निष्पक्ष और तटस्थ दृष्टिकोण को अपनाएं। वर्गीय, जातीय या राष्ट्रीय दृष्टिकोण हमे इस दिशा में आगे नहीं ले जा सकते।

पिछले दो सौ सालों में मनुष्य ने भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में असाधारण उन्नति की है, पर समाज के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर उसका ध्यान काफी देर में गया है। किन्तु आज बड़े से बड़े भौतिक क्षेत्र में गवेषणा करने वाले वैज्ञानिक भी मानव सम्बन्धों के वैज्ञानिक अध्ययन पर ज़ोर दे रहे हैं। मनुष्य विज्ञान से बड़ा है। उसके आदर्श, आवश्यकताएं सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। विज्ञान स्वयं एक सामाजिक वस्तु है। वैज्ञानिक ज्ञान और मानवीय ज्ञान के बीच संतुलन स्थापित करना आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है।

समाजशास्त्र मुश्किल से सौ साल पुराना शास्त्र है। न तो उसकी विषय वस्तु ही और न ही उसकी परिभाषाएं अभी तक एक सर्वमान्य रूप धारण कर सकी हैं। फ़िर भी उस दिशा में प्रयत्न जारी है और उसमें पर्याप्त सफलता भी मिली है।

समाजशास्त्र के अध्ययन में सबसे पहले उसके विषयक्षेत्र को समझना आवश्यक हो जाता है। अन्य सामाजिक विज्ञानों से उसके सम्बन्ध और भेद और उसकी अध्ययन पद्धतियों से जानकारी भी जरूरी है।

समाजशास्त्र की विषयवस्तु

पीत्रिम सोरोकिन के मत में "समाजशास्त्र सामाजिक तथ्यों के उन पहलुओं और उनके सम्बन्धों में दिलचस्पी रखता है जो कि समय, काल अथवा दोनों में दोहराये जाते हैं, जो कि परिणामतः कुछ एकरूपता, स्थिरता, और विचत्रिता प्रदर्शित करते है। ऐतिहासिक विज्ञान द्वारा अध्ययन किये अनुपम तथ्य एक विशिष्ट व्यक्ति, संस्था, सामाजिक वस्तु, विशिष्ट अवस्थाओं के सामाजिक पुंज (Constellation) का व्यक्तिगत चित्र आंकते है; समाजशास्त्र या तो एक काल्पनिक गुर देता है (जो कि परिमाणतः अथवा अन्य प्रकार से एक दुहराई एकरूपता या विभिन्नता की तीव्रता है) या किन्हीं दो अथवा अधिक समाजी परिवर्तनों या एक विशिष्ट प्रकार के दुहराये हुए सामाजिक तथ्य की मिलिप फोटोग्राफी के नमूने का वर्णन करता है। यह अन्तर समाजशास्त्र को अन्य ऐतिहासिक सामाजिक विज्ञानों से स्पष्टतः विभक्त व पृथक् कर देता है।

"वह बुनियादी तथ्य अच्छी तरह समझ लेने पर सामान्य और साथ ही विशिष्ट समाजशास्त्रों की प्रकृति सरलता से समझी जा सकती है। ऐसी अवस्थाओं में सामान्य समाजशास्त्र का कार्य स्पष्ट ही और कुछ न होकर, केवल उन गुणों और सम्बन्धों का अध्ययन करना है, जो कि समस्त सामाजिक तथ्यों के लिए समान है। समस्त सामाजिक तथ्यों में समान होने का अर्थ जहाँ-कहीं और जब कभी भी सामाजिक तथ्य मौजूद हों, वहाँ मौजूद होना है, या किसी भी समय और कहीं पर भी, जहाँ कहीं भी कोई सामाजिक तथ्य दिया हुआ हो, दोहराया जाना है। इस विषय-वस्तु से सामान्य समाजशास्त्र मूलतः अन्य सामाजिक विज्ञानों से पृथक् होता है। जब तक कि वे विशिष्ट सामाजिक विज्ञान रहते हैं, उनमें से कोई भी इस समस्या का अध्ययन नहीं करता और न ही कोई इस समस्या का अध्ययन करने के योग्य ही होता है। इनमें प्रत्येक सामाजिक विज्ञान सामाजिक तथ्य की एक विशिष्ट किस्म का ही अध्ययन करता है। अर्थशास्त्र आर्थिक किस्म का, राजनीतिशास्त्र राजनैतिक किस्म का, अस्तु। किन्तु जहां तक यह सब किस्में सामाजिक तथ्य की उस सामान्य श्रेणी की उप-किस्में हैं, उनके विशिष्ट गुणों और सम्बन्धों के साथ-साथ उन सबों में कुछ समान गुण और सम्बन्ध होने चाहिएं, अन्यथा वह तथ्यों की श्रेणी में नहीं आ सकते और समाज-विज्ञानों के समान नाम से घोषित नहीं किए जा सकते। क्रम-प्रणाली द्वारा सामाजिक तथ्यों की विभिन्न किस्मों के निम्न तत्वों और सम्बन्धों को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है:—

आर्थिक : अ, ब, स, न, म, फ, इ
राजनैतिक : अ, ब, स, ह, उ, ज, प
धार्मिक : अ, ब, स, ग, ई, क, र   और इसी तरह

"यह मानकर कि सामाजिक तथ्यों की अन्य सब किस्मों में यही समान तत्व और सम्बन्ध अ, ब, स, मौजूद है, यह अ, ब, स, सामान्य समाजशास्त्र का क्षेत्र बनायेंगे। इन समान तत्वों और सम्बन्धों का पृथक्करण, वर्णन, विश्लेषण और वर्गीकरण समाजशास्त्र का विवेच्य विषय है। इस क्षेत्र का अन्य समाज-विज्ञानों द्वारा अध्ययन नहीं किया जाता। यदि केवल एक किस्म में प्राप्त गुणों (उदाहरण के लिए पौधों के विशिष्ट गुणों) को तथ्यों की समस्त श्रेणी पर लागू किया जाय, तो सिद्धान्त अपर्याप्त और भ्रान्त होगा। इसके विपरीत, यदि प्रत्येक विशिष्ट विज्ञान, जो कि एक विशिष्ट प्रदत्त श्रेणी के तथ्यों से सम्बद्ध है, समग्र श्रेणी में समान गुणों को दोहराता है, उसका यह अध्ययन प्रयत्न की बचत की दृष्टि से अपर्याप्त और अत्यन्त बेकार होगा।

"इससे पहले कि मैं विशिष्ट समाजशास्त्र की ओर जाऊं एक टिप्पणी जरूरी है। बहुत से लोग सामान्य समाजशास्त्र की उपर्युक्त कल्पना को अस्पष्ट समन्वयात्मक दार्शनीकरण (Philosophising) से मिला देते हैं। वे सोचते हैं कि समाजशास्त्र की ऐसी कल्पना इसे एक विशिष्ट विज्ञान नहीं बनाती, बल्कि एक 'समन्वयात्मक खिचड़ी' या समस्त समाज-विज्ञानों का विश्वकोष बना देती है। मैं बलपूर्वक कहूंगा कि ऐसा परिणाम सर्वथा गलत है।"

उपर्युक्त विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वह लक्षण, गुण और सम्बंन्ध जो कि समस्त समाजिक तथ्यों के लिए समान है, सामान्य समाजशास्त्र के अध्ययन का उचित विषय है। यह अध्ययन एक व्यावहारिक और वैज्ञानिक रूप धारण कर लेता है, जब कि यह क्रियायें उन शब्दों में व्यक्त की जा सकें, जिनके आधार पर हम ठोस परिस्थितियों (Cases) में मानवीय व्यवहार की भविष्योक्ति कर सकें। भविष्योक्ति (Prediction) सामान्य समाजशास्त्र के अध्ययन का अभिन्न अंग है।

विभिन्न लेखकों ने समाजशास्त्र की विभिन्न परिभाषाएं दी हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

"समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।" —वार्ड

"समाजशास्त्र नाम उस प्रारम्भिक सामग्री को दिया जाता है जिसमें हमारा सामाजिक ज्ञान निहित है।" —आर्थर फेयर बैंक्स

"समाजशास्त्र मनुष्य का वह अध्ययन है जो कि संसर्ग से प्रभावित होता है और संसर्ग को प्रभावित करता है।" —स्माल

"समाज का वैज्ञानिक अध्ययन समाजशास्त्र है। ......समाजशास्त्र सामूहिक रूप से विकासवाद की प्रक्रिया में संलग्न भौतिक, प्राणिक और मानसिक कारणों द्वारा समाज के जन्म, विकास, ढांचे और क्रियाओं के वर्णन का प्रयत्न है।"—गिडिंग्स

"समाजशास्त्र समाज के उन तथ्यों का अध्ययन करता है जो कि मानवजाति के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं।" —ब्लैकमार और गिलिन

"सामाजिक तथ्यों का विज्ञान समाजशास्त्र है।" —रास

"मानव संसर्ग और जो कुछ उसे लाभ पहुंचाये या सुधारे, उसका अध्ययन समाजशास्त्र है।" —डीले और वार्ड

"समाजशास्त्र समूह में मनुष्यों के व्यवहार से सम्बद्ध है।" —किम्बाल यंग

"अपने-आप में सामाजिक सम्बन्ध समाजशास्त्र की विषयवस्तु है।" —मैकाइवर

"व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों का अध्ययन, एक-दूसरे के प्रति उनका व्यवहार, उनके मानदंड, जिनसे कि वे अपने व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं, समाजशास्त्र का विषय है।" —हिलर

"मनुष्य और उसके मानवीय वातावरण से सम्बद्ध अध्ययन समाजशास्त्र है।" —फेयर चाइल्ड

"उन मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन, जो कि सामाजिक वर्गों द्वारा समूहों में व्यक्तित्व को विकसित एवं परिपक्व करने का कार्य करती है, समाजशास्त्र का सार है।" —बोगार्डस

विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन. मौरिस जिन्सबर्ग के शब्दों में "विस्तृत अर्थों में समाजशास्त्र मानव अन्तःक्रियाओं, अन्तःसम्बन्धों, उनकी समस्याओं और परिणामों का अध्ययन है। आदर्शतः समाज में मनुष्य की समस्त क्रियाएं, जिनसे मनुष्य जीवन-संघर्ष में अपने को कायम रखते हैं, नियम और कायदे जो एक दूसरे से उसके सम्बन्धों की व्याख्या करते हैं, ज्ञान और विश्वास की प्रणालियां, कला और नैतिकता तथा एक समाज के सदस्य की हैसियत से प्राप्त, किंवा विकसित योग्यताएं और स्वभाव इसके अध्ययन के विषय हैं।"

उपर्युक्त आदर्श वास्तव में बहुत विस्तृत है। यह भी सही है कि कोई भी विज्ञान यदि मानव सम्बन्धों की प्रत्येक शाखा और उनकी अनन्त प्रशाखाओं के अध्ययन का प्रयत्न करे, वह जरा आगे नहीं बढ़ सकता। तब प्रश्न उठता है किस भांति इस क्षेत्र को परिसीमित किया जाए ?

विशेषात्मक और समन्वयात्मक दो दृष्टिकोण. इस प्रश्न के दो प्रकार से उत्तर दिये गये है, जिन्होंने समाजशास्त्र के क्षेत्र के विषय में दो विभिन्न कल्पनाओं को जन्म दिया है। एक लेखक-वर्ग, प्रसिद्ध जर्मन समाजशास्त्री सांईमल जिसका अच्छा प्रतिनिधि है, समाज के अन्य विज्ञानों से पृथक् समाजशास्त्र की हद बांधने के लिए, उसे महत्वाकांक्षाओं के दोष से मुक्त करने के लिए तथा मानव सम्बन्धों के कुछ विशिष्ट पहलुओं में उसे सीमित करने के लिए बहुत व्यग्र है।

दूसरा वर्ग स्पष्टतः मानता है कि सामाजिक अन्वेषण का क्षेत्र किसी भी विज्ञान के लिए अति विस्तृत है। किन्तु वह इस बात पर जोर देता है कि विशिष्ट सामाजिक विज्ञानों, जैसे कि अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र, तुलनात्मक धर्म, तुलनात्मक विधि,(कानून) इत्यादि विज्ञानों के अतिरिक्त भी,एक सामान्य विज्ञान की जरूरत है, जिसका कार्य कि विशिष्ट विज्ञानों को एक दूसरे के निकट सम्पर्क मे लाना है; सामाजिक जीवन की सामान्य अवस्थाओं का मुकाबला करना है, जो कि अपनी सामान्यता के कारण अक्सर विशेषज्ञों द्वारा उपेक्षित रहती हैं। संक्षेप में, उसका कार्य सामाजिक जीवन को पूर्ण रूप मे देखना है।

समाजशास्त्र के स्पष्टतः निश्चित विशिष्ट ज्ञान की कल्पना तथा समाज-विज्ञानों के समन्वय की दृष्टि, दोनों पक्षों के ही पक्के समर्थक विद्यमान हैं। संक्षेप में, इन दोनों दृष्टिकोणों की समालोचना और विश्लेषण आवश्यक है।

विशेषात्मक अध्ययन के अग्रणी साईमल. पहले दृष्टिकोण को विभिन्न प्रकार से विकसित और प्रस्तुत किया गया है। इसमे से हम मुख्य का ही जिक्र करेंगे। साईमल का समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप और उनके विषय वस्तु के भेद पर आधारित है। उदाहरण के लिए, प्रतियोगिता, आज्ञापालन, श्रेणीबद्ध संगठन, श्रम विभाजन जैसे सम्बन्ध, हमें सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों, आर्थिक राजनैतिक, यहा तक कि धार्मिक, नैतिक और कलात्मक क्षेत्रों मे भी, दृष्टिगोचर होते है। सामान्य समाजशास्त्र का कार्य इन सामाजिक सम्बन्धों को अलग करना तथा परिवर्तित विषय या वस्तु जिसमें वह प्रकट होते हैं, उनका अमूर्त रूप (Abstraction) में अध्ययन करना है। इस दृष्टिकोण के अनुसार समाजशास्त्र तथा अन्य समाज-विज्ञानों में यही अन्तर है कि यह उन्हीं विषयों का जिक्र करता है जिनका कि वे, किन्तु सामाजिक सम्बन्धों के पृथक् रूपों के दृष्टिकोण से।

वीरकांदृत. बहुत कुछ इस प्रकार एक अन्य जर्मन समाजशास्त्री वीरकांदृत समाजशास्त्र को एक ऐसा विशिष्ट ज्ञान माना है, जो कि उन मानसिक बन्धनों के उन अंतिम स्वरूपो से सम्बद्ध है जो समाज में एक मनुष्य को दूसरे से मिलाते है। वास्तविक ऐतिहासिक समाज, उदाहरण के लिए, अठारहवी शती का फ्रांसीसी अथवा चीनी परिवार, केवल एक विशेष प्रकार के सम्बन्धों, उदाहरण के लिए, शक्ति अथवा निकटता की तीव्रता के उदाहरण के रूप में ही उपादेय हैं। किन्तु समाजशास्त्र को, यदि इसे अस्पष्टता और अनिश्चितता के आरोप से मुक्त होना है, तो किसी मूर्त समाज के यथार्थ और ऐतिहासिक अध्ययन का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। वीरकांदृत के अनुसार, इसका उद्देश्य मौलिक अन्तःपर्यवेक्षित विश्लेषण के द्वारा सामाजिक सम्बन्धों की कम-से-कम श्रेणियों, जैसे कि सम्मान, शर्म, प्रेम, यश, समर्पण, दूसरों की स्वीकृति के अनुभव के उस सूत्र को, जो व्यक्तियों और वर्गों को बांधता

है, प्राप्त करना है। इसी तरह संस्कृति का अध्ययन करते हुए, उसके अनुसार, सांस्कृतिक विकास की वास्तविक विषय वस्तु को ले इतिहासकार के साथ प्रतियोगिता नही करनी चाहिए। इसे अपने को परिवर्तन और स्थिरता (Persistence) की आधारभूत शक्तियों की खोज तक ही सीमित रखना चाहिए। केवल इन्हीं तरीकों से समाजशास्त्रीय अन्वेषण के विशिष्ट क्षेत्र को पृथक् किया जा सकता है!

मैक्स वैबर. समाजशास्त्र का इससे अधिक ठोस और ऐतिहासिक विवेचन अन्य जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वैबर का है, यद्यपि वह भी समाजशास्त्र के लिए एक विशिष्ट क्षेत्र निश्चित करने के लिए उत्सुक है। समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक व्यवहार की व्याख्या करना अथवा उसे 'समझना' है। सामाजिक व्यवहार मानव सम्बन्धों के समस्त क्षेत्र को नही ढक लेता। यह वह कर्म है, जो कि कर्त्ता की इच्छा में दूसरों के व्यवहार द्वारा सम्बद्ध और निर्धारित है। किसी भौतिक वस्तु के प्रत्याशित व्यवहार से प्रेरित कर्म सामाजिक नही है। वस्तुतः समस्त मानवीय अन्तःक्रियाएं सामाजिक नही है। उदाहरण के लिए, दो साइकिल सवारो के बीच टक्कर, जब कि एक-दूसरे के मन मे पहले से ही एक-दूसरे के व्यवहार के प्रति कोई पूर्वधारणा नहीं है, एक प्राकृतिक घटना है, किन्तु उनके एक-दूसरे को बचाने के प्रयत्न, या घटना होने के पश्चात् उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा, असल सामाजिक व्यवहार है। समाजशास्त्र इस प्रकार के व्यवहार की सम्भावनाओं और अवसरों में दिलचस्पी रखता है। समाजशास्त्र के नियम दृश्य अनुभव पर आधारित सम्भावनाओं या आंकड़ों द्वारा स्थापित उस सामाजिक व्यवहार, के परिणाम है, जिसकी कि व्याख्या की जा सकती है, अर्थात् जो कि समझा जा सकता है।

विशेषात्मक दृष्टिकोण की कमियां

केवल अमूर्त (Abstract) **में अध्ययन का कोई लाभ नहीं.** सामाजिक सम्बन्धों के नमूनों का विश्लेषण और श्रणी विभाजन समाजशास्त्रीय अन्वेषण का अभिन्न अंग है। यद्यपि इसमे अवश्य संदेह है कि आया वह, जैसा कि उसके समर्थकों का दावा है, समाजशास्त्र और अन्य समाज-विज्ञानो के सम्बन्ध की समस्या को हल कर देता है। चूंकि सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन, यदि वह जीवन के उन ठोस पहलुओ के जिनसे कि वह सम्बद्ध है, समुचित ज्ञान के बिना, केवल अमूर्त रूप मे किया जाता है तो वह एक दम निकम्मा रहेगा। उदाहरण के लिए, प्रतियोगिता के अध्ययन से बहुत थोड़ा ही लाभ होगा, जब तक कि हम आर्थिक जीवन अथवा कला और विज्ञान के क्षेत्र मे उसकी अभिव्यक्ति का अनुगमन नहीं करते। ऐसा भी हो सकता है कि सामाजिक सम्बन्ध जीवन के विभिन्न क्षे में विभिन्न तथ्यों पर आधारित है। उदाहरण के लिए, पराधीनता की परिवार. सम्प्रदाय और राज्य में विभिन्न कैफियत है। वाकई यह सत्य है कि नही,

इन संस्थाओं के विस्तृत ज्ञान क बिना नहीं परखा जा सकता। इस भाति हमें समाजशास्त्र के इस दृष्टिकोण में कि यह सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है, विस्तार करने की जरूरत है। विभिन्न विशिष्ट समाजशास्त्रों को, जो कि संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों, जैसे कि धर्म के, कला के, कानून के, ज्ञान के समाजशास्त्र में प्रकट हुए हैं, उन्हें उसमें जोड़ने की जरूरत है। किन्तु तब फिर हमारे सामने इन विशिष्ट समाजशास्त्रों की अधिक सामान्य और सिलसिलेवार समाजशास्त्र के साथ सम्बन्ध की समस्या ज्यों की त्यों रह जाती है। क्या इस तरह हम फिर दुबारा समाजशास्त्र के विश्वकोषीय या (Synoptic) दृष्टिकोण पर नही लौट आते ?

समग्र रूप में अध्ययन आवश्यक. इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हमे समाजशास्त्र के इस दूसरे दृष्टिकोण पर विचार कर लेना चाहिए। यह बात सर्वस्वीकृत है कि सामाजिक जीवन के समस्त भाग परस्पर घनिष्ठतया सम्बद्ध और गुंथे हुए है। यदि समाज एक शरीर नही है, तो भी इसके स्वभाव में कुछ न कुछ शारीरिक तत्व इस अर्थ में विद्यमान है कि इसके भाग साथ-साथ काम करते है तथा किसी एक कोने मे हुए परिवर्तन सम्पूर्ण समाज पर प्रभाव डालते है। अतः यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि समाजों का अध्ययन समग्र रूप मे हो, और उसके विभिन्न तत्वों की अन्तःक्रियाओं के स्वभाव को समझा जाय। विशेषज्ञ स्वभावत: सामाजिक जीवन के उस पहलू की प्रधानता का दावा करता नजर आता है, जिससे कि वह विशषत: संबंधित है। उदाहरणार्थ, राजनीति का विद्यार्थी राज्य को समाज से मिला देता है, अर्थशास्त्री समस्त सामाजिक परिवर्तनों में आथिक कारणो को देखता है, धर्म और नैतिकता का इतिहासकार धार्मिक और नैतिक विश्वासों को निर्णायक श्रेय प्रदान करता है, प्राकृतिक विज्ञानों का विद्यार्थी बौद्धिक और यान्त्रिक विकास मे सामाजिक परिवर्तनों को खोजता है। किन्तु सामाजिक जीवन के इन तत्वो के अन्तःसंबंध सूक्ष्म व्यावहारिक और तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ही निर्धारित किए जा सकते है। ऐसा अध्ययन अक्सर उन विशेषज्ञो द्वारा नही किया जाता जो कि संस्कृति के किसी एक भाग से सम्बद्ध होते है। अतएव स्पष्ट ही एक सामान्य और सिलसिलेवार समाजशास्त्र की आवश्यकता है, जो कि विभिन्न विशेषज्ञो के परिणामों से लाभ उठा, विशेषत. उनके अन्त:सम्बन्धों से सम्बद्ध होता है तथा सामाजिक जीवन की समग्र रूप में व्याख्या करने की कोशिश करता है।

समग्र रूप मे अध्ययन के समर्थक दुरखाइम और हाबहाउस की पुष्टि. समाजशास्त्र की यह कल्पना प्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक दुरखाइम और अंग्रेजी विचारक हाबहाउस के विचारों की पुष्टि करती है। दुरखाइम के अनुसार समाजशास्त्र के तीन प्रमुख विभाग है, जिन्हें कि उसने सामाजिक स्वरूपशास्त्र (Morphology), सामाजिक शरीरक्रिया (Physiology) और सामान्य समाजशास्त्र का नाम

दिया है। सामाजिक स्वरूपशास्त्र जनता के भौगोलिक और प्रादेशिक जीवन के आधार तथा सामाजिक संगठन के नमूनों से उसके सम्बन्ध और जन-संख्या की समस्याओं, जैसे कि संख्या और घनत्व, स्थानीय वितरण, इत्यादि से सम्बद्ध होता है। सामाजिक शरीरक्रिया अत्यन्त जटिल है और उसे विभिन्न शास्त्रों, जैसे कि धर्म के, नैतिकता के, कानून के, आर्थिक जीवन के और भाषा के समाजशास्त्र मे, जिनका कि वर्तमान मे समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन किया जा रहा है, विभक्त करना होता है। यह सब इन अर्थो मे समाजशास्त्र की शाखाए है कि इनमे से प्रत्येक एक सामाजिक तथ्यों के सेट का, अर्थात् उन क्रियाओं का, जो कि सामाजिक समूहों से सम्बद्ध तथा पोषित है, विचार करती है। समाजशास्त्र का कार्य इन तथ्यों के सामान्य लक्षणों को खोजना है, अर्थात् इस बात का निर्धारण करना है कि सामाजिक तथ्य किससे बनता है, और क्या कोई ऐसे सामान्य सामाजिक नियम ह, जिनके कि अन्य सामाजिक विज्ञानों द्वारा स्थापित नियम विशेष अभिव्यक्तिया है। इसे दुरखाइम समाजशास्त्र का दार्शनिक भाग मानता है और वह यह भी मानता है कि समन्वय का मूल्य विश्लेषण की विश्वसनीयता पर, जिसका कि वह परिणाम है, निर्भर करता है। विश्लेषण का कार्य, अर्थात् विशेषो का विकास इस समय समाजशास्त्र का बहुत मुख्य कार्य है।

हाबहाउस के परिणाम दुरखाइम से बहुत भिन्न नहीं है। उसके लिए आदर्शतः समाजशास्त्र विभिन्न समाज-विज्ञानों का समन्वय है। किन्तु एक समाजशास्त्री का मुख्य कार्य दोहरा है। प्रथमतः, एक विशेषज्ञ की हैसियत से उसे समाज के एक विशेष भाग मे अपने अध्ययन को जारी रखना चाहिये, किन्तु द्वितीयतः और अधिक सामान्य रूप से, सामाजिक अन्तःसम्बन्धों को ध्यान मे रखते हुए, केन्द्रीय कल्पनाओं की विवेचना द्वारा, जिससे कि ऐसा समन्वय आगे बढ़े, अन्तिम समन्वय के लिए जमीन तैयार करना है। सामाजिक सम्बन्धों के सामान्य लक्षणों के विश्लेषण स्थायित्व और और परिवर्तन, सामाजिक विकास, की प्रकृति और अवस्थाओं के अध्ययन द्वारा ही यह संभव है।

विशिष्ट अध्ययन और समन्वय दोनों ही आवश्यक. ऊपर वर्णित समाजशास्त्र के विरोधी विचारों की सूक्ष्म परीक्षा से यह प्रकट होता है कि मूलतः इनके बीच कोई विरोध नही है। वस्तु जगत् से दूर कल्पनालोक में सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन निर्विवाद रूप से ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा उनके परिणामों की जाँच की ओर अग्रसर होता है, और यह सामाजिक अन्वेषण के विभिन्न विशेषज्ञों द्वारा ही सफल हो सकता है। जिसे कि हम सामान्य अथवा सिलसिलेवार समाजशास्त्र कहते हैं, एक शुष्क और निर्जीव श्रेणियों की सूची नहीं है, किन्तु उसे इतिहास, मानवशास्त्र और सामाजिक संस्थाओं के साथ सम्बन्ध स्थापित कर अपनी जीवन-शक्ति

का प्रमाण देना चाहिये। समन्वय और ब्योरेवार या विशिष्ट अध्ययन दोनों ही जरूरी है और साथ-साथ चल सकते हैं। इस माने में समाजशास्त्र उन विज्ञानों से जो कि जीवित प्राणियों से सम्बद्ध है बहुत मिलता है। उदाहरण के लिए प्राणिशास्त्र (Biology) विभिन्न विज्ञानों का, जिनमे से हर एक ही बहुत विशिष्ट है, एक सग्रह है। पर कोई इन्कार नही करता कि जीवन की अवस्थाओं का एक विकासमान ज्ञान सामान्य प्राणिशास्त्र नही है। इसी तरह समाजशास्त्र में सामाजिक जीवन के टुकड़ों से सम्बद्ध बहुत-से विशिष्ट ज्ञान हैं। इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र को समाज-विज्ञानो के समग्र समूह से मिलाया जा सकता है। अन्य अर्थो मे यह अपने आप मे विशिष्ट शास्त्र है जिसका लक्ष्य दूसरे विज्ञानों के बीच कड़ियों का खोजना तथा सामाजिक सम्बन्धों के सामान्य लक्षणों का वर्णन करना है।

समाजशास्त्र के मुख्य कार्य

अब हम संक्षेप मे समाजशास्त्र के प्रमुख कार्यों को गिना सकते हैं।

१. सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप निर्धारण. यह सामाजिक सम्बन्धों, विशेषकर उनके, जो कि संस्थाये अथवा समितिया कही जा सकती है, स्वरूपों या नमूनो का वर्गीकरण और स्वरूप निर्धारित करता है।

२. उनके आपसी पहलुओं व सम्बन्धों का निर्धारण. यह सामाजिक जीवन के भागो और पहलुओ, उदाहरण के लिए, आर्थिक और राजनैतिक, नैतिक और धार्मिक, नैतिक और कानूनी, बौद्धिक और सामाजिक तत्वो के आपसी सम्बन्धों को निश्चित करने का प्रयत्न करता है।

३. सामाजिक परिवर्तन की समस्याओं का समाधान. यह सामाजिक परिवर्तन और स्थिरता की मूलभूत अवस्थाओं को सुलझाने की चेष्टा करता है। चूंकि सामाजिक सम्बन्ध व्यक्तियो के स्वभाव और (क) एक दूसरे से उनके सम्बन्धों, (ख) समुदाय (Community)से उनके सम्बन्धो, (ग) बाह्य वातावरण से उनके सम्बन्धो पर निर्भर करते है, इसलिए समाजशास्त्र इनका अध्ययन करता है और उनसे उत्पन्न सघर्षों का समाधान प्रस्तुत करता है।

समाजशास्त्र की प्रमुख समस्याएं

प्रो० जिसबर्ग ने मानव समाज के अध्ययन की समस्याओं को निम्न चार भागों में बाँट दिया है—

(क) सामाजिक रचनाशास्त्र (Morphology). (१) इसमे उस हद तक जनसंख्या की संख्या और गुणों का अध्ययन किया जाता है, जिस हद तक वह सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक समूहों (groups) के स्वभाव को प्रभावित करते हैं। (२) सामाजिक संगठन या ढांचे (structure) या सामाजिक समूहों और संस्थाओं के प्रमुख प्रकारों का वर्णन या वर्गीकरण।

(ख) **सामाजिक नियंत्रण** (Controls). कानून, नैतिकता, धर्म, परम्परा, फैशन और अन्य पोषण और नियंत्रण रखने वाले साधनों का अध्ययन ।

(ग) **सामाजिक प्रतिक्रियाएं** (Processes). व्यक्तियों और समूहों के बीच अन्तःक्रियाओं (Inter-action) के विभिन्न प्रकारों, जिसमें कि सहयोग, विरोध, सामाजिक विभेदीकरण (Differentiation) और एकीकरण (Integration)विकास, रुकावट और पतन का समावेश है, का अध्ययन ।

(घ) **सामाजिक रोगशास्त्र** (Pathology). सामाजिक असमीकरण (maladjustment) अस्थिरता या व्याघातों (disturbance) और उनके निपटाने की पद्धतियों का अध्ययन ।

इस महत्वाकांक्षी प्रोग्राम को कार्यान्वित करने के लिए समाजशास्त्र को ऐसे विशेष ज्ञानों, जैसे कि इतिहास, तुलनात्मक कानून, मानवशास्त्र, जो कि अपने-आप सामाजिक क्षेत्र में है, तथा अन्य अधिक सामान्य विज्ञान जैसे कि प्राणिशास्त्र और मनोविज्ञान से मैत्री स्थापित करनी होगी । इसका लक्ष्य सब समय ही सभ्यता के सम्मुख समग्र रूप में सामाजिक तथ्यों का निर्धारण करना है । इसमे विभिन्न विज्ञानों के परिणामों को साथ लाना निहित है, जो कि विशिष्ट ज्ञानों द्वारा सम्पन्न नहीं किया जा सकता ।

समाजशास्त्र एक विज्ञान

यद्यपि प्राकृतिक विज्ञानों और समाजविज्ञानों की विषयवस्तु तो भिन्न होती है, फिर भी इन दोनों का ही वैज्ञानिक प्रणाली से अध्ययन किया जा सकता है । इसका अर्थ हुआ कि तथ्यों की खोज, प्रस्थापना का प्रस्तुत करना, मापना और पद्धति का विश्लेषण वह प्रणालियां हैं, जो प्राकृतिक और सामाजिक दोनों विज्ञानों पर लागू होती है ।

हमारे पास बहुत से प्राकृतिक व सामाजिक विज्ञान है जिनमें से प्रत्येक वास्तविकता के किसी पहलू का अध्ययन करता है । इन सब से ऊपर एक अन्य विज्ञान है जिसे १९वीं शती में विज्ञान कहा गया और २०वीं में विज्ञान का दर्शन कहते है, जो संसार को अपनी समग्रता में बताना चाहता है अथवा बताने की आशा करता है और जो कि विभिन्न पृथक् विज्ञानों की खोजों व शोधों का समन्वय है । इस दृष्टि से वह विज्ञान, कला, दर्शन, धर्म, इतिहास— जिनमे हर एक संसार की पूर्णता में उसकी व्याख्या करने का दावा करते है, उन सभी से प्रतियोगिता करता है । किन्तु सामाजिक विज्ञानों का कोई सामान्य विज्ञान नही है, जिसके ऊपर कि विभिन्न विज्ञानों के क्षेत्रों के निष्कर्षों के समन्वय का भार हो ।

दूसरे, अभी तक समाजशास्त्र का स्वरूप राष्ट्रीय है । समाजशास्त्र मे राष्ट्रवाद उसकी अपरिपक्वता का द्योतक है ।

स्पेन्सर की सबसे बड़ी सफलता विभिन्नजातीय तत्वों के जोड़ को समझना था। स्माल के अनुसार समाजशास्त्र मानव संसर्गों में फैले भावों के प्राप्त ज्ञान को संगठित और सामान्य करने का प्रयत्न था । इससे मिलती-जुलती कल्पना वार्ड की थी कि समाजशास्त्र विशिष्ट समाज विज्ञानों का समन्वय है किन्तु उनके समन्वय से मिश्रित रसायन(compound)है। न यह कोई समाज विज्ञानो में से एक है, न ही यह उन सब से मिल कर बना है। विशिष्ट सामाजिक विज्ञान योग की इकाइया है जो कि समाजशास्त्र निर्मित करने के लिए तैयार की जाती है, किन्तु वह अपनी व्यक्तिगत सत्ता सम्पूर्णतः उसी भांति खो बैठती हैं जिस भांति कि रासायनिक इकाइयां, और उनसे तैयार वस्तु उनसे सर्वथा भिन्न और ऊंचे दर्जे की होती है।

इससे पृथक् कल्पना कि समाजशास्त्र एक पृथक् विज्ञान है, जिसका कि अन्य समाज विज्ञानों पर प्रमुख स्थायी शासन करने का कोई इरादा नही है, प्रो० गिडिग्स द्वारा प्रस्तुत की गई है। उनके अनुसार इसका क्षेत्र अन्य समाज-विज्ञानों का सहवर्ती है, किन्तु यह इस क्षेत्र के प्रारम्भिक और जातीय स्वरूप के विस्तृत अध्ययन से ही सन्तुष्ट रहता है। इसलिए यह समाज विज्ञानों का पूर्ण योग नहीं, वरन् उनका समान आधार है। इसके सिद्धान्त अन्य सामाजिक विज्ञानों की प्रस्थापनाएं है और इस तरह वह समस्त क्षेत्र को एकीकृत करने में मदद पहुँचाते है। इस भांति विशिष्ट सामाजिक विज्ञान समाजशास्त्र के सहयोगी बन जाते है। अब समाजशास्त्रियों का ऐसा विचार हो गया है कि समाजशास्त्र दूसरे समाज विज्ञानों के लिए आधार भी है और अन्य विशिष्ट ज्ञानों के साथ एकीकृत विशिष्ट ज्ञान भी है। समाजशास्त्र अब "न तो समाज-विज्ञानों का स्वामी है और न ही दास, बल्कि उनका भाई है"—(बार्नस बेकर)।

ऐतिहासिक दृष्टि से और उसके मुख्य विज्ञानों की दृष्टि से सामजशास्त्र ही एक ऐसा विज्ञान है जो कि अन्य समाज-विज्ञानों का समन्वय है और एक बुनियादी समाज विज्ञान है। कई बार इस प्रश्न के अन्य दृष्टिकोण भी रखे जाते हैं कि यह इनमें से कुछ भी नहीं है, बल्कि वह प्रणाली है जो कि सामाजिक तथ्यों के अध्ययन मे प्रत्येक समाज-विज्ञान द्वारा प्रयुक्त की जाती है। समाजशास्त्रियों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यह विभिन्न विचार एक दूसरे के प्रतियोगी न होकर पूरकं हैं। इस तथ्य को अच्छी तरह से समझने के लिए समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध को समझना भी आवश्यक है।

समाजशास्त्र और अन्य विज्ञान

समाजशास्त्र का विद्यार्थी समाजशास्त्र की दीवार के पीछे अन्य विज्ञानों से आंख मूंद कर नहीं बैठ सकता। अन्य विज्ञानों में अपने विज्ञान की स्थिति को

उसे भली-भाँति पहचानना चाहिए। विज्ञान सामान्यतः दो श्रेणियों में विभक्त किए जाते हैं : प्राकृतिक अथवा सामाजिक, या भौतिक-प्राणिक या सामाजिक विज्ञान। पहले हम प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करेंगे।

भौतिक (Physical) **और सामाजिक विज्ञान** (Social Science). एक ऐसी भी धारणा है कि विभिन्न विज्ञानों को वह वस्तु पृथक् करती है जिनका कि वह अध्ययन करते हैं। इस तरह इस मत के अनुसार प्राकृतिक विज्ञान, जैसे कि भौतिकशास्त्र, केवल स्थूल भौतिक वस्तुओं से ही सम्बन्धित है, जब कि समाजशास्त्र सामाजिक व्यवहार, अर्थात् विशिष्ट प्रकार के जीवित प्राणियो और उनकी क्रियाओ की खोज करता है। यह धारणा कुछ अंशों मे ही सही है। यह सही है कि विभन्न विज्ञानों में एक विशिष्ट श्रेणी की वस्तु पर अधिक ध्यान दिया जाता है, किन्तु यह भी सही है कि विभिन्न विज्ञान एक ही वस्तु का अध्ययन कर सकते हैं। एक मानवशास्त्री कंकाल के जोडों की प्रणाली में, रसायनशास्त्री उस शरीर के तत्वों और अंगों में, शरीर-रचनाशास्त्री पेशियों, हड्डियो और अंगों के सम्बन्ध में, समाजशास्त्री उसके सामाजिक व्यवहार में, दिलचस्पी रख सकता है। या एक और उदाहरण लीजिए। एक पहाड एक भूगर्भशास्त्री के लिए पृथ्वी के तल के पूर्व-परिवर्तनों का द्योतक है, वनस्पतिशास्त्री के लिए वह विशिष्ट पौधो की जन्मभूमि होने के कारण महत्व रखता है, एक समाजशास्त्री की दृष्टि में वह मानव विकास और निष्क्रमण पर क्या प्रभाव डालता है, अथवा मानव समाज द्वारा इसके क्या धार्मिक अर्थ दिये गये है, महत्व रखता है, अस्तु। यह उदाहरण इस ओर संकेत करते हैं कि हम एक ही वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोणो से अध्ययन कर सकते हैं और विषय वस्तु का पार्थक्य विज्ञानों के पार्थक्य का मानदण्ड नहीं है।

सामान्यत प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों मे निम्न प्रकार का भेद किया गया है : (१) इनके सैद्धांतिक और काल्पनिक तत्व भिन्न होते हैं, अतः इनको नियन्त्रित करने वाले नियम भिन्न हैं। "इसलिए किसी क्रिया को जड़ वस्तु (mass) कहना उतना ही निरर्थक है जितना कि तारे को बौद्धिक प्राणी कहना।" (२) यह दोनों अपनी व्यावहारिक साक्षी मे, जो कि उनके लिए उपयोगी है, भिन्न हैं। इस तथ्य का कि सामाजिक विज्ञान मानव प्राणियों से सम्बद्ध है, अर्थ हुआ कि वह मानव-विचारों, उद्वेगों तथा अन्य मानसिक प्रक्रियाओं के तथ्यों से संबद्ध है, जो सामग्री कि अन्य कम विकसित और भौतिक विज्ञानों को उपलब्ध नहीं है। (३) प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों में अन्य भेद समस्या के सम्मिलित तत्वों के पृथक्करण की सीमा से सम्बद्ध है। तुलनात्मक दृष्टि से हाइड्रोजन और नाइट्रोजन के कणों को, जिनसे मिलाकर पानी बना है, पृथक् करना सुगम है।

किन्तु मानव क्रियाओं में निहित मानव-प्रेरणाओं (motives) को पृथक् करना बहुत कठिन है।

यद्यपि सब ही विज्ञान गवेषणा की सामान्य प्रणाली का, जिसे वैज्ञानिक पद्धति कहते है, अनुसरण करते हैं, पर वे विज्ञान अपने दृष्टिकोणों और दिलचस्पी के केन्द्रों में भिन्न है। प्रत्येक विज्ञान इस विश्व की वास्तविकता के किसी एक पहलू पर विचार करता है। जैसा कि हम बता चुके है, समाजशास्त्र प्रकृति के उन पहलुओं से सम्बद्ध है जो मानव प्राणियों की अन्तःक्रियाओं से सम्बधित है।

समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों में अन्तर. वह विज्ञान, जिनके अध्ययन का क्षेत्र मानव जाति है, सामाजिक विज्ञान कहलाते है और जो विज्ञान मानव सम्बन्धों के किसी एक पहलू का अध्ययन करता है वह विशेष सामाजिक विज्ञान कहलाता है। इन विज्ञानों और समाजशास्त्र में मूल अन्तर यह कि वह किसी एक पहलू और कभी कभी किसी एक मनुष्य अथवा मनुष्य के प्रतिनिधि का अध्ययन करते है, जब कि समाजशास्त्र समाज के पृथक् सदस्यों को समाज के सदस्यों की हैसियत से देखता है।

इसका अर्थ यह कदापि नही कि समाजशास्त्री के लिए व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है। अन्ततोगत्वा व्यक्तियों का सुख ही सामाजशास्त्री का मुख्य ध्येय है। अन्तर इतना ही है कि समाजशास्त्र को समाज बनाने वाले मानव प्राणियो के एक और अनेक, प्रत्येक सम्बन्ध का अध्ययन करना पड़ता है, जब कि प्रत्येक अन्य विज्ञान उसके किसी एक विशेष पहलू पर विचार करता है और अन्य किसी सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश नही करता ।

समाजशास्त्र अन्य सम्बद्ध विज्ञानों की सहायता लेने में अन्य विज्ञानों का अनुगमन करता है, जिस तरह कि इंजीनियरिंग, गणित, भौतिक और रसायनशास्त्र के परिणामों से लाभ उठाती है, जिस भांति अर्थशास्त्र को उन भौतिक नियमों पर ध्यान देना पड़ता है जो कृषि को प्रभावित करते हैं, उसी भांति समाजशास्त्र को आर्थिक जीवन के विश्लेषण में अर्थशास्त्र की खोजों की मदद लेनी पड़ती है। इस तरह यह अन्य समाज विज्ञानों के परिणामों को ही स्वीकार नहीं करता, बल्कि "वह विशिष्ठ ज्ञानों के परिणामों को एक दूसरे के पास लाता है, यह ध्यान रखते हुए उनमे आवश्यक हेर-फेर करता है कि वह सब सामाजिक जीवन का अंग है जिनमें से प्रत्येक का समग्र रूप में समाज के जीवन को निर्धारित करने में अत्यधिक महत्व है।"

जीवन का उद्देश्य सुख है। क्या अभी कोई ऐसा विज्ञान है जिसकी खोज मानव जाति को सुख की ओर ले जा सके? समाजशास्त्र का विज्ञान बहुत कुछ इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है।

विज्ञानों में समाज विज्ञान का स्थान

यहां पर विज्ञानों में समाज विज्ञान के स्थान के बारे में कुछ शब्द कहना उचित होगा। एक लम्बे समय तक स्वयं विज्ञानों में ही एक प्रकार के जातिभेद और ऊंच नीच की प्रवृत्ति विद्यमान की। गणित और भौतिकशास्त्र (Physics) को एक विशेष कुलीनता प्राप्त थी। उनकी इस उच्चता का आधार कांट की यह धारणा थी कि वही विज्ञान सबसे अधिक श्रेष्ठ है जिसमें सबसे अधिक गणित का अंश हो। कुछ समय बाद रसायन (Chemistry) को भी गणित और भौतिकशास्त्र की ऊंची जातियों में मिला लिया गया। किन्तु एक लम्बे अरसे तक प्राणिक विज्ञानों (Biological Sciences) को हिकारत की निगाह से देखा जाता रहा। पर यह स्थिति अधिक समय तक न चल सकी और शीघ्र ही प्राणिक विज्ञानों को विज्ञानों मे एक सम्मानजनक स्थान मिल गया। किन्तु समाज विद्वानों के प्रति वह अहंकार का भाव अभी तक समाप्त नहीं हुआ है। यद्यपि आइंसटीन जैसे महान् वैज्ञानिकों ने इस प्रवृत्ति की निन्दा की है।

यदि हम गणित के रूप मे ही किसी ज्ञान को विज्ञान स्वीकार करते है, तब तो शायद समाज विज्ञान कभी भी विज्ञान नहीं बन सकते। अरस्तू ने आज से ३००० साल पहले आचार शास्त्र के सम्बन्ध में यही चेतावनी दी थी कि आचारशास्त्र कभी भी उन अर्थों में निश्चित (exact) नहीं हो सकता जिस अर्थों में कि भौतिक विज्ञान। यही चेतावनी अर्थशास्त्र, राजनीति, धर्मशास्त्र इत्यादि सामाजिक विज्ञानों पर लागू होती है।

समाज विज्ञान जीवित प्राणियों का अध्ययन करते हैं, उन्हें हम मशीनों की तरह प्रयोग में नहीं ला सकते और न ही उन्हें हम गणित के कठोर नियमों में बांध सकते हैं।

बावजूद इसके, पिछले सौ सालों में इन सभी समाज विज्ञानों ने कुछ नियमों को खोजा है. जो गणित की तरह निर्भ्रान्त और निश्चित तो नहीं हैं, पर जिन्हें हम प्रवृत्तियों के नियम (Laws of Tendencies) कह सकते है, जो कि अल्पाधिक रूप में अवश्य मानव व्यवहार पर लागू होती है। बर्नार्ड बार्बर ने अपनी पुस्तक 'विज्ञान और सामाजिक व्यवस्था' में समाज विज्ञानों को स्वीकृति प्रदान करने और माप और गणित को विज्ञान का मापदण्ड का मानने का आग्रह छोड़ने की जोरदार वकालत की है।

भौतिक विज्ञानों के विकास में जो चीज महत्वपूर्ण है, वह उनकी निरपेक्षता (Objectivity) और निष्पक्षता है। समाज वैज्ञानिकों की यह निरपेक्षता और निष्पक्षता ही समाज विज्ञानों को एक विज्ञान कहलाने का अधिकारी बनाती है।

समाजशास्त्र का प्रमुख सामाजिक विज्ञानों से संबंध

अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र. जीविकोपार्जन की दृष्टि से मानव जाति का अध्ययन अर्थशास्त्र है। मार्शल ने ठीक ही कहा है कि यह एक ओर सम्पत्ति का अध्ययन है, दूसरा ओर अधिक महत्वपूर्ण और मनुष्य का अध्ययन है। अधिकांश मनुष्यों को अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किसी न किसी आर्थिक कर्म में लगना पड़ता है। वह वस्तुओं का उत्पादन करता है, उनका विनिमय करता है, सम्पत्ति का विभाजन करता है, अन्ततोगत्वा उसका उपभोग करता है। मनुष्य का बहुत अधिक समय आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में लग जाता है। मनुष्य किस भांति उत्पादन करते है किस भांति वस्तुओं का विनिमय करते है अथवा किस भांति सम्पत्ति का वितरण करते है, यह केवल मनुष्यों की व्यक्तिगत इच्छा का परिणाम न होकर समाज के संगठन और संस्थाओं और विचारधाराओं का परिणाम होता है। इसी तरह आर्थिक क्रियाएं केवल व्यक्तिओं की आर्थिक आय को ही प्रभावित नहीं करतीं, वह उनके सामाजिक दर्जे, समाज में उनके सम्मान तथा उनके बौद्धिक और नैतिक विकास पर भी प्रभाव डालती हैं। इस भांति हम देखते है कि अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना समाजशास्त्र के अध्ययन के आर्थिक समस्या की जड़ों तक नहीं पहुंचा जा सकता। बिना आर्थिक जीवन-समस्याओं के अध्ययन के समाज का अध्ययन सर्वथा अधूरा है।

मनोविज्ञान (Psychology) और समाजशास्त्र. मानसिक अनुभव के तथ्यों का अध्ययन मनोविज्ञान का विषय है। मनोविज्ञान की भी दो शाखाएं हैं, व्यक्तिगत मनोविज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान। व्यक्तिगत मनोविज्ञान, सामाजिक परिस्थिति से पृथक्, मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। मनुष्य के सामूहिक व्यवहार में सामाजिक संगठन, आदर्शों और संस्थाओं की छाप स्पष्टतः दिखाई देती है। क्यों कुछ जातियां शांतिप्रिय और क्यो कुछ युद्धप्रिय होती ह, क्यों कुछ जातियां भाग्यवादी और क्यों कुछ कर्मवादी होती हैं, इसका बहुत कुछ परिचय हमें उस समाज की बाह्य परिस्थिति के अध्ययन द्वारा मिल सकता है। इसके विपरीत बाह्य परिस्थितियों के परिवर्तन का मानवसमूहों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसके लिये मानव मन की प्रक्रियाओं, उसकी सहज प्रवृत्तियों, स्वभाव और गुणों की ओर दृष्टिपात करना होगा। इससे यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान और समाजशास्त्र आपस में घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं। सामाजिक समस्याओं को भलीभांति समझने के लिये, उनका समुचित समाधान ढूंढ़ने के लिए हमें मानव प्रकृति और व्यवहार का अध्ययन करना होगा। इसके विपरीत, मानवीय व्यवहार को समुचित रूप से समझने के लिये हमें उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालनी होगी।

आचारशास्त्र (Ethics) और समाजशास्त्र. आचारशास्त्र मनोविज्ञान से घनिष्ठतया सम्बन्धित है। आचारशास्त्र का उद्देश्य मानव जीवन में अच्छे और बुरे कार्य का मानदण्ड स्थापित करना, अर्थात् नैतिकता की विवेचना है। यह कार्य केवल ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन से ही समाप्त नहीं हो जाता वरन् इसमें सदैव एक नीति-तत्व विद्यमान रहता है, अर्थात् उच्चतम कल्याण क्या है ? कुछ व्यक्तियों का कहना है कि यह दर्शन का विशिष्ट क्षेत्र है। यह बात देखने में आती है कि मनुष्य की भले-बुरे की कल्पना कोई अपरिवर्तित, शाश्वत, निर्दोष व पूर्ण चीज नहीं है। उसकी शिक्षा और वातावरण द्वारा बराबर उसमे परिवर्तन होते रहते हैं। जहां एक ओर मनुष्य की भले-बुरे की कल्पना व्यक्तिगत विचारों से प्रभावित होती है, वहां दूसरी ओर स्वयं वह विचार सामाजिक संगठन, संस्थाओं और उनके आदर्शों से प्रभावित होते हैं। समाजशास्त्र जहां उन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण करता है, वहां क्या वह समाजनीति के बारे में स्वयं तटस्थ रह सकता है ? यदि समाजशास्त्र को एक उपयोगी और जीवित विज्ञान बनना है तो उसे अन्धविश्वासों, अज्ञान, परम्परा, अशिक्षा के वातावरण और जाल से मुक्त करके एक सामाजिक आदर्श-सुख की खोज में मानव जाति के एक अन्तिम उद्देश्य का उद्धार करना होगा।

कानूनशास्त्र (Law) और समाजशास्त्र. व्यक्तियों के आचरण और पारस्परिक व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिये तथा निषिद्ध कार्यों के करने पर उन्हें दण्डित करने के लिये कानून की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि यह प्रायः कानून किसी एक व्यक्ति की सनक और मन-मरजी का परिणाम न होकर तत्कालीन समाज की भले-बुरे की कल्पनाओं और विश्वासों का प्रतिबिम्ब होते हैं। पर जहां कानून विद्यमान सामाजिक अवस्था का प्रतिबिम्ब होते हैं, वहां वह बहुत कुछ सामाजिक संगठन, संस्थाओं और आदर्शों को मोड़ने और ढालने में भी योगदान देते हैं। इस सम्बन्ध में एक और बात भी मार्के की है। केवल कानून बना देने से ही उसका पालन नहीं हो जाता। विभिन्न परिस्थितियों में उसका विभिन्न सीमाओं में पालन होता है। विभिन्न वर्गों की परिस्थितियां इस पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। इस भांति हम देखते है कि बिना कानून को स्थान दिये सामाजिक अध्ययन अपूर्ण है। इसी तरह एक कानूनशास्त्री के लिये भी सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन परम आवश्यक है।

इतिहास (History). इतिहास और समाजशास्त्र जो ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उसमें कोई मौलिक भेद नहीं है। इतिहास मानव जाति के कृत्यों का सिलसिलेवार लेखा तथा विभिन्न घटनाओं के पारस्परिक महत्व को आंकने का एक प्रयत्न है। यह विवेचना की तुलना में वर्णन अधिक है। एक समाजशास्त्री उन

सामान्य प्रवृत्तियों को, जो कि मानव-जाति के आन्दोलनों को आज निर्धारित करती हैं तथा यदि उन्हें जारी रहने दिया जाय तो उनका क्या प्रभाव पड़ेगा, खोजने का प्रयत्न करता है। इससे स्पष्ट है कि समाजशशास्त्री और इतिहासकार कोई भी अच्छे-बुरे के निर्णय से मुक्त नहीं हो सकते। इतिहास मानव-जाति के अतीत आदोलनों का अध्ययन करता है। समाजशास्त्री इतिहासकार के कार्य को उससे प्राप्त ज्ञान के आधार पर वर्तमान और भविष्य के लिये उपयोगी बनाता है। एक विद्वान् का कहना है कि "समाज शास्त्र केवल इतिहास के सामाजिक तथ्य का अध्ययन करता है"— (बर)। इसके विपरीत, कुछ विद्वानों का कहना है कि इतिहास और समाजशास्त्र में कोई सम्पर्क नहीं है। इतिहास "व्यक्तिगत समग्रों की स्थूल अतःदर्शित (intuitive) अनुभूति है"—(गौल्श)। वास्तव में सामाजिक सिद्धान्त और सामाजिक इतिहास को पृथक नहीं किया जा सकता। जो इतिहास अक्सर हमें पढाया जाता है उसका उद्देश्य एक मिथ्या राष्ट्रीय अहंकार उत्पन्न करना होता है। किन्तु विश्व के इतिहास का निष्पक्ष अध्ययन हमें बताता है कि सहयोग द्वारा ही मानव जाति प्रगति कर सकती है। इतिहास का अध्ययन हमे यह बतलायेगा कि इस सहयोग की क्या शर्तें है, समाजशास्त्र के अध्ययन को,सामाजिक सम्बन्धों की समान चेतना को विकसित करना चाहिए। सामाजिक समस्याओं के स्पष्टीकरण में इतिहासकारों का सहयोग अनिवार्य है। इतिहास की समाजशास्त्रीय व्याख्या द्वारा ही मानव जाति अतीत के अर्थ और भविष्य के महत्व को समझ सकती है।

राजनीतिशास्त्र (Politics) और समाजशास्त्र. राज्य और सरकार के सिद्धान्तों का अध्ययन राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का विषय है। मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति को ही राज्य-संस्था को जन्म देने का श्रेय प्राप्त है। मनुष्य की यौन, धार्मिक, आर्थिक आवश्यकताओं ने परिवार, सम्प्रदाय और सामूहिक उत्पादन जैसी संस्थाओं को जन्म दिया है। सुरक्षा और नियम की भावना ही सामाजिक भावना का सहारा पा राज्य का रूप धारण कर बैठी। इस संस्था तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं में अन्तर यही है कि यह सर्वोपरि और सार्वभौम प्रभुता-सम्पन्न है, अर्थात् जब कि अन्य संस्थाओं की शक्ति बहुत सीमित है, राज्य ही एक ऐसी संस्था है जिसकी शक्तियां बहुत विस्तृत और विशाल होती है, राज्य की नीति केवल राजनैतिक जीवन को ही प्रभावित नहीं करती, उसका प्रभाव कानूनों की मदद से समाज के समस्त क्षेत्रों पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक जीवन के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति तथा आर्थिक आयोजन के आन्दोलनों ने राज्य के क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया है। वर्तमान सामाजिक प्रवृत्तियाँ दिन-पर-दिन राज्य को समाज है। से मिलाती जा रही किसी भी सामाजिक समस्या का अध्ययय

और हल बिना विद्यमान राजनैतिक परिस्थितियों को समझे और बदले नहीं किया जा सकता। साथही किसी भी प्रक.र के राजनैतिक परिवर्तन सामाजिक स्थिति का ध्यान किये बिना कार्यान्वित नहीं किये जा सकते।

प्राणिशास्त्र (Biology) और समाजशास्त्र. "हमारा यह विचार कि मनुष्य के लिए किस प्रकार की प्रगति संभव या उचित है, बहुत कुछ उसकी प्रकृति के प्रति हमारी धारणा, उसके जन्म के ढंग, उसके परिवर्तन की पद्धति तथा उसके आपसी तथा उसकी प्रकृति के सम्बन्धों पर निर्भर करता है"—(एच० जे० मुलर)। अन्ततः इस जगत् में मनुष्य क्या करने जा रहा है, यह बहुत कुछ उसकी मानसिक और शारीरिक रचना पर निर्भर करता है। उसे यह जानना चाहिए कि उसकी क्या शक्तियां है और वह उन्हे कितना विकसित कर सकता है। उसे अपनी कमियों का जानना जरूरी है। यह एक परिचित तथ्य है कि मनुष्य के यान्त्रिक विकास की तुलना में उसका मानसिक और नैतिक विकास बहुत ही मन्द गति से हुआ है और यही कारण है कि वह अभी भी दमन और निषेधों के शिकंजे में है। अन्य बातों के अतिरिक्त, समाजशास्त्र मानव-प्राणियों और समूहों और संस्थाओं पर मानसिक और शारीरिक, विभिन्नताओं के विपरीत, सामाजिक संस्थाओं और समहों के मानव प्राणियों पर होने वाले प्रभावों का अध्ययन करता ह। वह यह जानने की कोशिश करता है कि आनुवंशिकता (Heredity) व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों में क्या पार्ट अदा करती है, और कहां तक आनुवंशिकता अपने-आप और कहां तक वातावरण (Envitonment) और अनुभव से संशोधित होती है। यह प्रजननशास्त्र (Genetics) के दावों का कि नस्ल की किस्म मानव-समितियों पर क्या प्रभाव डालती है, तथा कौन कारण नस्ल की किस्म को निर्धारित करते है, छान-बीन करता है। यह उस विकट समस्या का मुकाबिला करता है कि हम कहा तक और किस तरह मनुष्य की नस्ल को सुधार सकते हैं। समाजशास्त्री इस ओर ध्यान दे रहे है। इस दशा में प्राणिशास्त्र उनके लिये अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा।

विभिन्न विज्ञानों की अन्तःनिर्भरता. उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र और विभिन्न सामाजिक विज्ञान किस भांति एक-दूसरे पर अन्तःनिर्भर हैं। पहले लोगों का ऐसा विश्वास था कि समाजशास्त्र पर समस्त समाजिक विज्ञान निर्भर है। इस प्रकार राजनीति और अर्थशास्त्र समाजशास्त्र पर निर्भर विज्ञान माने जाते थे। अधिकांशतः अब समाजशास्त्रियों ने एक परस्पर सम्मान की नीति के पक्ष में, जो कि सामाजिक विज्ञानों की अन्तः निर्भरता को स्वीकार करती है, एक विश्व-साम्राज्य की कल्पना को छोड़ दिया है। यह आन्दोलन दोनों ही ओर से चला है, जिससे दोनों को ही लाभ हुआ है। समाजशास्त्री आदिम सामाजिक

संगठन की मानवशास्त्रीय खोजों से प्राप्त लाभों को स्वीकार करके कानूनशास्त्री कानून के व्यावहारिक पहलू के आग्रह में कानून की एक सामाजिक संस्था की कल्पना मे, इसके अन्य सामाजिक उद्देश्यों पर जोर देने में, समाजशास्त्र के प्रति अपने विशाल दायित्व को प्रकट करता है। अर्थशास्त्रियों ने समाजशास्त्र की उस सहायता को स्वीकार किया है जो कि सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक अनुकूलन (Adaptation), सामाजिक शक्तियों, प्रतियोगिता और सामाजिक व्यवहार को स्पष्ट करने में पहुंचाता है, और समाजशास्त्री समाज के आर्थिक पहलुओं (Phases) को समझने के लिए अर्थशास्त्रियों की ओर झुके हैं। समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र की ओर राजनैतिक संगठन के तथ्यों के लिए देखता है, और राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र से सामाजिक ढांचे का, राजनैतिक संगठन जिसका केवल एक हिस्सा है, ज्ञान प्राप्त करता है, इतिहास सामाजिक संगठन की एक सामान्य दृष्टि के लिए, जो कि उसके तथ्यों के उचित वितरण का आधार बन सके, समाजशास्त्र की ओर मुड़ता है, और समाजशास्त्र अपने महत्वपूर्ण तथ्यों के लिए इतिहास की ओर देखता है। अन्ततः, आचारशास्त्र भी समाजशास्त्र की शोधों से ही अपने अधिकांश तथ्य, विषयवस्तु संग्रह करता ह। इस तरह व्यवहार में समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों का सम्बन्ध सामान्य किन्तु विशिष्ट चुने हुए लेन-देन का है। यद्यपि सभी समाज विज्ञान बहुत जगह एक-दूसरे को ढक देते है पर ऐसा कोई प्रश्न नहीं कि समाजशास्त्र ही एक-मात्र समन्वित समाज-विज्ञान है। विभिन्न विज्ञानों के लिए कोई अमिट सीमाएं नहीं हैं, और जो खींची भी गई हैं, वह भी पुनर्जीवन और अतिरिक्त पोषण के लिए किसी भी स्थान पर पार की जा सकती हैं।

समाज-विज्ञानों का एकीकरण. जब समाजशास्त्रियों ने यह कहा कि उनका विज्ञान समन्वयात्मक या बुनियादी है, उनका ध्यान उस बात पर केन्द्रित था कि यदि समाज विज्ञानों का उद्देश्य सामाजिक तथ्यों की पूर्ण व्याख्या है, तो यह सम्भव नहीं कि हम उसे प्रचलित अधूरे तरीकों से प्राप्त कर सके। मानव-व्यवहार और उसकी कृतियों, अर्थात् संस्कृति को ज्ञान के क्षेत्र के लिए एक ही मानना चाहिए। सामाजिक विज्ञानों का उद्देश्य अन्त में समस्त महत्वपूर्ण कारणों और सम्बन्धों को पृथक्-पृथक् कर देना है। पर उन्हें समग्र रूप से देखने पर ही उस क्षेत्र की समुचित और संतुलित व्याख्या की जा सकती है।

आज स्थिति है, कि प्रत्येक सामाजिक विज्ञान उस क्षेत्र के एक भाग का अधूरा वर्णन करता है। उनको एक संगत सम्पूर्ण में मिलाना संभव नहीं है। उनके अधूरेपन की सीमा भी अज्ञात है। एक प्रणाली के रूप में विशिष्टीकरण (Specialisation) के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इसके बिना ज्ञान

बहुत कुछ उथला रहेगा। किन्तु विशिष्टीकरण हमें कुछ नगण्य तथ्यों का अनुचित महत्व देने की ओर भी ले जा सकता है। और इससे भी अधिक, विशिष्टीकरण ज्ञान की एकता की अनुभूति को, जिस पर कि अन्त मे संतोषजनक व्याख्या अवलम्बित है, नष्ट कर सकता है। अत: एक सामाजिक वैज्ञानिक के सामने सबसे बड़ा कार्य विभाजन और सार्वभौमता के लाभों के बीच समझौता स्थापित करना है।

सामाजिक दर्शन (Social Philosophy)

समाजशास्त्र एक विज्ञान की हैसियत से विभिन्न सामाजिक ध्येयो के बीच तटस्थ है। वह किसी सामाजिक प्रक्रिया का विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसको बताता है, किन्तु उस प्रभाव मे क्या अच्छाई बुराई है, इसके बारे मे कुछ नहीं कहता। चूंकि समाजशास्त्र का अध्ययन मानव जीवन से घनिष्ठतया सम्बन्धित है, अत: मानव कल्याण के प्रश्न के प्रति समाजशास्त्र तटस्थ व उदासीन नहीं हो सकता। इस दिशा में समाजशास्त्र को मार्गप्रदर्शन के लिए एक समाज दर्शन की आवश्यकता पड़ती है। यह समाज दर्शन उच्चतम कल्याण की खोज करता है, उसके आदर्श को प्रस्तुत करता है। समाज दर्शन समाजशास्त्र के निष्कर्षों का मानव जीवन के कल्याण से सम्बन्धित करता है। इसके लिए उसे समाजशास्त्र की सहायता के अतिरिक्त, आचारशास्त्र की सहायता लेनी पड़ेगी। यह समाज दर्शन समाजशास्त्र की शोधों का मार्गदर्शन करेगा तथा उसके निष्कर्षों का मूल्यांकन करेगा। वास्तव में समाज दर्शन को हम समाजशास्त्र का धर्म कह सकते हैं। परिणामत: हम समाजशास्त्र और समाज दर्शन को दो कठोर श्रेणियो मे नही बांट सकते। समाजशास्त्र अच्छा-बुरा कहे बिना नही रह सकता। समाजशास्त्र और समाज दर्शन का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, विशेषत: ऐसी जगह, जहा कि उसे ऐसे तत्वों का विवेचन करना पड़ता है जो कि मनुष्य के सुख-दुःख से घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए, सम्पत्ति के न्यायपूर्ण वितरण का प्रश्न ऐसा ही है।

यह भी सत्य है कि अभी तक मनुष्य जाति ने स्पष्ट रूप से एकमत हो कोई एक निश्चित लक्ष्य निर्धारित नहीं किया है। अधिकतर व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत समस्याओं को ही लिए बैठे है और यदि कुछ लोगों ने इस पर विचार भी किया है तो उनमें से अधिकांश संकीर्ण वर्ग और राष्ट्रीय स्वार्थों, अहंकार, अन्धविश्वासों और अज्ञान से ग्रसित है। इससे स्पष्ट है कि मानवजाति के आदर्श को प्रस्तुत करने के लिए हमें इन जालों से बाहर निकलना होगा। समाज-दर्शन को उन बुनियादों का विश्लेषण करना होगा जिन पर विभिन्न सामाजिक विज्ञान आधारित हैं। जिन्स-बर्ग के शब्दों म "यह उन बुनियादी श्रेणियों को जिन्हें वह प्रयुक्त करते है, उन

कल्पनाओं, पूर्व-स्थापनाओं को जिन पर कि वह निर्भर हैं, सुलझायेगा, और उन्हें समालोचनात्मक परीक्षा और रचनात्मक पुनर्व्याख्या में काम में लायेगा।"

अनासक्ति और तटस्थता (Objectivity) से अध्ययन करने में समाज-विज्ञान का विद्यमान व्यवस्था के समर्थक बनने का खतरा हर समय मौजूद है। मार्क्सवादी लेखक तो यहा तक कहते हैं कि हमें केवल तथ्यों के वर्णन का ढोंग छोड़ अवश्य एक पक्ष लेना चाहिए। इस सम्बन्ध में हाबहाउस ने हमें अच्छी चेतावनी दी है : "हमें यह सोचना छोडना चाहिए क्योंकि घटनाएं घटती है, इसलिए वह अच्छी है, या क्योंकि घटनाए अच्छी है, इसलिए घटती है, अन्यथा तथ्य का वर्णन पक्षपातपूर्ण होगा और हमारा मूल्यों (Values) का निर्णय दूषित होगा।" दासता और युद्ध जैसी सस्थाओ का बहुत बार इसी बिना पर युक्तिसंगत कहकर समर्थन किया गया है कि वह बहुत समय तक कायम रही है, बहुत जगह फैली है, और ऐसी किसी भी नीति की भरपेट निन्दा करना और उसे खतरनाक झूठ कहना एक आम चीज है जो कि एक आमूलचूल परिवर्तन की ओर निर्देश करती है।

इसलिए एक ओर वास्तव की पूजा और दूसरी ओर वास्तव में अपनी इच्छाओं और रुचियों को देखने से बचने के लिए, तथ्यों और मूल्यो के अध्ययन को पृथक् रखना जरूरी है। उनके भेद को स्पष्ट करने से, पर साथ ही उनके आपस मे कभी न मिलने से, भ्रान्ति उत्पन्न होना बहुत सम्भव है। मानव-जीवन के संपूर्ण अध्ययन के लिए समाजशास्त्र और समाज-दर्शन मे एक समन्वय अपेक्षित है, एक दूसरे मे बिलकुल मिल जाना नही।

समाजशास्त्र का अध्ययन पद्धतियां

प्रत्येक शास्त्र को अपने विषय के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए कुछ विशिष्ट रीतियों या साधनो का सहारा लेना पड़ता है जिसे कि हर विज्ञान की अध्ययन-पद्धति कहते है। सामान्य रूप से समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धति बहुत कुछ अन्य विज्ञानो से मिलती-जुलती हैं।

सामान्य अध्ययन पद्धति. (१) समाजशास्त्र सामाजिक स्थिति के किसी भी पहलू से उत्पन्न किसी भी अपरिचित और चुनौती देने वाले तथ्य पर ध्यान देता है।

(२) उसकी प्रकृति के बारे में एक कामचलाऊ पूर्वकल्पना (Hypothesis) तैयार करता है, अर्थात् अनुभव को, जो कि उस पर लागू किये गये अस्थायी कथनों से व्यक्त होता है, अधिक परिचित पृष्ठभूमि मे कार्यशील स्थान देता है।

(३) इस स्थान देने का औचित्य, जिसका कि उद्देश्य किसी सामाजिक घटना या तथ्य को अर्थ प्रदान करना होता है, विस्तृत खोज और परीक्षण, विषय

से सम्बन्धित वस्तुगत (Objective) सम्बन्धों तथा सम्बद्ध तथ्यों के आंकड़ों और तथ्यों के संकलन से प्राप्त होता है, जिससे कि उसके गुणों, प्रभावों या समाज के कर्मरत भाग पर प्रकाश डाला जा सके।

(४) इसका उद्देश्य विषय विशेष और सामाजिक जीवन, जिसका कि वह अंग है, दोनों की वृद्धि और उत्कृष्ट व्याख्या करना है।

विशिष्ट पद्धतियां. उपर्युक्त सामान्य अध्ययन पद्धति के अतिरिक्त, समाजशास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों मे सामाजिक-घटनाओं और तथ्यों के अध्ययन के लिए विभिन्न विशिष्ट पद्धतियां बनाई है, उनकी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, अथवा उनके अपनाने पर बल दिया है। सुविधा के लिए हम इन विशिष्ट पद्धतियों को तीन भागों में विभक्त कर सकते है—

पद्धति. तथाकथित यथार्थवादियो ने पद्धतिशास्त्र (Methodology) पर कई कल्पनाएं और दृष्टिकोण प्रस्तुत किये है। कोम्ते का सामाजिक ऐक्य, दुरखाइम का सामूहिक प्रतिनिधित्व, साइमल का अन्तःक्रियाओं का सामाजिक स्वरूप, वेबर का आदर्श टाइप विश्लेषण, सुमनर की जनरीति और मान्य रूढ़ि, स्माल का समूह, कले का सहानुभूति युक्त अन्तःपर्यवेक्षण, पार्क का सामूहिक व्यवहार इसके अच्छे उदाहरण हैं।

१. तथ्य सकलन पद्धति. समाजशास्त्रियों के दूसरे वर्ग का कहना है कि प्राकृतिक विज्ञानों की मुख्य प्रणालियां—अवलोकन, तुलना, संवहन (commuuication) मानव सामाजिक व्यवहार पर क्यों लागू नही की जा सकती ?

व्यक्ति जीवनी का महत्व. इसके अतिरिक्त, किसी भी विज्ञान के लिए एक उपयुक्त यन्त्र की खोज या आविष्कार जरूरी है। ज्योतिषशास्त्र के लिए टेलिस्कोप रसायनशास्त्र के लिए टेस्ट ट्यूब, प्राणिशास्त्र के लिए माइक्रोस्कोप ऐसे ही यन्त्र हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि व्यक्तिगत जीवनी के रूप में समाजशास्त्र के लिए वह एक ऐसे ही यन्त्र की खोज कर चुके है। समाजशास्त्रीय अध्ययन मे व्यक्तिगत जीवनियों का महत्व दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है। ✓

केस अध्ययन (Case study) पद्धति का विकास. किसी भी सामाजिक घटना का अध्ययन करते समय उसके बाह्य और आन्तरिक, दोनों ही कारणों पर ध्यान देना और विचार करना आवश्यक है। इसके लिए केस अध्ययन, अर्थात् व्यक्ति विशेष की मानसिक प्रतिक्रियाओं तथा उसके बाह्य वातावरण का जानना जरूरी है। व्यक्तिगत लेखे इस कार्य को सम्पन्न करते है। आलपोर्ट के मत मे, "व्यक्तिगत लेखे एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में स्वीकार होने चाहिएं, क्योकि वह सूचना, पूर्वोक्ति और नियन्त्रण शक्ति को, जिसे कि मनुष्य बिना किसी मदद के

प्राप्त कर लेता है, बढ़ाते हैं। जान डौलार्ड के अनुसार 'जीवन इतिहास के मापदंड' में उसका उद्देश्य सम्पूर्ण व्यक्ति और उसकी सम्पूर्ण संस्कृति का अध्ययन है। वास्तव में व्यक्तित्व का जननिक (Genetic) तत्वों, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र सबों का एक साथ अध्ययन आवश्यक है।

व्यक्तिगत लेखों के अध्ययन की भी दो पद्धतियां हैं—(क) निष्कर्ष की तुलना, (ख) व्यक्तिगत केस का उसके पूर्व व्यक्तित्व और सम्पूर्णता में मूल्यांकन करना।

आदर्श टाइप पद्धति. केसों और व्यक्तिगत लेखों के विश्लेषण के लिए दुरखाइम और वैबर जैसे समाजशास्त्रियों ने आदर्श टाइप (Ideal Types) की सहायता ली है। आदर्श टाइप अन्वेषण की एक प्रणाली है जिसमें कि अन्वेषक विशेष केस के गुणों को बढ़ा-चढा कर एक आदर्श कल्पना के रूप मे रखता है और उसकी स्पष्ट व्याख्या देता है। उदाहरण के लिए, वैबर ने एक दैवी नेता का आदर्श टाइप प्रस्तुत किया है, जिसे कि उसने अति-मानवीय अलौकिक शक्तियों से विभूषित माना है। आर्थिक मनुष्य (Economic Man) जो हर समय केवल आर्थिक लाभ-हानि की ही दृष्टि से सोचता है, एक आदर्श टाइप है।

२. **गणनात्मक** (Statistical) **पद्धति का विकास.** हाल ही में समस्त सामाजिक अन्वेषणों में गणनात्मक पद्धति का अधिकाधिक प्रयोग हुआ है। जनगणना के तथ्य-संग्रहो से इसे विशेष प्रेरणा मिली है। वास्तव में जन्म, मरण, प्रव्रजन, (migration) इसे विषय अन्वेषक की व्यक्तिगत धारणा और मूल्यों से सम्बद्ध नहीं है, अतः उनका वैज्ञानिक अध्ययन पर्याप्त निष्पक्ष सिद्ध हुआ है।

पूर्व कल्पना (Hypothesis) विश्लेषण के साथ सामाजिक परिमाणात्मक (Quantitative) तरीकों से एक नये समाज गणित का विकास हुआ है जिसे कि समाजमिति (Sociometry) कहते है। समाजमिति धीरे-धीरे काल्पनिक सामाजिक विश्लेषण और आंकड़ों के बीच के अन्तर को कम कर रही है।

केस अध्ययन और आंकड़ों का अन्तःसम्बन्ध. केस अध्ययन और गणनात्मक पद्धति— आंकड़ों के प्रयोग का प्रचार दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है। यद्यपि गणनात्मक पद्धति अभी भी बहुत सी सामाजिक समस्याओं पर लागू होती नहीं दीखती। फिर भी यह दिन-पर-दिन पूर्णता की ओर अग्रसर हो रही है। यद्यपि केस अध्ययन आंख खोलने वाले है। किन्तु जटिल पूर्वकल्पनाओं का परीक्षण बहुत कठिन कार्य है। निःसन्देह केस अध्ययन और व्यक्तिगत लेखे ने गवेषक को एक नया शस्त्र प्रदान किया है। केस अध्ययन आंकड़ों का उपयोगी सहायक है, आंकड़ों की खोजों की व्याख्या में बहुत मूल्यवान है। आंकड़े और केस अध्ययन. दोनों ही एक दूसरे के सहायक हैं।

३. **विचारधारात्मक** (Ideological) **पद्धति.** समाजशास्त्रियों का एक अन्य वर्ग अतीत, वर्तमान और उदीयमान विचारधाराओं की सहायता से समाज का अध्ययन करना चाहता है। उनके अनुसार सामाजिक घटनाओं और परिवर्तनों अथवा सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप-निर्धारण और नियन्त्रण मे समाज की तत्कालीन विचारधारा का जबर्दस्त हाथ होता है। उदाहरण के लिए, १९ वीं शताब्दी के पूंजीवाद के उत्कर्ष मे यान्त्रिक कारणों के अतिरिक्त, तत्कालीन मुक्त व्यापार की विचारधारा का बडा हाथ था। प्रख्यात समाजशास्त्री कार्ल मैनहाइम ने इस दृष्टिकोण को बहुत स्पष्टतापूर्वक व्यक्त किया है। विचारधाराओं की शैलियों को समझे बिना हम सामाजिक तथ्यो को ठीक-ठीक नही समझ सकते।

प्रतिकूल निगमन पद्धति (Inverses Deductive Method)

तर्कशास्त्र (Logic) की दृष्टि से किसी तथ्य के सिलसिलेवार और वैज्ञानिक अध्ययन की, जिससे कि किसी निश्चित परिणाम, अर्थात् एक सामान्य नियन (Law) पर पहुंचा जा सके, दो रीतिया है। एक रीति में हम विभिन्न तथ्यों या घटनाओं को अलग-अलग देखते और परखते है और उनमें पायी जानेवाली समानताओ के आधार पर किसी एक परिणाम पर पहुंचते है। इस तरीके को आगमन पद्धति (Inductive method) कहा जाता है। सामाजिक क्षेत्र मे ही, उदाहरण के लिए, यदि हम एक समुदाय के १०० क्रूर और आक्रमणात्मक प्रवति से पूर्ण माता-पिताओ का अलग-अलग अध्ययन कर यह जान पाये कि उनमे से ९५ लोगों का बचपन बहुत ही दुःखमय बीता, तो हम उस से यह परिणाम निकाल सकते है कि दुःखमय बचपन क्रूर और आक्रमणात्मक प्रवृति से पूर्ण वयस्को की सृष्टि करता है। हमारा इस परिणाम पर पहुचने का तरीका आगमन पद्धति कहलायेगा।

इसके विपरीत, जब हम शुरू मे ही यह पूर्वकल्पना (Hypothesis) प्रस्तुत करते है कि क्रूर और आक्रमणात्मक प्रवृति से पूर्ण माता-पिताओं का बचपन दुःखमय होना चाहिए। फिर इस पूर्वकल्पना की सच्चाई की जांच करने के लिए १०० ऐसे माता-पिताओं का अध्ययन करते है जिनका व्यवहार की क्रूर और आक्रमणात्मक है। इस खोज के बाद हमे यह पता चलता है कि हमारी पूर्वकल्पना सच निकली। १०० में से ९५ केसो ने हमारे मत की पुष्टि की। इस तरीके से हम जिस परिणाम पर पहुंचे उसे निगमन पद्धति (Deductive method) कहा जाता है।

निगमन पद्धति भी दो प्रकार की होती है। एक अनुकूल (Direct) और दूसरी प्रतिकूल (Inverse)। इन दोनों मे मुख्य अंतर इतना ही है जबकि हम पहली पद्धति में अध्ययन किए हुए तथ्य, घटना या वस्तु की निश्चित और दुबारा परीक्षा कर सकते हैं, दूसरी पद्धति में ऐसा नहीं कर सकते। इसीलिए पहली अनुकूल निगमन पद्धति भौतिक विज्ञानों में प्रयुक्त की जाती हैं, क्योंकि उनकी

विषयवस्तु और अध्ययन सामग्री उसके अनुकूल हैं। समाज विज्ञानों की अध्ययन सामग्री जो कि निरंतर परिवर्तनशील है और जिसमें मानव तत्व, सूक्ष्म भावनात्मक तत्व प्रधान हैं, इसके अनुकूल नहीं है। अतः इसे प्रतिकूल निगमन पद्धति का ही सहारा लेना पड़ता है जिसमें परीक्षात्मक प्रस्थापनाएं (Empirical Generalisations) लेकर ही हम आगे बढ़ते हैं।

क्षेत्र-कार्य (Field Work)

समाजशास्त्रीय अन्वेषण का मुख्य व्यावहारिक हथियार तो क्षेत्र-कार्य ही है, जो किसी भी सामाजिक तथ्य या घटना की तह या नियम पर पहुंचने के लिये हमे ठोस सामग्री प्रदान करता है। क्षेत्र-कार्य मे अन्वेषक स्वयं अपने अध्ययन के विषय तथ्य या घटना के बीच जाकर, रहकर, पर बिना उन्हें प्रभावित किए हुये, सावधानी, सच्चाई और निष्पक्षता से वहां के सम्पूर्ण वातावरण और सम्बन्धों के प्रसंग मे उस विषय, तथ्य या घटना का व्यौरे के साथ सिलसिलेवार लेखा रखता है। इस कार्य के लिए वह विभिन्न गवेषणा प्रणालियों (Research Techniques) की सहायता लेता है।

अवलोकन (Observation), लिखित प्रश्न सूचियों (Questionnaires), जीवनियों और आत्मकथाओं का संकलन एकाकी या सम्मिलित इंटरव्यू गवेषणा की कुछ प्रमुख प्रचलित प्रणालियां हैं। इन गवेषणा प्रणालियों मे निरंतर संशोधन और सुधार हो रहे हैं। और उनकी कमियों को दूर करने के अथक प्रयत्न हो रहे हैं। तथ्यों के संकलन विश्लेषण और मूल्यांकन मे अधिकाधिक निश्चयता, निष्पक्षता और वैज्ञानिकता लाने के लिए बराबर नए-नए सुझाव आते रहते हैं। इनमें से कुछ नयी और महत्वपूर्ण प्रणालियों पर हम आगे विचार करेंगे।

(i) **अन्तःशास्त्रीय टीम कार्य** (Inter-disciplinary Team Work) सामाजिक तथ्यो का अध्ययन हमे स्पष्ट रूप से यह बतलाता है कि कोई भी सामाजिक तथ्य या घटना एक सर्वथा पृथक् चीज नहीं है। यह सदा ही अनेक तथ्यों और घटनाओं से सम्बन्धित होती है। इसलिए उस तथ्य या घटना का एकाकी अध्ययन जब तक कि हम उसके अन्तःसम्बन्धों को भली भांति न समझ सकें, अपने आप मे कोई विशेष महत्त्व नही रखता और न ही वह सामाजिक यथार्थता की सही तस्वीर ही हमारे सामने पेश करता है। लेकिन इन विभिन्न अन्तःसम्बन्धों में—एक ही घटना के विभिन्न पहलुओं को, विशेषकर किसी एक जटिल समाज में, एक साथ सूक्ष्मता से समझना किसी एक विशेषज्ञ के बूते के बाहर की बात है। एक अर्थशास्त्री किसी समाज का अकेले आर्थिक ढाँचे का तो सुचारु रूप से वर्णन कर सकता किन्तु वह उसको प्रभावित करने वाले राजनैतिक, नैतिक या भौगोलिक कारणों को उतनी अच्छी

तरह नहीं समझ सकता। इसके अतिरिक्त, उसके एकाकी अध्ययन में, जिस विषय का यह विशेषज्ञ है उसकी अनुचित प्रभुता का आ जाना भी बहुत स्वाभाविक है। इस कमी से बचने का एक ही उपाय है कि विभिन्न सम्बन्धित विषयों क विद्वान् मिलकर क्षेत्रीय गवेषणा के कार्य को सम्पन्न करें। हाल ही में इस दृष्टिकोण को लेकर दो उल्लेखनीय गवेषणाएं हुई हैं। शार्प, हौक, जानलेखा और टैक्सटर चार अन्वेषकों ने मिलकर 'स्याम के चावल उपजाने वाले गांव' का एक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस टीम में दो मानवशास्त्रियों (Anthropologists), एक कृषि अर्थशास्त्री तथा एक पोषणशास्त्र (Nutrition) के अध्यापक ने कार्य किया है। यह लोग गवेषणा के समय में साथ रहे और साथ मिलकर कार्य किया। इस प्रकार एक दूसरे की खोजों से यह अपने कार्य का सम्बन्ध स्थापित कर सके। इस प्रकार जहां पोषणशास्त्री ने स्वास्थ्य की चर्चा की, वह वहां पर धर्म और चिकित्सा की धारणाओं से उनका सम्बन्ध स्थापित कर सका। इसी प्रकार विभिन्न विज्ञानों के विद्वानों के सहयोगी अध्ययन का एक अन्य उदाहरण दुबे की भारतीय गांव नामक पुस्तक है। यद्यपि इसे एक ही व्यक्ति ने लिखा है फिर भी इसके तथ्य संग्रह में अर्थशास्त्रियों, चिकित्सकों और कृषिशास्त्रियों ने सहयोग दिया है।

किसी छोटे समुदाय में अन्वेषकों की एक बड़ी टीम के कार्य करने मे एक ही खतरा है कि यही उनकी उपस्थिति स्वयं ही वहां की परिस्थिति को न बदल दे। अतः ऐसे समुदायों में गवेषणा करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि टीम के कम से कम सदस्य हों।

(ii) **कार्यात्मक प्रवेश** (Functional Penetration). किसी वर्ग या समूह विशेष का अध्ययन अधिक श्रेष्ठ और सुचारु रूप से किया जा सकता है, यदि अन्वेषक स्वय उस वर्ग या समूह का सदस्य बनकर कार्य कर सके। इस प्रणाली को कार्यात्मक प्रवेश का नाम दिया गया है। इसमें अन्वेषक उस समाज में जिसमे कि वह अध्ययन कर रहा है एक विशेष स्थान और कार्य, पद (Status) और भूमिका (Role) प्राप्त कर लेता है।

अन्वेषक का किसी कार्य की भूमिका ग्रहण करना (उदाहरण के लिए कारखाने मे एक मजदूर की) उस समुदाय के सदस्यों मे एक सहानुभूतिपूर्ण प्रतिक्रिया पैदा करेगा। उस कार्य का अनुभव उसे बतलाएगा कि उसे कौन से प्रश्न पूछने चाहिएं। कार्य का यह प्रत्यक्ष अनुभव नई समस्याओं और नई पूर्व कल्पनाओं (Hypotheses) को प्रस्तुत करने का आवश्यक मानसिक आधार जुटाएगा।

कार्यात्मक प्रवेश की प्रणाली एक टीम के लिए अधिक उपयुक्त है जिसमें कि उसके सदस्य विभिन्न भूमिकाएं ग्रहण कर समाज के विभिन्न वर्गों का निकट से अध्ययन कर सकते हैं। श्रेणीबद्ध (Hierarchal) समुदाय के लिए जिसमें कि

एक वर्ग का सदस्य दूसरे वर्ग से एक से सम्बन्ध नहीं बना रख सकता, यह अध्ययन-प्रणाली बहुत उपयोगी है। टीम के सदस्य विभिन्न वर्गों के सदस्य बन कर उनका सूक्ष्म अध्ययन कर सकते हैं।

(iii) **अन्त: सांस्कृतिक गवेषणा** (Inter-cultural Research). भिन्न संस्कृतियों के अन्वेषक चाहे वह कितने ही निष्पक्ष क्यों न हो, जब किसी संस्कृति विशेष का अध्ययन करते हैं उनके अध्ययन पर उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, उसकी मान्यताओं की कुछ न कुछ छाप तो अवश्य रह जाती है और इस प्रकार उनके अध्ययन पूर्ण रूप से निरपेक्ष (Objective) नही कहे जा सकते। इसके अलावा, विभिन्न राष्ट्रों की गवेषणा-पद्धतियों मे पर्याप्त अंतर है। उदाहरणार्थ, अमरीकन स्कूल मे घटना (Phenomenon) के सूक्ष्म और निश्चित मापने की प्रवृत्ति प्रबल है। फ्रेंच स्कूल में सख्या पर कम और अवलोकन पर अधिक जोर देता है। ऐसी स्थिति मे सामाजिक घटनाओं के अधिक संतुलित और निरपेक्ष अध्ययन के लिए यह उचित है कि भिन्न संस्कृतियों के अन्वेषक मिलकर गवेषणा करें। इस प्रकार वह बहुत कुछ एक दूसरे की भूलों को सुधार सकेगे।।अन्त:सांस्कृतिक गवेषणा मे, यदि संभव हो तो एक सदस्य उस, संस्कृति का जिसका कि अध्ययन हो रहा है, अवश्य होना चाहिए।

अन्त मे हम इतना ही कह सकते है कि अन्त.शास्त्रीय कार्यात्मक प्रवेश और अन्त:सास्कृतिक गवेषणा की प्रणालियों को मिलाकर बेहतर परिणाम प्राप्त किए जा सकते है।

अन्तर्दृष्टि (Insight) **और सहक्रिया** (Partcipation). प्रो० डी० पी० मुकर्जी ने प्रथम समाजशास्त्र सम्मेलन में भारत मे सामाजिक समस्याओं के अध्ययन मे अन्वेषक को सामाजिक जीवन में हिस्सा लेने पर बहुत बल दिया है। उनके अनुसार वास्तविक जीवन का लम्बा अनुभव ही सामाजिक तथ्यों को समझने की पहली शर्त है। केवल परम्पराओं में सराबोर होकर ही समाजशास्त्री एक सहज अन्त:दृष्टि और सूझ प्राप्त कर सकता है। इस समझने मे अध्ययन किए जाने वाले विषय से ऐक्य की अनुभूति (Empathy) आवश्यक है। एक भारतीय समाजशास्त्री के लिए पहले भारतीय होना, देश की जनरीति, रूढ़ियों, रिवाजों परम्पराओं में साझीदार होना जरूरी है। इसके लिए संस्कृत और स्थानीय बोलियों का ज्ञान भी अनिवार्य है। समाजशास्त्रीय अन्वेषण उस भाषा पर आधारित होना चाहिए, जिसमें कि स्थानीय परम्पराएं प्रतीकों द्वारा सुरक्षित हो।

सामूहिक कर्म (Group Action) **और सामूहिक परम्पराएं** (Tradition) प्रो० मुकर्जी के मत में, जहां तक भारत का सम्बन्ध है, समाजशास्त्र

के सामान्य स्थूल तथ्यों और घटनाओं को हम सामूहिक कर्म और सामूहिक परम्पराओं के अध्ययन द्वारा ही सबसे अच्छे तरीके से समझ सकते हैं। क्योंकि उनके अनुसार एक भारतीय का कर्म मूलतः व्यक्तिगत न होकर सामूहिक है। भारत का धर्म, जीवन और संस्कृति जीवन की परम्परागत रीति है। अभी भी यहां पर भौतिक, रागात्मक, बोधात्मक कर्म और आकांक्षा की इकाई समूह ही है। मनुष्य की हमारी कल्पना व्यक्ति न होकर पुरुष है।

विभिन्न पद्धतियों का समन्वय आवश्यक. प्रथम महायुद्ध के पश्चात् आदर्शात्मक काल्पनिक विश्लेषण, तथ्य संकलन तथा विचारधारात्मक विवेचन के बीच की खाई को पाटने का प्रयत्न किया गया है। वास्तव में किसी भी सामाजिक अध्ययन के लिए आवश्यक तथ्यों का मौजूद होना, तथ्यों को समझने अथवा बदलने के लिए वर्तमान विचारधारात्मक पेचीदगियों से परिचित होना बहुत जरूरी है। इस तरह तीनों पृथक् पद्धतिया एक-दूसरे की प्रतियोगी न होकर पूरक है, शत्रु नहीं, सहयोगी है।

दूसरा अध्याय

प्राथमिक परिभाषाएं

PRIMARY DEFINITIONS

प्रतिदिन के प्रयोग के कारण निर्दिष्ट अर्थ का अभाव. समाजशास्त्र मनुष्य के सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यवहारों— सामाजिक व्यवहारों— का अध्ययन करता है, या जैसे बोगार्डस ने कहा है, समाजशास्त्र उन सामाजिक अन्तःक्रियाओं का अध्ययन है जो व्यक्तित्वों के विकास और परिपक्वता में सामाजिक समूहों के द्वारा कार्यान्वित होती हैं। इसलिए कितनी ही बार हम उसमें प्रयुक्त शब्दों और धारणाओं को अपने दैनिक, अवैज्ञानिक और अनिर्धारित अर्थों में ग्रहण करते हैं। बार-बार जब हम उन्हीं विचारों, उन्हीं क्रियाओं और शब्दों के प्रतिदिन संपर्क में आते हैं तो उनका अलग-अलग अर्थों में प्रयोग, अलग-अलग क्रियाओं के लिए उनका नामकरण होना स्वाभाविक है। पर जब भी हम एक वैज्ञानिक, एक शास्त्रीय दृष्टिकोण से इन व्यवहारों और क्रियाओं का अध्ययन करने लगें, हमें कुछ विशेष शब्दों की परिभाषा करनी होगी, उनके अर्थ निर्धारित कर लेने होंगे।

स्थूल वस्तु-रचना न होने से अर्थ में भ्रान्ति. यह न केवल इसलिए, बल्कि इसलिए भी कि— समाज, समुदाय, नस्ल, जनरूढ़ि, इत्यादि शब्द हमारे संमुख एक स्थूल शरीर लेकर उपस्थित नहीं हैं। कुर्सी, सूर्य, चावल, मेंढक इत्यादि स्थूल वस्तुओं के साथ यह कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। सामाजिक व्यवहार में आने वाले शब्दों में इस निश्चितता का अभाव है। समाज शब्द को ही लें। क्या यह किसी एक साम्प्रदायिक धार्मिक समूह का नाम है, जैसे ब्रह्मसमाज या आर्यसमाज, या एक राष्ट्र का, या यह सभी व्यक्तियों की एक समष्टि का ?

एक समुदाय (Community) और समाज (Society) में क्या अन्तर है ? संस्था क्या है ? यह सब तथ्य हमारे सामाजिक अध्ययन का अभिन्न अंग है, पर इनका प्रयोग विभिन्न व्यक्ति विभिन्न अर्थों से करते हैं। अतः इनकी एक निश्चित परिभाषा देना किसी भी वैज्ञानिक अध्ययन के लिए जरूरी है।

समाज (Society)

हम सभी दूसरे मनुष्यों के साथ रहते हैं। दूसरे मनुष्यों—परिवार—पर ही बच्चा अपने भरण-पोषण के लिए, अपने शरीर की रक्षा के लिए अपने ज्ञान के लिए, निर्भर करता है। दूसरे मनुष्यों के सहयोग में ही आरण्यक अवस्था का प्रत्येक प्राणी कठोर और भीषण परिस्थिति में अपने को सुरक्षित रख सका। सहयोग.

साहचर्य, सामूहिक जीवन ने ही मानव जाति को यह विकास दिया है, जो कि आज उसे प्राप्त है।

समाज मानव व्यवहारों, अन्त: क्रियाओं और सामूहिक प्रणालियों का विधान. वह दूसरे मनुष्य, वह समूह, जिनमें हम अपनी पूर्णता को प्राप्त करते हैं, अपने पेट को भरने, तन को ढांपने, जीवन की रक्षा करने का प्रयास करने हैं, ज्ञान प्राप्त करते है जो समूह हमारे व्यवहारों को एक दिशा देता है, जो हमारे व्यवहारों का नियन्त्रण भी करता है, वही समाज है। इसमे हमारा व्यवहार तथा इसमें प्रविष्ट सभी व्यक्तियों का व्यवहार सामाजिक व्यवहार है। इसीके व्यवहारों, परिपाटियों, परिवर्तनों, विकास इत्यादि को हम सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं और रौस के मत में यही समाजशास्त्र के अध्ययन के विषय है।

मैकाइवर के शब्दों में "समाज व्यवहारों और प्रणालियो का एक विधान है, शासन और सहयोग समूहों और विभक्तियों का, मानव-व्यवहार के नियन्त्रणों और स्वाधीनताओं का एक ढांचा है। इस सदा परिवर्तनशील, पेचीदे विधान को हम समाज कहते हैं।"

समाज एक अन्तःप्रेरित सदा विकासमय और परिवर्तनशील मानव-समूह. इस प्रकार समाज, ऐसे मनुष्यों का समूह है जो एक दूसरे के व्यवहार मे आते हैं, अर्थात् जो एक दूसरे की उपस्थिति मे, एक दूसरे के व्यवहारों से प्रेरित होते है। पर उनकी प्रेरणा के ये विषय— दूसरे लोगों के व्यवहार— भी तो उनके अपने व्यवहारों की ही प्रतिक्रियाएं है। इसलिए ऐसे मनुष्यों का समूह जो एक दूसरे से अन्तःप्रेरित होते हों एक समाज कहलाता है। और ये प्रेरणाएं प्रतिक्रियाएं सामाजिक व्यवहार हैं। क्योंकि हम अपनी परिवर्तित अवस्था के कारण या अपने सहयोगियों या उपस्थितों के बदलने के कारण अलग-अलग शारीरिक प्रतिक्रियाएं करते है। इसलिए परिवर्तन इन सामाजिक व्यवहारों का मूल मंत्र है। मनुष्य जीवित प्राणी है। जीवन को मृत्यु से पहचानने का एकमात्र साधन है विकास, परिवर्तन अतः मानव समूह, और उसकी अन्तःप्रेरणाएं, परिणामतः उसका समाज, सदा ही जीवित, विकासमय और परिवर्तनशील है।

एक दूसरे की उपस्थिति का ज्ञान अन्तःप्रेरणा का आधार. परन्तु यदि समूह अन्तःप्रेरित नही, तो उसे समाज कैसे कहा जाए ? अन्तःप्रेरणा तभी होगी जब हम अपने समीप के लोगो से प्रेरित होंगे, जब उनकी उपस्थिति का हमें ज्ञान होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि समाज के व्यक्तियो को एक दूसरे की की उपस्थिति का आभास हो।

एक दूसरे से परिचय, समानता और भिन्नता. एक दूसरे की उपस्थिति का ज्ञान सामाजिक व्यवहार को जन्म भले ही दे दे, पर उसे विकसित करने, जारी

रखने के लिए एक दूसरे से जान-पहचान होना, एक दूसरे के साथ मिलकर चल सकना अधिक आवश्यक है। मानव-मानव बहुत अंशों में समान है। उनके हित एक दूसरे से जुड़े हुए है। सामाजिक जीवन से रहित वे नहीं जी सकते। हितों की इसी एकता और समानता और एक दूसरे से सम्बन्धित होने की इसी भावना से समाज का जन्म हुआ है।

एक समान होते हुए भी मानव-मानव भिन्न है। भिन्न विचार, भिन्न व्यक्तित्व और भिन्न हित लिए हुए है। इसीलिए संघर्ष, युद्ध, विरोध, प्रायः सभी समाजों के अंग है। विविधता, बहुमुखता और विकास सामाजिक व्यवहारों की विभिन्नता के परिणाम है। पर यह विकास और विविधता मानव-मानव की भिन्नता के ज्ञान के कारण और उस भिन्नता में भी एक दूसरे की भिन्नता को पहचान कर मिल सकने की भावना के कारण ही हो सके हैं। मानव-मानव में भिन्नता के बावजूद भी, जिसे गिडिंग्स ने "एकजातीयता की भावना" कहा है। उस भावना के कारण ही मानव प्रगति कर सका है, चूंकि उसमे भिन्नता से समानता अधिक है।

प्रधान हितों की प्राप्ति में संलग्न समूह. इस समानता की ओर लक्ष्य करके ही फेयरचाइल्ड ने समाजशास्त्र के शब्द-कोष में कहा है : "समाज उन मनुष्यों का एक समूह है जो अपने कुछ प्रधान हितों की प्राप्ति में सहयोग कर रहे हो। इन हितों में आत्मरक्षा और मानव जाति का निरंतर प्रसार प्रधान है। इसमे जटिल सामितिक सम्बन्ध, धारावाहिकता और पुरुषों, स्त्रियों और शिशुओं के सम्मिलन को लिया जाता है।"

समुदाय (Community)

सहवास, प्रधान हितों की एकता और आत्मीयता. इस प्रकार हम देखते है कि समाज उन 'समानजातीय' मनुष्यों का समूह है जो इस समानजातीयता के कारण समाज का अंग है। समाज का वह सीमित रूप जिसमें मनुष्य एक छोटी परिधि मे, ऐसी परिधि मे, जिसमे एक साथ रहने के कारण उनका जीवन समान हो और सामूहिक हो, जिसमे उनके सभी प्रधान हित पूरे हो पाएं, समाज से छोटा होने पर समुदाय कहलाता है। एक गाव को ही ले लें। सभी ग्रामीणों के चिर सहवास के कारण उनके हित करीब-करीब ग्राम तक ही सीमित हो जाते हैं। सहवास के कारण ही उनमे एकता की भावना, एक स्थानीयता और अपनेपन की भावना का जन्म हो जाता है। ऐसे समूह को, जिसमें सहवास-प्रधान हितों की पूर्ति औ अपनेपन की भावना हो, हम समुदाय कहते है।

सहवास ऐकात्मता के दृढ़ सूत्र का पोषक. सहवास, अर्थात् साथ-साथ रहन समूह के जीवन को एक लड़ी मे पिरो देता है। एक साथ रहने से सामाजिक आत्मीयता का एक दृढ़ सूत्र सबको बांध लेता है। इन अर्थो में एक समुदाय

भौगोलिक इकाई और सांस्कृतिक एकता के घनिष्ठ सम्मिलन का परिणाम है। इस बात के बावजूद भी कि भौगोलिक या प्रादेशिक प्रभाव यातायात और संचार (Communication) के साधनों के विकास के कारण कम हो गया है, सह-वासजनित एकता और घनिष्ठता से इनकार नहीं किया जा सकता।

ऐकात्मता सामुदायिक भावना का मूल. परन्तु फिर भी केवल सहवास ही किसी समुदाय को जन्म दे पाए, ऐसा नहीं है। जिस सामाजिक सामान्यता और दृढ़ता से समुदाय में एक होने की, अपना होने की, या गैर होने की भावना का जन्म होता है, उसके लिए 'स्थानीय' ही नहीं, मानसिक धारणाओं का ऐक्य भी आवश्यक है। जो लोग एक समुदाय से मानसिक एकता होने पर दूसरे स्थानों पर भी रहते हैं, वह भी अपने को उसी समुदाय का अंग मानने में गर्व करते हैं।

एक समुदाय एक समान जीवन और सहजीवन का क्षेत्र है और इस समान जीवन में यह आभास भी होना चाहिए कि समूह के अलग-अलग व्यक्ति एक विशिष्ट समान जीवन की रीति को अपनाए हुए है, एक विशिष्ट जीवन-प्रणाली में भाग ले रहे हैं, सार्वजनिक कार्यों में योग दे रहे हैं।

समुदाय की कुछ परिभाषाएं फेयरचाइल्ड के अनुसार "एक समुदाय में एक क्षेत्र, बड़ी मात्रा में अन्तर्व्यक्तिगत परिचय, एक दूसरे से जान पहचान सम्बन्ध, और सामाजिक एकता की विशिष्टता का, जो समुदायों को पड़ोसी समूहों से अलग करती है, होना आवश्यक होता है।"

आस्बोर्न के शब्दों में, "ऐसे मनुष्यों का समूह, जो एक ही भौगोलिक क्षेत्रीय इकाई में रहते हों, कार्यक्रमों और हितों के समान केन्द्र रखता हो और जीवन के महत्वपूर्ण कामों में सामूहिक रूप में सहयोग करता हो, समुदाय है।"

बोगार्डस के मत में "समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है, जिसमें 'हम एक ही हैं' की भावना और एक विशेष क्षेत्र में निवास, यह दोनों तत्व विद्यमान है।"—

समिति (Association)

जहां सामान्य निवास और प्रधान हितों की उपलब्धि की सामूहिक चेष्टाए समुदाय को जन्म देती हैं, वहां जब मनुष्य एक जगह न रहते हुए भी सभी प्रधान हितों की समानता न रखते हुए, कुछ खास हितों के लिए अपने को एक सम्बन्ध में बांध लेते हैं, ऐसे सम्बन्धों के औपचारिक संगठन को हम समिति कहते हैं।

कुछ विशेष हितों की प्राप्ति समिति का लक्ष्य. स्पष्ट है कि अलग-अलग श्रेणियों, अलग-अलग हितों, अलग-अलग समुदायों या एक श्रेणी के लोग भी एक समिति के सदस्य हो सकते हैं। उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सामूहिक चेष्टा होती है और इसी के लिए समिति का संगठन होता है। इस संगठन के कुछ सुनिर्धारित नियम-उपनियम होते हैं, जो या तो समुदाय के ही रीति रिवाज होते हैं या

बनाए जाते है ।

समिति की विशेषताएं : नियम, पदाधिकारी, संगठन और सम्पत्ति. संगठन के न केवल निर्धारित नियम और नियमावली होती है, बल्कि समिति की चेष्टा को निर्दिष्ट करने के लिए, सामान्य हितों की प्राप्ति या रक्षा के लिए कुछ अधिकारी भी होते हैं। चन्दा भी इसीलिए इकट्ठा होता है और इस प्रकार सदस्य अपना-अपना योग देकर सामितिक सम्पत्ति संगृहीत कर पाते है, ताकि सामान्य लक्ष्य-प्राप्ति का प्रयत्न चल सके और चलता रहे। अतः ऐसा संगठित समूह, जो एक सामान्य हित की प्राप्ति या रक्षा के लिए बनाया जाय और जिसके कुछ अपने ही विशिष्ट पदाधिकारी हों, 'अपनी ही' आत्मसीमित शासन व्यवस्था हो, समिति कहलाता है ।

संस्थाएं (Institutions)

प्रधान हित या हितों की समानता के कारण समुदाय बनते हैं या समितियां बनाई जाती है। परन्तु उन हितों की प्राप्ति के लिए कुछ मान्य प्रणालियां, कुछ सर्व-स्वीकृत तौर-तरीके अपनाए जाते है। यह प्रणालियां या व्यवहार संस्थाएं कहलाते है ।

संस्थाएं : व्यवहार प्रणाली के सर्वमान्य रूप. इन अर्थों में जो विभिन्न चेष्टाएं समाज और स्वीकृत ढंगों पर हम अपने सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करते है, वही संस्थाएं है। चाहे प्रजनन के लिए विवाह की प्रणाली, चाहे क्रय और विक्रय के संगठन के लिए बाजार और उसके नियम, चाहे अपराधी को दण्ड देने के लिए जेल, यह सभी संस्थाएं हैं। यह संस्थाएं सामूहिक क्रिया या व्यवहार की विशिष्टताएं होती हैं।

संस्कृति प्रणालियों के समूह. गिलिन ने कहा है: "एक (सामाजिक) संस्था संस्कृति प्रतिमानों (Patterns) का कार्यात्मक समूह है, (क्रियाएँ, विचार, सम्मान और सांस्कृतिक साधन सभी इसके अन्तर्गत है) जो कुछ स्थायी होता है और जिसका जन्म अनुभव होने वाली सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है।" समाजशास्त्र के शब्दकोष में सस्था का अर्थ यह है: "संस्था एक स्थायी बहुग्रथित, एकीकृत, और संगठित व्यवहार प्रणाली है जिसके द्वारा सामाजिक नियंत्रण किया जाता है और जो बुनियादी सामाजिक मांगों या आवश्यकताओं को पूरा करती है।"

संस्था की विशेषताएं. संस्था की निम्न मुख्य विशेषताएं हैं :—

(१) व्यवहार प्रणालियों का संगठित समूह या रूप एक संस्था है। हैमिल्टन ने इसे 'सामाजिक प्रयोगों का समूह' कहा है। इस प्रकार संस्थाएं सारे सांस्कृतिक

विधान की अलग-अलग इकाइयों के तौर पर कार्य करती है।

(२) स्थायित्व या या स्थिरता संस्था का स्वभाव है। जब तक यह सर्व-स्वीकृत है, यह प्रचलित रहेगी, पर परिवर्तनशील समाज मे यह भी समय पाकर बदलेगी। परिवर्तन का प्रभाव एक संस्था पर बहुत देर में होता है।

(३) प्रत्येक संस्था के कुछ सुनिर्धारित लक्ष्य या उद्देश्य होते हैं।

(४) सास्कृतिक विकास और सास्कृतिक विरासत के लिए, व्यक्ति की शिक्षा और सामाजिक जीवन मे उसके सहयोग के लिए ये व्यवहार-प्रणाली समूह बहुत लाभदायक होते हैं।

(५) प्रत्येक सस्था के कुछ प्रतीक या चिन्ह होते हैं।

(६) प्रत्येक संस्था की कुछ निश्चित परिपाटी या विधान होता है।

(७) सस्था सामाजिक नियत्रण का एक साधन होती है।

समाज, समुदाय, समिति और संस्था का अन्तर

समाज उन मनुष्यों का बृहत् समूह है जिनको एक दूसरे का ज्ञान है, और जो समानताओं के कारण एक दूसरे को प्रेरित करते हैं।

ऐसा समाज जब एक ही स्थान पर रहता है, रहते-रहते प्रधान हितों की उपलब्धि सहयोग द्वारा करता है, और अपनेपन की भावना से ओत-प्रोत हो जाता है, समुदाय कहलाता है।

स्पष्ट है, प्रत्येक समुदाय समाज हो सकता है, पर प्रत्येक समाज समुदाय नही। इनका वड़ा अन्तर घनिष्ठता, ऐकात्मता, हितो की एकता और समान जीवन की मात्रा मे है।

मनुष्यों का अन्त:प्रेरित समूह जब कुछ प्रधान हितों को पाने के लिए संगठित होता है, समिति कहलाता है। इसके अपने कार्यकर्ता, सम्पत्ति और नियम होते है। एक समिति एक समुदाय से इस रूप में भिन्न है कि घनिष्ठता की वह पराकाष्ठा जो सामुदायिक भावना का प्राण है, समिति मे नही होती। समुदाय का तो व्यक्ति पूर्णत: अंग होता है। वह हर पहलू से उसका होता है। समिति मे वह केवल कुछ हितों के लिए अपनापन महसूस करता है। अत: अपनेपन की भावना कम होती है। न ही उसमे समान सहचर जीवन की सी एकता, रहन-सहन, खान-पान रीति-रिवाज की एकता ही आ पाती है। जहां समाज बनने के लिए केवल एक दूसरे की उपस्थिति का ज्ञान, समानता का आभास ही पर्याप्त है, समिति के लिए एक खास या कुछ खास हितों की एकता अनिवार्य है। पर समिति की तरह समाज के नियमबद्ध व्यवहार और निश्चित कार्यकर्ता नहीं होते।

एक संस्था, एक समाज, समुदाय या समिति की किसी सामूहिक व्यवहार प्रणाली या प्रणालियों के समूह का नाम है। किसी एक सामाजिक माग को पूरा

करने के लिए इसकी उत्पत्ति होती है। इसलिए यह इन तीनों समूहों का साधन है, पर कितनी ही बार यह स्वयं ही पवित्रता, पुरातन सत्ता की बात करके अपनी श्रेष्ठता जताती है, हालांकि यह तो स्वयं समाज, समुदाय और समिति की शिशु है। संस्थाओं के 'हम' अंग नही होते। समुदाय के कुछ अपने 'हम' हो सकते है, इसमें कुछ तो घनिष्ठता है, सस्था में इतनी भी नहीं है।

एक समुदाय के कुछ रीति-रिवाज ही होते है। पर एक समिति की अपनी सम्पत्ति इत्यादि भी होती है। संस्था आज उससे भी अधिक महत्व ले रही हैं। संस्था तो सामुदायिक या सामितिक जीवन की एक छोटी इकाई है।

नस्ल (Race)

नस्ल का विचार जब मानवशास्त्रियों ने शुरू में रखा उसका आधार प्राणिक या रक्त-शुद्धि था। पर ऐसी नस्ले मिल जाना, जो शताब्दियों से बिल्कुल अलग-अलग रहती है, जिनकी दूसरी नस्लों के रक्त से मिलावट न हुई हो, संभव नही है। अतः इस अर्थ में कोई शुद्ध नस्ले नही मिल सकेंगी।

पर पुरातन काल में एक ही पुरखे की संतान एक ही स्थान में पली, एक ही भौगोलिक वातावरण और परिस्थिति के प्रति उसने अपने को बदला, बनाया, संतुलित किया, और इस प्रकार एक भाषा, एक संस्कृति, व्यवहार और मर्यादा का उदय हुआ। इस प्रकार प्राणिक और सांस्कृतिक दोनों आधार मिल गए, और परिणामतः, नस्ल एक प्राणिक सांस्कृतिक आधार पर समझी जाने लगी। परन्तु स्थान परिवर्तन (interbreeding) अन्य जातियों से मिश्रण, चुनाव (selection) और अतःपरिवर्तनों (mutation) इत्यादि कारणो ने इन सांस्कृतिक विशेषताओं को भी अक्षुण्ण नही रखा।

फिर भी अज्ञात के भय से, जो आदिम अवस्था मे रहने वालों को था, वे अधिक मुक्त नहीं हो पाए। प्रजनन के लिए विवाह का रूप रूढ़ि द्वारा निर्धारित करके उन्होंने कुछ मात्रा में रक्त-शुद्धि रखी। 'अपने ही समूह मे विवाह करो' के रिवाज, और एक ही सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया के कारण पर्याप्त एकता, निरन्तरता पीढी-दर-पीढी चलती रही। और इसी आधार पर कुछ शारीरिक विशेषताओं और रक्त-सम्बन्धी गुणों को लेकर लोग अलग-अलग नस्लों की बात कहते हैं। मजूमदार के शब्दों में "यदि मनुष्यो का कोई समूह कुछ सामान्य शारीरिक गुणों या चिन्हों के कारण दूसरे समूहों से विशिष्ट हो, तो वह अपने सदस्यों के बहुत दूर स्थानों मे बिखरे होने पर भी एक नस्ल कहलाएगा। परन्तु यह नस्ली भेद ऐसे महत्वपूर्ण आनुवंशिक गुणों पर आधारित होने चाहिएं, जिन पर वातावरण का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा है।"।

जो लोग संस्कृति और नस्ल को आपस में मिला देते है, या राष्ट्र और नस्ल को

मिला देते हैं, जैसे कि आर्थर कीथ ने किया, वे प्राणिक तत्व को छोड़ कर, कृत्रिम सामाजिक तत्व को लेते हैं। पर हमें सदा याद रखना होगा कि नस्ली भेद का आधार प्राणिक और शारीरिक ही है।

समूह (Group)

निश्चित मानस व्यवहार प्रणाली आवश्यक. कोई भी दो मनुष्य जिनमें मानसिक अंत:क्रिया या अन्तर्व्यवहार का एक निश्चित आकार या निश्चित प्रणाली विद्यमान हो, एक समूह कहला सकते हैं। ऐसे एक समूह को न केवल समूह के सदस्यों द्वारा बल्कि दूसरे लोगों द्वारा भी एक पृथक् इकाई के रूप में माना जाता है। इसे इस प्रकार की इकाई मानने का कारण इसका एक विशेष सामूहिक व्यवहार है।

सामाजिक सम्बन्धों से समूह का उदय. एक निश्चित मानसिक व्यवहार प्रणाली की स्थापना तभी होगी जब कुछ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होंगे। इसी को देखकर मैकाइवर ने मनुष्यों के किसी भी ऐसे समूह को, जो एक दूसरे के साथ विशिष्ट सामाजिक सम्बन्ध में आ जाये, समूह कहा है। इस परिभाषा के अनुसार वे समूह जो केवल गिनती और परीक्षण के लिए गिन लिए जाते हैं, जैसे स्त्री समूह या युवक समूह समूह नही कहे जा सकते।

तीसरा अध्याय

प्राणिक विकास

BIOLOGICAL EVOLUTION

पशु जगत् में मानव का स्थान

पशु-जीवन की श्रेणी-व्यवस्था में मनुष्य का क्या स्थान है ? पृथ्वी के इतिहास-काल मे उसका क्या स्थान है ? मानव जाति का प्राणिक विकास किस प्रकार हुआ ? इन प्रश्नों के उत्तर हमे मानव जाति के बहुविध सामाजिक तथ्यों को अधिक अच्छी तरह समझने में पर्याप्त सहायता प्रदान करते है, क्योंकि वह मनुष्य के प्राणिक शरीर की बुनियादी विशेषताओं पर प्रकाश डालते है। मनुष्य की शारीरिक और मानसिक विशेषताएं वह ढांचा है जिन पर कि उसके सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था खड़ी हुई है। उसकी प्राणिक विचित्रतायें और नस्ली विभिन्नतायें उसकी आदतो, रिवाजों परम्पराओं, आविष्कारों तथा संगठित सामाजिक जीवन को जानने मे मदद पहुंचाती है। मनुष्य पशु जगत् का एक सदस्य है, इससे सभी सहमत है। यद्यपि वह पशु है, फिर भी वह बहुत-सी बातों में पशुओ से भिन्न है।

शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology) का मुख्य कार्य प्रकृति में मनुष्य के स्थान, उसके विकास, पशु जगत् में उसकी स्थिति तथा उसकी आनुवंशिक (Heredity) विभिन्नताओं का अध्ययन करना है। मानवशास्त्र की कुछ खोजें इस बात पर अच्छा प्रकाश डालती है कि मनुष्य के अन्दर एक विशिष्ट व्यवहार क्यों विकसित हुआ तथा नस्ल और संस्कृति का क्या सम्बन्ध है।

मनुष्य का प्राणिशास्त्रीय श्रेणी-विभाजन

प्राणिशास्त्री शारीरिक बनावट की समानताओं के आधार पर, जिनसे कि किसी वर्ग के रक्त-सम्बन्ध प्रकट होते हैं, पशुओं को पृथक् समूहों में विभक्त करते है। इस योजना में मनुष्य का स्थान बहुत कुछ निश्चित है। वर्तमान मे जीवित मनुष्य की जाति (Species) होमोनिडि वंश (Hominidae) की बची जाति है। विस्तृत श्रेणी-विभाजन से संकुचित श्रेणी-विभाजन की ओर अग्रसर हो प्राणिशास्त्री हमे बताते हैं कि मनुष्य बहुकोषीय पशु (Metazoa), पृष्ठवंशी (Vertebrate) अर्थात् जिनके अन्दर रीढ़ की हड्डी है; स्तनधारी (Mammals), प्रधानकवर्ग (Primate) मानवसम प्रधानक (Anthropoid Prim

ate) और मानव वर्ग का है। मानवसमों में पुराने विश्व विभाजन के अनुसार शारीरिक दृष्टि से मनुष्य बन्दरों, गिबन, औरंगुटान, शिपांजी, गौरिल्ला से घनिष्ठतया सम्बद्ध है।

मनुष्य जाति का विकास

(१) प्रादिनूतन (E cene) युग में आदि स्तनधारी अन्य स्तनधारियों से इस बात मे भिन्न थे कि वह पेड़ पर पंजों से चढ़ने के बजाय उसे हाथ से पकड़ते थे। उनकी अन्य विशेषताएं विशेषज्ञो के अध्ययन का विषय है।

(२) वन्दर विकासवाद की दूसरी अवस्था को दर्शाते है। इनमे इन्द्रियां दिन के समय मे पेड़ों में वास के अनुकूल बन गई। सूंघने की शक्ति कम हो गई, शरीर के वाल समाप्त हो गये, दोनों आखों से एक साथ देखने और रंग पहचानने की दृष्टि विकसित हुई, बाहरी कान छोटा हो गया तथा आवाज को जानने के लिए सिर को इधर-उधर घुमाना सम्भव हुआ।

(३) लंगूर अवस्था वह है जब कि हाथ के पुट्ठों में ऐसे हेर-फेर हुए जिनसे पेड़ो पर सीधा रहना शुरू हुआ। पशुओं के लम्बे हाथ, छोटा धड़ तथा आदमी जैसी उनकी आंतें भी व्यवस्थित होने लगी।

(४) मानवीय अनुकूलता में ऐसे विकासगामी परिवर्तन निहित थे, जिनसे पृथ्वी पर पैर के बल खड़े होना सम्भव हुआ। कुछ वन्दर, जैसे कि अफ्रीका के बैबून चौपाये के रूप में ही जमीन पर रहने लगे। इन परिवर्तनों में उन शारीरिक अनुकूलताओं का समावेश है, जिनमें कि मानव जाति के मुख्य गुण निहित है, तथा जिन्होंने कि मनुष्य को जमीन पर सीधा खड़े होने मे समर्थ बनाया। इसे पेड़ो पर वास करने वाले आदि स्तनधारियो की पृष्ठभूमि मे देखना जरूरी है। इस तरह मनुष्य मे बहुत-से मानवसम वानरमानव के लक्षण हैं, किन्तु उनके संशोधनों द्वारा वह उनसे पृथक् हैं।

मनुष्य और उनके निकट सम्बन्धी

वानरमानव में मनुष्य से सबसे अधिक मिलते-जुलते बिना पूंछ के लंगूर है, जिनके गिबन, औरंगुटान, शिपाजी और गौरिल्ला चार वर्ग है। इनमे से शिपाजी और गौरिल्ला मनुष्य से सबसे अधिक मिलते है। यद्यपि यह पशु हमें मनुष्य की हास्य विकृतियां दिखाई देते है, पर इनमें तथा मनुष्यों में घनिष्ठ शारीरिक सादृश्य है। इनके शरीर की हर एक हड्डी और अंग मनुष्य से मिलता है। मानवसम लंगूरों के कपाल यद्यपि छोटे और सरल होते है, तो भी मूलतः मनुष्य के समान होते है तथा उनकी मानसिक क्रियाएं चार-पांच साल के बच्चे के समान होती है। उनके संवेग या उद्वेग भी मनुष्य के समान होते है, यहां तक कि वह मनुष्य की ही बहुत-सी बीमारियों से पीड़ित होते हैं। उनके रक्त तथा मनुष्य के

रक्त में सूक्ष्मतम परीक्षणों से भी भेद करना कठिन है। यहां तक कि नारी शिपांजी और गौरिल्ला को मासिक धर्म भी होता है। बाह्यतः शिपाजी उसी जीवन-चक्र से गुजरते है जिससे कि मनुष्य, अन्तर केवल इतना ही है कि उनके बढने की गति तेज होती है तथा उनकी उम्र कुछ कम होती है।

लगूर और मनुष्य के बीच यह समानताएं इस बात को सिद्ध करती हैं कि यह दोनों निकटतम सम्बन्धी है, फिर भी यह स्मरण रखना जरूरी है कि मनुष्य वर्तमान बन्दरो और लंगूरों का वंशज नही है। मनुष्य की विशिष्ट विशेषताओ के अध्ययन से हमे यह पता लगेगा कि यद्यपि मनुष्य और बन्दर में अन्य पशुओं की तुलना मे सबसे अधिक समानता है, फिर भी इनमे एकवंशीय (Lineal) सम्बन्ध नही है। विकासवादी दृष्टि से सम्भवतः लंगूर और मनुष्य किसी समान पुरखा की ही संतान है। वह 'खोयी कड़ी' (Missing link) जिसको कि अभी तक वैज्ञानिक नही जान पाये है, कुछ भी हो, यह सिद्ध करती है कि लंगूर और मनुष्य के बीच यह विभिन्नता कम-से-कम कई लाख साल पहले घटी होगी। अतः वर्तमान लंगूर हमारे बहुत दूर के चचेरे भाई ठहरते है। फिर भी इन चचेरे भाइयों से समानता इस माने में मनोरंजक है कि यह हमें इस बात की सुविधा प्रदान करती है कि हम उन बुनियादी विभिन्नताओं को समझ सकें, जो कि मनुष्य को उन कार्यों के करने के योग्य बनाती है, जो कि लगूरों तथा अन्य पशुओं के बूते के बाहर है। यद्यपि शिपांजी और गौरिल्ला की कम-से-कम दो जातियां है, परन्तु मनुष्य की केवल एक ही जीवित जाति है। इस तरह मनुष्य के अध्ययन में हम एक ही प्राणिक वर्ग का अध्ययन कर रहे है जिसके, उपवर्ग आपस मे प्रजनन क्रिया सम्पन्न कर सकते है।

मानव जाति की विशेषताएं

यह तथ्य कि मनुष्य एक पशु है, इस बात की ओर संकेत करता है कि मानव व्यवहार उन्हीं आन्तरिक और बाह्य आवश्यकताओं द्वारा नियंत्रित है जो कि पशुओं की बनावट और संगठन पर निर्भर है। फिर भी मनुष्य और उसके घनिष्ठतम सम्बन्धी मानवसम लंगूर में पर्याप्त विभिन्नताएं है। उनमे से बनावट की कुछ प्रमुख विशेषताओं पर विचार करना आवश्यक है।

१. **बड़ा मस्तिष्क.** मनुष्य की सबसे प्रमुख विशेषता उसका अत्यन्त संगठित और केन्द्रित नाड़ी संस्थान (Nervous System) है। मस्तिष्क नाड़ी संस्थान का सबसे विकसित भाग है। पशु-जगत् मे इसका चरम विकास मनुष्य में हुआ है। कुल वजन में मनुष्य का दिमाग अन्य समस्त मानवसम वानरों, जिनका कि अपने वजन के अनुपात में सबसे बड़ा मस्तिष्क है, से भी बड़ा है। एक पुरुष कपाल का औसत आयतन १,४५० वर्ग सेण्टीमीटर और स्त्री कपाल का १,३०० वर्ग सेण्टी·

मीटर है, जब कि सबसे बड़े मानवसम लंगूर, गौरिल्ला का केवल ५०० वर्ग सेण्टीमीटर, लगभग एक तिहाई है।

मनुष्य का मस्तिष्क बड़ा ही नही बल्कि बहुत जटिल भी है। बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum) जो कि उच्च मानसिक प्रक्रियाओं का संचालक है, अन्य पशुओं से अधिक विकसित होता हैं। बृहत् मस्तिष्क करोटि (Cortey) या सतह अधिक लिपटी हुई तथा अन्य पशुओं की तुलना में अधिक बड़ी होती हैं। यह अनुमान लगाया गया हैं कि मानव बृहत् मस्तिष्क करोटि मे कम-से-कम १० अरब नाडियो के छोर जुड़े हुए है, जिनके अन्त:सम्बन्धों से अनन्त प्रकार की व्यवहार-प्रतिक्रियायें संभव हैं।

२. **सीधे खड़ा होना.** मनुष्य की दूसरी प्रमुख विशेषता यह हैं कि यह सीधे अपने पैरों पर खड़ा हो सकता हैं। मनुष्य के सीधे खड़े होने ने उसके दोनो हाथो को शरीर का भार संभालने से छुट्टी दे दी हैं। इससे केवल श्रम की ही बचत नही हुई, प्रत्युत इससे बाहुओं को विभिन्न प्रकार के कार्य करने तथा वातावरण को अपने अनुकूल बनाने की छूट मिल गई। चतुष्पाद पशुओं को अपने निकटवर्ती वस्तुओं को खुरच, सूंघ, चख अथवा काटकर मलिन और सीमित प्रकार से ढूंढ़ना पड़ता है, जब कि मनुष्य उन्हे हाथ मे उठाकर उनकी समुचित परीक्षा कर सकता हैं। बड़े लंगूर भी स्वभावत: दो पैरो पर नही चलते, जमीन पर चलते समय वह अपने दोनों हाथों का सहारा लेते हैं। दो महत्वपूर्ण शारीरिक परिवर्तनों ने मनुष्य को सीधा खड़े होने में समर्थ बनाया है।

(क) मनुष्य का पैर भारवहन करने के एक विशिष्ट और स्थिर अंग के रूप में विकसित हो गया हैं। मनुष्य के पैर मे पकड़ने की शक्ति, जो कि वानर-मानव के पैरों का प्रमुख लक्षण है, समाप्त होगई। टखने की हड्डियों ने एक चपटा फैला रूप धारण कर लिया है, बड़ी उंगली के पोर छोटी उंगलियों से मिल गये है, एड़ी की हड्डी लम्बी हो गई तथा पैर का कटाव बढ़ गया है। इन सब विशेषताओं ने मनुष्य को जमीन पर सीधा खड़े होने में समर्थ बनाया। इसके विपरीत, लंगूरों के हाथ जैसे पैर पेड़ों के जीवन के तो अनुकूल थे, पर जमीन पर सीधा खड़े होने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थे। यही कारण है कि जब शिपाजी या गौरिल्ला जमीन पर चलते है तो उनकी चाल आदमी से नहीं मिलती।

(ख) सीधे खड़े होने को संभव बनाने में दूसरा विकास रीढ़ की हड्डी का अंग्रेजी अक्षर S की आकृति वाला झुकाव है जो कि अन्य पशुओ में नही पाया जाता। इसके अतिरिक्त, श्रेणिका (pelvis) के परिवर्तनों ने पैरों को लम्बा तथा खड़ी दशा मे शरीर के भार को वहन करने की सामर्थ्य उत्पन्न की। मनुष्य की रीढ़ की हड्डी (vertebral column) एक ओर से देखने मे S

वक्ररेखा की भांति दिखाई देती है जिसके दो झुकाव (curves) आगे की ओर और दो पीछे की ओर हैं। अग्रगामी झुकाव शरीर के वजन को बांटने तथा सन्तुलन को कायम रखने में योग देता है। लंगूरों के पास इस प्रकार के झुकावों के अभाव मे ऐसी कोई शारीरिक प्रणाली नहीं जिससे कि वह धड़ के भार को पैरों के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र पर संभाल सके। इसके लिये उन्हें पेशियों पर जोर देना पड़ता है। मनुष्य बिना पेशियों पर जोर दिए ऐसा कर सकता है।

३. **हाथों का अधिक लचकीलापन.** अन्य वानर-मानवों की भांति मनुष्य को पकड़ने के लिए हाथ प्राप्त हैं, किन्तु अन्तर यही है कि मनुष्य में इनका लचकीलापन बहुत विकसित है। हम अपने अंगूठों की भीतरी तह को सब अंगुलियों की तह से मिला सकते है। इसके अतिरिक्त, अंगूठे और अंगुलियां अपेक्षाकृत लम्बाई में बढ़ गई है तथा हाथ का शारीरिक गठन इतना सुन्दर है जैसा कि किसी भी वानरसम मानव में नही पाया जाता।

४. **संभाषण योग्यता.** मनुष्य का अन्य महत्वपूर्ण लक्षण उसकी स्पष्टतः बोलने की योग्यता है। शारीरिक दृष्टि से यह योग्यता बाह्यतः सीधी देह और बृहत् मस्तिष्क से सम्बद्ध परिवर्तनों का परिणाम है। अन्वेषण और कार्य के लिए मुक्त हाथों ने मानव प्राणी के लिए लम्बी, बाहर निकली थूथनी की आवश्यकता को समाप्त कर दिया। इसीलिए मनुष्य के जबड़े बड़े लंगूरों की तुलना मे अपेक्षाकृत छोटे और कम बाहर निकले हैं। लंगूरों में बृहत् निचला जबड़ा सामने के दांतों के नीचे की एक हड्डी की तह से संरक्षित होता है, जिसे कि वन-नर पट्टिका (Semian plate) कहते हैं, जो कि जीभ को स्वाधीनतापूर्वक इधर-उधर घुमाने-फिराने मे सबसे बड़ी बाधक है। मनुष्य में यह बाधा नही हैं, उसकी जीभ सरलता से मुंह के अन्दर घूमती है। इसके अतिरिक्त, मनुष्य का बड़ा मस्तिष्क लंगूरों की तुलना मे बडे कपाल में रक्खा है। निचला जबड़ा ठीक कानों के छेदों के नीचे कपाल के साथ सीधा जुड़ा हुआ है। अपेक्षाकृत चौड़े कपाल का अर्थ निचले जबड़े की हड्डी का चौड़ा होना है। मनुष्य में निचले जबड़े को यदि ऊपर से देखा जाय तो उसके दोनों पार्श्व (side) V की भांति दिखाई देते हैं। लंगूरों में जबड़े के दोनों पार्श्व बहुत कुछ समानान्तर U जैसे दिखाई देते हैं ये समस्त शारीरिक विशेषताएं मनुष्य की आवाज निकालने की योग्यता में योग देती है। पर वास्तव में बोली विचारों के प्रतीकों का एक समूह मात्र है। बिना अति विकसित नाड़ीयन्त्र और मस्तिष्क के मनुष्य का असाधारण वाक्यन्त्र विशेष काम न आता। यह तथ्य इससे पुष्ट होता है कि मूर्ख मानव (Idiots) स्पष्ट बोलने में असमर्थ होते हैं। उनके मुंह और गले सामान्य होते है, किन्तु मस्तिष्क और नाड़ीयन्त्र अपूर्ण होता है। यह संभव है कि एक शिपांजी, स्पष्टतः, यद्यपि कुछ मोटी आवाज में, मानव

बोली की सब ध्वनियों को निकाल सके, किन्तु यह लगभग निश्चित है कि मस्तिष्क के अपूर्ण विकास के कारण उसके लिए बोलना असंभव है। मानव बोली श्रवण प्रभावों-और वाक् अभिव्यक्ति के बीच सुन्दर समन्वय चाहती है, सबसे अधिक वह विचार चाहती है। बावजूद इसके कि मनुष्य जो बात करता है उसका बौद्धिक महत्व कम है, पर उसका समाजशास्त्रीय महत्व अत्यन्त अधिक है। चूंकि बोली द्वारा संभव बनाये गए व्यक्तियों के बीच अन्तःसंवाद द्वारा ही सामाजिक जीवन से सम्बद्ध व्यवहार का बड़ा अंश क्रियान्वित होता है।

अन्य विशेषताएं. उपर्युक्त मुख्य विशेषताओं के अतिरिक्त, मनुष्य मे निम्न गौण विशेषताएं है। मानव शरीर पर सापेक्षतया बाल नही है। प्राकृतिक आवरण का अभाव और शारीरिक प्रक्रिया उसके शरीर की बहुत-सी गर्मी को नष्ट कर देते हैं. परिणामत: उसे ठंडे प्रदेशों मे रहने के लिए कृत्रिम आवरण की जरूरत पड़ती है। मनुष्य के पास अन्य स्तनधारियो की भांति शिकार योग्य दांत नही होते, इसकी क्षतिपूर्ति वह सुरक्षा के कृत्रिम साधनों के आविष्कार से करता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य की नाक का उठा हुआ सेतु (bridge) तथा मांसल छोर, ऊपर के होठ के बीच का गड्ढा, नीचे के होठ की झिल्ली तक उसका विस्तार, तथा बाहर निकली ठोड़ी उसे अन्य वानरों से पृथक् करती है, यद्यपि ऐसा कहा जाता कि कुछ वानरो में भी पर्याप्त ऊंची नाक और ठोड़िया पाई जाती है।

इस सम्बन्ध में मनुष्य की कुछ विशिष्ट शरीर-क्रियात्मक विशेषताओ की ओर भी जिनका कि सामाजिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, संकेत करना आवश्यक है। अन्य समस्त मानवसम वानरों की तुलना मे मनुष्य का शैशवकाल सबसे दीर्घ होता है, वह उस समय सबसे अधिक असहाय तथा दूसरे व्यक्तियों की देख-रेख पर अवलम्बित होता है। इन तथ्यों का मानव-परिवार और सामाजिक जीवन पर विशिष्ट प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त, मनुष्य नाना प्रकार के पदार्थ, मांस, अनाज, घास, फल, फूल इत्यादि खाकर जीवित रह सकता है। उसे किसी वस्तु के प्रति सहज घृणा नही है, इसलिए उसे कुछ भी खाने-पीने के लिए अभ्यस्त किया जा सकता है।

सृष्टि में मनुष्य का आगमन और विकास

तुलनात्मक दृष्टि से पृथ्वी पर मेधावी मानव (Homo Sapiens) का अवतरण पर्याप्त बाद की घटना है। पृथ्वी की पृष्ठभूमि मे मनुष्य का संक्षिप्त अध्ययन हमे उसकी वर्तमान अवस्था और व्यवहार को समझने मे सहायता प्रदान कर सकता है।

पृथ्वी का इतिहास. भूगर्भशास्त्रियों ने पृथ्वी के इतिहास को विभिन्न युगो और उपयुगों में बांटा है। पृथ्वी की आयु आंकने के लगभग चालीस तरीके उन्हे

ज्ञात है और उनके द्वारा प्रयुक्त किए गये हैं, जिससे सालों मे उनके हिसाब में कुछ अन्तर पड़ता है। फिर भी विभिन्न युग की सापेक्ष आयु और सापेक्ष तिथियों के बारे में प्राय: विभिन्न तरीके प्रयुक्त करने वाले सभी अन्वेषक एकमत है। पृथ्वी की आयु पता लगाने का सम्भवत: सबसे उपयोगी तरीका रेडियो एक्टिविटी के अध्ययन पर आधारित है। इस साक्षी के अनुसार पृथ्वी की आयु २,०००,०००,००० वर्ष ठहरती है। अन्य साक्षियों पर आधारित अल्पतम अनुमान १,०००,०००,००० वर्ष है। दोनों ही अनुमानों के अनुसार लगभग ३० प्रतिशत समय आदि-जीवीय-काल (Archeozoic Era) को,वह काल जिसमे कि हमें कोई भी जीवित शरीर नही मिलते, पर जिसमें स्वभवत: एककोषीय जीवन (Unicellar Life) का विकास हुआ है, दिया गया है। अगला काल सुपुराजीवीय काल (Proterozoic) था, जिसमे अपृष्ठवंशी जीव (Invertebrate Life) घोंघे, कीड़े, इत्यादि प्रकट हुए, पृथ्वी की आयु का लगभग २० प्रतिशत भाग घेरता है। तीसरा काल पुराजीवीय या प्राथमिक (Paleozoic or Primary) काल है, जिसमें पृष्ठवंशी (Vertedrate) मछलियां, ग्राह तथा अस्थिमत्स्य उभयचर (Amphibians) और सरीसृप (Reptiles) विकसित हुए, पृथ्वी के आयु के लगभग अन्य ३० प्रतिशत भाग को यह काल घेरते है। चौथा काल मध्यजीवीय या द्वितीयक (Mesozoic or Secondary) या सरीसृप युग कहलाता है, जो लगभग ११ प्रतिशत भाग घेरता है। इस युग में वायवीय तथा पार्थिव सरीसृप और जलचारी विकसित हुए, इसी युग मे प्रथम चिड़ियां और आदिकालीन छोटे स्तनधारी (Mammals) भी प्रकट हुए।

परवर्ती युग को नूतन जीवन (Cenazoic) आधुनिक जीवन या स्तन-धारी युग कहते है। इसे छ: कालों में बांटा गया है। यह अनुमान किया जाता है कि यह अबसे छ: करोड़ वर्ष पूर्व शुरू हुआ। इसमें सबसे पहला काल प्रादिनूतन (Eocene) कहा जाता है, जिसमें जेरवाले (Lutherian or Placental) स्तनधारी पहले नर-वानर और कीटभोजी (Insectivora) प्रकट हुए। दूसरा काल, आदि नूतन (Oligocene) था, जिसमें पहले छोटे मानव सदृश वानर (Anthropoid Apes), वर्तमान स्तनधारी के अग्रगामियों का आगमन हुआ। तीसरा काल मध्यनूतन (Miocene) था, जो कि दो से चार करोड़ वर्ष पहले शुरू हुआ, जिसमें वर्तमान महापुच्छहीन वानरों के सामान्य पूर्वज तथा संभवत: अब तक न खोजे गये भूमिवासी दो पैर वाले मानव सदृश रूप प्रकट हुए। चौथा काल अतिनूतन (Pliocene) है, यदि हम वर्तमान अनुमान सही मानें, तो यह आज से लगभग दस लाख से बीस लाख वर्ष पूर्व समाप्त हो गया। पांचवें काल प्रतिनूतन या हिम युग (Pleistocene or Glacial Epoch),

ने उत्तरी गोलार्द्ध को चार हिम खंडों से ढकते-बढ़ते देखा। इसी काल से हमें मानव सदृश जीवों के सर्व प्रथम अवशेष प्राप्त होते हैं।

प्रतिनूतन या हिमयुग में मनुष्य मनुष्य के रूप में प्रकट और विकसित हुआ। अभी तक प्राप्त ज्ञान के आधार पर हम इतना कह सकते हैं कि प्रतिनूतन युग के समाप्त होने से पहले पृथ्वी पर तीन प्रकार के मुख्य मानव वर्ग पैदा हुए, जिनमे से आधुनिक मनुष्य को छोड़ आज कोई भी जीवित नहीं मिलता।

(१) **वानर मानव** (Pithecanthropus). प्रथम वर्ग मे भी तीन प्रकार के वानर-मानव थे जो कि दक्षिणी अफ्रीका मे रहते थे। इन प्राणियों के सापेक्षतया छोटे मस्तिष्क थे और निश्चित रूप से यह आधुनिक मनुष्य की तरह न थे। फिर भी यह वानरों से मानव की दिशा में काफी आगे बढ़ चुके थे, दो पैरों पर चलने तथा जमीन पर रहने लगे थे।

(२) **प्राचीन मानव.** दूसरे वर्ग को हम प्राचीन मानव कह सकते है। यह विश्व के विभिन्न भागों में प्रकट हुए और यह मानव की विभिन्न नस्लों के थे। जावा के वानर-मानव और उनके साथी, पेकिंग के पास प्राप्त चीनी मानव, दक्षिणी इंग्लैंड के पिल्टडाउन स्थान से मिले उषा मानव, तथा पश्चिमी योरोप, निकटपूर्व और मध्य रूस में बिखरे नीनडरथल घाटी की खुदाई में प्राप्त नीनडरथल मानव (Neanderthal) के अवशेष इसी श्रेणी में आते हैं। इस बात की पर्याप्ति साक्षी उपलब्ध है कि जहां-जहां नीनडरथल और वर्तमान मनुष्य सम्पर्क में आये उन्होंने आपस मे संतानोत्पत्ति की। प्रतिनूतन या हिम-युग के अन्तिम चरण मे फिलस्तीन में, विशेष रूप से कार्मल पर्वत के निकट ऐसा ही हुआ।

(३) **आधुनिक मानव.** तीसरे वर्ग में आधुनिक मानव का समावेश है, जो अपने वर्तमान रूप में आज से २५,००० साल पहले पश्चिमी योरोप और भूमध्यसागरीय प्रदेश में प्रकट हुआ। योरोप में आधुनिक मानव के प्रारम्भिकतम रूप क्रोमैग्न्यौन स्थान में प्राप्त नमैगन्यौन मानव (Cro-magnon) थे। वह कहां से आये, वह किनके वंशज थे, यह अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है। उनके आगमन से उनसे पहले के नीनडरथल तथा अन्य पूर्वरूप लुप्त हो गये। तब से आज तक समस्त पृथ्वी पर आधुनिक मानव का ही आधिपत्य और विस्तार है।

अतिनूतन के आखिरी समय से हमें मनुष्य की प्रारम्भिकतम संस्कृति के अवशेष मिलते हैं। यह पत्थर के औजार है या वह चूल्हे है जहां आग जलायी जाती थी। वानर-मानव (Pithecanthropus) भी दो पैरों पर खड़े होते थे, बोल सकते थे तथा छोटे-छोटे सामाजिक समूहों में रहते थे। प्रतिनूतन या हिम युग में रहने वाले नीनडरथल मानवों की पत्थरों और हड्डियों के औजारों की संस्कृति, जो कि भूमध्य सागर तथा स्वभावतः एशिया में विस्तृत थी, पर्याप्त उन्नत थी।

पश्चिमी गोलार्द्ध में मेधावी मानव को छोड़ अन्य किसी पूर्व मानवसम रूप के दर्शन नहीं होते। यह भी यहां पर हिमयुगके अन्तिम चरणमें अवतरित हुए।

प्रतिनूतन युग के पश्चात् सर्वनूतन (Holocene) या आधुनिक युग का प्रारम्भ हुआ जो कि २५,००० साल पहले शुरू हुआ। स्वभावतः १०,००० ई० पूर्व तक कुछ मानव समुदायों ने पशु पालना, कृषि करना और शहरों में रहना सीख लिया। निःसन्देह १०,००० और ५,००० ई० पूर्व, नवप्राषाण युग (Neolith c Age) के विकसित समय में जीवन और कला के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हुई। ५००० ई० पूर्व तक मिश्र और मेसोपोटामिया में सुमेरिया, मोहेंजोदड़ो और मेक्सिको में पर्याप्त उच्च श्रेणी की संस्कृतियों की स्थापना हुई और इसी समय से लिखित इतिहास का प्रारम्भ हुआ।

मनुष्य का समाजशास्त्रीय पहलू. एक पशु की हैसियत से मनुष्य को पशुओ की तुलना में अनेक असुविधाए हैं। यह सत्य है कि वह अपनी बुद्धि के बल पर कृत्रिम साधनों के आविष्कार द्वारा उन पर विजय प्राप्त कर चुका है। इसी लिए उसे पशुओं के राजा की उपाधि दी जाती है। मनुष्य का शरीर तुलना में लघु और दुर्बल है। उसका दो पैरों पर चलना उसके चलने की रफ्तार को कम कर देता है। उसके शरीर पर बालों या कांटों का अभाव उसकी असुरक्षा, और उसका सीधा खड़ा होना उसके उत्पादन अंगों की क्षति की सम्भावना को बढ़ाता है। असहाय अवस्था में उसका जन्म होता है और उसे अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए दूसरों द्वारा दीर्घ लालन-पालन की आवश्यकता पड़ती है। जन्म के समय उसे कुछ भी ज्ञान नही होता। लम्बे श्रम और शिक्षा द्वारा ही वह अपने को वातावरण के अनुकूल बना पाता है। मनुष्य को यदि केवल पशु माना जाय तो वह अति क्षुद्र और अकिंचन है। किन्तु मनुष्य के पास मस्तिष्क है, सीखने की क्षमता है, कुशल हाथ है, सीधे खड़े होने की शक्ति है, बोलने की विशेषता है, और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को, वर्तमान संतति से भावी संतति को ज्ञान संक्रमित करने की सामर्थ्य है। इसीसे हम इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि क्यों मनुष्य के लिए सामाजिक जीवन इतना महत्वपूर्ण है। एक मनुष्य व्यक्तिगत रूप में दुर्बल होते हुए भी, सामूहिक रूप में सबल हो जाता है। अज्ञानी जन्मते हुए भी, सीखने की असीम योग्यता होने के कारण, वह हजारों जीवनकालो के अनुभव अपने साथियों से कुछ सालों मे ही सीख जाता है। अन्ततः, मनुष्य सर्वाधिक अनुकूलनीय पशु है। उसने अपने प्राणिक विशिष्टीकरण के संकीर्ण बन्धन तोड़ दिये हैं। वह अपनी सहजप्रवृत्तियों द्वारा किसी विशेष वातावरण से बंधा नहीं है। मनुष्य अपनी सीखने की योग्यता के कारण विश्व के समस्त क्षेत्रों में फैला हुआ है। इस तरह मनुष्य पशुओं में अनुपम है, क्योंकि उसके व्यवहार का प्रमुख अंश सांस्कृतिक है।

चौथा अध्याय

मनुष्य की नस्लें

RACES OF MAN

आज भी संसार मे ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो कि नस्ल (Race) को किसी समाज की स्थिति, संस्कृति, सभ्यता का मापदण्ड मानते है। हिटलर का आर्य जाति का सिद्धान्त इसका मुख्य उदाहरण है। यद्यपि युद्ध में तथाकथित श्रेष्ठ आर्य जर्मन नस्ल की हार हो चुकी है, तथापि ऐसी विचारधाराओं के समर्थक अभी भी बहुत देशों मे जीवित है। दक्षिण अफ्रीका में मलान सरकार की नस्ल नीति श्वेत नस्ल की श्रेष्ठता की घोषणा कर रही है। अमरीका मे नीग्रो के साथ भेद-भाव और उनके प्रति उपेक्षा और घृणा मे नस्ल ही बड़ा कारण है। नस्ली श्रेष्ठता का यह सिद्धान्त कहां तक वैज्ञानिक है और कहां तक राजनैतिक स्वार्थों पर आधारित है, इसका अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टि से परम आवश्यक है।

आर्यवाद १९ वीं सदी के भाषाशास्त्रियों की देन था। बेरक, मेगयर और फिन्नी भाषा को छोड़कर योरोप की समस्त भाषाएं संस्कृत से सम्बद्ध हैं। अतः इस एक भाषा परिवार के लोगों को आर्य परिवार का नाम दिया गया। साथ ही भारत, मध्यपूर्व और योरोप की उन्नत संस्कृतियों को देखकर यह परिणाम निकाला गया कि आर्य रक्त उच्च संस्कृति के लिए पहली शर्त है।

नार्डिसिज्म इसी सिद्धान्त की एक शाखा थी जिसके अनुसार लम्बे, श्वेत-वर्ण, लम्बे सिर वाले, उत्तरी योरोप में बिखरे लोग असली आर्य थे, यद्यपि इस सिद्धान्त के समर्थकों ने पूरे के पूरे राष्ट्रों को नार्डिक ठहराया। परिणामतः, नार्डिक नस्ल को विशुद्ध रखने की चिन्ता उत्पन्न हुई और गैर-नार्डिकों से रक्त-मिश्रण के विरुद्ध आवाज बुलन्द हुई। नात्सी जर्मनी मे नार्डिसिज्म ने ट्यूटनिज्म, इंग्लैण्ड में एंग्लो-सैक्सनिज्म और फ्रांस में गालसिज्म का रूप धारण किया। हिटलर ने घोषणा की "नस्लों की असमानता राष्ट्रों के भाग्यों को समझाने में समर्थ है। सभ्यता और संस्कृति एकांततः श्रेष्ठ नस्लों द्वारा सृजित है और प्रत्येक प्रकार की संस्कृति केवल नस्ली गुणों की अभिव्यक्ति मात्र है।"

नस्ली सिद्धान्त की भूलें

भाषा और रक्त की अविच्छिन्नता की धारणा. उपर्युक्त सिद्धान्तों की दो बुनियादी भूलें है। पहली तो नस्ल का, जो कि प्राणिक आनुवंशिकता

की द्योतक है, राष्ट्र या संस्कृति से मिला देना है। उदाहरण के लिए, यह सिद्धान्त यह मान लेता है कि आर्य भाषा-भाषी आर्य रक्त के हैं। वास्तव में भाषा का रक्त से कोई अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं है। भाषा संस्कृति का अंग है। उसका सम्बन्ध नस्ल से न होकर सीखने से है। अमरीका के सवा करोड़ नीग्रो द्वारा मातृभाषा के रूप में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग इसी बात को सिद्ध करता है। और फिर यदि जर्मन जाति ही सभ्यता की सामर्थ्य रखती है, तो क्यों रोमन लोगों के आक्रमण से दो हजार वर्ष पहले वह जंगलियों की भांति रहती थी? इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेक उन जातियों ने महान् संस्कृतियों की स्थापना की जिनका कि आर्य जाति तथा उसके तथाकथित गुणों से कोई सम्बन्ध न था। उदाहरण के लिए मिस्र, मेसोपोटामिया, चीन, द्रविड़ भारत, कम्बोडिया और यूकटान माया की उन्नत संस्कृतियां अनार्य भाषा-भाषियों की ही कृतियां थी।

योरोप की नस्ली शुद्धता की धारणा. इन सिद्धान्तों की दूसरी मुख्य भूल वर्तमान योरोप की जनसंख्या की बनावट के बारे में है। यदि यह भी मान लिया जाय कि नार्डिकों में सभ्यता के लिए कोई असाधारण प्रवृत्ति विद्यमान है, योरोप भर मे कोई नार्डिक नस्ल मौजूद नहीं है। संसार के समस्त भागों में ही विभिन्न नस्लों का रक्त मिश्रण हुआ। योरोप में तो यह प्रक्रिया बड़े पैमाने पर हुई। अतः यह बड़े मजे की बात है कि नस्ली विशुद्धता की आवाज वहां से उठायी जाती है, जहां वह सबसे कम है। इस तरह हम देखते है कि नस्ली सिद्धान्तों का ताथ्यिक आधार बहुत ही लचर है।

नस्लों की परिभाषा

नस्ल की प्राणिक (Biological) परिभाषा. प्राणिशास्त्र में उस पशु वर्ग के लिए जाति (Species) शब्द का व्यवहार होता है, जिनकी शारीरिक रचना समान होती है; जिनके प्रजनन (Genetic) तत्व इस भांति संगठित होते है कि वह आपस मे प्राणिक दृष्टि से स्वस्थ संतानोत्पत्ति कर सके। इस कसौटी पर इस पृथ्वी पर वास करने वाले समस्त मनुष्य एक ही जाति या नस्ल के है। बावजूद बाह्य आकृति के परिवर्तनों के, एक अफ्रीकी पिग्मी, एक चीनी, एक फ्रांसीसी या एक भारतीय सभी एक दूसरे से सन्तानोत्पत्ति कर सकते है।

फिर भी मानव जाति में प्रजनन (Genetic) परिवर्तन दृष्टिगोचर होते है। हम मानव वर्गों को वाहकाणु (Genes) या आनुवंशिक गुणों के आधार पर नस्लों में बांट सकते है। इस तरह नस्ल की आधुनिक कल्पना प्रजननशास्त्र (Genetics) पर आधारित है और प्राणिक ढंग के कठोर आनुवंशिक मापदण्ड से सम्बद्ध है।

यह सर्वविदित है कि वंशानुगत (Inherited) गुण शारीरिक रज और

वीर्य द्वारा नियन्त्रित होते हैं। प्रत्येक शरीर में हजारों वाहकाणु (Genes) होते हैं, जिनसे कि संतान की शरीर-रचना प्रभावित होती है। बाह्य आकृति रूप (Phenotypes) की आनुवंशिकता के अन्तर्गत समस्त प्रजनन कारणों का अभी तक सही-सही विश्लेषण नहीं हो सका है, फिर भी प्रजननात्मक दृष्टि से अनेक गुणों को जाना जा चुका है। मानवीय नस्लों के सम्बन्ध में सर्वोत्तम तथ्य रक्त वर्गों (Blood groups) के अध्ययन से प्राप्त होते है। रक्त वर्गों से प्रजनन गुण सरलतया जाने जाते हैं। विभिन्न भौगोलिक वर्गों मे फैली मानव जाति के वाहकाणुओं के विभाजन में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

प्रजनन रूप (Genotypes) **की समानता.** इस भांति हम नस्लों को मानव जाति के वह वर्ग मान सकते है, जिनमें एक सीमा तक प्रजनन रूप की समानता है, जो कि उन्हें अन्य वर्गों से पृथक् करती है। उस प्रजनन समानता के कारण, किसी नस्ली वर्ग के सदस्य प्रायः, अन्य वर्गों की तुलना में, एक दूसरे के अधिक समान नजर आते हैं।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि मनुष्य के वर्णसूत्रों (Chromosomes) में लगभग साठ हजार वाहकाणु है, जिसमें से प्रत्येक की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, और उनमें से सब ही में अन्तःपरिवर्तन (Mutation), अर्थात् प्रजननात्मक परिवर्तन हो सकता है। इस भांति प्रजनन तत्वों के नाना मिश्रण उपस्थित हो सकते है, और इसीलिए यह कोई आश्चर्य नहीं कि कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य से हूबहू नही मिलता, विशेषकर जब कि हम जानते है कि प्रजननात्मक विशेषताएं वातावरण की स्थिति से भी पर्याप्त प्रभावित होती है।

नस्लों का उदय

नस्लें कैसे बनीं, यह एक महत्वपूर्ण और मनोरंजक प्रश्न है। प्राणिशास्त्रियों के अनुसार : (१) अन्तःपरिवर्तन, (२) चुनाव, (३) पृथक्करण, इसके तीन कारण है।

• **१. अन्तःपरिवर्तन** (Mutation). नव प्रजनन विशेषताएं एक प्रकार से एक स्वाभाविक परिवर्तन का परिणाम होती है जो कि वाहकाणु या वाहकाणु वर्ग में होती है। इस प्रक्रिया के कारक कारणों को अभी तक भली-भांति नही समझा जा सका है, फिर भी पशुओं और पौधों पर परीक्षण कर इसे प्रदर्शित किया जा चुका है। शायद नीग्रोयडों की काली खाल को नियंत्रित करने वाले वाहकाणु मनुष्य जाति में अन्तःपरिवर्तन से ही उत्पन्न हुए है।

२. **चुनाव** (Selection). आया एक वाहकाणु मे रज और वीर्य रहता है कि नहीं, चुनाव पर निर्भर करता है। यदि यह आगत विशेषता है, या उसके रहने में कोई मुख्य बाधा नही है, वह प्रायः रहती है, यदि नही, तो इसके वाहक एक समय में स्वयं ही नष्ट हो जाते है। चुनाव भी दो प्रकार का होता है :

(क) प्राकृतिक, (ख) कृत्रिम । प्राकृतिक वातावरण में तथाकथित जीवन के लिए संघर्ष मनुष्य की शारीरिक विशेषताओं पर एक प्राकृतिक प्रभाव छोड़ता है, जब कि कृत्रिम रूप से नियंत्रित अन्तःप्रजनन अथवा संस्कृति द्वारा विभिन्न वर्गों मे प्रजनन का नियंत्रण कृत्रिम चुनाव का परिणाम होता है ।

३. **पृथक्करण** (Isolation). एक बार 'चुने जाने' का एक संभावित परिणाम प्रजनन विशुद्धता की चिन्ता का उत्पन्न होना है, जो कि केवल पृथक्करण द्वारा ही संभव है, जिसका परिणाम प्रजनन तत्वों का दूसरे प्रजनन तत्वो से मिश्रण रोकना है। यह पृथक्करण भी दो प्रकार का होता है : (क) प्राकृतिक, प्रायः भौगोलिक और (ख) कृत्रिम । कृत्रिम पृथक्करण मे मनुष्यों द्वारा खड़ी की गई उन दीवारों का समावेश है जो कि प्रजननात्मक दृष्टि से विशेष वर्गों मे अन्तःप्रजनन को रोकती है। अंतर्नस्ली (Inter-racial) विवाहों का निषेध इसका मुख्य उदाहरण है। बावजूद इसके भौगोलिक पृथक्करण आज की मानव जाति की नस्लों का मुख्य कारण है। जब कि मनुष्य भौगोलिक दृष्टि से अति दूर हो, उनके लिए अन्तःप्रजनन सम्भव नही होता ।

संसार की -धान नस्लें

हम देखते है कि आधुनिक युग के प्रारम्भ से ही संसार की प्रधान नस्ले विभिन्न क्षेत्रो मे केन्द्रित हो गई है । विशिष्ट शारीरिक लक्षणो और रक्त-समहों (Bl. od groups) के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने मनुष्य जाति को पृथक् नस्लों में बांटने का प्रयत्न किया है। पर यह कार्य आसान नही है। न हो विद्वान् किसी एक वर्गीकरण से सहमत है। क्लाइड क्लकहौन ने इस तथ्य को इन शब्दो मे व्यक्त किया है। "मानव जनसंख्या अत्यन्त मिश्रित और परिवर्तनीय है । उन्हें पशुओं की भाति सार्थक जातियों मे विभक्त करना आसान नही है। बाह्य रूप के आधार पर किये गये वर्गीकरणों मे संगति नही है । जितने शारीरिक मानवशास्त्री (Physical Anthropologists) हैं, करीब-करीब उतने ही नस्लों के समूह है।"

उदाहरण के लिए, लीनियस और कूवियर ने मानवजाति को तीन नस्लों मे बांटा है। ब्लूमेनबैक ने उन्हे पाच श्रेणियो में बांटा है। हैकल ने १८७६ मे १२ और १८७८ मे ६४ नस्लों की घोषणा की। डैनिकर ने १२ नस्लों और ३० उप-नस्लों का पता लगाया । ईक्सटड्ट और यूजिन फिशर ने यूरोपिड, नीग्रिड और मंगोलायड तीन प्रधान नस्ले तथा १८ उपनस्ले बताई । उनमें से अधिकांश वर्गीकरण अंशतः शारीरिक और अंशतः भौगोलिक क्षेत्रो के आधार पर किये गये है । वुडवर्थ ने मनुष्य जाति को सात और इलियट स्मिथ ने उन्हे छः भागों मे विभाजित किया।

फिर भी संसार की अधिकांश नस्ले मनुष्य जाति के तीन प्रधान समूहों मे बांटी जा सकती है। यह समूह है। (१) **काकेशायड.** नार्डिक, मैडीटरेनियन

और ऐल्पाइन इनके मुख्य उप-विभाग हैं। (२) **मंगोलायड.** ऐशियाटिक, ओशियानिक और ऐमरिड इनके मुख्य उप-विभाग हैं। (३) **नीग्रायड.** अफ्रीकन, ओशियानिक और नेग्रिटो इनके प्रमुख उप-विभाग हैं।

इन नस्ली समूहों के शारीरिक लक्षणों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। कद मे काकेशायड मंझले से लम्बे, मंगोलायड मंझले छोटे से मझले लम्बे और नीग्रायड बहुत छोटे से बहुत लम्बे होते हैं।

रंग में, काकेशायड, बहुत हल्के, लाल और बहुत सफेद से कुछ भूरे तक, मंगोलायड पीले भूरे मे लाल भूरे तक, निग्रायड भूरे-काले, भूरे और पीले-भूरे होते हैं।

काकेशायड लोगों की आखे हल्की नीली से गहरी भूरी, मंगोलायड की भूरी से गहरी भूरी, नीग्रायड की भूरी से भूरी-काली होती है। मंगोलायड लोगों की आंख में एक विशेष शिकन (Epicanthic fold) पायी जाती है।

काकेशायड लोगों की नाक का सेतु (Bridge) प्रायः बहुत ऊंचा तथा मंझला, चौड़ाई तंग से मंझली, मंगोलायड की नाक का सेतु नीचा या मंझला, चौड़ाई मंझली, और नीग्रायड की नाक का सेतु सदा ही नीचा और उसकी चौड़ाई विशेष रूप से अधिक होती है।

काकेशायड लोगों के सिर के बाल हल्के, सुनहरे से लेकर गहरे भूरे रंग के होते है। उनकी बनावट बारीक या मंझली होती है और वह सीधे या लहरदार होते है। मंगोलायड में वह भूरे या भूरे-काले, सख्त और सीधे होते हैं। नीग्रायड में यह भूरे-काले, सख्त ऊन की तरह बहुत घुघराले और चुभने वाले होते है। काकेशायड लोगों के शरीर के बाल मंझले से बहुत ज्यादा तक, मंगोलायड में बहुत हल्के और नीग्रायड मे बहुत कम होते है। इसके अलावा मंगोलायड चेहरे की गाल की हड्डी बहुत ऊंची और उभरी हुई तथा नीग्रायड के जबड़े बहुत निकले हुए होते है।

महत्वपूर्ण उप-समूह (Sub-groups). उक्त तीन प्रमुख नस्ल समूहों के अतिरिक्त, कुछ अन्य महत्वपूर्ण उप-समूहों का भी संक्षिप्त विवरण आवश्यक है। यह उप-समूह निम्न है :—

१. **मेलीनेशियन.** यह दक्षिणी प्रशान्त द्वीपों के, जिन्हें कि मैलीनेशिया कहा जाता है, निवासी है।

२. **माइक्रोनेशियन-पौलीनेशियन.** इनमें ओशेनियन पौलीनेशियन द्वीपों के निवासी सम्मिलित है।

३. **केन्द्रीय अफ्रीकन पिग्मी.** यह केन्द्रीय अफ्रीका के कांगो प्रदेश में रहते हैं।

४. **सुदूर-पूर्वी पिग्मी.** अण्डमान द्वीप, लूजोन और मिंडानो के निवासी इसके अन्तर्गत आते हैं।

५. **आस्ट्रेलायड.** यह आस्ट्रेलिया के काले आदिवासी है।

६. **बुशमैन होटेनटोट.** यह अफ्रीका के कालाहारी मरुस्थल और उसके आस-पास रहते है। यद्यपि इनमे नीग्रायड लोगों के पर्याप्त शारीरिक लक्षण है, इनकी आखों मे विशेष शिकन (Epicanthic fold) है, जो कि मंगोलायड जाति की विशेषता है।

७. **आइनू.** यह जापान के प्राचीन वासी है। इनकी खाल का रंग काकेशायड लोगों से मिलता है।

८. **वेद्दायड.** यह लंका की फल संचय करने वाली जाति के, जो कि शीघ्र ही समाप्त हो रही है, सदस्य हैं। इनका स्थान काकेशायड और आस्ट्रेलायड समूह के बीच मे है।

नस्लों का अन्त:मिश्रण

निष्क्रमण मुख्य कारण. सृष्टि के आरम्भ से ही मनुष्य घुमक्कड़ रहे है। उत्तम शिकारगाहों और हरे चरागाहों की खोज मे वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे। शायद अन्ततोगत्वा वह बिना बसे स्थानों में जाकर बस गये और इस तरह अपने साथियों से बिछुड़ गये तथा एक पृथक नस्ल और उप-नस्लों के रूप में विकसित हो गये। पर जैसे-जैसे पृथ्वी की जनसंख्या तथा बसे हुए प्रदेशों का क्षेत्रफल बढा, निष्क्रमण ने पृथक् वर्गों के बीच सम्पर्क स्थापित किया। भौगोलिक पृथक्करण इस तरह समाप्त हो चला। यह सम्पर्क चाहे मैत्रीपूर्ण रहा, चाहे शत्रुतापूर्ण; इसका अन्तिम परिणाम किसी न किसी प्रकार का अन्त:प्रजनन ही हुआ। इस तरह पृथक् रूपों (Types) की "विशुद्धता" बहुत कुछ नष्ट होने लगी और अधिकाधिक व्यक्ति विभिन्न-जातीय प्रजनन शरीर धारण करने लगे।

अन्तर्मिश्रण का परिणाम बुरा नहीं. यहाँ पर हम अन्तर्मिश्रण के परिणामों की विवेचना नहीं करेंगे, फिर भी इतना कहना अनुपयुक्त न होगा कि इस बात की कोई वैज्ञानिक साक्षी नही है कि सामान्य अवस्थाओं में नस्लों का अन्तर्मिश्रण किसी भाति के 'प्राणिक पतन' (Biological Degeneration) को जन्म देता है। यह मिलन या मिश्रण अवश्य पृथक् रूपों की विशुद्धता को नष्ट करता है; और यदि यह अन्तर्मिश्रण चलता रहे तो भावी पीढ़िया अधिकाधिक विभिन्न-जातीय और अपने पितामहो की असल प्रतिलिपियां तैयार करने मे असमर्थ रहेंगी।

कोई नस्ल आज विशुद्ध नहीं. यह जानते हुए कि हजारों वर्षों से जारी अन्तर्मिश्रण की इस प्रक्रिया को आधुनिक यात्राओं और सम्पर्कों ने बहुत गति प्रदान की है विशेषज्ञों का यह कहना है कि सामान्य बोल-चाल की भाषा में आज कोई भी नस्ल विशुद्ध नहीं है। यद्यपि आज भी मानव प्राणियों के बड़े समूह— मुख्य नस्लों को— बाह्य आकृति रूपों में और प्रजनन रूपों में पृथक् पहचाना जा सकता है, फिर

भी वह विभिन्न रूप उन विस्तृत अन्तरों को स्पष्ट करते हैं, जो कि सीमा पर एक दूसरे में विलीन हो जाते है।

नस्ल का निर्णय

दृश्य माप्य गुण नस्ल का आधार. वास्तव मे नस्ल एक ही वश मे आनुवंशिकता (Heredity) द्वारा प्राप्त प्राणिक गुणो से पृथक् वर्ग का नाम है। यद्यपि मानव वंश के कई श्रेणी विभाजन किये जा चुके हैं, पर इस बात से सभी नृवंशशास्त्री (Ethnologist) सहमत है कि किसी भी नस्ली वर्गीकरण का आधार आनुवंशिक रूप की दृश्य और माप्य शारीरिक विशेषताएं होनी चाहिएं। इस तथ्य को स्वीकार करते ही हमे भाषा या संस्कृति के आधार पर नस्लों के वर्गीकरण का अनौचित्य भली-भांति ज्ञात हो जाता है ।

प्राय: प्रयुक्त माप. नस्लों का अध्ययन पर्याप्त शारीरिक विशेषताओं पर आधारित है, जिन्हे कि मापा और देखा जा सकता है। उनमें से प्रायः प्रयुक्त माप यह है : (१) शरीर के प्रमुख व्यासों का माप, जिसमें ऊंचाई, कंधे की ऊंचाई, बैठने की ऊंचाई, कंधे की चौडाई, छाती का व्यास और श्रेणिका (Pelvis) के व्यास का समावेश है, (२) जुड़े भागों और जोड़ों की लम्बाई, जिसमे कुल बाजू की लम्बाई, ऊपरले और निचले बाजू की लम्बाई, पैरों की लम्बाई सम्मिलित है, (३) कपाल, खोपड़ी ओर चेहरे के व्यास, जिसमे कपाल की लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई, कुल चेहरे और ऊपर से चेहरे की लम्बाई और चौडाई सम्मिलित है, (४) सिर के बालों, शरीर के बालो, आख की पुतली और खाल का रंग, (५) सिर, चेहरे और शरीर पर बालो का वितरण और स्वरूप, (६) नाक के पार्श्व (septum), छिद्रो, कानो के छिद्र और कर्ण-पर्पटी, ठोड़ी, जबड़े, मसूडों के किनारो, गाल की हड्डियो और होठो की बनावट, (७) शरीर का गठन और वजन।

एक समाजशास्त्री की हैसियत से हमें निम्न तीन बातो मे मुख्य दिलचस्पी होती है।

१ माप शारीरिक बनावट से सबद्ध. इसमे पहली बात वह है कि यह माप और परीक्षण जिनका नस्ल के निर्धारण में प्रयोग किया जाता है, शारीरिक विशेषताओं से सम्बन्धित हैं और सर्वमान्य हैं। सूक्ष्म विश्लेषण और भूल जाचने के लिए मान्य प्रणालिया और सूक्ष्म यंत्र उपलब्ध है। यहा तक कि बालों के घुंघरालेपन या रंग को जानने के लिए अन्वेषक के पास मान्य नमूने रहते है, अथवा आंखो का रंग जानने लिए अन्वेषक के पास रगीन चार्ट होते हैं। इस तरह नस्ल के निर्धारण मे अनुमान का स्थान वैज्ञानिक प्रणाली ने ले लिया है।

२ ककाल से प्राप्त सूचनाए अधूरी. दूसरी बात यह है कि नस्ल के वर्गीकरण में हमें कंकाल से कुछ ही सूचनाएं मिलती है। बाल, रंग, मुलायम अगों की

बनावट मृत्यु के बाद अधिक दिन तक कायम नहीं रहती,अतः प्राग्ऐतिहासिक मनुष्यों ी नस्ल का निर्धारण कम शुद्ध और अपूर्ण है। इसी का परिणाम है कि हमें योरोप ी नस्लों के प्रकारों के बारे मे भी, जहां कि इसका सूक्ष्म अध्ययन किया गया है, ही जानकारी नही है, जिससे कि हम जान सकें कि कहां और कब आज वर्तमान ानवजाति (speeics)के उपवर्ग प्रकट हुए। प्राप्त वंशावलियां(Geneologies) हुत कम और अपूर्ण है। यद्यपि मानवशास्त्र की दृष्टि से यह बहुत उपयोगी है। उन से कोई भी पाच पीढ़ी से अधिक पुरानी नही है। इसलिए हमे विद्यमान मेधावी ानव के वर्गीकरण से ही सन्तुष्ट होना पड़ता है।

बौद्धिक भावात्मक (Emotional) विशेषताओं को स्थान नहीं. इस संबंध ें यह बात और दृष्टव्य है कि मानव जाति के इस वर्गीकरण की प्रक्रिया में कहीं ी उसकी 'बुद्धि', 'भावात्मक विशेषताओं' अथवा 'स्नायुशक्ति' का जिक्र नहीं है। इसलिए वह प्रचारक जो यह कहता है कि कंजूसी और क्रूरता यहूदी रक्त की, सुस्ती और काहिलपन मंगोल रक्त की अथवा उद्यम और बलिदान श्वेत नस्ल की विशेषता है, नस्ल शब्द का वैज्ञानिक अर्थों मे प्रयोग नहीं कर रहा है।

नस्ल एक अल्प वास्तविक इकाई. मनुष्य इस दृष्टि से अनुपम ह कि ध्रुव प्रदेशों को छोडकर वह पृथ्वी के समस्त भागों मे अवस्थित है तथा एक स्थान से दूसरे को परिव्रजन करने (Migration) का अभ्यस्त है। विभिन्न नस्लों के अन्तर्मिश्रण, स्वतन्त्र परिवर्तनों, तथा विभिन्न वातावरणों में प्राकृतिक चुनाव ने एक विचित्र स्थिति को जन्म दिया है, जिसमे विशुद्ध नस्ल और परिवारों के लिए कोई स्थान नही है। नस्ल को हम एक आदर्श प्रकार अथवा गणनात्मक कल्पना ही मान सकते है। इसके अतिरिक्त, इस बात की कोई साक्षी नही है कि आनुवंशिक अर्थों में कभी भी विशुद्ध नस्ल रही है, क्योंकि प्रारम्भ से ही अन्तर्मिश्रण और नये-नये वातावरण मे प्रव्रजन मनुष्य की एक विशेषता रही है, जो उसकी आनुवंशिक विशेषता पर सदा चोट करती रही है।

परिणामतः, जैसा कि लोग सामान्यतः समझते हैं उसके विपरीत, नस्ले अल्प वास्तविक और स्थूल इकाइयां है। यहां तक कि उप नस्ले (Breeds) भी जिन्हें कि हम वहुत पृथक् समझते है, केवल आदर्श प्रकार मात्र हैं, जिनमें पर्याप्त विभिन्नताएं दिखाई देती है। भारतवर्ष के विषय मे यह बात बहुत सही है, जहां कि विभिन्न नस्लों का अत्यधिक मिश्रण हुआ है।

नस्ल के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पहलू

नस्लों के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पहलू के सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रांतियां विद्यमान है। इसमे सन्देह नही कि मानव जाति के बृहत् वर्गों में पर्याप्त शारीरिक विभिन्नताएं पायी जाती है। पर समाजशास्त्र के लिए यह आनुवंशिक विशेषता

अपने आप मे कोई महत्व नही रखतीं, जब तक कि इनका उन वर्गों के मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर कोई प्रभाव नही पड़ता। हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि क्या इस बात की कोई निष्पक्ष साक्षी है कि मानव के उप-वर्गों की विभिन्नताएं उनके सामाजिक जीवन के व्यवहार, स्वरूप और संस्कृति को प्रभावित करती हैं ? यदि इस प्रकार के कोई आनुवंशिक तत्त्व विद्यमान हैं तो उनका अध्ययन जरूरी है।

नस्ल के आधार पर श्रेष्ठता सिद्ध नहीं की जा सकती. इस सम्बन्ध मे विदेशों, विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका, में अनेक परीक्षण हुए हैं। इन परीक्षणो की बड़ी कमी यह है कि इनमें से कोई भी परीक्षण ऐसा नही है जो कि जन्मजात (Innate) से सीखे हुए (Acquired) गुण, योग्यता और रुचि को पृथक् कर सके। फिर भी अभी तक इस सम्बन्ध मे जो परीक्षण हुए है, उनसे यह स्पष्ट है कि नस्ल के आधार पर योग्यता, बुद्धि और रुचि के भेदों को नही दर्शाया जा सकता।

इस सम्बन्ध में जूलियन हक्सले के शब्द स्मरणीय हैं : "यह सम्भव है कि जन्मजात मानसिक नस्ली विशेषताओ के सम्बन्ध मे वैज्ञानिको के मौन रहने के बावजूद भी कुछ लोग सन्तुष्ट न हो सके। इस सम्बन्ध मे वैज्ञानिकों के कई उत्तर हैं। पहला, हमे सांस्कृतिक विभिन्नताओ को जन्मजात विशेषताए नही समझ बैठना चाहिए, और वास्तव मे सास्कृतिक विभिन्नताएं ही सबसे अधिक और महत्वपूर्ण हैं। दूसरा, कि मानसिक सफलता सबसे अधिक परिवर्तनीय गुण है। तीसरा, इस बातसे इनकार न करते हुए कि विभिन्न नस्लो मे मानसिक विभिन्नताएं हो सकती है, यह कम महत्त्वपूर्ण नही है कि विपुल अन्वेषण अभी तक वह सिद्ध करने मे असफल रहे है जो कि वह सिद्ध करना चाहते है।"

विभिन्न नस्लों की श्रेष्ठता का रहस्य उनकी नस्ल मे न होकर अन्य कारणो मे निहित है। यह एक मार्के की बात है कि संसार की विकसित सभ्यताए उन्ही लोगों की कृतिया हैं जिनमे पर्याप्त नस्ली मिश्रण अर्थात् वर्णसंकरता हुई है।

सामाजिक पहलू. यद्यपि अभी तक प्राप्त ज्ञान हमे यह बताने मे असमर्थ है कि विद्यमान नस्ले और उप नस्ले ऐसा व्यवहार क्यों करती है जैसा कि वह कर रही हैं, तथापि यह मत कि वह वर्ग महत्वपूर्ण है, समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्व का है। यदि किसी सामाजिक वर्ग के व्यक्ति ऐसा समझते है कि उनमे कुछ शारीरिक विशेषताओं का होना किसी प्रकार की श्रेष्ठता का चिन्ह है तो निःसंदेह उनके व्यव-हार मे एक विचित्र अहंकार और दूसरी नस्लों के प्रति एक तिरस्कार की भावना जागृत हो जाती है; किन्तु यह एक विशुद्ध सांस्कृतिक तथ्य है, प्राणिक नही।

अन्त मे हम इसी परिणाम पर पहुंचते है कि नस्ली विभिन्नताओं का मनुष्य के व्यवहार पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता।

पांचवां अध्याय

आनुवंशिकता और वातावरण

HEREDITY AND ENVIRONMENT

मनुष्य अपने वंश से शारीरिक विरासत ही लेता है कि बौद्धिक और चारित्रिक भी ? आनुवंशिकता मनुष्य के विकास, व्यक्तित्व और जीवन पर कितना प्रभाव डालती है ? इन प्रश्नों का उत्तर देने से पहले जो प्रश्न उठता है वह है आनुवंशिकता क्या वस्तु है ?

कोष (Cell) से जीवन का प्रारम्भ. मानव अपना जीवन एक अकेले कोष के रूप मे आरम्भ करता है। स्त्री जब गर्भ धारण करती है, उस समय जो कोष बनता है उसका व्यास (Diameter) केवल एक इंच का २०० वा भाग होता है। यह कोष दो भागों में विभक्त हो जाता है। और यह कोष क्रमशः दो, चार, आठ, सोलह और इस प्रकार कोटि-कोटि कोषों को जन्म देते हैं। यह सभी कोष एक ही होने के बावजूद भी भिन्न-भिन्न रूप से विकास पाते हैं। इनमे से कोई पेशियों का आधार बनते हैं, तो कोई ग्रन्थियों (Glands) का।

कोषों का निर्माण और विकास कार्य. प्रत्येक कोष के दो महत्वपूर्ण भाग होते हैं : एक केन्द्र (nucleus), दूसरा केन्द्र के अतिरिक्त कोष का शेष सारा भाग। केन्द्र कोष के शेष भाग से रासायनिक बनावट (Composition) और शारीरिक व्यवस्था मे पूर्णतः भिन्न होता है। यह केन्द्र कोष के अत्यधिक विभाजन और जीवन की क्रिया को कायम रखने मे अपना महत्वपूर्ण कार्य करता है, जबकि शेष भाग शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को उनके कार्यों के अनुसार विकसित करता है। जो कोष ग्रन्थियों (glands) की उत्पत्ति करेंगे, उनके केन्द्र उनमें शक्ति, कार्य-क्षमता, प्राण और विकास के उत्तरदायी होंगे और उनके शेष भाग स्रावों (secretion) की जिम्मेवारी निभाएंगे। जो कोष मांस पेशिया बनायेंगे, उनके शेष भाग पेशियों की सिकुडन, संकोच इत्यादि को कार्यान्वित करेंगे।

आनुवंशिकता में माता-पिता दोनों का योगदान. निषिक्त अण्ड (fertilised ovum) का केन्द्र प्रत्येक कोष को दो केन्द्र देगा। एक पिता के वर्णसूत्र (Chromosomes) का और एक माता के वर्णसूत्र का; और जब यह कोष दो में विभाजित होगा, तो यह भी दो ही केन्द्र देगा, और इस प्रकार शरीर के

कोटि-कोटि कोषों में अनिवार्यतः माता और पिता दोनों के वर्णसूत्रों का समावेश होगा। इससे स्पष्ट है कि आनुवंशिकता केवल माता या केवल पिता के प्रभाव का परिणाम नही होती, और 'मां पर पूत पिता पर घोडा' वाली पुरानी उक्ति चरितार्थ नहीं होती।

आनुवशिकता के इस विवरण से हम तीन परिणामों पर पहुंचेगे।

१. माता और पिता दोनों ही आनुवंशिकता के लिए जिम्मेदार है।

२. **गर्भाधान के समय आनुवशिकता का निर्धारण.** चूंकि गर्भधारण के समय ही रज और वीर्य का जो मिलन होता है, उसी से निर्णीत कोष के कोटिशः विभाजन मे आनुवंशिकता का निवास है; इसलिए आनुवंशिकता उसी समय निर्धारित हो जाती है और अपरिवर्तित रहती है। न तो निषिक्त अण्ड मे कोई बाह्य पदार्थ प्रवेश कर सकता है, और न ही आनुवंशिकता में कोई बाह्य गुण आ पाते पाते है। यहा तक कि प्रसव से पहले के गर्भधारण के लम्बे समय मे गर्भ की आन्तरिक दशा भी आनुवंशिकता को प्रभावित नहीं कर सकती।

३. **शरीर के प्रत्येक अंश में आनुवंशिकता का निवास.** शरीर के प्रत्येक भाग में, प्रत्येक कण-कण मे, प्रत्येक अणु और कोष मे आनुवंशिकता का निवास है। कारण स्पष्ट है कि एक ही कोष के असंख्य विभाजनों ने शरीर को बनाया और विकसित किया है।

इससे स्पष्ट है कि आनवंशिकता प्रत्येक मनुष्य को जन्म से ९—१० मास पहले ही प्राप्त हो जाती है जब कि रज और वीर्य परस्पर मिलते है। उससे उत्पन्न कोष असंख्य कोषों में विभक्त होकर शरीर के प्रत्येक अंग को जन्म देता है। उसके बाद जीवन की दीर्घ यात्रा आनुवंशिकता पर कोई प्रभाव नही डालती, यह तो निर्णीत और पूर्वनिर्धारित होती है।

वर्णसूत्र (Chromosomes) **और आनुवंशिकता.** प्रत्येक केन्द्र दण्डाकार सूत्रों का समूह होता है, जिन्हें वर्ण सूत्र कहा जाता है। यह वर्णसूत्र लम्बे, छोटे, टेढे-मेढ़े, अंडाकार, कितने ही रूपों के होते हैं। प्रत्येक कोष के केन्द्र में ४८ वर्णसूत्र होते है। प्रत्येक कोष-विभाजन के समय उस कोष का प्रत्येक वर्णसूत्र एक समान दो भागों में बंट जाता है, और एक-एक भाग एक-एक कोष की सम्पत्ति बनता है। इस प्रकार नवजात दोनों कोषों मे ४८ वर्णसूत्र होते है।

प्रत्येक कोष के ४८ वर्णसूत्र कहने के स्थान पर उन्हें २४ जोड़े कहना उपयुक्त होगा। वर्णसूत्र जोड़ों में ही मिलते है। निषिक्त अंड भी वर्णसूत्रों के २४ जोड़े रखता है, जिनमें से एक वीर्य से प्राप्त होता है और दूसरा रज से। अतः प्रत्येक कोष में २४ वर्णसूत्र रज से उपलब्ध होते हैं, और २४ वीर्य से। जब यह दो कोषों में विभक्त होते हैं तो फिर २४-२४ होकर यह २४ जोड़े हो जाते

हैं। इस प्रकार प्रत्येक कोष माता और पिता दोनों के वर्णसूत्र बराबर-बराबर रखता है।

वाहकाणुओं (Genes) का प्रभाव. एक वर्णसूत्र मनकों की माला का सा रूप लिए हुए होता है, जिसमें मनकों जैसे अलग-अलग पिरोए से वाहकाणु (genes) रहते हैं। इन वाहकाणुओं की संख्या लगभग एक हजार होती है और यह असमान संख्या में ४८ वर्णसूत्रों में बंटे रहते हैं। वर्णसूत्रों के समान ही यह भी माता और पिता दोनों के वीर्य और रज के जोड़ों (pairs) में उपस्थित होते हैं।

अधिकांशतः, एक समय किन्हीं जोड़ों के वर्णसूत्र एक समान होते हैं और माता-पिता और सन्तान में भिन्नता की अपेक्षा समानता की अधिक उत्पत्ति करते हैं। समानताएं भिन्नताओं से कई गुणा अधिक होती हैं। परन्तु कुछ जोड़ों में वाहकाणु भिन्न भी हो सकते हैं। उदाहरणतः, एक वाहकाणु नीली आंखों वाला है और दूसरा भूरी आखों वाला है। यदि सन्तान को माता और पिता से भूरी आंखों वाले वाहकाणु प्राप्त है, तो उसकी भूरी आंखें ही होंगी, यदि दोनों ने एक-एक नीली आखों वाला वाहकाणु दिया है तो नीली आंखों वाली संतान होगी। परन्तु यदि माता भूरी आंखों वाला वाहकाणु दे, पिता नीली आंखों वाला तो सन्तान को भूरी आखें ही मिलेंगी, केवल इस कारण कि भूरी आखों के वाहकाणुओं को नीली आंखों वाले वाहकाणुओं पर प्रभुता प्राप्त होती है।

मैंडल का आनुवंशिकता का सिद्धान्त

आनुवंशिकता शारीरिक विशेषताओं और लिंग के निर्धारण में कैसे अपना महत्वपूर्ण योग देती है, इसको प्रकट करने का मुख्य श्रेय ए. जी. मैंडल को है जिन्होंने आठ साल लगातार पौधों पर परीक्षण किए और १८६५ में एक सिद्धान्त निकाला।

मैंडल के सिद्धान्त को समझने के लिए उसके ही परीक्षण का सरल वर्णन करना अधिक उपयुक्त रहेगा।

मटरों पर परीक्षण. तीन साल की निरन्तर चेष्टा और यह निश्चय कर लेने के पश्चात् कि उनके परीक्षण की सामग्री, बाग की मटर, जन्मतः और प्राणिशास्त्र के दृष्टिकोण से शुद्ध है और वर्णसंकर (hybrid) नहीं है, मैंडल ने लम्बे मटर के बीज और नाटे मटर के बीज एक साथ बो दिए। सभी उगे पौधे लम्बे हुए। उनके बीजों को दूसरी बार बोया गया। इस बार $\frac{1}{4}$ भाग नाटे या छोटे और $\frac{3}{4}$ भाग लम्बे पौधे उगे। नाटे पौधों के इस चौथे भाग को दुबारा उगाने पर यह सभी नाटे ही उगे। परन्तु $\frac{3}{4}$ भाग वाले सभी लम्बे पौधे उगाने पर $\frac{1}{4}$ फिर नाटे पौधे उगे। स्पष्ट है कि इन $\frac{3}{4}$ भाग में $\frac{1}{4}$ तो शुद्ध दीर्घ पौधे थे, परन्तु शेष $\frac{2}{4}$ वर्णसंकर थे।

प्रश्न यह उठता है कि यह वर्णसंकर पौधे लम्बे ही क्यों उगे ? इसका उत्तर वही दिया गया है जो भूरी आंखों वाले वाहकाणुओं के नीली आंखों के वाहकाणुओं पर अधिकार करने में प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् लम्बे पौधे नाटे पौधों की विशेषता को अपनी विशेषता से दबा गये।

इस अध्ययन से जिन दो बातों पर अधिक प्रकाश पड़ता है वे यह हैं :

१. प्रबल (Dominant) या दुर्बल (Recessive) गुणों का सिद्धान्त।

२. पृथक्करण (Segregation) का सिद्धान्त।

प्रबल और दुर्बल गुण. जो विशेषताएं वर्णसूत्रों या वाहकाणुओं मे प्रबल हैं वे ही वर्णसंकर होने पर प्रकट होंगी, परन्तु साथ-साथ दूसरी विशेषता भी चलती रहेगी। नीली आंखों पर भूरी आंखों वाले वाहकाणु प्रबल रहे, और लम्बे पौधे नाटे पौधों पर। परन्तु फिर भी नीली आंखों और नाटे पौधों की विशेषताएं आनुवंशिकता के साथ-साथ आगे चलती रहीं।

वाहकाण (Genes) **गुणों की इकाइयां.** वर्णसूत्रों (Chromosomes) में विद्यमान वाहकाणु आनुवंशिकता के वाहक हैं। एक पीढ़ी को उसकी पूर्वज पीढ़ियों से जो प्राप्त होता है, वह उसके साधन हैं। हमारे विशेष शारीरिक चिन्हों को निर्धारित करने में यह अति महत्वपूर्ण भाग लेते हैं। ये वाहकाणु निषिक्त अंड में एक-एक समूह के रूप में अलग-अलग विशेषताओं की इकाइयो के वाहक होकर रहते हैं और ये समूह जो पृथक्-पृथक् विशेषताओं को नई पीढ़ी की आनुवंशिकता में ले जाते है, आनुवंशिकता की शृंखला को अटूट और अविच्छिन्न रखते हैं।

लिंग (Sex) और आनुवंशिकता

यह एक मनोरंजक प्रश्न है कि आनुवंशिकता की नवजात शिशु को विशेष लिंग देने में कितनी जिम्मेदारी है ? क्या किसी खास नियम के आधार पर पहले ही यह कहा जा सकता है कि शिशु पुत्र होगा कि कन्या।

आकस्मिकता ही कारण. प्राणिशास्त्रियों का कहना है कि शरीर कोष में जो ४८ वर्णसूत्र रहते हैं, उनमें दो वर्णसूत्र **क क** रज में और **क ख** वीर्य में रहते है। यही **क क** और **क ख** शिशु को उसका लिग प्रदान करते है। माता-पिता के प्रजनन कोषों में २३ जोड़े साधारण वर्णसूत्र और एक जोड़ा विशेष लिंग वर्णसूत्र (**क क** या **क ख**) का निवास होता है। जब रजकण निषिक्त होता है, तभी लिंग निर्धारण हो जाता है। दोनों माता-पिता यदि एक-एक **क** प्रदान करें, तो लिंग स्त्री होगा और यदि पिता का भाग **ख** हो, तो लिंग पुरुष होगा। इसमें पिता का दान क्या है, यह न तो पिता की इच्छा पर निर्भर है, न ही डाक्टर या वैद्य

की जड़ी-बूटी पर, यह केवल आकस्मिकता की बात है।

स्त्री-पुरुष बराबर क्यों ?. यदि यह केवल आकस्मिकता की बात है, तो फिर लगभग बराबर संख्या में ही पुरुषों और स्त्रियों का जन्म क्यों होता है और उनकी संख्या शताब्दियों से करीब-करीब बराबर क्यों चली आ रही है ? यह स्मरण रखना चाहिये कि पिता के वर्णसूत्रों में दोनों प्रकार के वाहकाणुओं की एक जैसी संख्या होती है और इसलिए इस बात के अवसर कि पिता का दान क है कि ख कोई अन्तर नहीं डालता। इस बात का कोई भय नहीं है कि कभी पुरुषों की संख्या बहुत न्यून हो जाएगी या पुरुष कुआंरों और विधुरों के रूप में ही नजर आयेंगे।

भारत जैसे देश मे जहां इस दिशा मे पर्याप्त अंधविश्वास है, जहां सन्तान के लिंग-निर्धारण मे पुरुष के वीर्य का महत्व न होकर मुल्ला के ताबीज और संन्यासी की बूटी का अधिक महत्व है, इस तथ्य को समझना बहुत आवश्यक है, कि आनुवंशिकता और सन्तान के लिंग का और मनुष्य की इस लिंग-निर्धारण को प्रभावित या निर्धारित करने में असफलता का क्या सम्बन्ध है ? कौन जान सकेगा कि वीर्य रज के मेल में वीर्य के दोनो क और ख मे से किसने रज के क से मिलाप किया ?

जुड़वां बच्चों का जन्म. एक साथ जुड़वां (Fraternal twins) और समरूप जुड़वां बच्चों (Identical twins) को जन्म देने मे भी रज और वीर्य के मिलन का समय ही अन्तिम निर्णायक है। हो सकता है कि एक रजकण एक वीर्यकण से मिले, या ऐसा न होकर, दो रजकण एक ही समय में या थोड़े समय पश्चात् दो वीर्यकणों से निषिक्त हों। इस परिस्थिति में दो जुड़वां बच्चे जन्म लेते है। परन्तु समरूप जुड़वां बच्चे जो एक समान ही होते है, एक ही निषिक्त रजकण से उत्पन्न होते है। इसमें रजकण वीर्य से निषिक्त होकर दो भागों मे विभक्त हो जाता है, परन्तु दोनों भाग एक जैसे ही होते है और एक ही जैसे शिशुओं के जन्म का कारण बनते है।

मेंडल का सिद्धान्त और मनुष्य. मेंडल का प्रबल विशेषताओं के $\frac{3}{4}$ और दुर्बल विशेषताओं के $\frac{1}{4}$ के परिमाण में प्रकट होने का नियम मानव पर कुछ सीमाओं के भीतर लागू होता है। जो विशेषताएं इकाइयों में वर्णसूत्रों में समाई हुई होती है, केवल उन्हीं में यह सिद्धांत अपना कार्य करेगा। परन्तु मनुष्य के सभी शारीरिक गुण इकाइयों में इस प्रकार विभक्त होकर वर्णसूत्रों को नहीं प्राप्त होते। दूसरी बात यह है कि ये विशेषताएं या गुण वर्णसूत्रों के जोड़ों के भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्मिश्रण पर निर्भर है। कैसे जोड़े किन जोड़ों से मिलते हैं, यह आकस्मिक-सी क्रिया है, और इसलिए बच्चा माता के किन गुणों का अधिकारी

होगा और पिता से कौन से गुण लेगा, यह इस बात से जाना जा सकेगा कि (१) वर्णसूत्रों का मेल किस प्रकार का है और (२) इस मेल में किसकी ओर से प्रबल विशेषता वाले वर्णसूत्रों ने प्रवेश किया है। क्या यह भी कभी जाना जा सकेगा ?

जैसे नाटे पौधे दूसरी फसल में उपजे ही नहीं, बल्कि तीसरी में उपजे, और वह भी केवल एक चौथाई, और बाकी आधे कुल पौधे ऐसे रहे जिनमे, से अगली या न जाने किस अगली उपज में, नाटे पौधे उपज सकें। इसी प्रकार हमारे किस पिता या पितामह का कौन-सा शारीरिक गुण हमें किस समय मिल जाए इसका अनुमान लगाना असम्भव है। होम्ज् ने इस तथ्य को सुन्दरता से व्यक्त किया है। उसके शब्दों में "आनुवंशिकता तो सभी स्थानों पर पहुंचाने वाली एक बस सर्विस है, इसमें हमारे सभी पुरखे सवारी कर रहे है, और समय-समय पर अपना अपना सिर बाहर निकाल कर हमें चकित कर देते है।"

इसी सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि आनुवंशिकता से हमें जो कुछ मिल चुका है, वह हमारे शरीर की परिपक्वता के साथ-साथ अपना प्रभाव बढ़ाता है। आंखों की बनावट या नाक का चपटा होना इत्यादि तो जन्म से ही निश्चित हो जाता है, पर बालों का रंग, गंजापन और ऐसी ही विशेषताएं, समय पाकर प्रकट होती है।

आनुवंशिकता से प्रभावित विशेषताएं. १९१० में यह सिद्ध हो गया कि मैंडल की धारणा मूलतः ठीक होने पर भी आनुवंशिकता की उलझी हुई गुत्थी को पूर्णतया सुलझाकर नहीं रख सकी। यह सारी क्रिया, जितनी मैंडल समझते थे उससे कहीं अधिक पेचीदा है। फिर भी यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि निम्न-लिखित विशेषताएं आनुवंशिकता से निर्धारित या प्रभावित होती है :—

लिंग-भेद, आंखो और बालों का रंग, चेहरे का रंग और वनावट, छवि, बालों का विभाजन और रूप, रक्त की रासायनिक अवस्था, शरीर की व्यवस्था, ग्रन्थियों के प्रकार, उंगलियों के चिन्ह, हथेली और चरण-तल की बनावट, हाथों और पांवों की बनावट, और ऐसी दूसरी शारीरिक विशेषताएं।

आनुवंशिकता, शारीरिक रोग और त्रुटियां

शारीरिक त्रुटियां, अस्वाभाविकताएं और रोग, यह न केवल वैयक्तिक दृष्टिकोण से, बल्कि सामाजिक दृष्टिकोण से भी कई मामलों में महत्वपूर्ण होते है। आनुवंशिकता का प्रभाव केवल छः या सात बीमारियों में ही पाया गया है। मधुमेह, बचपन का जोड़ों का दर्द, मोतिया और अंधता, ग्लैकोमा, साधारण वर्णान्धता, भैंगापन, गंजापन और करीब-करीब एक तिहाई बहरापन ऐसी ही बीमारियां हैं।

आनुवंशिकता का रोगों से अतिन्यून सम्बन्ध. कुछ रोग ऐसे होते हैं जो बाह्य कृमियों के आक्रमण का परिणाम होते है, परन्तु कुछ ऐसे हैं, जो मानव-शरीर के कोषों में बसते हैं। पहले प्रकार के रोग, टाइफाइड, सिफिलिस, खांसी, मलेरिया इत्यादि है, चूंकि यह बाह्य संसर्ग से प्राप्त होते है, इसलिए इनके आनुवंशिक होने का प्रश्न ही नही उठता।

आनुवंशिक कहे जाने वाले कितने कुल-रोग जन्म से पहले तभी लग जाते है, जब गर्भस्थिति में माता के स्वास्थ्य का कुप्रभाव बच्चे पर पड़ता हैं। कई रोग जो मा को होते हैं, यदि दूर किए जा सके, तो गर्भवती होने के बाद वह मा एक स्वस्थ बच्चे को उत्पन्न करेगी। संक्षेप में यह कहना प्रर्याप्त होगा कि आनुवंशिकता और रोगों के सम्बन्ध में पहले के अनुमान और भय आज विज्ञान की परीक्षा से निरर्थक सिद्ध हुए है, और रोग और आनुवंशिकता का अति न्यून सम्बन्ध है।

आनुवंशिकता के कट्टर समर्थक. आज से करीब चालीस वर्ष पूर्व प्राणि-शास्त्रियों का एक ऐसा सम्प्रदाय था जिसने मानव का ध्यान अपनी ओर इस धारणा के कारण आर्कषित कर लिया कि वह हमारी सभी सामाजिक समस्याओं का एक ही कारण—हमारी आनुवंशिकता ही बताते थे। परन्तु पिछले कुछ वर्षों में इस धारणा ने वैज्ञानिकों को जो अनवरत परीक्षण करने के लिए प्रेरित किया, उनके परिणामस्वरूप आज हम बहुत भिन्न तथ्यों को स्वीकार करने पर मजबूर हुए हैं।

आनुवंशिकता की प्रबलता के पोषक अनुसंधान. मदधी (Feeble minded) व्यक्तियों के आरम्भिक अध्ययनों से उन निष्कर्षो की पुष्टि होती थी, जो आनुवंशिकता को सामाजिक त्रुटियों का उत्तरदायी ठहराते थे। गोडार्ड का १९१२ का कल्लीकक कुल का अध्ययन, डेविनपोर्ट और डेनियलसन का पहाड़ी जातियों का अध्ययन, और एस्टाब्रुक का १९१५ का ज्यूकस के विषय मे किया अनुसंधान, ऐसे निष्कर्षो को वैज्ञानिक परीक्षण का फल बना रहे थे। ज्यूकस के विषय मे तो यहां तक कहा गया कि उनके मंदधी कुल के कारण समाज को पच्चीस लाख डालरों का व्यय सहन करना पड़ा है। कल्लीकक कुटुम्ब, जिसके पितामह मार्टिन कल्लीकक अमेरिका की क्रान्तिकारी सेना के एक मंदधी सैनिक थे, उनके ४८० पौत्र-प्रपौत्रों में ४३ मंदधी, ४३ स्वस्थ, और शेष संदेहात्मक ज्ञात हुए। यह सब उनकी नाजायज सन्तान की सन्तानें थीं। परन्तु उनकी जायज सन्तानों में सभी अच्छे नागरिक प्राप्त हुए। इससे गोडार्ड का यह मत बना कि मंदधीयता एक आनुवंशिक गुण है। इसी प्रकार जोनाथन एडवर्डस् के कुल के करीब सभी लोग डाक्टर, प्रोफेसर और लेखक प्रमाणित हुए। इन खोजो से

आनुवंशिकता और अपराधी-वृत्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी स्थापित किया गया। लोम्ब्रोजो जैसे प्रसिद्ध अपराधशास्त्री ने भी इसे स्वीकार किया। इसी प्रकार ज्यूकस कुल के १,२०० उत्तराधिकारियों में से ४४० मंदधी, ३१० बहुत गरीब और भिखमंगे और ३०० ऐसे थे जो पागलखानों में काल का ग्रास बने।

आनुवंशिकता का सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण. इस सम्बन्ध में दो प्रश्न विचारणीय हैं। पहला, आज के ज्यूकस और एडवर्ड्स वही कुल कैसे कहे जा सकते हैं जो १२ या १५ पीढ़ी पहले इस नाम के कुल थे ? प्रत्येक कुटुम्ब एक नयी सन्धि है, एक नया सम्मिलन है, और हमारी नाड़ियों में अगणित कुलों का रक्त प्रसारित है और कई बार तो प्रसिद्ध पुरखों के नाम वह लोग भी उधार ले लेते हैं जो आनुवंशिक दृष्टि से उनके समीप नहीं होते। इसके अतिरिक्त यह भी न भूलना चाहिये कि प्रत्येक प्रजनन मे आधी आनुवंशिक धारा तो बंट ही जाती है, और यह असंख्य वर्णसूत्र नाना प्रकार से मेल करते है। क्या यह सदा दो अवसरों पर एक ही धारा अपनाते है ? कोक्लिन ने ठीक ही कहा है : "बहुत सम्भव है कि सर्वोत्तम विशेषताएं माता-पिता में प्रकट हो जाएं और बच्चों में न मिलें। शायद तीव्रबुद्धि की सन्तान मंदधी, पागल और अयोग्य ही हो।" फिर वातावरण का कितना तीव्र प्रभाव वर्णसूत्रों पर पड़ता है इसे नहीं भूलना चाहिए। वर्णसूत्रों के भिन्न-भिन्न प्रकार के मेल और वातावरण के प्रभाव के कारण कोई भी एडवर्ड और ज्यूकस एक-से नहीं होते।

मायरसन ने गोडार्ड की जांच के तरीके को अवैज्ञानिक बताया है। इसके अतिरिक्त यह भी सिद्ध हुआ कि कुलीन एडवर्ड, जिसके वंश में योग्य ही लोग हुए, की दादी स्वयं बहुत ही चरित्रहीन थी। इन अनुसंधानों से ऐसे कुल-इतिहासों की महत्ता कम हो गई। यह भी माना गया कि मंदधीयता के मुख्य कारण (१) बच्चे के जन्म से पहले और जन्म के समय सिर पर लगी चोटें, (२) काली खांसी का बच्चों पर प्रभाव, (३) चुल्लिका (Thyroid) ग्रन्थि का असन्तुलन इत्यादि हैं।

वातावरण मानसिक गुणों का एक प्रमुख कारण. हब्शी बच्चों पर किये गये परीक्षणों और दूसरे अनुभवों के बाद आज यह माना जाने लगा है कि मानसिक दुर्बलताएं आनुवंशिक नहीं हैं। जन्मजात अपराधी या नता के सिद्धान्तों को आज का विद्वान अस्वीकार करता है। पी० ए० विट्टी के निम्न शब्दों में हम एक मान्य सिद्धान्त पर पहुंच पाएंगे। उनका कहना है :

"हमें सदा ही व्यक्ति की अद्वितीयता को ध्यान में रखना चाहिये, जिनका प्रत्येक कोष एकसम वर्णसूत्र और एकसम वाहकाणु अपने में समाये रखता है, जो एक समान होते हुए भी किसी भी दूसरे प्राणी के वाहकाणुओं से अलग होते हैं,

और परिणामस्वरूप वातावरण के उन थपेड़ों के प्रति जो उसके विकास का दिग्दर्शन करते है, प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशिष्ट प्रतिक्रिया होती है।" इसलिए यदि मनुष्य और उसके व्यक्तित्व के विकास का अध्ययन करना है, यदि मनुष्यों की एकता और भिन्नता और सामाजिक व्यवहारों में अन्तर के कारणों तक पहुंचना है, तो हमे वातावरण की ओर अपना ध्यान आकृष्ट करना होगा।

स्पष्ट है कि प्राणिशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोण में यह परिवर्तन तभी हुआ जब उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि मानव-समाज और व्यक्तित्व पर वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। परन्तु कितना प्रभाव पड़ता है ? और क्या केवल वातावरण का ही प्रभाव पड़ता है या आनुवंशिकता का भी ? और तब यह विवाद चला : किसका प्रभाव अधिक पड़ता है ?

वातावरण और आनुवंशिकता

इस विवाद ने आरम्भ में समाजशास्त्रियों को दो भागों में बांट दिया। वातावरणवादी इस पर बल देते थे कि मनुष्य के स्वभाव, व्यक्तित्व और विकास में केवल वातावरण का ही हाथ है। दूसरी ओर आनुवंशिकता के पक्षपातियों की भी कमी नहीं थी। इस विवाद का अन्त करने के लिए कितने ही परीक्षण किये गये हैं, जिनमे से कुछ नीचे दिए जा रहे हैं।

कुछ परीक्षण. कुछ परीक्षण जिनसे वातावरण के प्रभाव को न्यून प्रमाणित करने की चेष्टा की गई, नीग्रो और गोरे अमेरिकन सिपाहियों पर किये गये। पहले विश्व-युद्ध के उपरान्त नीग्रो सिपाहियों की मानसिक उम्र जांची गई, और उसका औसत १०·४ निकला। इसी तरह के गोरे सैनिकों की मानसिक उम्र १३·४ आई। इससे यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई कि नीग्रो जन्मतः ही अल्पबुद्धि होते है। उसके बाद किये गए ऐसे अध्ययनों में, दो को छोड़कर सभी, इसी ओर संकेत करते है। परन्तु १९२३ में क्लार्क के लॉस ऐंजल्स स्कूल के बच्चों पर परीक्षण का फल और जे० पेटरसन और लेनियर के १९२९ के अध्ययन के फल बतलाते हैं कि गोरे और नीग्रो बच्चों की योग्यता और बुद्धि में कोई अन्तर नहीं है।

पुराने परीक्षणों की आलोचना. फिर भी हमें यह ध्यान रखना होगा कि क्या बुद्धि-परीक्षाएं बुद्धि-मापक है या ज्ञान-मापक ? दूसरा प्रश्न यह है कि जो परीक्षाएं गोरी सभ्यता के प्रभाव में बुद्धि का माप करने के लिए रखी गई हैं, क्या वह नीग्रो जाति की सभ्यता और उनके वातावरण के अनुकूल हैं ? या वे गोरों को वैसे ही एक अवाछित रियायत नहीं देतीं ? तीसरी समस्या यह निर्णय करने की है कि यह अन्तर कहीं इस कारण तो नहीं कि गोरे बच्चों का घरेलू वातावरण बहुत उन्नत है और नीग्रो बच्चों को न वे सुविधाएं हैं और न ही उनका पोषण ठीक ढंग से होता है। वे बच्चे जो प्रतिदिन अभाव और इच्छाओं को कुचल देने वाले,

व्यक्तित्व के विकास को दबा देने वाले, वातावरण में पलते हैं, कैसे उन गोरे बच्चों से मुकाबला करेंगे ?

नीग्रो जाति के मन्दबुद्धि होने और आनुवंशिक तौर पर पिछड़े होने का कारण उनकी वंशावली या नस्ल नहीं है। इसकी पुष्टि तो इसी से होती है कि नीग्रो नीग्रो में भी तो कुछ अन्तर है। अमेरिका के दक्षिणवासी नीग्रो से उत्तरवासी नीग्रो की बुद्धि परीक्षण के परिणाम में सात अंकों का अन्तर है। उत्तरवासी अधिक बुद्धिमान हैं। इससे स्पष्ट है कि श्रेष्ठ वातावरण श्रेष्ठ व्यक्तित्वों का विकास करता है। हमारे अतीत और वर्तमान का वातावरण हमारे व्यक्तित्व और जीवन के प्रत्येक भाग को आंदोलित करता है।

शारीरिक विशेषताएं और वातावरण

पहले कहा जा चुका है कि बहुत-सी शारीरिक विशेषताएं आनुवंशिकता की देन होती हैं। पर वातावरण भी शारीरिक विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। उदाहरणतः वे जापानी और यहूदी बच्चे, जो अमेरिका में पले हैं, बड़े होकर अपने सिर की बनावट में अपने पूर्वजों से भिन्न हो गए। जापानियों की तो ऊँचाई तक औसतन दो इंच अधिक हो गई। अतः यह कहना कि केवल आनुवंशिकता ही शरीर को विशेषता देती है, भ्रान्तिमूलक है।

ए० ग्रीनफल्ड के शब्दों में, "गर्भ धारण के समय से लेकर यौवन तक, ऊँचाई का विकास करने वाले वाहकाणुओं के कार्य पर अगणित प्रेरणाएं अपना प्रभाव छोड़ती हैं। मां का स्वास्थ्य, ग्रन्थि-रोग, खान-पान की आदतें, जलवायु, जीवन व्यतीत करने की परिस्थितियां, पेशे, शारीरिक अभ्यास, चलने और सोने की रीतियां, सभी तो शारीरिक ढांचे को प्रभावित करते हैं।"

क्या पेशेवार परीक्षण से समस्या हल होती है ?

योग्यता, ज्ञान और बुद्धि में पेशेवार जो भेद और अन्तर होते हैं, वह क्या आनुवंशिकता से निर्धारित होते हैं ? इसका निर्णय करने के लिए हमें कुछ महत्व-पूर्ण परीक्षणों पर विचार करना होगा।

कुछ नये परीक्षण

पोषण गृहों (Foster Homes) में पले बच्चे. यूमैन ने ६७१ बच्चों को, जो अपने जन्म के घर से पृथक् दूसरे घरों में पल रहे थे, अध्ययन करके परिणाम निकाला कि इन दूसरे घरों का वातावरण बच्चों के व्यक्तित्व के विकास को बहुत कुछ निर्धारित करता है। जो बच्चे अपने जीवन के उषाकाल में ही जल्दी अधिक अच्छे घरों में प्रविष्ट किए गए थे, वे उन बच्चों की तुलना में, जो वैसे ही घरों में देर में प्रविष्ट किए गए, अधिक बुद्धिमान थे। छब्बीस ऐसे बच्चों में से जिनके माता-पिता मंदधी थे, केवल चार ही मंदधी बने। अन्य सभी का समुचित

विकास हुआ। यह उदाहरण इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि यह वातावरण के प्रभाव का सजीव उदाहरण है।

२० प्रतिशत वातावरण और ८० प्रतिशत आनुवंशिकता. परन्तु इसकी तुलना में मिस बर्क्स का निष्कर्ष यह है कि बच्चों के विकास में घरेलू वातावरण का प्रभाव २० प्रतिशत होता है जब कि आनुवंशिकता का प्रभाव आसानी से ७५ या ८० प्रतिशत है। उनके परीक्षण भी ऐसे बच्चों पर हुए जिनको पितृगृह से अलग अच्छे गृहों में पोषित किया गया। मिस बर्क्स के अनुसार सबसे अच्छा घर बच्चे के बौद्धिक भागफल (Intelligence Quotient) को १०० नम्बर से २० नम्बर अधिक बढ़ा सकता है, और बुरे-से-बुरा घर २० नम्बर कम कर देता है। इस प्रकार वे मानती हैं कि अच्छे-से-अच्छे और बुरे-से-बुरे वातावरण मे रखने से बच्चे के बौद्धिक भागफल में ४० प्रतिशत का अन्तर हो सकता है। साधारणतः तो बौद्धिक भागफलों में इससे अधिक अन्तर नहीं होता। अच्छे बच्चे लगभग १२० और मंदधी ७० बौद्धिक भागफल रखते है। क्या इससे यह नहीं समझा जा सकता कि यह अन्तर केवल वातावरण की देन है। इसके अतिरिक्त, यह तो अमेरिकन अच्छे और बुरे वातावरण की तुलना है, बिल्कुल अच्छे और बिल्कुल बुरे की नही। इन परिस्थितियों में हम मिस बर्क्स के परिणामों को स्वीकार नहीं कर सकते।

लगभग इन्हीं प्रणालियों पर एक और अध्ययन श्रीमती मेरी स्कोडक और एच. एम. स्कीलज ने लोवा शहर में किए। १५० नाजायज बच्चे छः महीने की अवस्था में पोषण गृहों में रख दिए गए और समय-समय पर उनकी परीक्षा ली गई। उनके बुद्धि-परीक्षा के फलों को उनके माता और पिता के फलों से मिलाया गया। उससे यह निष्कर्ष निकला कि "साधारण अर्थों में जो बुद्धिमत्ता समझी जाती है, वह वातावरण के परिवर्तन से बहुत प्रभावित होती है, इतनी प्रभावित होती है जितना कि पहले कभी अनुमान नही किया गया था।'

परन्तु यहा भी हमें शीघ्रता में एकतरफा निर्णय नही करना होगा। इन परीक्षणो से भी मनोरंजक और विचित्र परीक्षण दो प्रकार के हुए है : वह बच्चे जो एक समान जुड़वां संतान थे, अलग रखे गए, और वह बच्चे जिनकी आनुवंशिकता एक न थी, पर पाले एक साथ गए। ऐसे बच्चे जब अलग वातावरण मे पले तो वर्षों पश्चात् न तो उनमें कोई मानसिक या प्रावृत्तिक या स्वाभाविक एकता देखी गई, न ही वह एक दूसरे को पहचान सके।

पृथक् वातावरण में पले जुड़वां बच्चे. दो ऐसी बहनें अलग-अलग पली। एक ने अच्छे घर और कालिज की शिक्षा में पोषण पाया और दूसरी निर्धन घराने में पली और अशिक्षित रही। एक का बौद्धिक भागफल ११६ था, जब कि दूसरी

का केवल ९२। इससे सिद्ध होता है कि ऐसे बच्चों में भी वातावरण अन्तर ला देता है।

आनुवंशिकता और वातावरण की सरल-सी परीक्षा अनाथालय में पले बच्चों और घर में पले भाई-बहनों से भी हो जाती है। न ही एक प्रकार का वातावरण, और न ही एक प्रकार की आनुवंशिकता उनके व्यवहारों और विकास को एक-सा कर पाती है, फिर भी यह मानना होगा कि आनुवंशिकता का प्रभाव होता है। इस बारे में दो मत उपस्थित किए जा रहे हैं। पहला मत प्रो० वुडवर्थ का है, जिन्होंने एक चार्ट के द्वारा अपने मत की पुष्टि की है।

बौद्धिक भागफलों में औसत अन्तर	
एकसम जुड़वाँ भाइयों में	५
जोड़े भाइयों में	९
असम्बन्धित व्यक्तियों में	१५

स्पष्ट है कि पहले उदाहरण में आनुवंशिकता के कारण ही इतना कम अन्तर है जो एक ही व्यक्ति की दो बार परीक्षा करने पर भी आ जाता है। दूसरे उदाहरण में जो अन्तर है, वह वातावरण की तुलनात्मक समानता का परिणाम है। तीसरे में न वातावरण समान है, न आनुवंशिकता। यहां यह भी ध्यान रखना होगा कि एक वातावरण कहना वास्तव में उचित नहीं है। उचित इसलिए नहीं कि कोई भी दो व्यक्ति पूर्णतः एक जैसा वातावरण रख ही नहीं सकते। एक जैसी परिस्थिति पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के लिए पृथक्-पृथक् वातावरण उपस्थित करती है।

आनुवंशिकता, वातावरण के अनुपात का निश्चय कठिन. दूसरा मत तीन बड़े विज्ञानवेत्ताओं, प्राणिशास्त्री न्यूमैन, मनोवैज्ञानिक फ्रीमैन और गणनाशास्त्री हाल्जिगर ने सर्वसम्मति से दिया है। अपने दस वर्षों की खोज का सार उन्होने इस प्रकार दिया है :

"यदि आज से दस वर्ष पूर्व, अपने अनुसंधानों के आरम्भ में, हमें आनुवंशिकता वातावरण समस्या का समाधान करने की कोई आशा थी भी, या यह आशा थी कि हम इन पर आधारित छोटी समस्याओं का हल मालम कर लेंगे और कोई सीधा-सा फार्मूला निकाल लेंगे, तो हमारी यह आशा निराशा में परिणत हो गई है। जितना ही अधिक कोई उन पेचीदगियों को सुलझाने की चेष्टा करता है, जो आनुवंशिकता और वातावरण के विवाद में निहित हैं, उनमें जो इकट्ठी मिलकर व्यक्ति के विकास का निर्धारण करती हैं, उतना ही अधिक उसको यह विश्वास हो जाता है कि यह कोई एक समस्या नहीं है बल्कि समस्याओं का समूह है, और उन बड़ी समस्याओं और उन छोटी

समस्यायों का कोई साधारण हल नहीं है।" हमें प्रो० जैनिंग्ज के इस विचार से पूर्ण सहानुभूति है कि जो कुछ आनुवंशिकता कर सकती है, वह वातावरण भी कर सकता है।

ांच जुड़वां बह ों पर परीक्षण

एक समान जुड़वां बच्चों की कहानी के बारे में अन्तिम बात कहकर हम आगे बढ़ेंगे। निषिक्त अंड (Fertilised Ovum) के पाच भागों में विभक्त होने से जो पांच बहनें डायोनी कुल में उत्पन्न हुईं, उनकी प्रवृत्तियों और व्यवहारों पर खोज की गई। उनकी सामाजिक सफलता, सामाजिक लोकप्रियता और सामाजिक प्रवृत्ति की परीक्षा करके उनको अंक दिए गए, वह क्रमशः इस प्रकार हैं:—

एनेट	१.३	.८	२.७
सेसिल	१.३	१.२	१.८
एमिली	०.९	१.०	०.६
मेरी	०.९	०.७	०.४
यूनी	१.८	१.६	१.०

इससे यह ज्ञात होता है कि उनकी भिन्न प्रवृत्तियों मे १००, २००, ६०० प्रतिशत तक के महान् अन्तर हैं।

उपर्युक्त उदाहरण से भी वातावरण की महत्ता को समझा जा सकता है। यहां तक तो ठीक है कि वह जुड़वां बच्चे जो एक ही साथ पाले जाते हैं, उन जुड़वां बच्चों की अपेक्षा जो भिन्न परिस्थितियों मे पाले जाते है, एक दूसरे के कहीं अधिक समान होते है। इसके अतिरिक्त, एक समान जुड़वां बच्चों में जो अन्तर हो जाते है, वह भिन्न प्रकार के वातावरण के कारण होते है। यदि वह कोष जो विभक्त होने पर दो जुड़वां सन्तानों को जन्म देता है, विभाजित होने में समय ले, तो बच्चों में अधिक भिन्नता होगी और उन बच्चों पर वातावरण की भिन्नता का और अधिक प्रभाव पड़ेगा।

वातावरण और मानव-प्रकृति

इस विषय में यहा संक्षेप मे केवल यह कह देना ही पर्याप्त होगा कि सभी मनुष्य अपने-अपने वातावरण के ही परिणाम दिखाई देते है। हमारी जड़ें हमारे अतीत में है। मानव जाति आज संस्कृति के विकसित रूप की स्वामिनी है, और प्रत्येक पीढी एक अतीव गौरवशाली सम्पत्तिशाली विरासत लेकर अपनी प्रगति के साथ उस सांस्कृतिक सम्पत्ति को अपने सक्रिय प्रयोग द्वारा और भी समृद्ध करती है। परन्तु मानव जाति के ही कुछ अंग यदि इस सांस्कृतिक मानवीय वातावरण से दूर रखे जाएं, तो क्या वहां भी वे अपनी आनुवंशिकता या अपनी सहज प्रवृत्ति के कारण उतना ही विकास कर सकेंगे जितना कि समाज में पले बच्चे करते हैं ?

मानव-संसर्ग से पृथक् विजन पोषित बच्चे (Feral Children). अबुल फजल ने अपने 'आईने अकबरी' में शहंशाह अकबर और राजा वीरबल की एक कहानी का जिक्र किया है। यह जानने के लिए कि आदि धर्म और ईश्वरदत्त भाषा कौन-सी है, दस बच्चों को जन्म से ही आबादी से दूर एक महल मे रखा गया, जहां उनको खाना पहुंचाने का सुचारु प्रबन्ध था, परन्तु वे न किसी को देख सकते थे, न मिल सकते थे। दस वर्ष बाद ईश्वरीय वाणी सुनने के लिए जब वे दरबार मे लाए गए, तो सिवाए अं, एं, गें के उनकी कोई भाषा न थी।

इसी प्रकार की एक खोज १९२७ में इलाहाबाद जिले में प्राप्त भेडिये बच्चे की है, जिसका विवरण इस प्रकार है। दस वर्ष का एक छोटा बालक यहा से कोई ७५ मील दूर मियावना की बस्ती के चरवाहों को प्राप्त हुआ था। यह बच्चा भेड़िये की मांद में रह रहा था, और मांद की अवस्था से ज्ञात होता था कि पर्याप्त समय से यह यही रह रहा है। न तो यह लडका चल सकता था, न बोल सकता था। इसका भोजन का तरीका जानवरों के समान था। वह पानी को जीभ से चाटता था और घास खाता था, भौंकता था और अपने को काट तक लेता था।

इसकी अवस्था करीब सात से बारह साल तक की थी। यह भेडियों के साथ ही पला प्रतीत होता था। वह मांस को छोड़ घास की ओर लपकता था। वह खड़ा हो सकता था और कुछ चल भी सकता था, पर कभी-कभी घुटनो के बल चलना चाहता था।

उसके घुटने सख्त हो गए थे जिनसे ज्ञात होता था कि उसे बार-बार धरती पर घसीटा गया है। उसकी हथेलियों मे भी गाठे पड़ी हुई थी। डाक्टरो के अनुसार वह वर्षों तक जड़ों और फलों पर पाला गया था। उसे बेइंतहा भूख लगती थी। उसे दौरे पड़ते थे, और समय-समय पर वह भयानक हो उठता था। एक मानसिक चिकित्सालय में ले जाए जाने से पहले उसने दो पुलिस के सिपाहियों पर आक्रमण भी किया। अपनी बोली के एक-मात्र साधन के रूप मे एक विशेष प्रकार के भौंकने को वह बार-बार काम मे लाता था।

इसी प्रकार के और विवरण अन्य अवेषकों ने भी दिए है। १९५३ मे एक ऐसा ही लड़का जिसका नाम रामू था, लखनऊ के हस्पताल में लाया गया था।

वातावरण की प्रभुता. ऐसे सभी विवरणों से सिद्ध होता है कि मनुष्य और उसकी आज की प्रगति कोई शारीरिक या मानसिक देन नही बल्कि सांस्कृतिक देन है। इसीलिए समाजशास्त्र के विद्यार्थियों को सदैव संस्कृति और वातावरण पर ध्यान रखना पड़ता है। हमें वंशावलियों पर निर्भर न रहकर ऐतिहासिक रूप मे सांस्कृतिक विकास और उन्नति को जानना होगा। मनुष्य आज क्या है, इसका उत्तर देने के लिए उस समाज, अर्थात् वातावरण का भी अध्ययन करना होगा, जो

उसे पशु से मानव बनाता है।

आनुवंशिकता और वातावरण सहवर्ती

परन्तु इस दीर्घ विवाद के पश्चात् आवश्यक है कि हम अपने निष्कर्षों की ओर समग्र रूप में दृष्टिपात करें। मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए, शारीरिक और मानसिक गुणों और दुर्बलताओं के लिए आनुवंशिकता और वातावरण दोनों महत्वपूर्ण हैं, और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। मनुष्य का प्रत्येक श्वास प्रत्येक व्यवहार दोनों के अन्तःसम्बन्ध की उत्पत्ति है। दोनों एक दूसरे के परिणाम के लिए अनिवार्य हैं। इनके अलग-अलग प्रभाव का निर्णय तो तब किया जाए यदि दोनों को एक दूसरे से मुक्त और पृथक् किया जा सके। जब दोनों ही मानव-विकास के अनिवार्य अंग हैं, तो कौन अधिक महत्वपूर्ण है, यह कैसे कहा जा सकता है ?

रज और वीर्य के सम्मिलन के पश्चात् ही कोष में आनुवंशिकता के साधन वाहकाणुओं (genes) पर निषिक्त (fertilised) स्त्री-बीज के शेष भाग का प्रभाव पड़ता है। दोनों में क्रिया और प्रतिक्रिया होती है। दूसरी ओर, नौ महीने की गर्भावधि में माता के गर्भ में जो वातावरण, स्थिति और स्वास्थ्य इत्यादि होता है, वह भी तो वाहकाणुओं के विकास को प्रभावित करता है। ज्यों-ज्यों भ्रूण (Embryo) अपने कोष की संख्या को बढ़ाता जाता है, त्यों-त्यों उसके भिन्न-भिन्न भागों में एक दूसरे का प्रभाव अधिक तीव्र होता जाता है।

जन्म के पश्चात् बच्चे का वातावरण वेग से बढ़ जाता है। फलतः वातावरण का वाहकाणुओं, जो अब शारीरिक ढाचे में होते हैं, पर प्रभाव और वाहकाणुओं के समूह को लिए हुए शरीर का वातावरण पर प्रभाव और भी गम्भीर और महत्वपूर्ण होता जाता है। इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे में इस भांति समा जाते हैं कि विकास की इस दीर्घ योजना में से दोनों का अलग-अलग अध्ययन करना केवल एक भयानक भूल है।

अनुल्लंघनीय आनुवंशिकता. कम-से-कम कुछ अर्थों में तो वाहकाणु शरीर और मन को ऐसी शक्तियां प्रदान करते हैं जिनका विकसना या मुरझाना वातावरण के उपयुक्त होने या न होने पर आधारित है। जब कि एक ही प्रकार के वर्णसूत्रों और वाहकाणुओं को लेकर ही अलग-अलग वातावरण अगणित कोटि के व्यक्तित्वों का विकास कर सकते हैं, तब भी आनुवंशिक सम्पद् कुछ ऐसी सीमाएं अवश्य निर्धारित कर देती है, जिनका उल्लंघन कोई भी वातावरण नहीं कर सकता। नीग्रो वाहकाणुओं का एक समूह किन्हीं भी परिस्थितियों में एक चीनी की शारीरिक विशेषताएं नही दे सकता, और अवश्य कुछ ऐसी जन्मजात दुर्बलताएं होती ही हैं जिनका निदान कैसा भी बलशाली वातावरण नहीं कर सकता।

आनुवंशिकता को वातावरण से पृथक् करना समीचीन नहीं. हमारे समाज में जो नाना प्रकार के परिवर्तन होते रहते है, उनका अध्ययन हमे यह नहीं बता पाएगा कि दोनों मे से कौन अधिक प्रभावोत्पादक है। यदि कभी किसी नए तत्व का प्रवेश एक जटिल परिस्थिति को पूर्णतः बदल देता है, तो इसे उस नए तत्व का ही प्रभाव या महत्व मान लेना सहज भले ही प्रतीत हो, वस्तुस्थिति के विरुद्ध होगा। रक्त की रासायनिक बनावट में थोड़ा-सा अन्तर उसी पदार्थ को विष में परिणत कर सकता है, परन्तु उसे विष बनाने का श्रेय उस अन्तर को न होकर उस पदार्थ के भिन्न-भिन्न पदार्थों को है जिनके नए मेल से विष के गुणों का जन्म हुआ। इसी प्रकार कोई भी सामाजिक तत्त्व अकेला सामाजिक परिस्थिति की विशिष्टता का वर्णन नहीं कर सकता। बल्कि उसके प्रभाव से दूसरे सामाजिक सम्बन्धों का रूप कैसे बदला, और उनके तज्जनित परिवर्तन से सारी परिस्थिति कैसे बनी, इसका ज्ञान ही उस परिस्थिति के लक्षण बता सकता है।

जीवन के किसी भी एक व्यवहार, विचार या अनुभव को बिल्कुल अलग से देखना बहुत कठिन है। इसीलिए जीवन के इन अनिवार्य तत्त्वो, इन घटनाओ को, अलग-अलग कैसे देखा जा सकता है?

संक्षेप में कहे तो, "आनुवंशिकता एक ऐसी शक्ति है जो एक वातावरण द्वारा वास्तविकता मे विकसित कर दी जाती है।" जीवन के सभी गुण आनुवंशिकता में है, पर उन गुणों का प्रस्फुटन, उनकी अभिव्यक्ति, वातावरण पर निर्भर है। वातावरण के बड़े परिवर्तन निम्न कोटि की शक्तियों वाले मनुष्यों पर बहुत न्यून प्रभाव डालेगे, जब कि ऐसे छोटे अन्तर भी अधिक मेधावी व्यक्तियों के लिए कभी-कभी क्रान्तिकारी होंगे। शारीरिक दृष्टि से मनुष्य कमजोर और नाजुक प्राणी है। अतः उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने वातावरण पर नियंत्रण करे। विविध प्रकार के साधनों द्वारा मनुष्य आदि काल से अपने वातावरण को अधिक सुखद बनाने में, उसे मानवीय आवरण पहनाने में, लगा रहा है। उसकी शारीरिक बनावट और मानसिक विशेषताएं उसे इस कार्य मे मदद पहुंचाती है। यही मानव की अपनी परिस्थितियों को बदलते रहने की, अपने अनुकूल बनाने के प्रयत्न की कहानी, संस्कृति की कहानी है।

व्यक्तित्व के विकास में वातावरण और आनुवंशिकता का समन्वय

संस्कृति की इस कहानी में व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व कैसे विकसित होता है, इसके लिए आनुवंशिकता कैसे जीवन-पर्यन्त इसे प्रभावित करती है, वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है और कैसे व्यक्तित्व दोनों तत्वों का एक संगम है, इन तीनों तथ्यों को विस्तार से समझना आवश्यक है।

परिपक्वता के साथ-साथ आनुवंशिकता का प्रभाव. व्यक्ति के शरीर के कोष

उसकी बढ़ती हुई अवस्था के साथ-साथ बढ़ते हैं। एक-दो सप्ताह तक वह आंखों से पूरा काम नही ले पाता, चार महीने की अवस्था तक उसे अपने चारों ओर के वातावरण की अभिज्ञता प्राप्त नहीं होती। प्रजनन (Gonad) ग्रंथियों के सक्रिय स्राव के लिए भी कितने ही वर्ष की अवस्था अनिवार्य है। पच्चीस वर्ष की अवस्था तक साधारणतः ग्रंथियां अपना परिपक्व रूप धारण करती हैं। इस प्रकार समय-समय पर आनुवंशिकता मनुष्य को नए-नए साधन देती है और नाना प्रकार से प्रभावित करती है।

ये सभी प्रभाव व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण होते ही है। साथ-साथ आनुवंशिकता द्वारा निर्धारित ग्रंथियों के स्राव मनुष्य के शारीरिक विकास, मानसिक विकास, वातावरण की क्रिया और प्रतिक्रिया पर बहुत प्रबल प्रभाव डालते है। इस प्रकार यों तो आनुवंशिकता जन्म से भी पहले निर्णीत होती है, परन्तु यह जीवन में बहुत दूर तक इस परिपक्वता के प्रभाव के कारण अपनी शक्ति को फैलाये रहती है। यह भी कह देना यहा अनुपयुक्त न होगा कि परिपक्वता भी परिस्थितियों और वातावरण के साथ-साथ चलती है। इसे न तो वातावरण से अलग किया जा सकता है, न परिस्थिति से। इतना फिर भी कहा जा सकता है कि जो गुण या विशेषता जन्म के समय अधिक विकसित होगी, वह आनुवंशिकता के प्रभाव का फल होगी।

नाड़ी संस्थान (Nervous System) ग्रंथियां (Glands) और व्यक्तित्व

बच्चे के शरीर की सम्पत्ति कुछ न्यून नही होती। परन्तु हम केवल उसी से परिचय प्राप्त करेंगे जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध व्यक्ति के विकास से है उसकी मानसिक क्रियाओं और व्यवहारों से है, और संवेदनात्मक क्रियाओं (Emotional activities) से है। किसी भी एक कार्य मे समस्त शरीर अपना योग दे सकता है। उदाहरण के लिए, वैसे तो फेफड़े ही वायु को शरीर के भीतर खींचने, सांस लेने का कार्य करते है, फिर भी इनकी उचित क्रिया चुल्लिका (Thyroid) ग्रंथि की अवस्था से प्रभावित होती है। इसी प्रकार सांस लेने के साधनों का मनोवैज्ञानिक क्रियाओं से भी सम्बन्ध है। परन्तु इस बात के बावजूद भी कि सारा शरीर श्वासोच्छ्वास की क्रिया में सम्मिलित होता है, उसके कुछ भाग दूसरे भागों की अपेक्षा अधिक सचेष्ट योग देते है। मानसिक और संवेदनात्मक व्यवहार के लिए सबसे महत्वपूर्ण आनुवंशिक साधन नाड़ी संस्थान और ग्रंथि स्राव (secretions) है।

नाड़ी-संस्थान. नाड़ी-संस्थान नाड़ियों का एक ऐसा जाल है, जो उद्दीपकों (Stimuli) द्वारा क्रियान्वित, उत्तेजित या प्रेरित हो सकता है। यह प्रकाश, रंग, वाणी, गंध, सरदी और गरमी इत्यादि की प्रेरणाएं अनुभव करता है और उनके

प्रति क्रिया भी करता है। इसी प्रकार कुछ आंतरिक प्रवृत्तियां (Impulses) जैसे भूख, निद्रा, थकान इत्यादि भी इसको आंदोलित और प्रेरित करती है। भूख की प्रेरणा आमाशय मे उसकी आवश्यकता के कारण भी हो सकती है, और कोई स्वादिष्ट खाद्य-पदार्थ देखकर भी। मनुष्य आंतरिक और बाह्य दोनों ही प्रकार के उद्दीपकों के प्रति व्यवहार करता है। नाड़ियां इन उद्दीपकों की प्रेरणाओं को तन्तुओं (Fibres) द्वारा मस्तिष्क तक भेजती है। वहां से यह प्रेरणाएं व्यवहारों या प्रतिक्रियाओं के रूप में उन नाड़ियों द्वारा जिनको नियंत्रक नाड़ियां (Nerves of Control) कहते है, मांसपेशियों या ग्रंथियों में पहुंचाती है, और इस प्रकार प्रेरकों द्वारा उत्तेजित यह प्रेरणाएं व्यवहारों या क्रिया का रूप लेती है। ज्यों ही भूख की प्रेरणा होती है और वह मस्तिष्क तक पहुंचती है, त्यों ही मस्तिष्क द्वारा प्रेषित इनकी प्रतिक्रिया के कारण हाथ खाद्य-पदार्थों को मुंह में डालता है।

इस सारे क्रम में चार साधन मुख्य है जो उद्दीपकों को प्रतिक्रियाओं से जोड़ते हैं।

१. वह नाड़ियां जो उद्दीपन की प्रेरणा को ग्रहण करती है।
२. वह तन्तु जो इन उद्दीपनों को मस्तिष्क तक ले जाते है।
३. मस्तिष्क से मांसपेशियों और ग्रन्थियों तक उद्दीपन को ले जाने वाले तन्तु।
४. मांसपेशियां और ग्रन्थियां जो इन उद्दीपनों को प्रकट करती है।

ग्रन्थियां और ग्रन्थि-स्राव. आंतरिक स्राव की ग्रन्थियां भी उद्दीपन का कार्य करती हैं। इन ग्रंथियों के स्राव जो भिन्न-भिन्न रासायनिक तत्वों के मिश्रण होते है, रक्त में ऐसे तत्वों को मिला देते हैं। इन स्रावो का प्रभाव भी इस दृष्टि से वैसा ही होता है, जैसे कि बाह्य स्थित उद्दीपक तत्वो का। चुल्लिका (Thyroid) ग्रंथि का स्राव जिसे चल्लिकास्राव (Thyroxin) कहा जाता है, सांस लेने की क्रिया के वेग को बढा देता है। इसी प्रकार अधिकवृक्कस्राव (Adrenalin), अधिवृक्क ग्रन्थियों (गुरदो के समीप की ग्रन्थियो) के स्राव, से रक्त के जमने (Clotting) की गति बढ जाती है। पोषणिक ग्रन्थि (Pituitary Gland) जो सिर के बीच मे और मस्तिष्क के बिल्कुल नीचे होती है, प्रजनन शक्ति और क्रिया को उत्तेजित करती है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि आनुवंशिकता से ही जो विरासत हमे मिलती है, उसका कितना प्रभाव व्यक्तित्व के विकास पर होता है। परन्तु इसमें न केवल मांसपेशियां और नाड़ी संस्थान इत्यादि भाग लेते है बल्कि मनुष्य को उसके शरीर की आवश्यकताएं भी, जिन्हें हम आन्तरिक प्रवृतियां कह आए हैं और जो चालक, संवेदनाएं इत्यादि में बांटी जा सकती हैं, मिलती हैं और वह उसके विकास की

क्रियाओं और व्यवहारों की इकाइयां बनती हैं।

चालक (Drives)

शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। अन्यथा एक अतृप्ति, बेचैनी, अशान्ति उसके शरीर में बनी रहती है। जो आवश्यकताएं पूरी नहीं होती, वे उद्दीपन के रूप में नाडियों को, और उनके द्वारा मस्तिष्क को आंदोलित करती हैं और मानसिक अवस्था को प्रभावित कर मनुष्य के व्यवहारों पर भी प्रभाव डालती है। मनुष्य को आवश्यकताएं तृप्ति के लिए बाधित करती हैं। भूख लगी हो, खाना न खाया जाय, तो आमाशय की दीवारें सिकुड़ने लगेंगी, मांसपेशियों को फैला देंगी और संवेदनाओं को जन्म देंगी। इस प्रकार मनुष्य को यह अशान्ति खाने की ओर ले जायगी। स्पष्ट है, कि ये चालक एक उद्देश्य की ओर अग्रसर होते हैं जैसे खाना सोना, इत्यादि।

हालांकि यह चालक प्राकृतिक हैं, आनुवंशिक है, फिर भी यह कैसे व्यवहारों को जन्म दें, इसका बड़ा आधार वातावरण है। हमारी सांस्कृतिक और सभ्य प्रणालियां और तरीके जिनसे हम इन आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, वातावरण की ही देन है। तब भी बच्चों के खाने के तरीके बहुत भिन्न होते है। यह प्रत्येक व्यक्ति के अपने वातावरण पर निर्भर करता है कि कौन चालक किस प्रकार के व्यवहार को प्रेरित करे। बच्चे ने किस प्रकार क्या सीखा है, यह उसकी खाने के चालकों को तृप्त करने की क्रिया-प्रणाली का निर्धारण करेगा।

संवेदन (Emotions)

चालकों के साथ ही साथ कुछ ऐसी भावनाएं (Feelings) भी होती हैं, जिनको कि संवेदन के साथ ही लिया जा सकता है। भूख लगने पर हम भूख की भावना और अहसास करते हैं। यह संवेदन जिनको हम उद्दीप्त भावनाएं कह सकते हैं, क्या हैं? मरे ने इन संवेदनों की विशेषता इन शब्दों मे बताई है: "यह एक प्रेरक स्थिति के ज्ञान के परिणाम स्वरूप उद्दीपन की जागृत अवस्थाएं है।" वुडवर्थ ने इनको "भावना की वह अवस्था, जब वह शक्तिमती होती है" कहा है। चालक और संवेदन मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग लेते हैं।

व्यक्तित्व विकास. वातावरण और आनुवंशिकता दोनों के योग से व्यक्तित्व का विकास होता है। इसका एक उदाहरण देकर हम इस विवेचना को समाप्त करेंगे। जौनी और जिम्मी दो जुड़वां बच्चे थे। जौनी जो दुर्बल और हल्के भार का था, अधिक प्यार और परवाह से रखा गया। जब वह केवल बीस दिन का हुआ उसे अपने गुणों को प्रकाशित करने का अवसर दिया गया। दो-दो घंटे के पश्चात् उसको ऐसी क्रियाओं के लिए प्रेरित किया जाता था जो उसके बस की थीं। बाद में उसे एक जगह से दूसरी जगह रेंगकर जाने और तैरने तक के अवसर

दिये जाने लगे। जिम्मी को उसके पालने मे ही रखा जाता रहा और कभी-कभी परीक्षण के लिए [illegible] जाता। आरम्भ के कुछ मास तक उसे साधारण बच्चे की तरह रोका गया। परन्तु बाद में उसके सचेष्ट के समान व्यवहार साधारण बच्चों से कम पाए गए। दोनों को एक जैसा भोजन दिये जाने पर भी अपनी क्रियाओं के कारण जौनी अधिक खाता था। इसके अतिरिक्त, उसे भोजन करने को स्वयं प्रोत्साहित किया जाता था, जब कि जिम्मी को धाया भोजन कराती थी। सातवें मास से, जब उसने तैरना सीखा, तो जौनी की ऊंचाई और भार तेजी से बढ़ने लगे, और परीक्षण के अन्त तक वह अपने भाई से लम्बा भी था और भारी भी। परन्तु बाद में जिम्मा भी जौनी जितना ही विकास कर गया।

स्पष्ट है कि हालांकि विकास का आधार परिपक्वता थी, फिर भी उस पर वातावरण का प्रभाव पड़ा। जैसे पहले कहा जा चुका है, स्राव व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करते हैं और वातावरण भी। यह दोनों अन्त:सम्बन्धित है। वातावरण का बालकों की तृप्ति, संवेदनों की तृप्ति और परिपक्वता पर महत्वपूर्ण प्रभाव है। इसी कारण हम व्यक्तित्व को इन दोनों तत्वों का संगम कह सकते हैं।

छठा अध्याय

परिस्थिति-शास्त्र और भौगोलिक वातावरण

ECOLOGY AND GEOGRAPHICAL ENVIRONMENT

व्यक्ति का परिस्थिति से सम्बन्ध

मनुष्य अपनी बुनियादी आवश्यकताओं, सुरक्षा, नए अनुभवों की जिज्ञासा या शारीरिक आवश्यकताओं, भूख, मलत्याग, निद्रा, थकान, काम वासना आदि को पूरा करने के लिए अपने बाह्य वातावरण पर निर्भर रहता है। वह अपने वातावरण से प्रेरित होकर प्रतिक्रिया करता है, इसलिए मनुष्य पर वातावरण का बहुत प्रभाव पड़ता है। यहां तक कि व्यक्तित्व को व्यक्ति की वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया तक कह दिया गया है।

यह वातावरण बाह्य भी है और आन्तरिक भी। ऐसा भी है जो मनुष्य की प्रतिक्रिया से प्रभावित हो और ऐसा भी जो मनुष्य को प्रभावित कर सके। हमारी भौगोलिक प्राकृतिक परिस्थिति और सीमाएं, आनुवंशिकता (Heredity) और सामाजिक विरासत वातावरण (Environment) के मुख्य अंग हैं। व्यक्तित्व के विकास पर आनुवंशिकता का कितना प्रभाव है और वातावरण का कितना, इसका विवेचन पीछे किया जा चुका है। हमारी सामाजिक विरासत मानवों के सामाजिक सम्बन्धों द्वारा, जिनसे संस्कृति और सभ्यता का जन्म हुआ है, मानव समूहों और समुदायों से सम्बन्धित है। व्यक्तित्व के विकास पर इसका इतना अधिक प्रभाव है कि अल्प व्यक्तिगत अन्तर को छोड़कर एक ही संस्कृति की संतानों में बहुत समानता होती है। पर हमारी भौगोलिक परिस्थिति व प्राकृतिक वातावरण का भी हम पर थोड़ा प्रभाव होता है। इस प्रभाव को तीन भागों में बांटा जा सकता है। भौगोलिक परिस्थिति, प्रादेशिक परिस्थिति और जनसंख्या। तीनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध भी है।

स्टीनर ने अमेरिकन समुदाय के बारे में लिखते हुए परिस्थितिशास्त्र के महत्त्व पर इस प्रकार प्रकाश डाला है : "समुदायों के उदय और विकास में परिस्थिति (Ecology) का महत्त्व स्पष्ट है। किसी भी स्थान के भूमितल की बनावट, यातायात के साधन, उद्योग-धन्धों के प्रकार और समूची आर्थिक व्यवस्था समुदाय की सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं और उसके भविष्य के विकास की सीमा निर्धारित कर देते हैं।"

सेमुअल स्मिथ ने परिस्थिति-शास्त्र (Ecology) के बारे में लिखा है : "परिस्थितिशास्त्र मनुष्य को उसके सांस्कृतिक और संस्थात्मक वातावरण से पृथक प्राकृतिक वातावरण में अध्ययन करता है । एक ही स्थान पर इकट्ठे रहने वाले मनुष्यों में जो प्रतियोगिता या सहयोग की भावनाएं अनिवार्यतः जन्म लेती और विकास पाती हैं, उनके परिणाम-स्वरूप परिस्थिति-शास्त्र का भी विकास होता है ।"

परिस्थिति के प्रभाव को हम पांच भागों में बांट सकते हैं—

१. भूतल की बनावट के कारण होने वाले प्रभाव ।

२. जलवायु का प्रभाव ।

३. प्राकृतिक पदार्थों के कारण प्रभाव ।

४. प्रादेशिक प्रभाव ।

५. जनसंख्या के कारण प्रभाव ।

इनमें से पहले तीन प्रभाव भौगोलिक वातावरण के अन्तर्गत आते हैं । हम आगे विस्तार से उनकी विवेचना करेंगे ।

भौगोलिक वातावरण और सामाजिक जीवन

बहुत प्राचीन काल से यह विश्वास चला आ रहा है कि मानव समाज का स्वभाव, व्यवहार, सामाजिक संगठन, सामाजिक प्रक्रियाएं और ऐतिहासिक स्थान बहुत अंशों में उसके भौगोलिक वातावरण द्वारा निर्धारित होता है । विभिन्न समयों में विभिन्न विचारकों और विद्वानों ने इस मत की पुष्टि की है और उसके पक्ष में सही और गलत प्रमाण पेश किए हैं ।

मध्यकाल में तूर्गो और मांटेस्क्यू, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में लामार्क बकल, लाप्ले, दिमोलिन, रैटजल, हंटिंगटन, बेवरिज, मूर इनमें विशेष प्रसिद्ध हुए हैं। उन सैकड़ों विचारकों ने जिन्हें कि भूगोलवादी कहा जाता है, मानव समाज के विभिन्न क्षेत्रों में भौगोलिक वातावरण के निर्णायक प्रभाव की ओर संकेत किया है । इनके विचारों में जहां कुछ समानताएं हैं वहां विस्तृत विभिन्नताएं भी विद्यमान हैं ।

अगर इन सब लेखकों को समग्र रूप में देखा जाय तो मानव शरीर और मन का कोई ऐसा गुण नहीं, समूह या सामाजिक संगठन का कोई ऐसा रूप या स्वभाव नहीं, जिसकी कि भौगोलिक कारणों द्वारा विवेचना न की जा सके । पृथ्वी पर जनसंख्या के वितरण, नस्ली विभिन्नताएं, आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक संगठन की विशेषताएं, राष्ट्रों का उत्थान और पतन, धार्मिक विचार और विश्वास, परिवार और विवाह के प्रकार, स्वास्थ्य, प्रजनन, शक्ति, बुद्धि, अपराध, आत्महत्या, सांस्कृतिक सफलता, प्रतिभाशाली व्यक्तियों की संख्या, साहित्य, कविता, कला और सभ्यता के गुण, आर्थिक और सामाजिक जीवन का विकास, संक्षेप में, सभी सामाजिक तथ्यों

और घटनाओं को उन्होंने भौगोलिक कारणों में ढूंढ़ा है ।

उन सब असंख्य मतों की समालोचना संभव नहीं है । हम यहां पर केवल उन प्रमुख लेखकों के विचारों की संक्षिप्त विवेचना करेंगे जो कि आधुनिक हैं और जिन्होंने वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय दृष्टि से सामाजिक जीवन पर भौगोलिक वातावरण के प्रभाव को समझाने की चेष्टा की है ।

भौगोलिक कारकों (Factors) की परिभाषा

इससे पहले कि हम समाज पर भौगोलिक वातावरण के विभिन्न प्रभावों का अध्ययन करें यह आवश्यक है कि हम भौगोलिक वातावरण के अर्थों को निश्चित कर लें।

भौगोलिक वातावरण में वह सब सासारिक अवस्थाएं और घटनाएं सम्मिलित हैं जिनका मनुष्य के क्रिया-कलाप से कोई सम्बन्ध नहीं है, जिन्हें न तो मनुष्य ने पैदा किया है और जो मनुष्य की उपस्थिति और क्रिया से स्वतन्त्र अपने आप सहज रूप से परिवर्तित होती हैं । दूसरे शब्दों में, यदि हम मनुष्य के अथवा किसी सामाजिक समूह के वातावरण को लें और उसमें से उन सब साधनों को निकाल दें जिन्हें कि मनुष्य ने बनाया या परिवर्तित किया है, हमारे पास मोटे तौर पर जो बच जाता है, वही भौगोलिक वातावरण है । प्राकृतिक जलवायु, तापक्रम, जमीन, भूतल की बनावट, जल का वितरण ओर उसकी दिशाएं, प्राकृतिक पशु-पक्षी और पेड़-पौधे, ऋतुओं और भौगोलिक, भौतिक प्रक्रियाओं में प्राकृतिक परिवर्तन, गुरुत्वाकर्षण, भूकम्प, तूफान, समुद्र; जहां तक यह मनुष्य के बिना प्रयत्न के रहते और बदलते हैं, ऐसी ही वस्तुएं और घटनाएं हैं ।

इसके विपरीत, वह समस्त अवस्थाएं और घटनाएं जिनकी उपस्थिति और परिवर्तन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में किसी भी प्रकार मनुष्य की उपस्थिति और क्रिया का परिणाम है मानवीय सामाजिक साधन हैं, भौगोलिक वातावरण नहीं हैं । बोये हुए खेत, लगाए हुए जंगल या बगीचे, कृत्रिम नहरें या कूलें, भूमितल के कृत्रिम रूपान्तरण अथवा कृत्रिम जलवायु, ऐसी सब वस्तुएं भौगोलिक वातावरण से अलग हैं और उन्हें हम सही अर्थों में प्राकृतिक साधन नहीं कह सकते ।

भौगोलिक प्रभाव की पूर्व स्थापनाओं (Propositions) का स्वरूप

भौगोलिक तत्वों का प्रभाव कभी भी विभिन्न घटनाओं पर प्रत्यक्ष एक-सा और निश्चित नहीं है । कुछ क्षेत्रों में तो यह घनिष्ठ और प्रत्यक्ष है जब कि दूसरों में नहीं । इस सम्बन्ध में लाप्ले की विचारधारा के समर्थक ब्रूह्यूनस का मत ध्यान देने योग्य है । उसके अनुसार मानव व्यवहार के वह रूप और वह घटनाएं, जो कि मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति से संम्बन्धित हैं, उदाहरणार्थ भोजन,

सोने के लिए साया, कपड़े और अन्य कुछ आवश्यकताएं, अन्य सामाजिक घटनाओं और क्रियाओं की तुलनाओं में भौगोलिक अवस्था से ज्यादा प्रत्यक्ष प्रभावित है। इस तरह वह उन छः बातों का उल्लेख करता है, जिनका कि भौगोलिक साधनों से अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह छः क्षेत्र है : मनुष्यों के निवास-स्थान, (बस्तियां, घरों का प्रकार और बनावट), सड़को की दिशा और बनावट, पौधों की पैदाइश और पशुओं का पालन, खनिज धातुओं का उपयोग और वनस्पति और पशुओं का विनाश। इन छः तत्वों से बाहर जो भी है उनके साथ भौगोलिक कारकों का अगर कोई सह-सम्बन्ध (correlation) है भी तो वह बहुत कम है। परिवार, राजनैतिक, सामाजिक संगठन, धर्म, कानून, साहित्य, विज्ञान ऐसे ही क्षेत्र हैं।

पर उन क्षेत्रों में, जिनमें कि यह सह-सम्बन्ध दिखाई भी देता है, यह बहुत कम ही निश्चित और कठोर रूप में है। इस प्रकार कारकों का निर्णय वाद(determinism) सदा ही सापेक्षिक (relative) है। इस प्रकार भौगोलिक सह-सम्बन्ध अधिकांश स्थितियों में कार्य-कारण (casual) न होकर आकस्मिक (accidental) हैं।

भौगोलिक कारकों की यह अकठोरता (non-rigidity)या सापेक्षता (relativity) विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। पहले तो जहां कि भौगोलिक कारक अमुक-अमुक सामाजिक घटना की ओर निर्देश करते हैं (जैसे कि खनिज उद्योग अथवा किसी प्रदेश विशेष में मनुष्यों का बसना), वह घटना हो भी सकती है और नही भी। इस प्रकार भौगोलिक सम्भावना का यह अर्थ नही कि यह घटना इस क्षेत्र में वस्तुतः घटेगी ही। उदाहरण के लिए, प्रचुर प्राकृतिक साधनों के होते हुए भी अभौगोलिक कारकों से वहां पर खनिज उद्योग का विकास नही पाया जा सकता। इस प्रकार भौगोलिक प्रभाव अपने कठोर (rigid) रूप मे सर्वथा रद्द हो जाता है। भौगोलिक निर्णयवाद की यही सापेक्षता हमें वहां दिखाई देती है जहां कि वह इस ओर संकेत करता है कि अमुक स्थान पर ऐसा नही हो सकता। जैसे कि रेगिस्तान या खुश्क प्रदेशों में पौधे नही उगाये जा सकते। लेकिन हम जानते हैं कि कृत्रिम सिंचाई के साधनों ने इसे संभव बना दिया है। भौगोलिक घटनाओं की अकठोरता का यह अन्य उदाहरण है।

दूसरे, भौगोलिक निर्णयवाद की अकोठरता एक ही भौगोलिक क्षेत्र मे बहुत और विभिन्न सामाजिक रूपों की संभावना के रूप में प्रकट होती है। निवास-स्थान की तरह भौगोलिक अवस्थाएं सापेक्ष रूप में यह तो निर्णय कर सकती हैं कि अमुक स्थान रहने या घर बनाने के लायक है, लेकिन वहां रहने वाला समाज एक आरण्यक कबीले (Primitive tribe) अथवा जटिल सभ्य समाज का रूप धारण

करेगा, उसका घर एक झोंपड़ा, पिरेमिड, महल या स्काईस्क्रेपर होगा, इनका निर्णय भौगोलिक कारक नहीं करेंगे। वहां पर क्या होगा, भौगोलिक कारकों पर अधिक निर्भर न हो, अभौगोलिक कारकों पर ज्यादा निर्भर होगा। इसी विचार को वैला ने इन शब्दों में व्यक्त किया है कि "भौगोलिक कारकों का प्रभाव स्वीकारात्मक (Positive) न होकर निषेधात्मक (Negative) है। वह एक घटना में बाधा पहुंचा सकने है, परन्तु वह उसके रूप को निश्चित नहीं कर सकते।"

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भौगोलिक और सामाजिक घटनाओं के बीच सह-सम्बन्ध (Correlations) स्थापित करने का कार्य भौगोलिक निर्णयवाद की अकठोरता और अप्रत्यक्षता के कारण बहुत कठिन हो जाता है। एक भौगोलिक साधन दूसरे भौगोलिक साधन के प्रभाव को समाप्त कर, अथवा अभौगोलिक साधन सारे भौगोलिक साधनों के प्रभाव को समाप्त कर इस कार्य को और भी कठिन बना देते है। फिर सभ्यता का स्वरूप जितना जटिल, भौगोलिक अवस्थाओं और सामाजिक घटनाओं के बीच का सह-सम्बन्ध उतना ही अधिक अनिश्चित, अमूर्त और अदृश्य होता जाता है। इसका यह अर्थ नही कि ऐसे समाजों मे भौगोलिक साधन अपना कार्य बंद कर देते हैं, इसका अर्थ इतना ही है कि भौगोलिक प्रभाव उनके प्रभाव को बहुत कुछ समाप्त कर देते है। इसलिए उनको देखना, समझना और उनसे कोई परिणाम निकालना अधिकाधिक कठिन हो जाता है। इन्हीं कारणों से हम यह कह सकते है कि ऐसे सह-सम्बन्ध स्थापित करने के सभी प्रयत्न अधिक-से-अधिक केवल एक कामचलाऊ पूर्व कल्पना (hypothesis) ही कहे जा सकते है, जिन्हें कि कुछ समाजों और कालों पर लागू किया जा सकता है और वह कभी भी सभी समाजों पर सही उतरने का दावा नही कर सकते। इसके अतिरिक्त, तथाकथित बहुत-से सह-सम्बन्ध केवल भ्रान्त हो सकते है।

आगे हम विभिन्न लेखकों द्वारा पेश किए गए कुछ प्रमुख सह सम्बन्धों (correlations) पर विचार करेंगे। हम ब्रूह्यूनस के छः आवश्यक तथ्यों से शुरू करेंगे, क्योंकि वह अधिक निश्चित और विशेष हो सकते है।

१ भौगोलिक अवस्थाएं और पृथ्वी पर मानव जनसंख्या का वितरण

यह स्पष्ट-सा ही लगता है कि वह भौगोलिक क्षेत्र जो कि जलवायु, जमीन, भूतल की बनावट, जल के वितरण, पशु-पक्षी और पेड़-पौधों की दृष्टि से मनुष्य के रहने और उसकी प्राथमिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए अधिक उपयुक्त हैं, उन प्रदेशों की तुलना में जो इस दृष्टि से कम सुविधाजनक है, अधिक घिनके बसेंगे।

यह पूर्व स्थापना (proposition) बाहर से स्पष्ट और स्वतःसिद्ध दिखाई देती है, क्योंकि कौन भौगोलिक अवस्थाएं सुविधाजनक है यह अभी खोज का विषय है।

इसके अलावा वह अवस्थाएं जो कि एक आरण्यक (primitive) समाज के लिए सुविधाजनक हैं। एक औद्योगिक समाज के लिए सर्वथा असुविधाजनक हो सकती है। भौगोलिक वातावरण जहां एक दृष्टि से, उदाहरण के लिए जलवायु में, सुविधाजनक हो सका है, किन्तु दूसरी दृष्टि से वही, उदाहरण के लिए पानी-धातुओं या उपजाऊ जमीन के अभाव में, असुविधाजनक हो सकता है। इस प्रकार भूगोल वादियों की इस प्रकार की प्रस्थापनाएं अधिक-से-अधिक बहुत ही सीमित, स्थानीय और अस्थायी महत्व का दावा कर सकती हैं।

यह कहा जाता है कि बावजूद मनुष्यों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण और विभिन्न स्थानों के जनसंख्या के घनत्व के अन्तर के, बड़े मानव समहों का सामान्य वितरण एक विशेष सापेक्ष, निश्चित और आश्चर्यजनक स्थिरता प्रदर्शित करता है। साइबेरिया के टुंड्रा, सहारा के हमादा, या अमेजन के जंगल जनशून्य है। यही बात ध्रुव प्रदेशों और ऐसे ही असुविधाजनक स्थानों पर लागू होती है। वान मायर ने इस प्रकार तापक्रम, वर्षा और ऊंचाई के आधार पर इसका सह-सम्बन्ध (correlation) सिद्ध किया है। किन्तु इसके विपरीत, दूसरे तथ्य इस बात को सिद्ध कर सकते है कि उक्त तथ्यों से प्रदर्शित सह-सम्बन्ध किसी भी मायने में सार्वभौम या स्थायी हैं। हम नही कह सकते कि प्रत्येक स्थान पर ५० से ५५ डिग्री तापक्रम, ४० से ५० इंच वर्षा तथा लगभग ३३० फीट से नीची ऊंचाई वाले स्थान ही, जैसा कि वान मायर ने अपनी तालिकाओं में दिखाया है, सबसे ज्यादा घिनके बसे होते हैं।

विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों के विभिन्न मिश्रणों द्वारा तथा अभौगोलिक कारकों के हस्तक्षेप से, बसने और न बसने योग्य स्थानों की सीमाएं, विभिन्न समाजों, समयों और स्थानों में सर्वोपयुक्त बिन्दु का स्थान बराबर बदलते जा रहे हैं। अतः अनेक ऐसे स्थान जो कि पहले जनशून्य थे, बस रहे है तथा अन्य ऐसे स्थान जहां किसी समय घनी आबादियां थीं, उजड़ गये है। यद्यपि उन स्थानों पर किसी भी प्रकार का कोई भौगोलिक परिवर्तन नहीं हुआ है। सभ्य मनुष्य के पुरुषार्थ से अनेक पहले न रहने योग्य स्थान रहने योग्य हो गये है। इस प्रकार निवास-योग्य और निवास-अयोग्य क्षेत्रों की सीमाएं बराबर बदल रही हैं। इस विषय मे भौगोलिक निर्णयवाद सर्वथा सापेक्ष (relative) और कठोर (non-rigid) है।

२. भौगोलिक अवस्थाएं और घरों, सड़कों और यातायात के साधनों का प्रकार

यह जाहिर है कि मनुष्यों के निवास या घरों का प्रकार अन्य किसी सामाजिक तत्व की तुलना में भौगोलिक अवस्थाओं पर सबसे अधिक निर्भर होना चाहिए। अनेक कच्चे माल (लकड़ी, पत्थर, ईंट, छाल, बांस इत्यादि) में, अपनी शक्ल

और डिजाइन या स्थापत्य के प्रकार में, वह भौगोलिक अवस्थाओं से प्रभावित होने चाहिएं। उन स्थानों पर जहां कि जंगलों की बहुतायत है, लकड़ी के घरों की अधिकता होनी चाहिए। जहां लकड़ी की कमी है, वहां अन्य सहज उपलब्ध वस्तुओं का प्रयोग होना चाहिए। यह ही बहुत कुछ स्थापत्य के प्रकार शक्ल और घर के लिए स्थान के चुनाव के बारे मे सही है।

कुछ हद तक यह धारणा तथ्यों द्वारा पुष्ट होती है। किन्तु पुनः उनका प्रभाव बहुत मामूली है। भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त भिन्न स्थानों में भी हमें प्रायः घरों की अत्यन्त समानता मिलती है। इसका ज्वलंत उदाहरण आज हमें अपने देश मे ही मिल सकता है, जिसमें उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सभी प्रदेशों में, जहां की भौगोलिक अवस्थाएं अत्यन्त भिन्न है, एक-से मकान देखने में आते हैं। देश के विभिन्न भागों में जो अन्तर विद्यमान भी है वह भी किसी कद्र उन अन्तरों से अधिक नही है जो कि हमें एक शहर या गांव के पड़ौस और विभिन्न बस्तियों में नजर आते है। इसके विपरीत, हम एक-सी भौगोलिक परिस्थितियों के मकानों की तुलना कर यह देख सकते है कि उनमें कितने अन्तर मौजूद है। अमरीका और रूस के स्टेपीज घास के मैदानों, न्यूयार्क और अलजीरिया के समुद्रतट के मकानों की तुलना कर हम यह जान सकते है कि इन समान भौगोलिक परिस्थितियों में बसे हुए स्थानों में कितना अन्तर है।

यह बात केवल आधुनिक सभ्य समाजों तक ही सीमित नहीं, बल्कि आरण्यक (primitive) लोगों पर भी लागू होती है। उदाहरण के लिए, उत्तरी अमरीका के होपी और नवाजो रेड इंडियन एक लम्बे अरसे से ऐरीजोना प्रान्त के एक ही उत्तर-पश्चिमी भाग में रहते आये हैं। उन्हें एक-सा ही इमारत बनाने का सामान उपलब्ध है। बावजूद इसके होपी मुंडेरदार रेतीले-पत्थर के घर बनाते है जिनकी कोठरी चौकोर होती है, जब कि नवाजो के घर मिट्टी से छाये हुए गोल और चोंचदार छत वाले होते है। इन्हीं परिवर्तनों में एक ही स्थान पर होने वाले गृह-निर्माण में होने वाले परिवर्तन जोड़ लीजिए। हम देखेंगें कि भौगोलिक अवस्था मे बिना किसी परिवर्तन के हुए प्रायः चालीस-पचास सालों मे ही एक ही स्थान का घर बनाने का लोकप्रिय तरीका बदल जाता है। स्वयं हम अपने किसी गांव या शहर में हुए घरों की बनावट के परिवर्तन से इसका अन्दाज लगा सकते हैं।

इससे स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में भौगोलिक निर्णयवाद सर्वथा सापेक्ष और सीमित है। इसके प्रभाव अनेक बार अन्य तथ्यों के कारण सर्वथा मिट जाते हैं। अतः भौगोलिक कारणों से इस प्रश्न का समाधान सर्वथा भ्रान्त और निराशाजनक है। यही बात सड़कों की बनावट और यातायात के साधनों पर भी लागू होती है।

३. भौगोलिक अवस्थाएं और वस्त्र

घरों और सड़कों की तुलना में इस सामाजिक क्षेत्र मे भौगोलिक अवस्थाओं से सह-सम्बन्ध कम दिखाई देता है। ठंडे प्रदेशों या मौसमों में गर्म प्रदेशों या मौसमों की तुलना मे कुछ अधिक मोटे या गर्म कपड़े पहने जाते है। केवल इसी रूप में ही हम इस विषय मे भौगोलिक अवस्थाओं को देख सकते है।

वास्तव में विभिन्न समाजों, समूहों और समयों में पहने जाने वाले वस्त्रो में अनन्त अन्तरों को हम भौगोलिक कारणों द्वारा नही समझा सकते। वह मुख्यत: अभौगोलिक कारणो द्वारा प्रभावित होते है। फैशन के दौर, आधुनिक शहरों मे स्त्री और पुरुषों की वेशभूषा में हर साल होने वाले परिवर्तनों, विभिन्न वर्गों की नाना प्रकार की वर्दियों और विभिन्न समयों मे उनके परिवर्तन मे भौगोलिक अवस्थाओं का कोई हाथ नही है। इसके परोक्ष प्रभाव भी बहुत गौण और अदृश्य है।

४. भौगोलिक अवस्थाएं और खाद्य और पेय

किसी भौगोलिक वातावरण के पशु-पक्षियों. पेड़-पौधों और उसमे विद्यमान समाज के खान-पान और उसकी मात्रा और गुणों मे भी कुछ सम्बन्ध अवश्य है। समुद्र के किनारे बसने वाले लोग, उन प्रदेशों की तुलना मे जहां कि पानी का अभाव है, अधिक मछली खाते है। एक फलों के प्रदेश में रहने वाला समाज उस समाज की तुलना में जहाँ वह फल पैदा नही होते या नही उगाये जा सकते, अधिक फल खाता है। ऐसे सह-सम्बन्ध (correlation) अनेक स्थानों पर पाये जा सकते है।

उक्त सह-सम्बन्ध न तो सामान्य ही है और न ही सब जगह देखे जा सकते है। यहाँ तक कि हम उन आरण्यक कबीलों में भी, जो एक-सी भौगोलिक परिस्थितियों में रहते है, विभिन्न प्रकार का खाना-पीना और विभिन्न परिस्थितियों में रहने वाले कबीलों में एक-सा खाना-पीना देख सकते है। अर्म्मीटेज ने अपनी पुस्तक 'खुराक और नस्ल' में इसके विस्तृत उदाहरण दिये है कि किस प्रकार एक ही खाद्य पदार्थ को खाने वाले कितने भिन्न भौगोलिक वातावरण के रहने वाले होते हैं। हम अपने ही देश में देख सकते है कि ठंडे गढ़वाल से लेकर धुर गर्म दक्षिण तक चावल खाने का रिवाज है।

आधुनिक औद्योगिक जटिल समाजों मे तो भौगोलिक वातावरण से भोजन की स्वाधीनता और भी अधिक दृष्टव्य है। बावजूद प्रचुर भौगोलिक भिन्नताओं के, सारे संयुक्त राज्य अमरीका के खान-पान में पर्याप्त समानता है। इसके अलावा विभिन्न देशों के लोग बड़ी मात्रा में चाय, काफी या तम्बाकू जैसी चीजों का व्यवहार कर रहे हैं, जो कि वहां पर नहीं होतीं। यातायात के बढते साधनों की सुविधा ने खान-पान की आवश्यकताओं में विचित्र मेल-जोल पैदा कर दिया है। दूसरी ओर, एक ही भौगोलिक वातावरण में रहने वाले विभिन्न वर्गों के खान-पान, उसकी

मात्रा और गुणों में भीषण अन्तर पाये जाते है। यह अन्तर प्रायः विभिन्न भौगोलिक वातावरण में रहने वाले लोगों में पाये जाने वाले खान-पान के अन्तरों से भी ज्यादा उग्र होते है। इसके अतिरिक्त, एक ही समाज के विभिन्न वर्गों के खान-पान के अन्तरों को भौगोलिक कारणों द्वारा नही समझाया जा सकता। फिर एक ही समाज के वर्ग विशेष का खान-पान भी तो निरंतर बदलता रहता है। हमारे यहां ही पिछले बीस सालों मे चीनी, चाय और वनस्पति घी के उपभोग में असाधारण वृद्धि और प्रसार हुआ है। उससे पहले तो इन्हे बहुत-से लोग जानते भी न थे। इन नई प्रवृत्तियों और अन्तरों का भौगोलिक वातावरण से कोई सम्बन्ध नही है।

५. भौगोलिक अवस्थाएं और आर्थिक जीवन और संगठन

(क) भौगोलिक अवस्था और सम्पत्ति. आर्थिक घटनाओं पर भौगोलिक प्रभावो के बारे में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये है। इनमें से एक वर्ग का यह कहना है कि किसी समाज मे पैदा की हुई और मौजूद सम्पत्ति, विशेषकर सामाजिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं मे, प्रायः पूर्णतः भौगोलिक परिस्थितियो द्वारा निश्चित होती है। प्रमुख भूगोलवादी बकल के शब्दो में, "उन सब प्रभावो मे जो कि जलवायु और जमीन किन्ही लोगों पर डालते है, सम्पत्ति का संचय सबसे प्रारम्भिक और बहुत अंशो मे सबसे महत्वपूर्ण है और प्रारम्भिक अवस्थाओं मे सम्पत्ति का इतिहास पूर्णतः जमीन और जलवायु पर निर्भर है।"

इसमे सन्देह नही कि उक्त कथन मे आंशिक सत्य है। किंतु यह कथन आधुनिक जटिल समाजों की तो बात ही क्या, बहुत-से आरण्यक कबीलो पर भी लागू नही होता। एक तो सम्पत्ति अपने आप मे कोई जड़ या अगतिशील वस्तु नही है। यह परिवर्तनशील है और सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। भौगोलिक वातावरण के कौन पदार्थ अधिक मूल्यवान होंगे, यह उन पदार्थों पर निर्भर न होकर, समाज के स्वरूप पर निर्भर करता है। खनिज तेल, कोयले या लोहे की खानों का एक ऐसे समाज के लिए कोई उपयोग नही है, जो कि इनसे फायदा उठाना ही नही जानता। एक ऐसा प्रदेश जो कि इन पदार्थों से भरपूर है, एक शिकारी या कृषक कबीले के लिए बहुत ही अनुपयुक्त है। पर यही प्रदेश एक औद्योगिक समाज के लिए बहुत उपयुक्त है। इस तरह एक ही भौगोलिक वातावरण उन लोगों के लिए बहुत ही उपयोगी हो सकता है जो कि उसका उपयोग करना चाहते है और उन लोगों के लिए बिलकुल बेकार हो सकता है जो कि उसका उपयोग करना नही जानते। इससे विपरीत, बिलकुल भिन्न भौगोलिक परिस्थितियों का विभिन्न लोगों के लिए एक-सा मूल्य हो सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि भौगोलिक वातावरण अपने आप में कोई ऐसी चीज नही है जो कि सभी समाजों, सभी परिस्थितियों मे मूल्यवान हो। इस कारण बकल के वक्तव्य मे

गंभीर संशोधन की जरूरत है ।

दूसरे, यह कहना कि सारी शानदार और सम्पत्तिशाली प्रारम्भिक सभ्यताओं का जन्म एकांततः अनुकूल परिस्थितियों में हुआ, ठीक नहीं है । स्पार्टा, एथेन्स और प्राचीन मिस्र की भौगोलिक परिस्थितियों को हम केवल सापेक्षिक अर्थों में समृद्ध और उपजाऊ कह सकते है । यदि यहां के निवासी प्राकृतिक वातावरण में आवश्यक परिवर्तन न करते, तो यहा के समाजों के वातावरण को बहुत निर्धन कहना पड़ता, फिर भी उसने यहा पर सम्पत्ति के संचय में रुकावट नहीं डाली । संयुक्त राज्य में प्रभूत प्राकृतिक साधनों के होते हुए भी वहां के गैर-योरोपीय आदिवासी अधिक सम्पत्ति नहीं जुटा सके ।

तीसरे, यह कहना कि एक-से भौगोलिक वातावरण में रहने वाले आरण्यक कबीले एक-से समृद्ध होते है, गलत है । लोई और थार्नवाल्ड ने होपी, नवाजों तथा अन्य कबीलों की तुलना करके इस बात को सिद्ध किया है ।

चौथे, आज के समकालीन समाजों की प्रति-व्यक्ति आय की भिन्नता को तो भौगोलिक वातावरण द्वारा बिल्कुल ही नही बताया जा सकता । यही बात एक ही समाज में समय-समय पर होने वाले आर्थिक तेजी या मन्दी, समृद्धि और निर्धनता के क्रमिक परिवर्तनों पर प्रकाश नहीं डालती । संयुक्त राज्य अमरीका के पहले निवासी रैड इण्डियन और आज के अमरीकन एक ही भौगोलिक वातावरण के वासी है, जब कि उनके द्वारा अर्जित सम्पत्ति मे असाधारण अंतर है । स्वयं भारत जो प्राकृतिक दृष्टि से योरोप के अनेक देशों से अधिक समृद्ध है, आय और सम्पत्ति की दृष्टि से उनसे बहुत गरीब हैं ।

अतः भौगोलिक वातावरण के बारे में इतना ही सही है कि समाज की एक निश्चित अवस्था में, प्राकृतिक साधनों का प्रकार कहां सम्पत्ति के संचय में सहायता या रुकावट पहुंचा सकता है । किंतु यह किन्हीं अभौगोलिक तत्वों से अधिक महत्व-पूर्ण नहीं है ।

(ख) भौगोलिक अवस्थाएं और उद्योगों का रूप. भूगोलवादियों का एक अन्य वर्ग किसी समाज में उसकी भौगोलिक अवस्था और उसकी आर्थिक और औद्योगिक क्रियाओं के बीच सह-सम्बन्ध (Correlation) दिखाने की चेष्टा करता है । आर्थिक भूगोल की प्रायः प्रत्येक पुस्तक इस दिशा में भौगोलिक अवस्था के प्रभाव पर जोर देती है । उनकी युक्ति का सारांश है कि स्थान ही किसी समाज के जीविका के साधनों और आर्थिक कार्यों को निर्धारित करता है ।

यह तो स्पष्ट है कि वह समाज जहां कि कोयला या कच्चे लोहे की खानें नही है, खान-उद्योग को विकसित नहीं कर सकता । यह भी सत्य है कि वह स्थान जहां कि उपजाऊ जमीन नहीं है कृषि को अपना मुख्य उद्योग नहीं बना सकता ।

अतः हम कह सकते हैं कि इन सिद्धान्तों में सत्य का अंश है। किन्तु यहां भी भौगोलिक अवस्था और औद्योगिक क्रिया के सह-सम्बन्ध को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया है।

हम दिमोलिस और अन्य भूगोलवादियों के इस दावे से सहमत नहीं हो सकते कि केवल किसी स्थान की भौगोलिक अवस्था के ज्ञान से ही हम वहा के उद्योगों या आर्थिक क्रियाओं के रूप को बता सकते हैं। रूस और अमरीका के प्रेयरीज घास के मैदानों के बाशिन्दों के आर्थिक कार्यों में भीषण अन्तर पाया जाता है। स्विटजरलैंड और तिब्बत की जनसंख्या एक-से भौगोलिक वातावरण में रहती है। लेकिन उनके उद्योगों में किसी प्रकार की समानता नही है। बुशमैन और हेरेरो कबीले एक-से ही रेगिस्तानों मे रहते है, पर जब कि बुशमैनों का मुख्य उद्यम खेती है, हेरेरो जानवर पालते हैं। पश्चिमी कारपेथियन में, जहां की जमीन खेती के विकास के लिए अधिक उपयुक्त नहीं है, ८८ प्रतिशत भूमि पर खेती होती है, जबकि पूर्वी कारपेथियन में, जहाँ की जमीन ज्यादा उपजाऊ है, कुल १२ प्रतिशत जमीन पर खेती होती है। हमारे ही देश में पंजाब और सिंध का बड़ा इलाका जो पहले बंजर पड़ा हुआ था कृत्रिम नहरों की कृपा से अब कृषि का मुख्य केन्द्र बन गया है।

यही बात इतिहास के क्रम मे विभिन्न समाजों के उद्योगों पर लागू होती है। चूंकि प्राचीनकाल में ग्रीक अच्छे नाविक बन सके इसके लिए हम वहां की अनुकूल भौगोलिक परिस्थिति को श्रेय देते है, लेकिन हम उन अनन्त समाजों को भूल जाते है जो कि उतनी ही या उससे भी अनुकूल परिस्थिति मे किसी प्रकार नाविक उद्योग (Navigation) का विकास नही कर सके। इस प्रकार के उदाहरण इतने अधिक है कि भौगोलिक निर्णयवाद का सिद्धान्त कोई अर्थ ही नही रखता।

इसके अलावा हम यह भी देखते है कि किस प्रकार कभी-कभी एक ही समाज में अल्प कालमें ही वहां की जनसंख्या के उद्योगों में विराट अन्तर आ जाता है। उदाहरण के लिए, पिछले पचास सालों में अधिकांश औद्योगिक देशों में कृषि पर निर्भर जनता का अनुपात बराबर गिरता तथा उद्योगों पर निर्भर जनसंख्या का अनुपात बराबर बढ़ता जा रहा है। कहीं-कहीं पर तो इन अन्तरों का अनुपात १०० प्रतिशत से भी अधिक हो गया है। इन परिवर्तनों को हम किसी भी तरह भौगोलिक कारणों से नहीं समझा सकते। यही नहीं, एक समाज में विभिन्न नये-नये पेशे विकसित हो रहे हैं और अनेक पुराने पेशे समाप्त हो रहे हैं। इसलिए कौन कह सकता है कि आज से पचास साल बाद भारत की जनसंख्या का पेशेवार वितरण क्या होगा और उसके प्रमुख उद्योग-धंधे क्या होंगे ? नये आविष्कार, नये सामाजिक संगठन या जनसंख्या के गुणों के परिवर्तन किसी भी समाज के औद्योगिक कार्यों में आमूल-चूल परिवर्तन

ला देते हैं। अतः जटिल समाजों में तो खास तौर से भौगोलिक वातावरण और औद्योगिक क्रियाओं के बीच किसी प्रकार के घनिष्ठ सह-सम्बन्ध की सम्भावना नहीं की जा सकती।

(ग) भौगोलिक अवस्था व्यावसायिक चक्र (Business Cycles) और आर्थिक जीवन की गति (Rhythm)

भूगोलवादियों का एक तीसरा वर्ग है जिसने भौगोलिक अवस्था और समृद्धि और निर्धनता के अवधि-क्रम (periodic) के उतार चढ़ावों के बीच सह-सम्बन्ध (Correlation) स्थापित करने की कोशिश की है। प्लेटो प्रायः कहा करता था, भूचाल और बाढ़ों-जैसी विराट् भौगोलिक प्रक्रियाएं अनेक समाजों मे सभ्यताओं की समृद्धि के पतन का कारण हुई है। अनेक उन्नीसवीं और बीसवी शताब्दी के लेखकों ने आर्थिक चक्रों और परिवर्तित भौगोलिक परिस्थितियों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित किया है। स्टेनली जेवन्स की आर्थिक चक्रों के सूर्य के धब्बों का (Sun-spot) सिद्धान्त, डब्ल्यू.एच.शॉ का मौसमी परिवर्तन और गेंहूं की पैदावार में निश्चित अवधि-क्रम (Periodicity) का सह-सम्बन्ध, और ब्रकनर का मौसमी परिवर्तन और आर्थिक जीवन के उतार-चढ़ाव से सम्बन्ध का सिद्धान्त, बेवरिज का आर्थिक मन्दी और कम वर्षा का सिद्धान्त तथा हंटिंगटन और मूर का आर्थिक चक्र का सिद्धान्त इसके मुख्य उदाहरण है। उक्त सिद्धान्तों में बेवरिज और मूर के सिद्धान्त सबसे अधिक वैज्ञानिक कहे जा सकते हैं। अतः हम मुख्यतः इन पर ही विचार करेंगे।

मूर के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका तथा शायद अन्य महाद्वीपों में वर्षा की मात्रा तेंतीस और आठ साल के चक्रों में से गुजरती है जो कि फसलों की पैदावार पर, उसके द्वारा उसकी कीमतों पर तदनुरूप प्रभाव डालती है। बेवरिज का सिद्धान्त मूर से मिलता-जुलता है। बेवरिज ने पश्चिमी और केन्द्रीय योरोप की १५०० से १८६९ ई० के गेंहूं की कीमतों के आंकड़ों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकला कि इस अवधि-क्रम की मुख्य अवधि (Periodictiy) ३०·६ साल है। अथवा इसका रुख १५ साल एक ओर तथा १५ साल दूसरी ओर रहता है। इसमें बहुत सामान्य परिवर्तन होते रहते हैं। हंटिंगटत का सिद्धान्त इससे पर्याप्त भिन्न है। उसके अनुसार आर्थिक जीवन में परिवर्तन इतने ज्यादा फसलों की पैदावार से नहीं होते जितने कि जलवायु द्वारा मनुष्य के स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभावों द्वारा। उसके अनुसार जलवायु के परिवर्तन स्वास्थ्य और उसके द्वारा मनुष्य की शारीरिक और मानसिक कार्य-क्षमताओं को प्रभावित करते है।

अब हम अति संक्षेप में इन सिद्धान्तों की समालोचना करेंगे। इसमें संदेह नहीं कि भूचाल या बाढ़ जैसे कि १९३६ का बिहार का भूचाल या १९५५ में

पंजाब की भीषण बाढ़ आर्थिक जीवन को एक बड़े समय के लिए विशृंखल या छिन्न-भिन्न कर देते हैं। किन्तु इस प्रकार के परिवर्तन बहुत ही कम और अल्पकालीन होते है और समाज के लम्बे जीवन पर उनका विशेष असर नहीं पड़ता।

फसल की पैदावार पर भौगोलिक अवस्था के असर और उसके जरिये कृषि प्रधान देशों मे व्यावसायिक चक्र के उतार-चढ़ाव से इन्कार नही किया जा सकता। यद्यपि इस क्षेत्र मे मानव नियंत्रण सीमित है, फिर भी कृषि विज्ञान, मानवीय श्रम, व्यापार के विस्तार इत्यादि, अभौगोलिक तत्व इमे बहुत प्रभावित करते है। इसके अतिरिक्त, किसी विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र मे भौगोलिक परिस्थितियां प्राय: कभी भी समान नहीं होती। यदि वह कहीं पर प्रतिकूल तो कही अनुकूल होती है और इस प्रकार एक दूसरे के असर को समाप्त कर देती है। अपने ही देश के उदाहरण म इस तथ्य को भली भांति समझा जा सकता है। इस तरह अगर एक प्रदेश मे फसल खराब भी हो जाये तो दूसरा प्रदेश उसकी कसर को पूरा कर देता है। इस प्रकार आर्थिक अवस्था में पर्याप्त संतुलन बना रहता है।

विभिन्न लेखकों ने निश्चित अवधि-क्रम (Periodicity) बताये हैं। उन्होंने २, ३, ४, ५, ७, ११, १५, और इसी तरह अन्य कई अवधियां गिनाई हैं। इसका तो अर्थ हुआ कि व्यवहार में अवधि (Periods) नाम की कोई चीज ही नही है। इसी प्रकार प्रसिद्ध ऋतुशास्त्री वाल्टर ब्रियेण्ट ने बेवरिज के मत की समालोचना करते हुए लिखा था कि न तो सूरज के धब्बों का ही और न ही मौसम के परिवर्तन का कोई निश्चित अवधि-क्रम है। हंटिंगटन के मौसम के सिद्धांत में स्वास्थ्य और कार्यक्षमता पर अनुचित जोर दिया गया है।

हम यह कह सकते हैं आर्थिक क्षेत्र में, जहां कि भौगोलिक अवस्थाओं के प्रत्यक्ष प्रभाव की आशा की जा सकती थी, न तो उनका प्रभाव प्रत्यक्ष है, न ही निर्णायक और न ही वह कठोर और निश्चित सह-सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हैं। न ही वह इतना सामान्य है जो कि विभिन्न सामाजिक समूहों या एक ही सामाजिक समूह में विभिन्न कालों में घटने वाले परिवर्तनों को समझा सके; पर जैसा कि भौगोलिक तत्वों के प्रभाव को अनुचित महत्व प्रदान करना अनुचित है, वहां उनके प्रभाव से एकदम इन्कार करना भी उतना ही गलत है।

६. भौगोलिक वातावरण और नस्ल (Race)

बकल ने घोषणा की कि मनुष्य जाति मे विद्यमान नस्ली अंतर पूर्ण रूप से या मुख्यत: भौगोलिक अवस्थाओ का परिणाम है। यद्यपि आज इतने उग्र रूप में उसके मत का कोई समर्थक मिलना कठिन है, फिर भी नरम रूप में उसके अनेक समर्थक आज भी मौजूद है। इसमें डॉ० सेम्पिल उल्लेखनीय है। उसने अपनी पुस्तक 'रेटजल की मानव भूगोल पद्धति के आधार पर भौगोलिक वातावरण का प्रभाव,' (१९११) में

मनुष्य के समस्त शारीरिक लक्षणों के लिए भौगोलिक वातावरण को जिम्मेदार ठहराया है। ऐलन, रिजवे, कीथ और अन्य लेखकों ने भी कुछ और सीमित रूप में इस मत का समर्थन किया है। इनमें से अधिकांश लेखकों के मत मे मनुष्य जाति एक ही स्थान में पैदा हुई और बाद में विभिन्न स्थानों पर फैल गई, जहां विभिन्न वातावरणों के प्रभाव ने उनमें वर्तमान नस्ली विभिन्नताएं पैदा कर दीं। यह कल्पना केवल एक अनुमान है। इसके विपरीत अन्य लेखकों ने मनुष्य जाति के विभिन्न स्थानों में पैदा होने की कल्पना प्रस्तुत की है। अतः इस पर आधारित सिद्धान्त का कोई वैज्ञानिक महत्व नही हो सकता।

यह एक अकाट्य सत्य है कि नस्ली विशेषताएं वंशानुगत (Inherited) गुण हैं। इसलिए नस्ली विभिन्नताओं को प्रत्यक्ष भौगोलिक अवस्था का प्रभाव बताना भूल है। अधिक से अधिक हम इसके पक्ष में यह कह सकते है कि इसका आधार बहुत ही अनिश्चित है।

और फिर सभी गम्भीर सिद्धान्त जो कि भौगोलिक परिस्थितियों द्वारा नस्ली परिवर्तन को स्वीकार करते हैं यह मानते है कि भौगोलिक अवस्था के प्रत्यक्ष प्रभाव से नस्ली परिवर्तन होने के लिए हज़ारों साल की जरूरत पड़ती है, इसलिए ऐतिहासिक काल के अल्पकालीन परिवर्तनों मे तो इस तथ्य का कोई भी महत्त्व नहीं है।

कुछ लेखकों ने खान-पान की विभिन्नता द्वारा नस्ली विभिन्नताओं को बताने की कोशिश की है। इसमें सन्देह नही कि विशेष विटामिन से पूर्ण या शून्य खाने और पीने के पदार्थ ग्रन्थियों (Glands) पर प्रभाव डाल शारीरिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हैं। किन्तु हम देखते है कि विभिन्न नस्लों में खाने-पीने की वस्तुओं मे विटामिन के यह अन्तर अत्यन्त गौण है, और यदि है भी, तो वह एक ही नस्ल के विभिन्न वर्गों में भी किसी कदर कम नहीं है। यही नहीं, अधिकाश भूगोलवादी खान-पान को भौगोलिक परिस्थितियों का सीधा परिणाम मानते है जब कि हम देखते है यह सह-सम्बन्ध आरण्यक समाजों के लिए भी पूर्णतया सही नहीं है और जटिल समाजों में तो यह सम्बन्ध बहुत ही गौण है।

नस्ल के निर्णय के भौगोलिक सिद्धान्त भी इस सम्बन्ध में किये गए अध्ययन की पुष्टि नहीं करते। फिर निष्क्रमण और मिश्रण द्वारा विभिन्न नस्ली वर्ग जो कि शुरू में एक भौगोलिक वातावरण का परिणाम क्यों न रहे हों, ससार के विभिन्न भागों में फैल गए हैं और अब उनमें कोई ऐसे सह-सम्बन्ध नहीं ढूंढे जा सकते। नस्ली वर्गीकरण का चाहे कोई भी आधार हो, यह एक निश्चित तथ्य है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रत्येक नस्ली समूह बिल्कुल भिन्न प्रकार के क्षेत्रों में फैल गये और रह रहे हैं। प्रो० डिक्सन के अनुसार, जिन्होंने इस सम्बन्ध में सूक्ष्म अध्ययन

किया है, हम प्राचीन काल मे, अतीत में भी, ऐसा काल नहीं खोज सकते जब कि एक विशेष नस्ली वर्ग एक विशेष भौगोलिक परिस्थिति में रहता हो। और हम अभी तक ऐसा एक भी उदाहरण खोजने में असमर्थ रहे हैं जहां कि भौगोलिक वातावरण ने नस्ली विशेषताओं को बदला हो। हम अमरीका के नीग्रो और उसके अफ्रीकावासी बांधव में कोई शारीरिक भेद नहीं खोज पाये हैं। उनमें जो भी परिवर्तन घटे हैं वह गैर-नस्ली तत्वों का परिणाम है और उनका श्रेय भौगोलिक परिस्थितियों को नहीं दिया जा सकता। भौगोलिक वातावरण केवल अप्रत्यक्ष रूप से प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) द्वारा नस्ली बनावट पर प्रभाव डाल सकता है।

७. भौगोलिक अवस्था और स्वास्थ्य

पिछले पृष्ठों मे हमने उन छः प्रमुख तथ्यों की समालोचना की है, जिनकी भूगोल पर निर्भरता सापेक्षतः अधिक प्रबल है। अब हम मानव-स्वास्थ्य, शक्ति, व्यवहार और मनोविज्ञान के उन तथ्यों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे जो कि अधिक जटिल है।

हंटिंगटन ने 'सभ्यता और जलवायु', 'विश्व-शक्ति और विकासवाद' और 'नस्लों के गुण' नाम की अपनी प्रमुख समाजशास्त्रीय रचनाओं में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि सभ्यता पर प्रभाव डालने वाले तत्वों में जलवायु सबसे प्रमुख है। इस तथ्य को उसने जलवायु और शक्ति और श्रम की कार्य-क्षमता, जलवायु और मानसिक क्रियाओं, और अन्ततः जलवायु और सभ्यता के गुण और उत्थान-पतन के बीच सह-सम्बन्ध (Correlations) स्थापित कर सिद्ध करने की कोशिश की है। हम संक्षेप में जलवायु और स्वास्थ्य, शक्ति और मानसिक प्रक्रियाओं सम्बन्धी उसके कुछ गौण सह-सम्बन्धों पर विचार करेंगे।

यह एक बहुत प्राचीन धारणा है कि जलवायु स्वास्थ्य को प्रभावित करता है। जहा तक अति उग्र और प्रचंड जलवायु का सम्बन्ध है, इस कथन की सत्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता। किन्तु इस सामान्य रूप में यह अर्थहीन और अस्पष्ट है। क्या जलवायु मानव स्वास्थ्य को तापक्रम, या नमी, या उनके परिवर्तन, या अन्य किसी तत्व द्वारा निर्धारित करता है? सब दृष्टियों से मानव स्वास्थ्य के लिए सबसे उपयुक्त जलवायु कौन-सा है? क्या यह उपयुक्ततम जलवायु सभी मानव प्राणियों के लिए एक-सा ही है, अथवा यह मनुष्य मनुष्य या समूह समूह के लिए बदलता रहता है?

हंटिंगटन से बहुत पहले जर्मन विद्वान् मोसर ने इस सम्बन्ध में तीन नियम प्रस्तुत किये थे। मृत्यु दर और तापक्रम की वक्ररेखाएं (Curves) साथ-साथ चलते है औसत कम तापक्रम और अधिक मृत्यु का सीधा सम्बन्ध है। जाड़े में

औसत से अधिक तापक्रम मृत्युओं को घटा तथा गर्मियों में बढ़ा देता है। हंटिंगटन के अनुसार ६४° फा० तापक्रम तथा ८०° प्रतिशत आर्द्रता या नमी आदर्श जलवायु का निर्माण करते है। तापक्रम के सम्बन्ध में वह डेक्सटर के सिद्धान्त का अनुसरण करता है।

उक्त सिद्धान्त के सम्बन्ध मे इतना ही कह सकते है कि स्वास्थ्य के लिए मृत्यु दर केवल एक महत्वपूर्ण मापदण्ड है, किन्तु इसे किसी भी प्रकार सर्व-श्रेष्ठ और सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता और उसे विभिन्न प्रकार के देशों पर समान रूप से लागू नहीं किया जा सकता। यह एक सामान्य नियम है कि जिन देशों में जन्म दर ज्यादा होती है, वहा मृत्यु दर भी ज्यादा होती है। इस तरह अधिक जन्म दर किसी देश की जनसंख्या की जीवनशक्ति का कम महत्वपूर्ण माप-दण्ड नही है। जो देश मृत्यु दर के अनुसार बहुत स्वस्थ है, उन्हे ही जन्म दर के आधार पर कमजोर कहा जा सकता है। इसके अलावा योरोपीय देशो की मृत्यु दर के तुलनात्मक अध्ययन से यह भी प्रकट हुआ है कि अधिक मृत्यु वाले देशों में भी ३० वर्ष से अधिक आयु वाले एक विशेष आयु-समूह (Age-group) की मृत्यु दर कम मृत्यु दर वाले देशों से कम है। इससे यह भी जाहिर होता है कि यदि हम कम आयु वाले समूहों को ध्यान मे रखकर विभिन्न देशो के तुलनात्मक आंकड़े इकट्ठे करें, तो विभिन्न देश एक श्रेणी मे आयेगे। लेकिन यदि हम बड़ी आयु के लोगों की मृत्यु दर को ध्यान मे रखे, तो यदि वह बिल्कुल विपरीत श्रेणी मे नही, तो कम-से-कम भिन्न श्रेणी मे अवश्य आयेंगे। अतः मृत्यु दर के आधार पर स्वास्थ्य का मापना पर्याप्त भ्रान्त है।

हंटिंगटन ने मृत्यु दर के कुल आंकड़ों को न लेकर, केवल न्यूमोनिया और इनफ्ल्यूएंजा से हुई मृत्यु के आंकड़े लिए है। स्पष्ट ही ह कि इन रोगों की मृत्युओ में अन्य मृत्युओं की तुलना में मौसम का बड़ा हाथ होता है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक देश में मृत्यु के आंकडों में पर्याप्त मौसमी हेर-फेर पाया जाता है, और फिर विभिन्न आयु-समूहों पर इन मौसमों का पृथक्-पृथक् प्रभाव पड़ता है। यह विभिन्नताएं केवल आयु-समूहों तक ही सीमित नही है। स्त्री-पुरुषों, विभिन्न आर्थिक और धार्मिक वर्गों और विभिन्न कार्य करने वालों मे यह मौसमी हेर-फेर भिन्न पाये जाते हैं। मृत्यु दर के यह मौसमी हेर-फेर इस अर्थ में मौसमी नहीं है कि इन पर जलवायु का कोई असर पड़ता है, बल्कि यह हेर-फेर की अनियमितता की ओर सकेत करते हैं। इनके कारणों की खोज अभी बाकी है।

आर्द्रता या नमी और स्वास्थ्य पर उसके प्रभाव को जाननें के लिए जो अन्वेषण हुए हैं उनसे यह सिद्ध हुआ है कि स्वास्थ्य या मृत्यु दर पर नमी का कोई असर नहीं है, और यदि है भी तो वह उससे उल्टा है जो कि हंटिंगटन ने सिद्ध

किया है। इसी तरह हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि सब स्थानों पर सब कालों के लिए ६४° तापक्रम ही स्वास्थ्य के लिए सर्वोत्तम है।

हम इतना ही कह सकते है अति उग्र तापक्रम, नमी या तूफान, स्वास्थ्य के लिए हानिकर हैं और उन से मृत्यु दर बढ़ जाती है। किन्तु इन अतियों के बीच एक विस्तृत क्षेत्र है, और फिर विभिन्न जनसमूहो के लिए इन अतियों की सीमाएं भिन्न-भिन्न हैं, इसके अलावा सामाजिक तत्व उनके प्रभाव को बहुत हद तक समाप्त कर देते है। इस प्रकार स्वास्थ्य पर अति उग्र जलवायु के प्रभाव के बारे मे भी पर्याप्त अनिश्चितता है।

८. जलवायु, मानव-शक्ति और कार्य-क्षमता

हंटिंगटन ने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि तापक्रम, नमी, रोशनी और तूफान मानव-शक्ति और कार्य-क्षमता पर प्रबल प्रभाव डालते है। उसके अनुसार शारीरिक श्रम के लिए ६४° फा० (दुपहर को ७०° और रात को ५५°) तापक्रम-मानसिक श्रम के लिए ३८° या ४०° फा० तापक्रम सर्वोत्तम है। अत्यधिक नमी या खुश्की भी नुकसानदेह है। ८०° नमी सबसे अधिक सुविधा-जनक है।

वास्तव मे स्त्री-पुरुषों, विभिन्न आयु वाले समस्त काम करने वालों पर जलवायु या मौसमों का एक-सा प्रभाव ढूंढ़ने का प्रयत्न एक भूल है। इस सम्बन्ध मे अनेक सूक्ष्म अन्वेषणों से यह ज्ञात हुआ है कि एक ही कारखाने में विभिन्न प्रकार के श्रमिकों पर जलवायु का विभिन्न प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, बर्न के अध्ययन से यह प्रकट हुआ कि वसंत ऋतु मे ४० साल से कम आयु वाले पुरुष श्रमिक की कार्य-क्षमता घट जाती है, जब कि उससे अधिक उम्र वालों पर उसका अच्छा प्रभाव होता है। सामान्यतः विभिन्न मौसमों की कार्य-क्षमता के अन्तर बहुत ही कम है। इसी प्रकार स्त्री-पुरुष, विवाहित-अविवाहित, गांव या शहर में पैदा हुए श्रमिकों पर वसंत ऋतु का विभिन्न प्रभाव पड़ता है। यही बात अन्य मौसमों पर भी लागू होती है। बल्कि इन अन्वेषणों से एक दिन में काम करने के घंटों में परिवर्तित कार्य-क्षमता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। एक ही दिन के भिन्न घंटों या एक ही सप्ताह के भिन्न दिनों की कार्य-क्षमता के यह हेर-फेर अधिक नियमित है। इसी प्रकार स्टेचर द्वारा आर्द्रता और कार्य-क्षमता पर उसके प्रभाव सम्बन्धी अन्वेषण से कोई निश्चित परिणाम नही निकला। इसके अलावा इन अध्ययनों से स्त्री-पुरुषों और विभिन्न आयु के समूहों की कार्य-क्षमता पर एक ही मौसम का भिन्न और प्रायः विपरीत प्रभाव पाया गया।

अतः हम कह सकते हैं कि हंटिंगटन के कार्य-क्षमता के मौसमी हेर-फेर और आदर्श जलवायु के सिद्धान्त दोषपूर्ण हैं।

९. जलवायु और मानसिक कार्य-क्षमता

हंटिंगटन के शब्दों में "मानसिक कार्य में जहा शारीरिक कार्य से समानता है वहा मनोरंजक भिन्नताएं भी है।" मानसिक कार्य के लिए उपयुक्ततम बाह्य तापक्रम ३९° फा० है, जब कि शारीरिक कार्य के लिए वह ६४° फा० है। जब तापक्रम बहुत अधिक गिर जाता है, शारीरिक कार्य की तुलना में मानसिक कार्य को अधिक हानि पहुंचती है। हल्की-सी गर्मी से इसे उत्तेजना मिलती है, किन्तु हवा में जल्दी गर्मी आ जाने से पुनः इसे हानि पहुंचती है। विभिन्न मौसमों में प्राप्त विभिन्न विद्यार्थियों की परीक्षा के अकों को उक्त निष्कर्ष का आधार बनाया गया है। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि परीक्षा परिणाम पर अनेक अभौगोलिक तत्वों का प्रभाव भी पड़ता है, जिन्हें ध्यान मे रखना जरूरी था।

इ० जी० डेक्सटर के क्लर्कों की भूलों और उनकी जाच की योग्यता के अध्ययन के परिणाम हंटिंगटन से भिन्न निकले है। उसके अनुसार सबसे उपयुक्ततम तापक्रम ३९° न होकर ५८° फा० है। नमी, हवा, खुले और बरसाती मौसम के सम्बन्ध में भी डेक्सटर के परिणाम हंटिंगटन से भिन्न आये है। जोड़ने के कार्य और याददाश्त पर मौसम के प्रभाव पर लेहमैन और पडरसन द्वारा किये गए परीक्षणों के परिणाम भी हंटिंगटन से भिन्न आये है। थार्नडाइक, मैकाल, बास और वैटीलेशन पर न्यूयार्क कमीशन इस नतीजे पर पहुंचे कि मानसिक कार्य पर तापक्रम, नमी और कार्बन डाईआक्साइड की मात्रा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

विभिन्न अन्वेषणों से यह स्पष्ट है कि या तो जलवायु के साधनों का मानसिक कार्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, या अगर पड़ता भी है, तो वह बहुत भिन्न और विरोधी है। उनका हंटिंगटन के परिणामों से मेल नहीं बैठता। हंटिंगटन के तथ्यों में स्वयं कुछ आपसी विरोध है। परिणामों की भिन्नता हमें किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचने का आधार प्रदान नहीं करती। सभ्यताओं के जन्म, विकास और पतन पर तो इससे कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त, विभिन्न मौसमों को मानसिक कार्य-क्षमता के हेर-फेर का आधार बनाया गया है, जब कि हम जानते है कि मानसिक क्षमता में हमे उससे भी ज्यादा मासिक, साप्ताहिक और दैनिक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। अतः मौसमी परिवर्तन को किसी भी प्रकार मानसिक कार्य-क्षमता पर भौगोलिक परिस्थितियों के निर्णायक प्रभाव के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

१०. जलवायु और आत्महत्याएं

दि ग्यूरे, वैग्नर, बोदियो, मोरसैली, डेक्सटर, वान मायर इत्यादि अनेक योरोपीय लेखकों ने कुछ योरोपीय और गैर-योरोपीय देशों में होने वाली आत्महत्याओं

में एक निश्चित मौसमी उतार-चढ़ाव पाया है। गर्मी के मौसम में योरुप में सबसे ज्यादा आत्महत्याएं होती है। इसमें भी सबसे अधिक मई, जून में होती हैं, इसके बाद वसंत ऋतु का नम्बर आता है, और उसके बाद पतझड़ का। जाड़ों मे सबसे कम आत्महत्याएं होती है। इन अध्ययनों से यह भी जाहिर हुआ है कि आत्महत्याओं मे साप्ताहिक और दैनिक अवधि-क्रम (Periodicities) भी है। इसके अतिरिक्त, उन्होने यह भी दिखाया है कि योरोप में अक्षांश रेखा (Latitude) के अनुसार आत्महत्याओं के वितरण में भी एक नियमितता पायी जाती है। उदाहरण के लिए ३६ अक्षाश रेखा से ५५ अक्षांश रेखा तक आत्महत्याओं की संख्या बराबर बढ़ती चली गई है। ५५ अक्षांश रेखा के बाद वह पुनः कम हो गई है। उक्त तथ्यों से अनेक अन्वेषक इस नतीजे पर पहुंचे है कि आत्महत्याओं पर भौगोलिक वातावरण का प्रत्यक्ष प्रभाव है।

सर्वप्रथम दुर्खाइम और बाद में क्रोसे और जैकार्त ने अच्छी तरह पड़ताल कर यह परिणाम निकाला कि आत्महत्याओं पर जलवायु इत्यादि का प्रभाव, यदि कुछ है भी तो, वह अत्यन्त गौण और परोक्ष है। भौगोलिक उपकल्पना न तो एक ही देश में विभिन्न वर्षों मे आत्महत्याओं के बदलते अनुपात और न ही गांवों या शहरों, विवाहितों, अविवाहितो, तलाकशुदा लोगों, या एक ही समाज में उसकी अचानक वृद्धि और ह्रास, या उसके दैनिक, साप्ताहिक, मासिक या मौसमी अन्तर पर कोई प्रकाश डालती है। दुर्खाइम ने बहुत स्पष्टता से इस बात को दर्शाया है कि आत्महत्याओं के लिए जलवायु उत्तरदायी नही, बल्कि समाज के सदस्यों के पृथक्करण (Isolation) मे वृद्धि और ह्रास है। यह और अन्य सामाजिक तत्व आत्महत्याओं के मौसमी और अन्य हेर-फेर को निर्धारित करते है। अतः हम कह सकते है कि जलवायु और आत्महत्याओ का सह-सम्बन्ध भ्रान्त है।

११. जलवायु और पागलपन (Insanity)

लैफिंगवैल, नार्बरी, हंटिंगटन, डेक्सटर और वाट इत्यादि अनेक लेखको ने जलवायु और पागलपन या सामान्य मानसिक रोगों की वृद्धि और ह्रास के बीच सह-सम्बन्ध (Correlation) स्थापित करने की कोशिश की है। इनमे से कुछ का कहना है कि आत्महत्याओं और मानसिक रोगों मे स्वयं घनिष्ठ सह-सम्बन्ध है।

दुर्खाइम के अध्ययन के बाद हम निश्चयपूर्वक यह कह सकते हैं कि यदि इनके बीच ऐसा कोई सह-सम्बन्ध है भी, तो वह सर्वथा नगण्य है। यह तथ्य इस बात से पुष्ट होता है कि न तो विभिन्न समाजों में ही और न एक ही समाज में विभिन्न वर्षों, विभिन्न पेशेवार, धार्मिक या नस्ली वर्गों या स्त्री-पुरुषों में, जो

कि एक ही भौगोलिक वातावरण में रहते हैं, पागलपन का वितरण समान रूप से एक-सा रहता है। दूसरे शब्दों में, अभौगोलिक कारणों का पागलपन की दर को परिवर्तित करने में बड़ा हाथ होता है।

यह प्रश्न कि पागलपन की वृद्धि या ह्रास में जलवायु का कोई गौण प्रभाव भी है, पर्याप्त अनिश्चित है। मौसमी हेर-फेर का कोई महत्व नहीं, जब तक कि वह हर साल एक ही क्रम से घटित न हों। बिना एक नियमितता के उनका कोई अर्थ नहीं। इस सम्बन्ध में स्वयं भूगोलवादियों के अन्वेषणों से यह प्रकट होता है कि एक ही स्थान और एक-सी जलवायु वाले विभिन्न स्थानों में अधिकतम और अल्पतम पागलपन की दर में बराबर हेर-फेर होता है और अनेक बार भिन्न जलवायु वाले स्थानो की दर मे पर्याप्त समानता पायी जाती है। योरोप और अमरीका मे हुए अध्ययनों के आधार पर हम अधिक-से-अधिक इतना ही कह सकते है, गर्मी और वसंत ऋतु में, पतझड़ और जाड़े की तुलना में पागलपन की दर कुछ अधिक होती है। किन्तु इससे पागलपन के मौसमी परिवर्तन का सिद्धान्त गलत ठहरता है। उक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते है कि यदि जलवायु और पागलपन के बीच किसी प्रकार का सह-सम्बन्ध है भी तो वह सर्वथा आंशिक है।

१७. जलवायु और अपराध (Crime)

क्वैतलैत, लोम्ब्रोजो, फैरी, ग्यूरी, डेक्सर इत्यादि अनेक अपराधशास्त्रियों और लेखकों ने जलवायु और विभिन्न प्रकार के अपराधों के बीच एक सह-सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। उनके अनुसार सम्पत्ति और व्यक्तियों के विरुद्ध किये गये अपराधों में एक विशेष मौसमी परिवर्तन देखा जाता है जो कि निर्विवाद रूप से अपराधो पर जलवायु के प्रभाव को सूचित करता है।

इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि विभिन्न देशों और एक ही देश के एक स्थान में विभिन्न प्रकार के अपराधों की संख्या और उनके हेर-फेर गांवों और शहरों, विभिन्न आर्थिक, पेशेवर, धार्मिक, नस्ली, सांस्कृतिक या राष्ट्रीय समूहों में इतने अधिक हैं कि उन्हें हम जलवायु के प्रभाव द्वारा नहीं समझा सकते। वास्तव में अनेक अभौगोलिक कारण ही अपराध की दिशा को निर्धारित करते हैं।

यही बात किसी एक समाज या विभिन्न समाजों में अपराध में होने वाले वार्षिक परिवर्तनों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। किसी वर्ष अपराधों की सख्या में असाधारण वृद्धि या ह्रास का भौगोलिक वातावरण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इनका सीधा सम्बन्ध अभौगोलिक कारणों से होता है।

एकसीमित क्षेत्र में अवश्य जलवायु के माध्यम से कुछ प्रकार के अपराधों

के मौसमी परिवर्तन को एक सीमित क्षेत्र में समझाया जा सकता है। यद्यपि इस क्षेत्र में भी लोग ज्यादा या कम अपराध इसलिए नहीं करते कि तापक्रम अधिक है, या नमी कम है, या रोशनी कम तेज है, बल्कि इसलिए कि अपराध के प्रत्यक्ष तत्व जैसे कि खराब फसलों या बाहरी सामाजिक जीवन पर जलवायु का अप्रत्यक्ष प्रभाव पडता है। यौन-अपराधों के सम्बन्ध में हो सकता है कि जलवायु का कुछ प्रभाव पड़ता हो, किन्तु यह भी अभी निश्चित रूप से सिद्ध नहीं हुआ है।

पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अपराधों के सावधानी से किये गए तुलनात्मक अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि अनेक भिन्न और बिल्कुल विरोधी जलवायु के स्थानों में अपराधों की संख्या में पर्याप्त समानता पाई गई है। इसी प्रकार एक ही समाज में कम और अधिकतम अपराधों के महीने प्रायः बदलते रहते हैं। यही नहीं, विभिन्न प्रकार के अपराधों में पर्याप्त असमानता और जटिलता दृष्टिगोचर होती है और इस प्रकार अपराधों के हेर-फेर में कोई मौसमी नियमितता व्यक्त नहीं होती। अतः हम उन भूगोलवादियों के दावे, जो कि अपराध पर जलवायु का प्रत्यक्ष प्रभाव सिद्ध करते है, स्वीकार नहीं कर सकते।

१३. जलवायु और जन्म, मृत्यु और विवाह दर

ओटिंगन तथा लिवेज्यूर इत्यादि लेखकों ने विभिन्न योरोपीय देशों के आंकड़े इकट्ठे करके उन देशों की जन्म, मृत्यु और विवाह दरों में एक नियमित मौसमी हेर-फेर दिखाने का प्रयत्न किया है। किन्तु इन आंकड़ों के सूक्ष्म और सावधानी से किये गये अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इन मुख्य प्राणिक प्रक्रियाओं के प्रमुख परिवर्तनों को हम किसी एक या भिन्न स्थानों और समयों में भौगोलिक कारण द्वारा नहीं समझा सकते।

व्यवहारतः केवल तथाकथित मौसमी परिवर्तनों पर हम जलवायु के प्रभाव को स्वीकार कर सकते हैं। किन्तु यह मौसमी हेर-फेर भी सही मायनों में मौसमी नहीं कहे जा सकते। उदाहरण के लिये, गर्भाधानों और जन्मों की सबसे अधिक संख्या के दो उच्चतम बिन्दु है। फरवरी मार्च और सितम्बर-अक्तूबर में सबसे अधिक जन्म होते हैं। इसी प्रकार जनवरी और दिसम्बर और मई और जुलाई में सबसे अधिक गर्भाधान होते है। यह मौसम एक दूसरे से कितने भिन्न हैं। अतः हम जलवायु के प्रभाव को तो इस क्षेत्र में सिद्ध नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त, एक ही क्षेत्र में रहने वाले, विभिन्न धर्मों को मानने वाले, शहरों या गांवों के रहने वाले या अन्य विभिन्न समूहों में, यह मौसमी हेर-फेर भिन्न-भिन्न हैं।

आदिकालीन समाजों और गैरपालतू पशुओं में अवश्य हम गर्भाधान या जन्म की क्रियाओं में एक मौसमी नियमितता देखते हैं। लेकिन यह नियमितता भी जलवायु का परिणाम न होकर उनकी खाद्य-पूर्ति का परिणाम होती है। जिन

मौसमों में खाद्य-पूर्ति अधिक होती है, उनमें ही यौन-क्रिया बढ़ जाती है। अतः इस क्षेत्र में जलवायु का यदि कोई प्रभाव है भी तो वह बहुत ही परोक्ष है। आधुनिक समाजों में तो यह प्रभाव अन्य अभौगोलिक तत्वों द्वारा बहुत कुछ समाप्त ही हो जाता है।

१४. भौगोलिक वातावरण और धर्म, कला तथा साहित्य

हम यह आशा कर सकते है कि भौगोलिक वातावरण मनुष्य की कल्पनात्मक कृतियों—कला, साहित्य, संगीत, चित्रकारी, स्थापत्य और विश्वासों में प्रतिबिम्बित और प्रकट हो। सापेक्षतः आदिम जातियों के लिए, जो कि बहुत काल से एक सीमित भौगोलिक वातावरण में बंधी हुई है, कुछ अंशों में यह सत्य भी है। पर यह अंश नगण्य है। इससे केवल यही सिद्ध होता है कि कला, साहित्य या विश्वास पर हम उनके भौगोलिक वातावरण का रंग ही देख सकते है, उन्हें उसका निर्णायक नहीं मान सकते।

ह्वाइटबेक ने 'भौगोलिक वातावरण का धार्मिक विश्वास पर प्रभाव' शीर्षक अपने संक्षिप्त लेख में इस स्थानीय रंग (Colour) की अच्छी विवेचना की है। उसने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि लोगों की यह सामान्य प्रवृत्ति होती है कि वह उन प्राकृतिक शक्तियों या जीवों को अच्छे देवताओं का प्रतीक माने जो कि उन्हें लाभ पहुंचाते हैं। इसके विपरीत, उन शक्तियों या जीवों को आसुर या शत्रु देवता मानें जो कि उन्हें हानि पहुंचाते हैं। इसीलिए भारत मे वृत्र या सांप, नार्वे में बर्फ के टीले या पहाड़, राक्षस-देवता माने गये। एक आरण्यक कबीले के लिये स्वर्ग एक शिकार का समृद्ध स्थान है; एक अरब के लिए नखलिस्तान, पौधों, खजूरों और पानी से भरपूर है। ह्वाइटबेक ने यह भी बताया कि किस प्रकार एक जनसंख्या एक भौगोलिक वातावरण को छोड़कर दूसरे भौगोलिक वातावरण मे चली जाती है, उसके देवता भी बदल जाते हैं। उदाहरण के लिए, जब आर्यों ने भारत में प्रवेश ही किया था, उनका प्रमुख देवता द्यू (आकाश) था लेकिन शीघ्र ही भारत में वर्षा के महत्व को देखते हुए उसका स्थान इन्द्र (वर्षा के देवता) ने ले लिया और द्यू देवता का स्थान नीचा हो गया।

इसी प्रकार विभिन्न जन-समूहों के प्रारम्भिक इतिहास मे उनकी जन-श्रुति, गीतों, कविता और साहित्यिक कृतियों में इस प्रकार अनेक सह-सम्बन्ध ढूंढे जा सकते हैं। विभिन्न दृश्य, पेड़-पौधे, फल-फूल, जीव-जन्तु किसी साहित्य की पृष्ठभूमि बनाते हैं। वेद, महाभारत, रघुवंश, इलियड, ओडसी, उमरखय्याम की रुबाइयों पर हमें उनके भौगोलिक वातावरण की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। अनेक लेखकों ने वास्तुकला (भवन-निर्माण), चित्रकला, संगीत इत्यादि मानवीय कृतियों पर भी निर्णायक भौगोलिक प्रभाव सिद्ध करने की चेष्टा की है। उदाहरण

के लिए, एक लेखक ने भारतीय और अरब वास्तु-कला को भौगोलिक परिस्थितियों से समझाने की कोशिश की है। उसके अनुसार "भारत ऊंचे पहाड़ों, विस्तृत मैदानों, दुर्भेद्य जंगलों का देश है, अतः भारतीय कला मे विशालता, स्थूलता और विस्तार पर अधिक जोर था। जिस तरह भारतीय जंगलों में असंख्य फूल-पत्तियों से सारी भूमि ढकी रहती है उसी तरह भारतीय मन्दिरों मे कोई चप्पा अलंकरण से खाली नहीं रहता। इसके विपरीत, अरब एक विशाल रेगिस्तान है, जिसमे मीलो तक कोई वनस्पति नही दिखाई देती। अतः अरब कला की विशेषता बड़े-बडे भवन, ऊंची मीनारें, साफ और सादी दीवारें थीं।"

कला की कृतियों, साहित्य और धर्म पर भौगोलिक वातावरण के स्थानीय 'रंग' को हम स्वीकार कर सकते हैं। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पर्याप्त प्रारम्भिक अवस्था में भी यह सम्बन्ध कठोर और सार्वभौम नहीं है और जसे ही हम बाद के अधिक गतिशील और जटिल समाजों की ओर बढते है, तो यह सह-सम्बन्ध और भी अनिश्चित और अदृश्य होता जाता है। अधिकांश लेखको ने इस क्षेत्र मे भूगोल के प्रभाव को बहुत बढा-चढाकर पेश किया है। उस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि हमें अनेक बार विल्कुल भिन्न जलवायु और भौगोलिक वातावरण के समाजों के विश्वासों, प्रतीकों, पुराणों, कहानियों, भवन-निर्माण के तरीकों और संगीत इत्यादि मे पर्याप्त समानता मिलती है, और इसके विपरीत, एक-सी जलवायु और भौगोलिक वातावरण वाले समाजो मे बिल्कुल भिन्न विश्वास, अभिरुचि और साहित्य और कला के पृथक् मानदंड पाये गये हैं। हम ईसाई, बौद्ध, इस्लाम या अन्य किसी महान् धर्म की ओर दृष्टि डाले, तो उनके अनुयायी हमे भिन्न भौगोलिक वातावरणों और जलवायु मे मिल जायेगे। बावजूद भौगोलिक असामानता के उनके विश्वासो मे समानता है। यदि असमानताएं है भी, तो वह भौगौलिक वातावरण का परिणाम न होकर सामाजिक समूहो की सास्कृतिक भिन्नता का परिणाम है। यदि हम पुराणो (Mythology) के गतिशील इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होगा कि किस प्रकार एक-से पुराण भिन्न भौगोलिक अवस्थाओं में फैल गये है। फ्रेजर और मैकंजी ने इस तथ्य को विस्तार से अपनी रचनाओं मे दर्शाया है।

उक्त विवेचना से रिज़वे जैसे लेखको का यह कथन कि 'सामाजिक संस्थाएं और धार्मिक विचार भौगोलिक वातावरण की कृति है' सर्वथा भ्रान्त ठहरता है। हम यह भी जानते हैं कि किस प्रकार एक ही स्थान के लोग थोड़े समय में ही एक धर्म को छोड़, दूसरा धर्म स्वीकार कर लेते है। भारत में विभिन्न धर्मों के उत्थान-पतन का इतिहास इसका सुन्दर उदाहरण है। इस्लाम और बौद्ध धर्म का प्रसार इस दृष्टि से देखने योग्य है। यह सब परिवर्तन बिना किसी भौगोलिक

परिवर्तन के ही सम्भव हुए हैं। अतः एवरकोम्बी का यह कहना कि एशिया और अफ्रीका में इस्लाम उन प्रदेशों में फैला जहां कि औसत वार्षिक वर्षा १० इंच से कम थी, या रेना की एकेश्वरवाद और रेगिस्तानों के बीच सह-सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा, तथ्यों की कसौटी पर सही नहीं उतरते।

१५. भौगोलिक अवस्थाएं और सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन

हम देख चुके है कि किस प्रकार लाप्ले और मौंटेस्क्यू इत्यादि अनेक लेखकों ने परिवार के विभिन्न रूपों को भौगौलिक वातावरण द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अनेक लेखक इससे भी आगे बढ़ गये है और उन्होंने समाज के विस्तार, उसके संगठन के स्वरूप, उसके शातिमय या युद्धप्रिय चरित्र, उसकी जनता के आशावादिता और निराशावादिता, प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता, स्वाधीनता-प्रियता या दासता इत्यादि अनेक गुणों को भी भौगोलिक वातावरण द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है। इनमे रिटर, रैट्जल और उनके अनुयायो मुख्य है।

भौगोलिक वातावरण और विवाह और परिवार के विभिन्न रूपों के बीच सह-सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न सफल नहीं हुए है। हम जलवायु, समुद्रतल से ऊंचाई, अक्षांश या देशान्तर, भौगोलिक वातावरण, किसी भी तत्त्व से एक विवाह, बहुपतित्व, बहुपत्नित्व, अन्तःविवाह (Endogamy) या बर्हिविवाह (Exogamy) के विभिन्न नियमों के साथ सह-सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश करें, हम देखेंगें कि यह एक असम्भव कार्य है। यह सभी प्रकार विभिन्न और विपरीत भौगोलिक अवस्थाओं में पाये जाते है। इस सम्बन्ध में परिवार के विकास पर अधिकारी फ्रेंच विद्वान् मैजरेला के शब्द स्मरणीय है—"यह विभिन्न संस्थाएं भौगोलिक वातावरण पर आश्रित नही है, क्योंकि यह भौगोलिक दृष्टि से सर्वथा भिन्न लोगों मे पाई जाती है।" यह तथ्य इस बात से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है जब कि हम देखते है कि एक समाज में स्वयं बिना किसी भौगोलिक परिवर्तन के वहां परिवार की संस्था के रूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता है। यही नहीं, एक ही भौगोलिक क्षेत्र में हमें अनेक प्रकार की पारिवारिक संस्थाएं साथ-साथ देखने को मिलती है। हम अपने ही यहां अनेक क्षेत्रों की विभिन्न जातियों और वर्गों में परिवार संस्था के विभिन्न रूप एक साथ देख सकते है।

परिवार के अतिरिक्त, विभिन्न लेखकों ने भौगोलिक वातावरण और अनेक सामाजिक घटनाओं के बीच सह-सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है।

(क) राज्य का आकार. रेट्जल, सेम्पल और जार्ज इत्यादि लेखकों के अनुसार भौगोलिक अवस्थाएं राजनैतिक, नस्ली, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक सीमाओं को निर्धारित करती हैं। पहाड़ों या समुद्रों से विभक्त क्षेत्र पृथक् राजनैतिक, नस्ली और सांस्कृतिक समूहों को जन्म देते हैं, जब कि मैदानों में बसी जनसंख्या बड़े राज्यों का

निर्माण करती है। नस्ल, भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में भी ऐसे सह-सम्बन्धों का दावा किया गया है। इनके समर्थन में चुने हुए उदाहरण पेश किये गये हैं।

कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य ही उक्त दावे को भ्रान्त सिद्ध करने के लिए काफी हैं। हम सब जानते हैं न तो यूराल, न हिमालय, न कारपेथियन और न अन्य किन्हीं पहाड़ों ने रूसी, चीनी, आस्ट्रियन या स्विस लोगों को पहाड़ों के दोनों ओर बढ़ने से रोका, न ही पहाड़ों और समुद्रों ने अमरीका और इंगलैंड के साम्राज्यों के रास्ते मे कोई अड़चन पैदा की। प्राचीन समय में रोम, मिस्र, असीरिया, चीन, तुर्की और फारस तथा अलक्जेंडर और चंगेज खां के साम्राज्य इसी तरह फैले। इसके विपरीत, ऐसे प्रदेशों में जो कि प्राकृतिक दृष्टि से बंटे हुए नहीं है और राजनैतिक एकता के लिए अनुकूल लगते हैं, हम अनेक राष्ट्रों को देख सकते है। योरोप इसका जीता-जागता उदाहरण है। हजार या सौ सालों में तो भौगोलिक परिस्थितियों मे कोई परिवर्तन नहीं आता, लेकिन राजनैतिक सीमाओं में थोड़े समय में ही अनेक बार आमूल-चूल परिवर्तन घटित हो जाते है। इससे स्पष्ट है कि भौगोलिक वातावरण और राजनैतिक सीमाओं के बीच किसी प्रकार का निश्चित सह-सम्बन्ध नहीं है। यदि है भी, तो यह स्थायी और सार्वभौम नही है।

(ख) **राजनैतिक संगठन का आकार और सामाजिक गुण.** रेट्जल ने राजनैतिक संगठन के आकार और विभिन्न छोटे या बड़े राज्यों के सामाजिक गुणों मे सह-सम्बन्ध स्थापित करने की भी कोशिश की है। उसके अनुसार उन राज्यों की जनता, जिनकी विस्तृत सीमाएं है, विस्तार, सैन्य-प्रवृत्ति, आशावाद, तरुणाई और प्रगति की भावना से पूर्ण होगी। ऐसे राज्यों में छोटी इकाइयों की तुलना में कम सामाजिक और नस्ली संघर्ष होंगे। इसके विपरीत, छोटी राजनैतिक इकाइयों की जनसंख्या अधिक निराशावादी, निष्क्रिय और निर्वीर्य होगी और शीघ्र ही राष्ट्रीय भावना को ग्रहण कर लेगी तथा वह स्थानीयता की भावना से ग्रसित होगी।

जिसे थोड़ा भी इतिहास का ज्ञान है उक्त सिद्धान्त की भूलें देख सकता है। एशिया के अधिकांश देश घनी आबादी और विस्तृत सीमाओं के देश है। क्या उनमें से किसी को स्वीडन, स्विटजरलैंड इत्यादि छोटे देशों से अधिक आशावान और उदार कहा जा सकता है? वास्तव में तथ्य रेट्जल के सिद्धान्त का कदम-कदम पर विरोध करते है।

(ग) **राजनैतिक संगठन का स्वरूप और भौगोलिक अवस्था.** अनेक लेखकों ने भौगोलिक अवस्था और राजनैतिक संगठन के स्वरूप के बीच सह-सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। इनमें मैत्यूजी मुख्य है। उसके अनुसार प्राचीन मिस्र, असीरिया, फारस, ग्रीस और रोम के राजनैतिक संगठन का

स्वरूप उन देशों की भौगोलिक अवस्था ने निर्धारित किया था। उदाहरण के लिए, मिस्र की केन्द्रीय निरंकुश शासन-व्यवस्था के लिए नील नदी का मैदान और उसका अनिश्चित बहाव और बाढ़े जिम्मेदार थीं। कमजोर प्रदेशों के अधिकारों की रक्षा तथा नील नदी के पानी के वितरण की व्यवस्था को चलाने के लिए एक केन्द्रीय सरकार की ज़रूरत थी, जो कि उस पर नियन्त्रण कर सके। नील नदी ने मिस्र के प्राकृतिक ढांचे को ही नही, बल्कि राजनैतिक ढाचे को भी निर्धारित किया। इन्हीं कारणों से मैत्यूजी ने वहा पर जाति-प्रथा के विकास का समझाया है। इसी प्रकार दजला और फरात का अनियमित बहाव और बाढ़ें असीरिया और कॅल्डिया में एक निरंकुश शासन के हाथ मे केन्द्रीय राजनैतिक सत्ता के जन्म का कारण थीं।

मैत्यूजी की विवेचना स्वयं विरोधो से पूर्ण है, उसकी तर्कप्रणाली दोषयुक्त है। विभिन्न देशों मे निरंकुश राजनैतिक शासन की व्याख्या के लिए उसने भिन्न कारणो का सहारा लिया है। मिस्र और कैल्डिया मे उनका कारण नदियो के मैदान और बाढ़ें थी। फारस में नदियां न थी, अतः वहा के निरंकुश राजतन्त्र के लिए वहा के पहाड़ों और रेगिस्तान को जिम्मेदार ठहराया गया।

इतिहास और भूगोल का एक संक्षिप्त अध्ययन हमे यह बताने के लिए काफी है कि समान प्रकार की शासन-व्यवस्थाएं – निरंकुश राजतन्त्र, प्रजातन्त्र इत्यादि विभिन्न और एक-सी भौगोलिक अवस्थाओं में पाये जा सकते है। एक ही भौगोलिक वातावरण मे समोआ और माओरी कबीलों मे कुलीन (Aristocratic) और सामन्त (Feudal) पद्धति है, जब कि पापुआ मे कोई मुखिया भी नही होता और उनमें सामुदायिक साझेदारी मौजूद है।

जब कि हम एक ही भौगोलिक क्षेत्र में राजनैतिक शासन के विकास का अध्ययन करते हैं, तब तो हमें यह सह-सम्बन्ध और भी बेहूदा और बेमानी नजर आता है। एथेन्स, रोम या किसी भी योरोपीय देश, या स्वयं भारत के इतिहास के सामान्य अध्ययन से हम यह जान सकते है कि बिना किसी प्रकार के भौगोलिक परिवर्तन के किस प्रकार वहां की राजनैतिक व्यवस्था मे परिवर्तन आते रहे हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भौगोलिक अवस्था और राजनैतिक व्यवस्था के बीच हम किसी प्रकार का महत्वपूर्ण सह-सम्बन्ध स्थापित नही कर सकते।

(घ) **भूमध्यरेखा की ओर से हटना** (Equitorial Drift) **और सभ्यता का उत्तराभिमुख रुझान** (Northward Trend.) सामाजिक और राजनैतिक संगठन पर भौगोलिक वातावरण के प्रभाव का अध्ययन करते हुए भूमध्यरेखा की ओर से हटने तथा सभ्यता के उत्तराभिमुख रुझान के दो सिद्धान्तों पर भी संक्षेप मे विचार करना अप्रासंगिक न होगा।

आधुनिक युग में भूमध्यरेखा की ओर से सभ्यता के हटने के सिद्धान्त का

प्रथम प्रमुख प्रणेता मौटेस्क्यू था। बाद में वार्ड ने इस मत का सबसे सूक्ष्म और विस्तृत प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त का सार है कि निचले गर्म मैदानों में रहने वाले लोगो को सुदूर उत्तर में अधिक ऊंचाई पर कठोर जलवायु में पली हुई जातियों ने पददलित किया है। इस मत की पुष्टि में भारत पर आर्यों की, चीन पर मंगोलों और मंचुओं की तथा ग्रीस और रोम पर जंगली बारबेरियन लोगों की विजय के प्रमाण दिये गये हैं।

उक्त सिद्धान्त के विरोध में अनेक उदाहरण दिये जा सकते है, जहां कि दक्षिण में बसे लोगों ने उत्तर के लोगों को बुरी तरह हराया है। प्राचीन मिस्र और सुमेर का राजनैतिक संगठन दक्षिण से ही शुरू हुआ। अरबों ने मक्का और मदीना से कही उत्तर में बसे लोगों को जीता। भारत में ही दक्षिण के अनेक राज्यों ने बड़ी वीरता का परिचय दिया और अपने साम्राज्यों का विस्तार किया। विजयनगर और मराठों का उदय इसके अच्छे उदाहरण थे। विभिन्न देशों के इतिहास से ऐसे असंख्य उदाहरण दिये जा सकते है। इससे स्पष्ट है कि शक्ति और विजय सदा ही उत्तरवासियों के हाथ में नहीं रही है।

उष्ण (Tropical) और समशीतोष्ण जलवायु (Sub-tropical Climate) का प्रभाव. भूमध्यरेखा से सभ्यता के हटने के सिद्धान्त का ही एक अंश यह बहुस्वीकृत और बहुप्रचलित सिद्धान्त है कि उष्ण और समशीतोष्ण जलवायु नपुंसक निकम्मे और निर्वीर्य लोगों को जन्म देती है, जिसके परिणामस्वरूप वह लोग उत्तरवासियों द्वारा शासित होते है।

उष्ण और समशीतोष्ण जलवायु के प्रदेश ४०° से ४५° उत्तरी और दक्षिणी अक्षांश रेखाओ (Latitudes) के बीच अवस्थित है। यही वह प्रदेश है जिन्होंने प्राचीन काल में सर्वश्रेष्ठ और उन्नत सभ्यताओं को जन्म दिया है। यह ठीक है कि वर्तमान युग मे इस प्रदेश के रहने वाले सभ्यता की दौड़ मे पीछे रहे है। लेकिन एशिया, भारत, चीन और अफ्रीका के देश पुनः नई करवट ले रहे है। इस पुनर्जागरण का जलवायु से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः हम निश्चयपूर्वक कह सकते है कि उष्ण और समशीतोष्ण जलवायु की हीनता का सिद्धान्त भ्रामक है।

सभ्यता का उत्तराभिमुख अभियान (Northward Course). १८८३ मे फ्रेंच लेखक मौज्यूल और १९२० में अमरीकन लेखक गिलफिलिन ने कुछ भिन्न रूप मे सभ्यता के उत्तराभिमुख अभियान के सिद्धान्त को इन शब्दों में व्यक्त किया है "विश्व सभ्यता का नेतृत्व अभिन्न रूप से जलवायु के साथ जुड़ा हुआ है और सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ यह ठंडे देशों के हाथ में आता गया है, और जब विद्यमान सभ्यता का पतन हुआ है, नेतृत्व दक्षिण की ओर चला गया है।" इस सिद्धान्त की पुष्टि में कहा जाता है कि सभ्यता मिश्र और सुमेर जैसे गर्म देशों में

शुरू हुई, पर उसके बाद उसका नेतृत्व बैबीलोन, क्रीट, फिनिसिया और असीरिया के हाथ में आगया । इस प्रकार वह उत्तर की ओर बढ़ता गया। इनमें चार बार दक्षिण के लोगों के हाथ मे नेतृत्व आया, लेकिन यह चारों ही काल उन सभ्यताओं के पतन के काल थे। प्राचीन इतिहास से इसी प्रकार के कई उदाहरण इसके पक्ष में दिये गये है ।

उक्त सिद्धान्त की समालोचना करते हुए सोरोकिन ने ठीक ही लिखा है : इस बात में सन्देह है कि ऐसा समय आने वाला है जब कि लाप और ऐस्किमो दुनिया का नेतृत्व करेगे । वास्तव मे यह सिद्धान्त केवल कल्पना पर आधारित है और इसे एकतरफा चुने हुए ऐतिहासिक तथ्यों से पुष्ट किया गया है। जहां हम इतिहास मे से ऐसी घटनाए निकाल रखते है, जिनसे इसे पुष्ट किया जा सकता है, वहां ऐसी घटनाओं की कमी नही जो कि उसे काटती है । यदि हम केवल भौतिक विज्ञान की उन्नति की दृष्टि से देखे तो अवश्य कह सकते है कि पिछली दो सदियो मे नेतृत्व केन्द्रीय या उत्तरी योरोप के लोगों के हाथ मे रहा है, लेकिन इससे पहले यह अरब, एशिया, अफ्रीका और शायद अमरीका के हाथ में था। धर्म के क्षेत्र में तो योरोप कभी भी नेता नहीं रहा । ईसाई, इस्लाम, बौद्ध, हिन्दू, कन्फूशियस, सभी प्रधान धर्म योरोप के बाहर पैदा हुए । दर्शन और आचारशास्त्र के क्षेत्र मे योरोप कभी भी मिस्र और एशिया का मुकाबिला नही कर सकता ।

भौगोलिक अवस्था और प्रधान राजनैतिक और सामाजिक संगठनों के सह-सम्बन्धों की इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि इनके बीच कोई सह-सम्बन्ध हो सकता है, किन्तु यह सम्बन्ध इतना अनिश्चित है कि इसकी उपस्थिति पर सन्देह होता है और हम उसे कभी भी वैज्ञानिक रूप से सिद्ध नही कर सकते ।

१६. जलवायु और प्रतिभा (Genius) और सभ्यता का विकास

अनेक लेखकों ने जलवायु और प्रतिभाशाली व्यक्ति और सभ्यता के विकास के बीच सह-सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न किये है । इनमे हंटिंगटन की विवेचना सबसे महत्वपूर्ण है । यह विवेचना मूलतः उसकी तीन उप-कल्पनाओं का सम्मिलित परिणाम है । यह उप-कल्पनाएं है : जलवायु स्वास्थ्य को निर्धारित करती है, यह मानसिक और शारीरिक कार्य-क्षमता को निर्धारित करती है, और जलवायु मे समय के साथ निरन्तर परिवर्तन आता रहता है ।

हंटिंगटन की पहली दो उप-कल्पनाओं की समालोचना हम पीछे कर चुके हैं । अपनी 'सभ्यता और जलवायु' पुस्तक में हंटिंगटन ने ऐतिहासिक काल मे होने वाले जलवायु के उतार-चढ़ाव (Climatic Pulsations) को अपने सिद्धान्त का बुनियादी आधार बनाया है । ऋतु सम्बन्धी लेखों (Metrological Records) के अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ है कि ऐतिहासिक काल में जलवायु में कोई

महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है। जलवायु के अधिकारी विशेषज्ञों की राय में हंटिंगटन का जलवायु के जांचने का तरीका बिल्कुल अविश्वसनीय है। वास्तव में हंटिंगटन ने विभिन्न सभ्यताओं के उत्थान और पतन को समझाने के लिए अपनी सुविधा के अनुसार जलवायु के परिवर्तन पैदा करा दिये है। उनका कोई प्रामाणिक और वैज्ञानिक आधार जुटाने मे वह असफल रहा है।

इसी प्रकार उसने किसी भौगोलिक क्षेत्र के प्रतिभाशाली व्यक्तियों की संख्या को जबर्दस्ती वहा की जलवायु के साथ बाध दिया है। अपने कथन को पुष्ट करने के लिए उसने विभिन्न क्षेत्रों में १६०० ई० के बाद के प्रतिभाशाली व्यक्तियों की संख्या के आंकड़े पेश किये है। यह तरीका सर्वथा मनमाना और अपनी पूर्व धारणा को सिद्ध करने की सहूलियत को ध्यान मे रख कर अपनाया गया है। क्योंकि अगर कहीं १६०० ई० के बजाय उसने १०० या २०० ई० पू० का समय लिया होता, तो उस समय प्रतिभाशाली लोगों की बहुसंख्या एशिया और भूमध्यसागर के आस-पास के प्रदेशों में मिलती, और इंग्लैड, बाल्टिक सागर के निकट तथा उत्तरी योरोप के देश, जहां कि आजकल प्रतिभाशाली व्यक्तियों की सबसे अधिक संख्या है, उस समय सबसे नीचे ठ रते। उस समय केन्द्रीय और उत्तरी योरोप की जनसंख्या जंगली अवस्था मे थी, जब कि रोम, यूनान, अफरीका, भारत और चीन मे शानदार सभ्यताएं मौजूद थीं। यही नही, यदि हंटिंगटन १८४० ई० के आधार पर अपना मानचित्र बनाता, तो जापान जैसे देशों को उसमें काफी ऊंचा स्थान मिलता। हंटिगटन यह बताने मे असमर्थ है कि क्यों और कैसे एक प्रदेश के लोग अपने से कभी श्रेष्ठ लोगों को सभ्यता की दौड़ मे पीछे छोड़ जाते है और फिर स्वयं पिछड़ जाते है।

हम यह भी जानते है कि एक ही भौगोलिक वातावरण में रहने वाले लोगों के विभिन्न सामाजिक वर्ग (Classes) भिन्न अनुपात मे प्रतिभाशाली व्यक्ति पैदा करते है। इससे स्पष्ट है कि उनकी संख्या और अनुपात को हम भौगोलिक कारणों में नहीं खोज सकते।

उपसंहार. विभिन्न सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं पर भौगोलिक वातावरण के निर्णायक प्रभाव की वकालत करने वाले अनेक लेखकों के सिद्धान्तों की समालोचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि इन्होंने अनेक मनोरंजक और उत्तेजक सिद्धान्त प्रस्तुत किये है तथा अनेक आंशिक रूप से सत्य सह-सम्बन्धों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। सामाजिक तथ्यो और घटनाओं के विश्लेषण मे उनकी विवेचना आवश्यक है। कोई भी ऐसी विवेचना बिना उनकी समालोचना के अपूर्ण है।

प्रादेशिक प्रभाव (Regional Influences)

एक स्थान का जलवायु, उसके उद्योग-धंधे, उसके प्रादेशिक स्थान, सभी

उसके सामाजिक जीवन को प्रभावित करते है। नगर और ग्राम अपने उद्योग-धंधे बहुत कुछ इस आधार पर भी बनाते है कि उनके चारों ओर किस प्रकार का उत्पादन होता है। इन उद्योग-धंधों का प्रभाव सामाजिक सम्बन्धों पर होना अनिवार्य है। इसी प्रकार कोई स्थान दूसरे नगरो से कितनी दूर और किन साधनों से सम्बन्धित है, यह तथ्य भी अपना प्रभाव डालते है।

मान लीजिए कि एक स्थान अधिकतर ग्रामो और छोटे कस्बों से घिरा हुआ है। वह स्थान अपनी महत्त्वाकांक्षा, सामाजिक संस्थाओं के विस्तार, सामाजिक अन्तःक्रियाओं के वेग की दृष्टि से उस स्थान की अपेक्षा हीन रहेगा, जो एक बड़े नगर के समीप है, या दो तीन बड़े नगरों के बीच में है, और उनसे प्रभावित होता है। वह स्थान जहां यातायात के साधनों की सुगमता के कारण अधिक लोग आते-जाते रहते है, सांस्कृतिक और सामाजिक प्रक्रियाओं में अधिक प्रगतिशील होगा।

ऐसे नगर जो औद्योगिक और व्यापारिक दृष्टि से हीन अवस्था मे होने पर भी नदियों के किनारे होने से, या प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण, या तीर्थ-स्थान होने के कारण महत्त्वपूर्ण हो जाते है, एक नई प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को रच लेते है। नगर का केन्द्रीय व्यापार क्या है, वह तीर्थ है या धर्मस्थान, व्यापार का केन्द्र है या उद्योग का केन्द्र, जहाजों या रेलों का विश्राम-स्थल है या सेना की छावनी, ाय इस प्रकार के नगरों में से किसी के पास है, यह तथ्य नगर के सामाजिक जीवन और उसकी जनसंख्या, जनता के जीवन-यापन के भिन्न-भिन्न रूपो को निर्धारित कर देते है।

एक नगर या ग्राम के भीतर के अलग-अलग अंगो और भागों का विभाजन किस तरह पर है, नगर का केन्द्रीय स्थल क्या है, वह व्यापार का केन्द्र है या सामाजिक जीवन का केन्द्र भी है, गरीब मुहल्ले केन्द्र से कितनी दूर है, यह अन्य तथ्य है जो अलग-अलग भागों मे रहने वालो के जीवन पर अपना प्रभाव डालते है।

हम देखते है कि निम्नलिखित तथ्य अलग-अलग रूप में प्रभावकारी होते हैं।

१. प्रदेश में नगर या ग्राम का स्थान, तुलनात्मक भौगोलिक अवस्था।

२. ग्राम या नगर और समीप के प्रदेशों के यात्रा-सम्बन्ध।

३. ग्राम या नगर के जीवन की केन्द्रीय क्रिया।

४. अलग-अलग भागों का अन्तःसम्बन्ध।

५. जनसंख्या के स्वरूप पर पड़ौस और पेशे का प्रभाव

पहले यह चर्चा की जा चुकी है कि किसी स्थान का प्रादेशिक महत्व कितना प्रभावशाली है। आसनसोल का नगर इसीलिए इतना बढ़ सका है क्योंकि वह खानों से भरपूर क्षेत्र के केन्द्र मे है और रेलों का केन्द्र स्थान है; हरिद्वार इसलिए कि वह तीर्थ-स्थान है और कालका इसलिए क्योंकि वह शिमला जाने का एक ही मार्ग है।

आसनसोल में बड़े व्यापारी, एजेण्ट, दलाल, रेल कर्मचारियों आदि का ही प्रभुत्व है। लखनऊ शिक्षा और शासन का केन्द्र है, इसलिए वहां औद्योगिक नगरों के से चाल और गन्दी बस्तियां नहीं हैं। हरिद्वार में तीर्थ-स्थान होने के कारण पुजारियों, पण्डों और भिखारियों का निवास है। एक केन्द्रीय नगर कहां और किस पड़ोस में बसा है, इससे उसके पेशे इत्यादि पर और इसी कारण उसकी जनसंख्या के प्रकार पर प्रभाव पड़ता है।

हम पहले यह चर्चा कर आए हैं कि भौगोलिक अवस्था प्राकृतिक पदार्थों का सामीप्य और उपलब्धि, और पड़ोस से सम्बन्ध केन्द्रीय क्रिया व्यापार इत्यादि को कितने प्रबल रूप में निर्धारित करते हैं। यह केन्द्रीय क्रिया कितने ही प्रकार की हो सकती है। जैसे, १. बड़े उद्योग, २. बड़ा व्यापार या मंडी, ३. छोटे उद्योग-धंधे, ४. केवल पड़ौस के गांवों पर आधारित मंडी, ५. केवल शासन-प्रबन्ध का केन्द्र या पुलिस सेना इत्यादि का स्थान, ६. कृषि पर आधारित गांव, ७. पशुपालन करनेवाले गांव। उदाहरण के लिए विभिन्न प्रकार के नगरों में वहां की परिस्थिति का स्थानीय संबंधों पर प्रायः निम्नलिखित प्रभाव और रूप होगा।

बड़े औद्योगिक नगर. इनमें बहुत अधिक सम्पन्न परिवार अधिकतर नगर के बाहर अलग मुहल्लों मे ऊंचे प्रासादों में रहेंगे, और श्रमिक वर्ग के लोग किराये पर शहर के कोने के मुहल्लों, चालों, गन्दी बस्तियों की कोठरियों में, ऐसे घरों में जो मरम्मत की कमी, गदगी और स्थान की कमी से पहचाने जा सकते हैं, रहेंगे। नगर के बीच में प्रायः उच्च व मध्य वर्ग के नौकरी-पेशा लोग रहेगे। बड़ा नगर सम्पन्नता का केन्द्र होने के कारण वहां जन-सेवा के साधन, अच्छे स्कूल, कालेज, चिकित्सालय, पार्क, पुस्तकालय होंगे, पर साथ ही सिनेमा, वेश्यागृह और शराब की दूकाने बहुतायत से होंगी। दिन भर के श्रम से थके हुए गरीब और असंतुष्ट लोग अपनी वासना को तृप्त व गम गलत करने के लिए इन साधनों का उपयोग करेंगे।

बड़ी व्यापारी मंडी. इनमें साधारणतः गरीबों की यह दयनीय अवस्था और इतनी बड़ी संख्या नहीं होगी, और नगर दूर तक फैलने के बजाय व्यापार-केन्द्र को केन्द्र मानकर तंग बसा होगा। मध्यम वर्ग के लोगों की अधिकता के कारण वातावरण कुछ अधिक गम्भीर होगा। परन्तु हम अनेक बड़े नगरों में व्यापार और उद्योग-धंधे इकट्ठे पाते हैं। वहां अधिकतर औद्योगिक नगर की ही विशेषताएं उपलब्ध होंगी। छोट उद्योग-धंधे वाले नगर में समीप के ग्रामों के श्रमिक होंगे परन्तु उनके बड़े मुहल्ले न होकर वह अधिकतर पास के गांवों में ही रात को आकर विश्राम किया करेंगे। न ही वहां गगनचुम्बी प्रासाद होंगे, न ही अधिक सिनेमाघर, या वेश्याघर होंगे। बहुत छोटे धंधे करने वाले कारीगर पूरे परिवारों में रहेंगे और एक-एक परिवार एक-एक आर्थिक इकाई के रूप में रहेगा। ऐसे नगर में न तो प्रायः सामाजिक

सम्बन्धों की अतृप्ति, परिवार की छिन्नता और नैतिक आधारों की कमी होगी, न ही इनसे सम्बन्धित समस्याएं जन्म लेंगी।

छोटे व्यापार केन्द्र. इनमें निम्न मध्यम वर्ग, बड़े व्यापारी और काश्तकार के बीच का दुकानदार, बड़े कारखानेदार और खुदरा ग्राहक के बीच का दुकानदार वर्ग रहेगा। यह वर्ग न केवल कम प्रगतिशील होगा, अपितु अपने विचार और दृष्टिकोण में नगर की अपेक्षा ग्राम की ओर अधिक झुकाव रखेगा। यह अपने व्यापार के कारण ग्रामवासियों के सीधे सम्पर्क में रहेगा। यह छोटे व्यापारिक केन्द्र औद्योगिक नगरो से नैतिक स्तर मे अधिक उन्नत होंगे। इनमे सामाजिक नियन्त्रण की अधिक दृढ़ता होगी, सामाजिक एकता की ओर झुकाव होगा और सिनेमा, शराब और वेश्याओं की कमी होगी।

सरकारी नगर. जिन नगरों में सरकारी कार्यालय होंगे, या सेना का निवास-स्थान होगा, उनका सारा जीवन इन्हीं के चारों ओर केन्द्रित होगा। सरकारी कर्मचारियों को छोड़कर छोटे-बड़े दुकानदार या ठेकेदार ही अधिक रहेगे। बड़े कर्मचारियो के क्लब, छोटे कर्मचारियों व क्लर्कों के लिए शायद सस्ते होटल, स्कूल इत्यादि का प्रबन्ध रहेगा।

तात्पर्य यह है कि किसी नगर का सारा जीवन एक केन्द्रीय व्यवसाय द्वारा भावित होगा। उसी व्यवसाय में लगे हुए या उसी के सहकारी और सहयोगी काम-धंधों के लोगों की अधिकता, उसी से प्रभावित जीवन परिपाटी, नैतिक आधार, सामाजिक संस्थाएं, महत्वपूर्ण सामाजिक सेवाएं, उस स्थान की विशेषताएं होंगी।

बड़े औद्योगिक नगर मे नैतिक स्वतन्त्रता, पतन, अपराधवृत्ति; बड़े व्यापारिक नगर मे अधिक सांस्कृतिक सामाजिक आधार, मूल्य, मान्यताएं; छोटे औद्योगिक नगर में अल्प रूप मे नागरिक अवस्था (यदि वह बड़े नगर का ही छोटा रूप है) या ग्राम के साथ की अवस्था (यदि वहां हाथ से या बहुत छोटी मशीनों से काम होता है) होगी। छोटे व्यापारिक नगर मे सुगठित सामाजिक नियंत्रण व पारिवारिक नियंत्रण होंगे। छोटे नगरो में बच्चों की अपराध की ओर वह प्रवृत्ति जो औद्योगिक नगर में होती है, न होगी, न ही अवरुद्ध, असन्तुष्ट भावों के सामूहिक विस्फोट और सहज अभिव्यक्ति के कारण झगड़े और प्रदर्शन होंगे, न ही वेश्यागृह, शराबखाने और सिनेमाओं की बहुतायत होगी; न ही भीड़-भाड़ के कारण जीवन में अशान्ति, और न ही सामाजिक सम्बन्धों की तृप्ति के लिए राजनैतिक और सांस्कृतिक कार्यक्रमों की भरमार होगी जो कि किसी केन्द्रीय व्यापार पर निर्भर एक बड़े औद्योगिक और व्यापारिक नगर के लक्षण हैं।

नगर का परिस्थितिशास्त्र (Ecology)

किसी नगर का नमूना उसके उद्योगों, संस्थाओं और सामाजिक श्रेणियों

में श्रेष्ठ स्थिति की प्राप्ति के लिए ई प्रतियोगिता का परिणाम होता है। विभिन्न प्रकार के व्यवसाय उत्तम स्थानों के लिए आपस में प्रतियोगिता करते हैं। किसी व्यवसाय की स्थिति इस बात से निर्धारित होती है कि वह कितना किराया दे सकता है। जमीन की कीमतें किसी नगर के परिस्थितिशास्त्र की कुंजी है। किसा भी बृहत् नगर मे जमीन की अधिकतम कीमत के दो क्षेत्र होते है। केन्द्रीय व्यापार क्षेत्र और केन्द्रीय बैंकिंग क्षेत्र। इन क्षेत्रों को प्रभुत्व के केन्द्र कहा जाता है, क्योंकि यह अन्य क्षेत्रों की स्थिति को प्रभावित करते है। नगर के केन्द्रीय व्यापार मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन उसके इर्द-गिर्द के क्षेत्र में हेर-फेर उत्पन्न करता है। नागरीय परिस्थितिशास्त्र को हम भारतवर्ष के एक मुख्य शहर का उदाहरण देकर समझा सकते हैं।

कलकत्ते का परिस्थितिशास्त्र. हम सुविधा के लिए कलकत्ते के परिस्थतिशास्त्र को चार समकेन्द्रक वृत्तों (Concentric Circles) द्वारा जो कि किसी पेड़ के वृत्तो से मिलते-जुलते हैं, दर्शा सकते है।

(१) नगर के मध्य मे व्यापार का केन्द्र है जो कि सबसे पहले छोटे वृत्त से दर्शाया जा सकता है। इस क्षेत्र मे बड़े-बड़े व्यापारिक-प्रतिष्ठान हैं, जो बहुत ऊंचे किराये दे सकते है। इसी क्षेत्र में बड़े-बड़े बैंक और राज्य सरकार के केन्द्रीय दफ्तर है। केन्द्रीय क्षेत्र के निकट अथवा उसके अन्दर ही विभिन्न प्रकार के छोटे उद्योग, उदाहरण के लिए, चीनियों का जूता और खिलौना उद्योग, इसी क्षेत्र में अवस्थित है। इसी क्षेत्र में और इसके आस-पास छोटे-बड़े होटल और भोजनालय है। यही थोक व्यापार का केन्द्र है। किराये अधिक होने के कारण कारखाने वाले इस क्षेत्र में नही आते। अखबारों के दफ्तर और मनोरंजन के स्थान इस क्षेत्र में अथवा इस क्षेत्र से लगे हुए है। इस क्षेत्र में ऐसे निवासों का भी समावेश है जिनमें धनी लोग रहते है, क्योकि वह कई पुश्तों से यहीं पर रहते चले आ रहे हैं, पर जैसे-जैसे नगर का व्यापारिक भाग बढ़ता है, इन घरों पर बड़ा दबाव पड़ रहा है और वह आहिस्ता-आहिस्ता इन्हें दूसरों को किराये पर चढ़ाकर बाहरी कोठी-बंगलों मे चले जाते है।

(२) मध्य वृत्त के बाहर का दूसरा वृत्त मारवाड़ी, बंगाली, चीनी, ऐंग्लो इंडियन, इत्यादि विभिन्न समुदायों की घनी बस्तियों और खुदरा बाजारों से घिरा हुआ है जो कि बड़ी गन्दी और खराब अवस्था में हैं। एक समय यह क्षेत्र मुख्यतः रिहाइश के ही काम मे आता था, पर अब यहां अनेक छोटे-छोटे वर्कशाप और उद्योग-धंधे स्थापित हो गये हैं। और ऐसी प्रवृत्ति है कि यह क्षेत्र एक समय बढ़ते व्यापारिक वृत्त द्वारा ग्रस लिया जायेगा। यह अब न तो पूर्णतः निवास-क्षेत्र ही है और न पूर्णतः व्यापार-क्षेत्र ही रहा है। अतः इसे मध्य सीमा-क्षेत्र कह सकते हैं।

आने वाले परिवर्तनों की प्रतीक्षा में इमारतें बहुत कुछ उपेक्षित अवस्था में पड़ी हुई हैं। यहीं पर गन्दी बस्तियां या चाल भी हैं जो कि निर्धनता, अपराध, व्यभिचार और रोगों की पोषण-भूमि हैं। इन गन्दी बस्तियों में ही या उनको ढकते हुए विभिन्न साम्प्रदायिक या सांस्कृतिक समूहों की पृथक्-पृथक् बस्तियां हैं। इसी क्षेत्र में अधिकतर बाहरी विद्यार्थियों और अविवाहित कर्मचारियों के, जो कि प्रायः अपने मित्रों और सम्बन्धियों से दूर रहते हैं, बोर्डिंग हाउस है। दूसरे वृत्त का पश्चिमी-दक्षिणी भाग विशिष्ट सरकारी नीति के कारण बड़े मैदान के रूप में गैर आबाद और खाली रह गया है, वरना यदि ऐसी रोक न होती, तो यह भी उसी तरह भर गया होता जैसे कि वृत्त की और सारी दिशायें भर गई हैं।

(३) इस संक्रमण क्षेत्र के बाहर तीसरे वृत्त का क्षेत्र ऐसा क्षेत्र है जो छोटे पैमाने पर केन्द्रीय क्षेत्र और उसके अंगों की भांति लगता है। इसमें एक ओर कुशल श्रमिकों की बस्तियां है और उनकी आवश्यकतायें पूरी करने के लिए छोटे स्थानीय बाजार है और यहीं पर अधिकांश मध्य-वित्त लोग भी बसे हुए हैं।

(४) इसके बाद चौथा वृत्त, जहां पर अन्तःक्षेत्र बाहरी गांवों से मिलता है, वहां इसका रूप बहुत विचित्र है। यह स्थान अंशतः खेती व उद्यानों के लिये और अंशतः खुले विकास के लिए होता है। एक बड़े भाग में अधिक धनी लोग अपनी कोठियां और बंगले बनाकर रहते है। इनमें से बहुत-से लोग ऐसे है जो कि पहले नगर केन्द्र में रहते थे, पर अब यहां आ बसे हैं। इनमें से अधिकांश निवासियों के पास अपनी कारें हैं। इस बाहरी निवास-क्षेत्र मे एक-परिवारीय छोटे निवास भी हैं। यहां यातायात के साधनों की सुविधाएं पहुंच गई है। विस्तृत खुला क्षेत्र होने के कारण बगीचों, हवाई अड्डों और श्मशानों के लिए भी यह प्रदेश उपयुक्त है।

यह बाहरी वृत्त कम किराया होने के कारण बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना के अनुकूल है। इन्हीं कारखानों के पास मजदूरों की गदी बस्तियां खड़ी हो गई है। मजदूरों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए खुदरा बाजार, मनोरंजन के स्थान और खाने-पीने की दुकानें भी यहां पर खुल गई हैं।

ग्राम का परिस्थितिशास्त्र

गांवों में पारिस्थितिक, अर्थात् स्थान की दूरी से उत्पन्न सम्बन्धों (Spatil Relationships) का रूप शहरों से काफी भिन्न है। पर स्वयं हर एक गांव के पारिस्थितिक या स्थानिक सम्बन्धों का रूप एक-सा नहीं है। बहुत-से प्रभाव और कारण हैं जो कि किसी ग्राम विशेष के परिस्थितिशास्त्र को प्रभावित करते हैं। गांवों की जनसंख्या, उस जनसंख्या के तत्व, उनके आपसी अन्तःसम्बन्ध, उसकी आय के मुख्य साधन, नगरों से उसकी दूरी और उनका प्रभाव, सामाजिक जीवन का संगठन, नेतृत्व, दूसरे स्थानों से सम्बन्ध, अनेक कारण उसे प्रभावित करते है। भारत

में जाति प्रथा, जातियों का पेशे से सम्बन्ध, जाति-संगठन, एक किसान परिवार का अनेक विभिन्न जातियों के विभिन्न काम करने वाले परिवारों से एक प्रकार का निश्चित और वंशानुगत सम्बन्ध, गांवों के परिस्थितिशास्त्र, वहां के स्थानिक सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव डालते हैं। पर जहां विभिन्न प्रकार के गांवों की परिस्थिति में कुछ मे असमानताएं हैं, वहां उनमें एक प्रकार की मौलिक एकता भी विद्यमान है।

सामान्यत: गांवों की आबादी थोड़ी होने के कारण, वहां पर समुदाय के सदस्य एक दूसरे से अच्छी तरह परिचित होते हैं। समुदाय के छोटा होने के कारण यहां पर उस समुदाय के प्रति एक निष्ठा की भावना जोर पकड़ती है, जो विस्तृत शहरों में सम्भव नहीं है। सामान्यत: गांव या गांवों के प्रमुख वर्ग कुछ खानदानों से मिलकर बने होते हैं। इस प्रकार गांवों के सामुदायिक जीवन में रिश्तेदारी के सम्बन्धों की प्रधानता रहती है। इसके विपरीत, शहरों में विभिन्न जातियों के लोग एक ही काम करते पाये जाते है। और फिर उनके काम करने का रूप ऐसा होता है जहां पर बड़ी संख्या में यह लोग मिलते हैं। इस प्रकार वहां एक दूसरे से असम्बन्धित, एक दूसरे से कहीं दूर बस्तियों या मोहल्लों में बसे हुए लोगों में एक आर्थिक और पेशेगत एकता या निष्ठा पैदा होती है। नगरों में जमीन की अत्यधिक कीमतें होने के कारण, उसका प्रभाव वहां की बस्तियों पर पड़ता है। एक स्थान-विशेष में विशेष वर्ग के लोग रहते या व्यापार करते है। गांवों की गृह-व्यवस्था पर ऐसा कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके अलावा, वहां गांवों के विभिन्न भागों या पट्टियों म विभिन्न खानदानों या जातियों के लोग रहते हैं। इस प्रकार गांव के पड़ौसी सम्बन्धों में खानदान या जाति की प्रधानता रहती है।

यही नहीं, बहिर्विवाह (Exogamy) के नियम भी गांवों के पारिस्थितिक सम्बन्धों को प्रभावित करते है। जिन गांवों में, एक ही जाति में, पर अपने गांव से बाहर विवाह की प्रथा है, उन गांवों का एक साथ अनेक गांवों से निकट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस प्रकार उसके पारिस्थितिक सम्बन्धों का क्षैतिज विकास होता है। पर जिन प्रदेशों में एक ही गांव में विवाह का नियम है, वहां यह सम्बन्ध बहुत सीमित रहते हैं। इसके विपरीत, गांवों में जजमानी और लागदार प्रथा, जिसके अनुसार एक विशेष जाति के परिवार अनेक जातियों के परिवार विशेष से आर्थिक-दृष्टि से संयुक्त होते है, गांव के जीवन में एक ऊर्ध्वाधर (Vertical) एकता का सूत्रपात कर वहां के पारिस्थितिक सम्बन्धों को एक नया रूप देते हैं जो कि शहरों से पर्याप्त भिन्न होता है।

इसके अलावा गांवों में शहरों की तुलना में आर्थिक असमानता बहुत कम होती है। इसलिए गांव वालों के पारिस्थितिक सम्बन्धों में आर्थिक तत्व का पर्याप्त अभाव पाया जाता है। इसके विपरीत, गांव का परिस्थितिशास्त्र सामुदायिक,

जातिगत और खानदानी भावना के विकास के लिए बहुत अनुकूल है। गांवों और शहरों की बनावट वहां के निवासियों के स्थानिक सम्बंधों पर सीधा प्रभाव डालती है।

जनसंख्या का प्रभाव

जनसंख्या के अधिक होने का एक बड़ा प्रभाव सामाजिक सम्बन्धों की असाधारण वृद्धि, प्रगति की चाल का तेज हो जाना, अधिक सुचारु श्रम-विभाजन, अधिक सुविधाएं, सेवाओं का समुचित प्रबंध, नियंत्रण और आधिक्य होता है। यह सब परिवर्तन मानव-समाज के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक जीवन की घनिष्टता, बहुलता, बहुमुखता न केवल मनुष्य की बुद्धि को प्रखर और ज्ञान को समृद्ध करती है, बल्कि एक सुविकसित परम्परा का विकास करती है। यह सर्वविदित है कि नगर ने सांस्कृतिक प्रगति की गति को तीव्र कर दिया है।

मानव-समाज के कौन-से अंग अधिक प्रगतिशील, विकसित और सम्पन्न होंगे, इसे समझने के लिए हमे यह भी जानना होगा कि मानव-समाज के किन भागों में जनसंख्या अधिक है और उसका कारण क्या है। ऐसे कितने ही क्षेत्र और देश है जहां जनसंख्या बहुत कम है। ऐसे भी कितने ही प्रदेश हैं जहां यह बहुत अधिक है। दक्षिणी और पूर्वी एशिया, पश्चिमी, मध्य और दक्षिणी योरोप मुख्यतया बहुजनसंख्यक प्रदेश हैं। संसार की आधी से भी अधिक आबादी भारत, चीन, जापान, हिन्देशिया, हिन्दचीन, पाकिस्तान और बर्मा मे बसी हुई है।

जनसंख्या. किसी देश की जनसंख्या का उसके समाज की अवस्था और सामाजिक सम्बन्धों पर अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। समाज शास्त्रियों और विशेषकर अर्थशास्त्रियों में इस बात को लेकर बहुत समय से बहस चल रही है, किसी समाज के लिए कितनी जनसंख्या का होना उपयुक्त है। जनसंख्या की समस्या पर सर्वप्रथम वैज्ञानिक रूप से विचार करने वाले अंग्रेज पादरी माल्थस ने १७९८ में इस विषय पर एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उसने यह बताया कि जब कि खाद्य-पूर्ति क्रमशः १, २, ३, के गणितिक क्रम (Arithmatic Progression) में बढ़ती है, जनसंख्या २, ४, ८, के ज्यामितिक (Geometric) क्रम से बढ़ती है। इस जनसंख्या की वृद्धि रोकने के दो ही उपाय हैं—प्राकृतिक या निरोधक। कृत्रिम निरोध के अभाव में महामारियां ही ऐसा प्राकृतिक साधन है जो कि खाद्य-पूर्ति और जनसंख्या के बीच एक संतुलन स्थापित करती है। इस प्रकार माल्थस ने जनसंख्या की वृद्धि का एक भयानक चित्र उपस्थित किया। वास्तव में जनसंख्या वृद्धि का यह ज्यामितिक सिद्धान्त भ्रान्त है। पिछले डेढ़ सौ सालों ने माल्थस की भयंकर भविष्यवाणियों को बहुत अंशों में मिथ्या सिद्ध किया है। नये अन्वेषणों ने यह भी सिद्ध किया है कि जनसंख्या की वृद्धि सदा ही विपदा, कष्ट, निर्धनता और

महामारी का सूचक नहीं होती । अनेक अवस्थाओं में उसकी वृद्धि हितकर भी सिद्ध होती है । अतः केवल जनसंख्या की वृद्धि या ह्रास से हम किसी समाज की समृद्धि या निर्धनता का अंदाज नही लगा सकते ।

एक अन्य अंग्रेज अर्थशास्त्री कैनन ने जनसंख्या के एक अधिक वैज्ञानिक और उपयुक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । इसे सर्वोत्तम जनसंख्या का सिद्धान्त (Theory of Optimum Population) कहते हैं । इसके अनुसार किसी समाज के लिए वही जनसंख्या सर्वोपयुक्त है जिस पर कि उसकी प्रति व्यक्ति औसत आय अधिकतम होती है । यह सर्वोपयुक्त सीमा कोई स्थिर चीज नहीं है । यन्त्रों और कार्य-क्षमता की वृद्धि से इसमे अंतर आते रहते हैं । फिर भी हम इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि एक निश्चित आर्थिक साधनों और उनके उपभोग की एक निश्चित क्षमता की अवस्था मे कौन-सी जनसंख्या अधिक उपयुक्त है ।

वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रभाव

यह तो स्पष्ट ही है कि लोग वही बस जाते है, जहा जलवायु अच्छा हो, भूमि उपजाऊ हो व जीवनोपयोगी दूसरे साधन सुलभ व समीप हो, पानी पृथ्वी के समीप मिल सके, और दूसरे समुदायों से मिल सकने के साधन पर्याप्त हो । आधुनिक समाज मे बिजली, उद्योग और सभ्यता के दूसरे उपकरणो का विचार भी अधिक होता है, क्योंकि इन्ही को लेकर मनुष्य प्रकृति को अपनी प्रगति में सहयोगिनी बना सकता है । पाल लेंडिस का कहना है कि दक्षिणी डाकोटा समुदायों मे व्यापार केन्द्रों का विकास अधिक वर्षा, रेल मार्गों के विस्तार और आर्थिक सम्पन्नता के समय मे हुआ । जब अवनति आई तो उसके कारण भूमि के मूल्य का गिरना आरम्भ हुआ । अनावृष्टि के कारण अकाल पड़ने की सम्भावना हो गई और मोटर गाडी के प्रचलन के कारण बहुत छोटे व्यापार केन्द्र नष्ट हो गए ।

नए आविष्कारो की प्रगति ने अमेरिका के नगरों की जनसंख्या बढा दी है, और हमारे देश में चूंकि वह प्रगति मन्द है, इसलिए यहां नगरो की जनसंख्या-वृद्धि की प्रगति भी पर्याप्त मन्द हैं । फिर भी भारत में नागरिक जनसंख्या का अनुपात बराबर बढ़ता जा रहा है ।

नगरों की सामाजिक और आर्थिक सुविधाओं, औद्योगिक विकास और ग्राम-उद्योगों के विनाश, जमीन पर जनसंख्या के दबाव, गांवों में रोजगार की कमी ने कृषको को बड़ी संख्या में नगरों में ला फेंका है । १९४१ से १९५१ के बीच यहां नगरों की जनसंख्या में ५४ प्रतिशत वृद्धि हुई हैं । यहां की १७ प्रतिशत जनता अब नगरों में रहती है ।

परिस्थिति न केवल बाह्य रूप में एक स्थान की जनसंख्या, उसके आचरण और व्यवहार, जीवन-यापन की विधि, उसके प्रकार और विकास-केन्द्र इत्यादि का

निर्धारण करती है, बल्कि क्षेत्रीय सीमाओं में भी समुदायों को अलग-अलग करती हैं। एक नई बस्ती की जनसंख्या में युवकों और वृद्धों, स्त्रियों और पुरुषों की संख्या का अनुपात एक पुरानी बस्ती से भिन्न होगा। और इसी प्रकार एक व्यापारीबस्ती में मजदूर बस्ती से भिन्नता होगी। एक नगर के इस प्रकार के अलग-अलग भागों की ऐसी व्यवस्था का पता लगाने के लिए जनसंख्या-पिरेमिड बनाए जाते हैं। इनमें यह दिखाया जाता है कि अलग-अलग अवस्थाओं के व्यक्ति कितनी प्रतिशत संख्या में अलग-अलग क्षेत्रों में रहते हैं। इससे समाजिक सम्बन्धों को समझने में पर्याप्त मदद मिलती है।

नगर-विकास के सिद्धान्त

किसी नगर के किसी खास भाग में ही व्यापारी और दूसरे में मजदूर क्यों रहते हैं और क्यों उनमें इतने अन्तर है, इन प्रश्नो ने नगर-विकास की विभिन्न कल्पनाओं को जन्म दिया है। आगे हम तीन प्रमुख कल्पनाओं का जिक्र करेगे।

वृद्धि का समकेन्द्रक सिद्धान्त (Concentric Theory of City Growth). नगर के उस भाग में जहां सबसे अधिक चहल-पहल, चलना-फिरना है, अर्थात् जहां सबसे अधिक सड़कें और गलिया मिलती हैं और स्वभावतः अधिकतम संख्या में ग्राहक आते है, व्यापार केन्द्रित होता है। वहां दुकानों मे सजी नाना सामग्रियां ग्राहकों को लुभाने की चेष्टा करती हैं। थोड़ी ही दूरी पर थिएटर, बक, होटल आदि होते है। कारखाने वगैरह सड़क, रेल-मार्ग या नदी के तट के साथ-साथ होते हैं।

ज्यों-ज्यों व्यापारिक भाग फैलता है, निवास-स्थान और मुहल्ले केन्द्र से दूर होते जाते है। परन्तु यह क्रिया कितने ही वर्षों में पूर्ण होती है। इसलिए कारखाने, स्टोर और घर एक ही जगह रहने दिए जाते है। ऐसे क्षेत्र में स्वभावतः वातावरण अधिक घबरा देने वाला कोलाहलपूर्ण हो जाता है, और मकान गिरी हालत में इस प्रतीक्षा में रहने दिए जाते है कि व्यापार-गृहो के काम आएं। अधिक सम्पन्न परिवार नगर के दूर के भागों में बस जाते है, परन्तु जो रुपये की कमी या किसी दूसरे सामाजिक कारण से स्थान-परिवर्तन नहीं कर सकते, वहीं रह जाते हैं। इन लोगों के मुहल्ले जिन्हें संक्रमण क्षेत्र (Zones in Transition) कहा जाता है और जो व्यापारिक बाजारों और रहने के मुहल्लों को एक दूसरे से अलग करते हैं, अपने कोई विशिष्ट गुण नहीं रखते, और कभी-कभी अपनी सामाजिक एकता के कारण गन्दी बस्तियां या चाल(Slum)कहलाने लगते हैं। किशोर अपराध प्रवृत्ति (Juvenile Delinquency), व्यभिचार, निर्धनता, व्यक्तिगत असंतुलन, और विघटन इन टूट गिरने वाले घरों में पलते हैं। नगर के केन्द्र से कुछ बहुत दूर न होने पर भी यह एक खास दिशा में फैलते जाते हैं और औद्योगिक क्षेत्रों के

समीप तक चले जाते हैं।

नगर समुदायों का अध्ययन करते हुए बर्जेस ने देखा कि भिन्न-भिन्न सामाजिक क्षेत्र एक ही केन्द्र वाले अलग-अलग वृत्तों का रूप धारण करते हैं। सबसे छोटा वृत्त व्यापरिक क्षेत्र होता है, जिसको संक्रमण क्षेत्र, जो व्यापारिक, रहने वाले मुहल्लों इत्यादि का मिश्रण होता है, घेरे रहता है। इसके परे रहने के मुहल्ले होते हैं। पहले सस्ते और फिर अधिक किराये और कीमत वाले। सबसे बाहर वाला वृत्त नई बस्तियों का समूह होता है।

मारिस डेनी का सिद्धान्त. मारिस डेनी के मतानुसार नागरिक विकास और ह्रास के बारे में भविष्यवाणी करना असम्भव है और इसलिए उसकी किसी एक खास प्रणाली या ढंग से व्याख्या कर देना उचित नहीं है। साधारणतया, एक केन्द्रीय व्यापारिक क्षेत्र, बनावट में वृत्त से अधिक आयताकार या वर्गाकार रूप में, और व्यापारिक भूमि का प्रयोग अर्ध-व्यासाकार सड़कों से बाहर फैलता हुआ कुछ विशिष्ट स्थानों पर एकत्रित हो, निम्न प्रकार के उपकेन्द्रों का निर्माण करत है : (१) जल या रेल यातायात साधनों के समीप स्थित उद्योग, (२) औद्योगिक और परिवहन (transport) क्षेत्रों के समीप निम्न स्तर के घर, (३) अलग जगहों पर द्वितीय या प्रथम दर्जे के मकान।

विलियम बेली का सिद्धान्त. बिलियम बेली के मत से एक नगर एक गांव के रूप में आरम्भ होता है जो मोटे तौर पर वर्गाकार होता है, फिर बाहर की ओर फैलता है और एक अमीबा की तरह विस्तृत होकर चौकोर कस्बा बनता हुआ एक तिकोने राज नगर (Metropolis) के रूप में विकसित होता है और अन्त मे अपने लम्बे हाथ बाहर फेंकता है, जिनको गन्दी बस्तियां (Slums) कहते है।

यह विभिन्न मत कम-से-कम यह तो स्वीकार करते ही है कि नगर के विकास में प्राकृतिक और कृत्रिम सभी साधन पूरा-पूरा भाग लेते है, और जनसमूह के केन्द्रीकरण इत्यादि की क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। इसी अर्थ में मनुष्य के रहने-सहने के ढंग पर भी अपना प्रभाव डालते हैं। दूर की गन्दी बस्तियों में रहने वाले लोगों में अपराध-प्रवृत्ति अधिक होगी, केन्द्र में बैठे लोग अधिक सम्पन्न होंगे, यह सब तो आखिर इसी से निर्धारित होता है।

प्रश्न उठता है कि वे कौन-सी प्रक्रियाएं है जो नगरों, क्षेत्रों इत्यादि में जनसमूह की संख्या को कम या अधिक करती हैं, और परिस्थितिशास्त्र के यंत्रों का काम करती हैं। उनका अध्ययन ही हमें परिस्थिति और मानव समाज के सम्बन्ध के समीप ले जायेगा।

पारिस्थितिक प्रक्रियाएं (Ecological Processes)

चाहे प्राकृतिक साधनों या पदार्थों की उपलब्धि के कारण, चाहे आने-जाने की सुगमता के कारण या और किसी कारण को लेकर, जनसंख्या कितने ही स्थानों पर अधिक हो जाती है, कितने ही स्थानों पर कम। किन-किन प्रक्रियाओं से यह कमी या अधिकता होती है, यह परिस्थितिशास्त्र को समझने के लिए आवश्यक है।

जनसंख्या की चर्चा करते समय हम व्यापार के कारण जन-समूह के एक केन्द्र की ओर आकर्षित होने के क्रम को देख चुके हैं। जब एक ही केन्द्र पर आबादी का दबाव अधिक हो जाता है, तो उसकी विपरीत प्रक्रिया प्रारम्भ होने लगती है, जिसे हम विकेन्द्रीकरण कह सकते हैं। अब केन्द्र से कुछ दूरी पर छोटी-छोटी आबादियां बनने लगती हैं। इसी प्रकार अन्य प्रक्रियाएं भी कार्य करती हैं। होलिंगशीड के अनुसार हम इन प्रक्रियाओं का विवरण संक्षेप मे नीचे दे रहे हैं।

(१) **एकत्रीकरण** (Concentration). जिन स्थानो मे प्रकृति या मानव चेष्टा ने मनुष्य के निवासोचित अवस्थाओं का प्रबन्ध कर दिया हो, और मानव के लिए आवश्यक सेवाओं को जुटा दिया हो, उन स्थानों मे मनुष्य-समूहों का एकत्र हो जाना स्वाभाविक ही है।

(२) **केन्द्रीकरण** (Centralisation). ऐसे केन्द्रीय स्थानों पर जहां सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अन्तःक्रियाओं का वेग अधिक हो, मनुष्य केन्द्रित हो जाते हैं।

(३) **विकेन्द्रीकरण** (Decentralisation). केन्द्र स्थान मे स्थानाभाव, भीड़ और तंगी के कारण, केन्द्र की बाहरी सीमाओं पर जहां भूमि की कीमत कम हो और स्थान पर्याप्त और खुला हो, मनुष्य छोटी-छोटी बस्तियां बना लेते हैं।

(४) **पृथक्करण** (Isolation). एक ही प्रकार के आर्थिक और सामाजिक हितों और प्रकारों वाले जनसमूह अलग-अलग विशिष्ट प्रदेशों मे बस जाते हैं, जहां प्रत्येक सामूहिक इकाई अपना एक ही आर्थिक कार्य और प्रतियोगी क्षमता रखती है। परन्तु यह पृथक्करण तभी हो सकता है जब ऐसे समूहों को व्यापारिक और औद्योगिक सुविधाएं प्राप्त हों।

(५) **आक्रमण** (Aggression). एक पृथक् जनसमूह के निवास-स्थान में भिन्न प्रकार की सामाजिक संस्थाओं वाले समूह का पैर जमाते जाना आक्रमणात्मक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया मे भूमि के उपयोग में अन्तर आ जाता है या जनसमूह का प्रकार बदल जाता है।

(६) **संक्रमण** (Succession). एक जनसमूह के दूसरे जनसमूह के स्थान पर आक्रमण के परिणामस्वरूप जनसमूह का प्रकार बदल जाता है, तो नया समूह

पुराने समूह की जगह उसके उत्तराधिकारी के रूप में ले लेता हैं। भूमि के उपयोग की प्रणाली के परिवर्तन के परिणाम को भी यही नाम दिया जाता है। इस दृष्टि से यह आक्रमण की पूर्ति का परिणाम मात्र है।

(७) दैनीकरण (Routinization). इन छः क्रियाओं के साथ एक सातवीं क्रिया भी जोड़ी जाती है। जिसका अर्थ है : नगर की जनता का काम-धंधे के स्थान से प्रतिदिन रहने की जगह आना-जाना, या छोटे व्यापार के प्रदेश या मनोरंजन के स्थान पर आना-जाना, या सामान को नगर के एक भाग से दूसरे भाग, कारखाने से दुकान आदि पर ले जाना इत्यादि। यह क्रिया एक दैनिक कार्य का रूप धारण कर लेती है।

यह सब प्रक्रियाएं क्रमशः परिस्थिति के साधन बनकर नगरों के विकास और विनाश का कारण बनती है, और मानव समाज को प्रभावित करती है। संस्कृति और सभ्यता के विकास मे इसलिए इनका महत्व हैं, और यह परिस्थिति और संस्कृति मे एक सम्बन्ध स्थापित करती है। यह प्रक्रियाएं केवल बाह्य परिस्थिति का ही प्रभाव नही है, सभ्यता के उपादान भी इनको प्रबल और प्रभावित करते है। यह नही भूलना चाहिए कि अन्त मे मनुष्य के अपने कर्म इन प्रक्रियाओं को न केवल प्रभावित करते हैं, बल्कि कई बार नियन्त्रित भी करते है। नए आविष्कारों ने जहां इनकी गति तेज कर दी है, वहां इन्हे मानव-ज्ञान और प्रयत्न का दास भी बना दिया है।

सातवां अध्याय

ग्राम और नगर समुदाय

RURAL AND URABAN COMMUNITY

ग्राम और समाज

अनाज के उपजाने का ज्ञान होने पर मानव जाति के आदिवासी परिवार कुटुम्ब और कबीलों ने जो भोजन की खोज में शिकार या पशुओं के चारे के लिए इधर-उधर मारे फिरते थे, एक जगह स्थिर होकर बसने की ठानी और कृषि को अपना प्रमुख उद्यम बनाया। इस प्रकार गांवों की बुनियाद पड़ी। कृषि ने मनुष्य के भोजन की चिंता को बहुत कम कर दिया और उसे पर्याप्त अवकाश प्रदान किया। अपेक्षतया समृद्ध जीवन और अवकाश ने पर्याप्त सामाजिक उन्नति का अवसर प्रदान किया। इस प्रकार मनुष्य की सबसे पहली सभ्यताओं का जन्म समृद्ध कृषि क्षेत्रों में हुआ। इसलिए हम कह सकते हैं कि गांवों का विकास मानव जाति के विकास में दूसरी महत्वपूर्ण मंजिल थी।

सामान्यतः ग्राम समाजों में सुदूर प्रदेशों और देशों से व्यापार का प्रारम्भ नहीं हुआ। इसलिए बहुत समय तक आत्मनिर्भरता ग्राम जीवन का प्रमुख लक्षण रही। गांवों का जीवन बहुत सरल, आवश्यकताएं बहुत सीमित और जनसंख्या बहुत ही कम होती है। यह सीमित जनसंख्या अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूरा करने का प्रयत्न करती है। गांवों के रहने वाले सब लोगों का जीवन उसके अन्य सदस्यों पर अत्यधिक निर्भर होता है। वह प्रायः रोज ही एक दूसरे से मिलते है और सबों को भली-भांति पहचानते हैं। इस प्रकार उनमें अधिक एकता की भावना और आत्मीयता होती है। वह एक दूसरे को बहुत प्रबलता से प्रेरित करते है। इन अर्थों में ग्राम एक पृथक् और छोटा समुदाय है। यह ऐसा समुदाय है, जो न केवल सभी हितो की रक्षा करता है, बल्कि सदा साहचर्य के कारण वह अपने सदस्यों के व्यवहार को बहुत प्रभावित करता है। इसलिए हम उसे एक प्राथमिक समूह (Primary Group) कह सकते है।

इसके अतिरिक्त, कृषि पर निर्भरता ग्राम जीवन की अन्य प्रमुख विशेषता है। कृषि पर यह निर्भरता उनके रहन-सहन के स्तर, उसके परिवार, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, विचारधारा, विश्वास, मनोवृत्ति, सब पर एक विशेष प्रभाव डालती

है और इस प्रकार उसके रहने वालों को जंगलों और नगरों के रहने वालों से अलग करती है।

ग्रामों के प्रकार

कृषि के जन्म और विस्तार के साथ संसार के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार के गांवों का उदय हुआ। इसमें भौगोलिक परिस्थितियों का भी बड़ा हाथ था। इसके अलावा प्रारम्भिक गांवों में टैक्नीकल, आर्थिक और सामाजिक विकास के साथ तथा अन्य समाजों से सम्पर्क और संघात के परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के परिवर्तन घटित होते रहे।

गांवों का इतिहास हमें बताता है कि किस प्रकार विभिन्न देशों और कालों में विभिन्न प्रकार के गांवों का विकास हुआ। अंग्रेजी सैक्सन ग्राम, जर्मन मार्क, रूसी मीर, सामन्तवादी योरोप के गांव, स्वयं भारत में ही कबायली, जमींदारी, महलवाड़ी और रैयतवाड़ी गांव और आज के आधुनिक ग्राम, जिनका कि संसार की आर्थिक व्यवस्था से पर्याप्त सीधा सम्पर्क है, इसके मुख्य उदाहरण हैं। समाजशास्त्र में विभिन्न प्रकार के गांवों के जन्म, विकास और परिवर्तन का अध्ययन अत्यन्त महत्व रखता है।

गांवों के वर्गीकरण के कुछ मापदण्ड

प्रमुख समाजशास्त्रियों ने गांवों के वर्गीकरण के अनेक मापदण्ड प्रस्तुत किए हैं, इनमें से कुछ का हम आगे जिक्र करेंगे।

(१) **निवास के स्थायित्व के आधार पर.** हैरोल्ड पीक ने खानाबदोश (Nomadic) अवस्था से स्थायी रूप से गांवों में बसने के विकास के परिवर्तन काल को ध्यान में रखते हुए गांवों को तीन श्रेणियों में बांटा है: (क) निष्क्रमणार्थी (Migratory) कृषक गांव जहां पर कि लोग कुछ ही महीनों के लिए एक निश्चित स्थान पर रहते है, (ख) अर्ध-स्थायी (Semi-permanent) गांव जहां पर कि जनसंख्या कुछ सालों तक निवास करती है और फिर जमीन की उपजाऊ शक्ति समाप्त हो जाने पर उन्हें छोड़कर चली जाती है, (ग) स्थायी (Permanent) कृषक गांव जहां कि बसे हुए मानव समह पुश्तों या अनेक बार सदियों तक एक ही स्थान पर रहते है।

(२) **घरों के विस्तार के आधार पर.** कुछ लेखकों ने समूह-रूप या केन्द्रित (Grouped or Nucleated) और बिखरे हुए (Dispersed) दो प्रकार के गांव माने है। एक समूह-रूप या केन्द्रित गांव में किसान एक ही स्थान में इकट्ठे होकर रहते हैं और गांव से बाहर जाकर खेतों पर काम करते हैं। बिखरे हुए या विकेन्द्रित (Non-nucleated) गांव में किसान एक दूसरे से दूर खेतों के बीच ही अपना-अपना घर बनाकर रहते हैं। इस प्रकार उनके घर बिखरे हुए होते

हैं और उनके सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप भी भिन्न होता है।

(३) **सामाजिक विभेदीकरण** (Differentiation), **स्तरीकरण** (Stratification), **श्रम की गतिशीलता** (Mobility) **और जमीन के स्वामित्व के आधार पर.** इस मापदण्ड के अनुसार गांवों को छः मुख्य श्रेणियों मे बांटा जा सकता है। वह है (१) वह गांव जहां पर किसानों का जमीन पर सांझा स्वामित्व (Joint Ownership) है, (२) वह गांव जिनमें कि लगान देकर सांझे मे जमीन जोतन वाले शिकमी काश्तकार (Joint Tenants) रहते हैं, (३) वह गांव जिनमें अधिकांश किसान जमीन के व्यक्तिगत रूप से मालिक है, लेकिन जिनमें शिकमी काश्तकार और मजदूर भी है, (४) वह गांव जिनमें एकांतत: व्यक्तिगत रूप से खेती करने वाले शिकमी काश्तकार रहते हैं, (५) वह गांव जिनमें किसी एक बड़े जमींदार के नौकर खेती करते है, और (६) वह गांव जिन पर किसी सार्वजनिक संस्था, राज्य या मठ का स्वामित्व है और जहां उसके नौकर या मजदूर रहते है।

उक्त तीनों आधारों पर ही गांवों का वर्गीकरण उपयोगी है। इससे हमें विभिन्न प्रकार के गांवों के ढांचे, सामाजिक सम्बन्धो, संघर्षों, समस्याओं तथा उनके जन्म और विकास को समझने में सहायता मिलती है।

गांवों के अध्ययन में प्रादेशिक दृष्टिकोण (Regional Approach)

ाम समुदाय के विश्लेषण मे उसके स्थानिक संगठन (Spatial Organisation) की जानकारी बहुत जरूरी है। वह कौन-से कारण हैं जो कि विभिन्न प्रकार के गांवों का विकास करते हैं, जो बहुत-से गांवों के समूह को मिलाकर एक प्रदेश का निर्माण करते है, जो एक कृषक क्षेत्र को एक संस्कृति, भाषा या राजनैतिक क्षेत्र में विभक्त करते है, और किस प्रकार प्रदेश एक प्रान्त (Province) मे रूपान्तरित होते है, इन सभी प्रश्नों का ग्राम समुदाय के अध्ययन म विशेष महत्व है।

प्रादेशिक विभिन्नता के कारण. वह कौन-से कारण है जो कि प्रादेशिक भिन्नता की सृष्टि करते हैं, उनकी क्या प्रक्रिया है, समाजशास्त्रियों ने इसे समझाने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार वह कारण जिन्होंने कि गांव के संगठन या ढांचे के प्रतिमान (Structural Pattern) को निश्चित किया है, प्रादेशिक या उससे बड़ी इकाइयों का निर्माण किया है और उन इकाइयों के साथ गांव के अन्त:सम्बन्धों को निर्धारित किया है, निम्न तीन श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं।

(१) प्राकृतिक अवस्थाएं जिनमें कि भूमि की बनावट, जमीन का उपजाऊपन, पानी के साधन इत्यादि सम्मिलित हैं, (२) कृषि अर्थ-व्यवस्था की अवस्था, (Stage) अर्थात् वह खानाबादोश हैं, या स्थायी रूप से भरण-पोषण करने की क्षमता रखते हैं या बाहरी व्यापार के लिए चीजें उत्पन्न करते हैं, (३) सामाजिक

अवस्था का रूप, अर्थात् सुरक्षा की आवश्यकताओं, सम्पत्ति की व्यवस्था का वहां क्या रूप है।

ग्रामवासियों का आर्थिक जीवन

आर्थिक उत्पादन किसी समाज की बुनियादी क्रिया है। उत्पादन की रीति और उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक ढांचे, मनोविज्ञान और विचारधारा मे महत्वपूर्ण पार्ट अदा करते है।

कृषि ग्राम जीवन का आधार. ग्राम समुदाय मुख्यतः कृषि पर निर्भर है। कृषि उत्पादन का सीधा सम्बन्ध प्रकृति से है। जमीन गांवों में उत्पादन का बुनियादी साधन है। जमीन प्रकृति का अंश है, जिसे कि मानव श्रम आर्थिक रूप से उपयोगी बनाता है। जमीन और श्रम के सहयोग से ग्रामवासी अनेक प्रकार के अनाज, कपास, जूट, गन्ना, तम्बाकू इत्यादि पदार्थ पैदा करते है। खाद्य-पदार्थ मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनिवार्य हैं। कृषि के अखाद्य पदार्थ उद्योगो के लिए कच्चा माल जुटाते है। नगर के उद्योग केवल इस कच्चे माल को पक्के माल के रूप में रूपान्तरित करते हैं। कृषि और उद्योग का यह बुनियादी अन्तर गाव और शहरों की जनता की सामाजिक संस्थाओं, मनोविज्ञान और विचारधारा को निर्धारित करने मे बड़ा हाथ रखता है।

इसके अलावा उत्पादन का स्तर और विभिन्न वर्गों में उसके वितरण की रीति सम्पूर्ण समाज और विभिन्न वर्गों की समृद्धि और उनके सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करते है। उदाहरण के लिए, कृषि के उत्पादन के पिछड़े हुए तरीके और परिणामतः, अल्प उत्पादन तथा विशेष प्रकार के भूमि-सम्बन्ध गाव की जनता मे कृषि के उत्पादन के वितरण की रीति को निर्धारित करते है। साथ ही वह बहुत अंशों मे हमारे समाज के श्रेणी-बद्ध (Hierarchic) संगठन, उसकी विशिष्ट सामाजिक संस्थाओं को समझाने मे सहायक होते है। वह रिवाजों, रूढ़ियों और कल्पनाओ को भी बहुत प्रभावित करते है।

जजमानी और लागदार-व्यवस्था

भारत के प्राय. सभी प्रान्तों में ग्रामवासियों के विभिन्न वर्गों के आर्थिक सम्बन्ध एक निश्चित रीति द्वारा निर्धारित होते हैं। यह प्रथा उत्तर भारत मे प्रायः जजमानी और लागदार व्यवस्था के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रथा के अन्तर्गत किसानों के आर्थिक और धार्मिक कृत्यों मे काम आने वाले गैर काश्तकार वर्गों के परिवार उनसे पर्याप्त स्थायी रूप से संयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिए, एक किसान परिवार *प्रायः किसी एक ब्राह्मण, बढ़ई, लुहार, कुम्हार, धोबी, झींवर या कहार, नाई, भंगी परिवार से संयुक्त होता है। मुसलमानों में ब्राह्मण का स्थान इमाम ले लेता है। इसके अलावा उन्हें मस्जिद में पानी

वगैरह देने के लिए एक मौअज़िन और मय्यत होने पर मुरदे को नहलाने के लिए एक शेख की भी जरूरत पड़ती है। ब्राह्मण और इमाम को छोड़कर यह अधिकांश सेवक कमीन कहलाते हैं। इन्हें लागदार भी कहा जाता है, क्योंकि इनका एक परिवार विशेष से लगाव होता है। इनकी कुल संख्या निश्चित नहीं है। हमने ऊपर प्रमुख लागदार वर्गों का उल्लेख किया है। इन लागदारों का निश्चित किसान परिवारों के साथ एक पुश्तैनी आर्थिक-सामाजिक सम्बन्ध होता है। यह लागदार जिन परिवारों को अपनी सेवायें प्रदान करते है वह उनके यजमान या जजमान कहलाते हैं। जन्म, विवाह, मृत्यु, त्यौहार इत्यादि विशेष अवसरों पर तथा रोजमर्रा यह लागदार अपने जजमानों को अपनी सेवायें प्रदान करते हैं। इन सेवाओं का पुरस्कार श्रम या पूंजी के मूल्य या प्रतियोगिता से निर्धारित न होकर रिवाज, या यह कहें तो शायद गलत न होगा, कि आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित होता है। एक किसान परिवार फसल उठने के बाद अपनी उपज की एक निश्चित मात्रा अपने लागदार को दे देता है। इसके अलावा खुशी, त्यौहार या किन्हीं कमीनों को वह ग़मी के मौके पर कुछ निश्चित अनाज, कपड़े या कुछ नक़द रकम भी देता है।

गैर-काश्तकार काम करने वाले को अपनी ज़रूरतें पूरी करने के लिए एक दूसरे से इस प्रकार के सम्बन्ध रखने पड़ते है। प्रायः उनका आधार अपनी सेवाओं का एक दूसरे को मुफ्त आदान-प्रदान होता है। जहां ऐसा नहीं होता, वहां वह भी एक दूसरे को अनाज की एक निश्चित मात्रा देते हैं।

ऊपर हमने लागदार परिवारों के जजमान परिवारों से पुश्तैनी सम्बन्धों तथा उनके निश्चित पुरस्कारों का उल्लेख किया है। लेकिन यह सम्बन्ध सर्वथा कठोर नहीं है। एक लागदार अपने जजमान से निश्चित पुरस्कार न पाने या असन्तुष्ट होने की दशा में उसका काम छोड़ सकता है। लेकिन पुराने खानदानी सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए या कहीं-कही जमींदारों के भय से भी वह प्रायः ऐसा नहीं करता। इसी तरह एक जजमान अपने लागदार से असन्तुष्ट होने पर उसे छोड़ सकता है, पर उसके लिए ऐसा करना प्रायः आसान नहीं होता। एक ही तरह का काम करने वालों में एक प्रकार का यह मूक समझौता होता है कि वह एक दूसरे के जजमानों को जो कि एक प्रकार के स्थायी ग्राहक कहे जा सकते हैं, स्वीकार न करें। इसके लिए पहले काम करने वाले की मंजूरी जरूरी होती है।

इसके अलावा निर्धारित सेवाओं के लिए दी जाने वाली अनाज की मात्रा में भी परिवर्तन होते रहते हैं। इसके निर्धारण की प्रक्रिया अनेक अंशों में सामूहिक सौदेबाजी (Collective Bargaining) से मिलती-जुलती है। किसान और उनके लागदार मिलकर लाग या लागदारों का पुरस्कार निश्चित करते हैं। लेकिन

यह पुरस्कार प्रायः एक पर्याप्त लम्बे समय के लिए निश्चित हो जाते हैं। १०-१५ सालों तक अक्सर इनमें कोई परिवर्तन नहीं आते। दोनों पक्ष एक दूसरे से कम काम या कम पुरस्कार की शिकायत करते हुए भी इन्हें निभाने की कोशिश करते हैं।

हमारे यहां गांवों मे अभी भी जाति बहुत अंशों में किसी के पेशे और पद को निर्धारित करती है। इस प्रकार जजमान और लागदार प्रथा एक प्रकार से विभिन्न जातियों को एक दूसरे से आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक रूप से संयुक्त करती है। जहां एक ओर खान-पान, रोटी-बेटी के सम्बन्धों की दूरी एक जाति को दूसरी जाति से पृथक् कर विभिन्न जातियों में एक क्षैतिज (Horizental) एकता उत्पन्न करती है, वहां दूसरी ओर जजमानों और लागदारों के सम्बन्ध उनमें एक ऊर्ध्वाधर (Vertical) एकता को जन्म देते हैं। यह एकता उनमें परस्पर भाई-चारे, निष्ठा और सक्रिय सहयोग की भावना को दृढ़ करती है।

दो-तीन हजार की बड़ी आबादी के गांव में तो जजमान और लागदार प्रायः एक ही गांव के रहने वाले होते हैं। वहां एक लागदार के जजमानों की इतनी संख्या होती है जो कि उसे पर्याप्त व्यस्त रख सकती या सारे समय के लिए काम जुटा सकती है। छोटे गांवों में ऐसा नहीं हो पाता। अतः वहां के लागदारों या काम करने वालों के जजमान अनेक आस-पास के छोटे-छोटे गावों में फैले होते हैं। इस प्रकार ४००-५०० व्यक्तियों की आबादी के चार-पांच गांव मिलकर एक आर्थिक इकाई का निर्माण करते हैं। इनमें कई बार ऐसा भी होता है कि एक छोटे गांव के कुछ लागदारों का काम तो गांव से ही चल जा सकता है, जब कि दूसरों को कई गावों मे काम करना पड़ता है।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे ७५० की जनसंख्या वाले एक छोटे गांव में, जहां कि लेखक ने १९५५ मे इस सम्बन्ध में गवेषणा की थी, विद्यमान अवस्था का उदाहरण देकर हम इसको अच्छी तरह समझ सकते हैं। यह गांव एक बड़े कस्बे से लगभग दो मील दूर है। डेढ मील के फासले पर चीनी का एक बड़ा कारखाना है। इस कारखाने के लिए गन्ना पैदा करना यहां के किसानों का मुख्य उद्यम है। गांव की लगभग आधी जनसंख्या मुसलमान है।

ब्राह्मण. गाव में सिर्फ एक ब्राह्मण परिवार है जो कि चमार और भंगियों को छोडकर वहा के सारे हिन्दू परिवारों का लागदार है। मुसलमान भी अपने यहां हिन्दू मेहमान आने पर उसे बुला लेते हैं। लेकिन केवल हिन्दू किसान परिवार ही उसे एक बधा हुआ फसली भुगतान करते हैं, जब कि दस्तकार इत्यादि वर्ग केवल विशेष अवसरों पर ही उसे कुछ देते हैं। इस ब्राह्मण को आजकल एक हल चलाने वाला किसान हर छमाही १० सेर अनाज देता है। खरीफ में फसल कटते समय

उसे किसानों के खेत से पूली के रूप में भी कुछ अनाज मिल जाता है। इसकी मात्रा अनिश्चित है। चीनी का कारखाना खुलने से पहले कोल्हू उद्घाटन के लिए उसे बुलाया जाता था और करीब २ सेर गुड़ भी दिया जाता था।

इमाम. मुसलमानों का एक इमाम है जो कि मस्जिद में नमाज पढ़वाता, बच्चों को कुरान सिखाता और मजहबी कामों को अंजाम देता है। काश्तकार परिवार उसे फी हल पर छमाही मे १० सेर अनाज देते है। इसके अलावा ईद के मौके पर वह १-२ रु० नकद इनाम भी देते हैं। गैर काश्तकार उसे अनाज के रूप में कोई बंधा हुआ भुगतान—फसलाना नहीं देते।

मोअज़िन. मोअज़िन को मुसलमान काश्तकार खरीफ की फसल मे एक हल पर ६½ सेर अनाज और २½ अनाज की पूली तथा रबी मे ३½ सेर अनाज और २½ उड़द की दाल की पूली का 'भौरा' देते हैं। इसके अलावा उसे हर शुक्रवार को और रमजान के महीने में हर परिवार से रोज एक रोटी मिलती हैं। दो दुकानदार उसे हर छमाही ५ सेर अनाज देते है। गैरकाश्तकारों से वह कुछ नहीं लेता।

शेख. मौत हो जाने पर मुर्दे को नहलाने के लिए हर मुसलमान को शेख की जरूरत पड़ती है। काश्तकार लोग १०० मन पर १० सेर के हिसाब से उसे हर छमाही अनाज देते है। गैरकाश्तकार परिवार हर छमाही ५ सेर अनाज देते है। मय्यत पर उसे कपड़ों और अनाज का अलग मेहनताना मिलता है।

बढ़ई-लुहार. गांव में दो हिन्दू और एक मुसलमान बढ़ई परिवार हैं। मुसलमान बढ़ई लुहार का भी काम करता है। दो हिन्दू लुहार है जो कि किसानों का काम करते है। मुसलमान बढ़ई एक साल से आया है। उससे पहले हिन्दू बढ़ई और लुहार ही आधे-आधे हिन्दुओं और मुसलमान किसानों का काम करते थे। उनके पास काम ज्यादा था और वह लापरवाही भी बरतते थे, अतः मुसलमान दूसरे गाँव से एक लुहार को ले आये जो बढ़ई का भी काम करता है। अब सारे मुसलमान किसान उसी से काम कराते है। बढ़ई और लुहार को फी हल पर १५ सेर छमाही अनाज और जाड़ों में ५ सेर गुड़, खरीफ की फसल में एक गठरी भूसा और रबी में एक गठरी चरी मिलती है। अधिकांश गैरकाश्तकारों से यह बिना कुछ लिये-दिये प्रायः सेवाओं के पारस्परिक आदान के आधार पर उनका काम करते है। इनमें से ब्राह्मण, इमाम, जोग्गी, धीवर, सक्का, भंगी, नाई तो उनसे निश्चित अनाज लेते हैं पर बढ़ई-लुहार उनसे कुछ नहीं पाते।

कुम्हार. दो कुम्हार परिवार गांव के आधे-आधे घरों की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। इसके अलावा वह पास के दो गांवों में भी बर्तन देते है, क्योंकि उन गांवों में कोई कुम्हार परिवार नहीं है। कुम्हार को किसानों से अपनी सेवा के

लिए हर छमाही १०० मन की उपज पर १ मन के हिसाब से अनाज मिलता है। उसका यह भुगतान 'सरीनिया' कहलाता है। इसके अलावा उसे जाड़े में फी हल पर २½ सेर गुड़ और एक-एक गठरी भूसे और चरी की मिलती है। खरीफ की फसल कटते समय उसे पूली की शक्ल मे 'गैरा' मिलता है जिसमें से लगभग ५ सेर अनाज निकलता है। ब्राह्मण, इमाम और जोगी को वह मुफ्त बर्तन देता है। बढ़ई, लुहार, नाई, तेली और भंगी के साथ उसका पारस्परिक सेवाओं का आदान-प्रदान चलता ह। चमार उसे कार्तिकी और चैती मावस पर, जब कि वह बर्तन लेते हैं, ५-५ सेर अनाज देते है। झीवर जो यहां पर सब्जियां उगाने का काम करता है, उसे मुफ्त मे सब्जी दे देता है। सक्के की स्त्रियां खाट के बान बटने का काम करती हैं। वह उसे बदले में बान दे देती हैं।

नाई. इस गांव मे दो मुसलमान नाई है, जो सगे भाई है। यह ऊंची जाति के जमींदार, हिन्दुओं तथा सभी मुसलमानो का काम करते है। यह अलग-अलग रहते हैं। इन्होंने अपने जजमानों को आपस में बांट लिया है। किसान लोग उसे हर छमाही ७½ सेर फी हल के हिसाब से अनाज देते है। इसके अलावा उसे खरीफ की फसल कटते समय पूली के रूप में मुट्ठी मिलती है जिसमें से १–१½ सेर अनाज निकलता है। इसके अलावा उसे कोई-कोई किसान २½ सेर गुड़ भी देते है। हर एक किसान उसे एक-एक गठरी भुस और चरी भी देता है, खलिहान उठते समय भी उसे १–२ सेर अनाज दे दिया जाता है। इस भुगतान को पैर कहते हैं। खेत बोने के समय जब वह बैलों की पूंछ के बाल काटने जाता है, उसे दो बैलों पर करीब १० छटांक अनाज मिल जाता है। दो-तीन किसान परिवारों ने ५ या १० सेर अनाज बांध दिया है। वह हल के हिसाब से नही देते। उन गैर काश्तकारों से, बदले मे जो इसे सेवाएं देते है, उनका परस्पर आदान-प्रदान का व्यवहार है। किन्तु जो बदले में उन्हें कोई सेवा नही देते उनसे फी सिर के हिसाब १० से ५ सेर छमाही का अनाज बंधा हुआ है। यह नाई, चमार और भंगियों का काम नहीं करते।

चमार और भंगियों का एक अलग नाई है जो कि दूसरे गांव से आकर हर हफ्ते बाल काटता है। इसे यह लोग छमाही में तीन सेर अनाज देते है। कुछ लोग कस्बे में जाकर भी बाल कटा आते है।

इस गाव में धोबी नही हैं। पास के दो गांवों के दो धोबी यहां के परिवारों का काम करते है। अधिकांश परिवार धोबी से अपने कपड़े नहीं धुलाते। किसान परिवार प्रायः छमाही में ७½ सेर से १५ सेर तक अनाज देते हैं।

झींवर और सक्का. गांवों में हाथ के नल आजाने से झीवर और सक्के के काम को बहुत धक्का पहुंचा है। हिन्दुओं ने तो झींवर को बिल्कुल छोड़ दिया है। सक्के से अवश्य कुछ मुसलमान पानी भरवाते हैं। दो भाई सक्के का काम करते हैं।

उन्होंने घरों को आपस में बांट लिया है। दो वक्त एक-एक मश्क जिसमें दो घड़े पानी आता है, भरने पर उन्हें हर छमाही ७½ सेर अनाज और हर दूसरे दिन एक रोटी मिलती है। गैर काश्तकारों, जिनसे कि आपसी सेवा का विनिमय नहीं है, का काम भी इसी दर पर होता है।

भंगी. गाँव में भंगियों के पांच परिवार हैं। इन्हें अनेक पुश्तों से सेवा के लिए अलग-अलग परिवार मिले हुए है। यह लोग किसानों के यहां मुख्यत: उनके पशुओं का गोबर उठाकर गांव के बाहर उनके खाद के गड्ढों (कुरडियों) में डालने का तथा अन्य लोगों के यहां से कूड़ा उठाने का काम करते ह। चमार अपना काम स्वयं करते हैं। किसानों से इन्हें १०० मन उपज पर १ मन अनाज मिलता है। उनका यह भुगतान 'सरीनिया' कहलाता है। इसके अलावा उन्हे अपने हर परिवार से रोज १ रोटी भी मिलती है। जिन परिवारों मे टट्टियां हैं, उनसे हर छमाही और १० सेर अनाज मिलता है। गैर-काश्तकारों में वह कवल कुम्हार की ही सेवा कर रहे है। यह इन्हें बर्तन मुफ्त देता है, यह उसका काम मुफ्त करते है। एक नौकरी-पेशा परिवार से उन्होने १ रु० महीना तय किया हुआ है।

यह संक्षिप्त विवरण सामान्य भारतीय गांवों के आर्थिक जीवन और उनकी विनिमय-व्यवस्था, उनके विभिन्न वर्गों की आर्थिक निर्भरता का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।

परिवर्तन और भविष्य. गांवो मे मुद्रा के प्रसार, व्यापारिक दृष्टि से खेती के विस्तार ने सेवाओं को रुपये मे मापने की प्रवृत्ति पैदा की है। इस प्रवृत्ति से जजमानी और लागदार प्रथा को काफी धक्का लगा है। इसके अलावा नये यान्त्रिक साधनों या वस्तुओं ने अनेक लागदार वर्गों की सेवाओं को अनावश्यक बना दिया है। हाथ के नलों ने सक्के और झीवर को समाप्त कर दिया है। बाजार के तेल ने तेली के रोजगार को ठप्प कर दिया है। व्यक्तिवादी विघारधाराओं और क्रमश: घटती भाईचारे की भावनाओं ने जजमानो और लागदारों के आपसी सौहार्द और सहानुभूति पर कुठाराघात किया है। उनमे आपसी तनाव बढ़ गयें है और पुरानें स्नेंहसम्बन्ध शिथिल हो गये हैं।

बावजूद इन सब परिवर्तनों के, जजमानी और लागदार प्रथा गांवों में अभी भी पर्याप्त प्रबल है। उसके शीघ्र समाप्त होने के कोई चिन्ह नजर नही आतें। किसानों को फसल पर अनाज में भुगतान नहीं अखरता। लागदारों को भी एक साथ खाद्य सामग्री एक बड़ी मात्रा में मिल जाती है और वह एक प्रकार की सुरक्षा अनुभव करतें है। दोनो ओर असन्तोष होते हुए भी वह उसे छोड़नें में सुविधा अनुभव नहीं करते।

उत्पादन का उद्देश्य

एक ग्राम समुदाय में उत्पादन का उद्देश्य बहुत महत्व रखता है। एक समाजशास्त्री के लिए यह जानना आवश्यक है कि गांव का उत्पादन स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है या दूर बाजारों में मुनाफा कमाने के लिए। इसी से हम गांव की आत्म-निर्भरता या पृथक्करण का अंदाज कर सकते है।

उदाहरण के लिए, अंग्रेजों के आने से पहले भारत के गांवों की जनता मुख्यत: स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं का उत्पादन करती थी। लेकिन अंग्रेजी राज्य ने इस आवश्यकता-पूर्ति या गुजारे की अर्थ-व्यवस्था (Subsistence Economy) को बाजार की अर्थ-व्यवस्था (Market Economy) में रूपान्तरित कर दिया। इसके अनेक कारण थे। अंग्रेजी सरकार ने जमींदारी और रैयतवाड़ी प्रथा का सूत्रपात कर जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व को स्थापित किया। जमीन का लगान अब नकद की शक्ल में लिया जाने लगा। यह लगान किसान की आमदनी का एक बड़ा हिस्सा होता था। अनेक बार उसकी अदायगी के लिए उसे कर्ज लेना पड़ता था। इस तरह उसकी ऋणग्रस्तता बढी। उधर शहरी उद्योगों के लिए बड़ी मात्रा मे कच्चे माल की मांग हुई। नकद रुपये के लिए अपने माल को बेचने की आवश्यकता ने भारत के गांवों को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों से संयुक्त कर दिया।

साम्यवाद और समाजवाद के आन्दोलनों ने उत्पादन की एक और नयी कल्पना को जन्म दिया है। इसके अनुसार उत्पादक समुदाय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एक पूर्व नियोजित योजना के अनुसार उत्पादन करते है। उत्पादन का निर्णय स्वयं अलग-अलग व्यक्ति न कर, उनकी एक प्रतिनिधि संस्था करती है। इस व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य गांवों के उत्पादन में व्यक्तिगत प्रतियोगिता का अंत करना है। इसके अन्तर्गत वस्तुओ की कीमतें और माग पहले से ही निश्चित होने के कारण उत्पादन का जोखिम और आय की अनिश्चितता बहुत अंशों में समाप्त हो जाती है।

उत्पादन की प्रणाली

कृषि उत्पादन में प्रयोग आने वाले साधनों का भी किसी ग्राम समुदाय के जीवन-स्तर और सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करने में बड़ा हाथ होता है। कृषि का इतिहास हमें यह बताता है कि विभिन्न कालों में कृषि के विभिन्न साधन प्रयोग में लाये गये हैं। वैज्ञानिक उन्नति के साथ इनमें निरंतर सुधार और प्रगति होती रही है। कृषि के यंत्रों के विकास को हम मुख्यत: तीन अवस्थाओं में बांट सकते हैं। यह तीन अवस्थाएं हैं: (१) कुदाल से खेत (Hoe Culture), (२) हल

से खेती, (३) ट्रैक्टर, रासायनिक खादों (Fertilisers) इत्यादि उन्नत साधनों से खेती।

खेती की प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य लकड़ी या किसी धातु की नोकीली कुदाल से खेती के लिए जमीन तैयार करता था। हल के आविष्कार और पशुओं के पालने की क्षमता ने एक किसान की कार्य-क्षमता मे असाधारण वृद्धि की। ट्रैक्टर जैसे शक्ति द्वारा चलाये जाने वाले यंत्रों तथा रासायनिक खादों के प्रयोग ने किसान की कार्य-क्षमता और जमीन की उत्पादन-क्षमता को और भी अधिक बढ़ा दिया और इस प्रकार पर्याप्त मात्रा में अपनी आवश्यकताओं से अधिक अन्न या अन्य कच्चे माल का उत्पादन संभव हुआ। ट्रैक्टर के आगमन ने कृषि में खींचने वाले पशुओं की आवश्यकता को भी समाप्त कर दिया।

उत्पादन की प्रणाली केवल उत्पादन की मात्रा को ही प्रभावित नहीं करती, वह समाज के सदस्यों में श्रम-विभाजन को भी निर्धारित करती है। यह उत्पादन क्रिया से सम्बन्धित कार्यों (Functions) और पेशों को भी निश्चित करती है। कृषि की उत्पादन प्रणाली के परिवर्तन के साथ ग्राम समुदाय के पेशों और पेशेगत सम्बन्धों का रूप भी परिवर्तित हो जाता है। यही नहीं उत्पादन के नये साधन ग्राम अर्थ-व्यवस्था के विस्तार को भी सीधा प्रभावित करते हैं। जब तक उत्पादन के यंत्र सरल थे, स्थानीय श्रमिक ही उन्हें तैयार कर सकते थे। अब कीमती और उन्नत यंत्रों को बड़े शहरों से मंगाना आवश्यक हो गया।

भूमि-सम्बन्ध (Land Relations)

एक ही उत्पादन प्रणाली में सम्पत्ति-सम्बन्धों के भिन्न रूप. गांव के आर्थिक जीवन का अध्ययन करते समय उसकी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत जमीन और उसकी मिल्कियत के सम्बन्धों को समझना निहायत जरूरी है। जब कि उत्पादन की प्रणाली श्रम-विभाजन और उसके द्वारा काम करने वाले वर्गों की संख्या और उनके अनुपात को निश्चित करती है, वह सदा एक-से सम्पत्ति-सम्बन्धों को जन्म नहीं देती। उदाहरण के लिए, हलों की खेती को हम दास प्रथा, सामन्तवादी व्यवस्था और रैयतवाड़ी अनेक भिन्न व्यवस्थाओं के बीच देख सकते हैं। इसी प्रकार ट्रैक्टर की खेती व्यक्तिगत पूंजीवादी प्रतियोगी बाजार व्यवस्था और सामूहिक या सहकारी कृषि व्यवस्था के अंतर्गत देखी जा सकती है। रूस व अमरीका में ट्रैक्टरों और रासायनिक खादों द्वारा खेती बिल्कुल विपरीत सम्पत्ति सम्बन्धों के अंतर्गत की जा रही है।

जमीन के काश्तकार से विभिन्न सम्बन्ध विभिन्न रूप से गांव के सामाजिक संगठन और जीवन धारा को प्रभावित करते हैं। इन सम्पत्ति सम्बन्धों के प्रभाव को हम निम्न छः प्रमुख क्षेत्रों में देख सकते हैं:

(१) **विभिन्न सामाजिक आर्थिक वर्गों की आय.** जमीन के सम्बन्धों का रूप कुल कृषि से प्राप्त सम्पत्ति में उसके उत्पादन से सम्बन्धित वर्गों के हिस्से को निश्चित करता है । उदाहरण के लिए, जमींदारी व्यवस्था के अंतर्गत जमींदार को बिना कुछ किए हुए भी एक काश्तकार की तुलना में कहीं अधिक आमदनी हो जाती है । आमदनी की यह अत्यन्त असमानता जमीन के जमींदारी-प्रकार के भूमि-सम्बन्धों का परिणाम होती है । एक विशिष्ट प्रकार के भूमि-सम्बन्ध एक विशेष प्रकार के कृषि विकास की बुनियाद रखते हैं । जमींदारी भूमि सम्बन्ध आर्थिक असमानता को उग्र करते हैं । इस प्रकार जब कि उत्पादन की प्रणाली कुल सम्पत्ति की मात्रा निश्चित करती है, भूमि सम्बन्ध विभिन्न उत्पादक वर्गों में आय के वितरण को निश्चित करते हैं ।

(२) **एकतत्वीयता या बहुतत्वीयता** (Homogeneity or Heterogeneity) **का निर्धारण.** भूमि-सम्बन्ध ही किसी ग्राम समुदाय में वहां की जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के एकतत्वीयता-एकता या बहुतत्वीयता—पार्थक्य को प्रभावित करते है । उदाहरण के लिए, एक जमींदारी क्षेत्र में ग्राम समुदाय मुख्यतः जमींदारों, काश्तकारों, शिकमी काश्तकारों और शिकमी-दर-शिकमी काश्तकारों में विभक्त होता है । एक रैयतवाड़ी क्षेत्र में मुख्यत: स्वयं काश्त करनेवाले किसान और भूमिहीन मजदूरों का निवास होता है । बड़े पैमाने की पूंजीवादी कृषि में काश्तकार, पूंजीपति, मैनेजर, टैक्नीशियन और मजदूर वर्ग ग्राम समुदाय का निर्माण करते हैं ।

(३) **राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन पर प्रभुत्व.** भूमि-सम्बन्ध केवल विभिन्न वर्गों के प्रकार और आय को ही निश्चित नहीं करते, बल्कि वह उनकी आयों द्वारा गांव के राजनैतिक और सामाजिक जीवन पर उनके पारस्परिक प्रभुत्व या प्रभाव को भी निर्धारित करते हैं । जमींदारी प्रथा के अंतर्गत जमींदारों की संख्या थोड़ी होने पर भी गांव पर उनका राजनैतिक और सांस्कृतिक प्रभाव प्रबल होता है ।

(४) **सामाजिक शांति और स्थिरता.** भूमि-सम्बन्ध ही बहुत अंशों में ग्राम समुदाय की शांति और स्थिरता को प्रभावित करते हैं । एक समुदाय में भूमिहीन, अत्यन्त छोटे और असाधारण बड़े जमींदारों की उपस्थिति विभिन्न वर्गों में द्वेष और घृणा की सृष्टि करती है । यह द्वेष और घृणा अनेक बार क्रान्तिकारी भूमि-आन्दोलनों को जन्म देते हैं । फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति में वहां के कृषि-दासों का अपने सामन्तों के विरुद्ध विद्रोह, रूसी क्रान्ति में वहां के कृषि-दासों का कुलकों के विरुद्ध उठ खड़ा होना, इसके प्रमुख उदाहरण है । स्वयं भारत में ही जनता को अन्यायपूर्ण लगनेवाले भूमि सम्बन्धों ने ग्राम समुदाय की एकता को भंग कर वहां

विभिन्न वर्गों में पर्याप्त संघर्ष और कटुता की सृष्टि की है।

शिक्षा के अवसर. आज के समाज में प्रायः सम्पत्ति शिक्षा प्राप्त करने का मुख्य साधन है। भूमि-सम्बन्ध ग्राम समुदाय के विभिन्न वर्गों की आय को निर्धारित कर एक तरह उन वर्गों में शिक्षा और आगे बढ़ने के अवसरों को भी निर्धारित कर देते हैं। इस प्रकार भूमि-सम्बन्ध बहुत अंशों में अपने सदस्यों के बौद्धिक और शैक्षणिक विकास को भी निश्चित करते हैं। हम स्वयं इस तथ्य को अच्छी तरह अनुभव करते हैं कि भारत के गांवों में शिक्षा केवल कुछ उच्चतम समृद्ध वर्गों का ही एकाधिकार है। वही उसे प्राप्त करने के साधन जुटा सकते हैं।

रहन-सहन का स्तर

एक ग्राम समुदाय के रहन-सहन का दर्जा उसके विभिन्न वर्गों की आय से निर्धारित होता है। ग्राम समुदाय का मुख्य आधार कृषि है। अतः कृषि की अवस्था ग्राम समुदाय को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। सम्पत्ति की कुल मात्रा पर उत्पादन प्रणाली का प्रभाव पड़ता है और स्वयं विभिन्न वर्गों की आय भूमि-सम्बन्धों से निर्धारित होती है। किन्तु एक ऐसे ग्राम समुदाय में जहां के विभिन्न वर्गों की आय में भीषण असमानताएं विद्यमान हों, निम्नतम वर्ग की आय एक पर्याप्त समान आय वाले ग्राम समुदाय से अधिक हो सकती है। इसका कारण यहां पर सम्पत्ति की अधिकता है, जो कि उत्पादन प्रणाली और जनसंख्या के अनुपात का परिणाम है।

निम्न रहन-सहन का स्तर और कम असमानता. सोरोकिन, जिमरमैन, सिम्स इत्यादि समाजशास्त्री ग्रामों की जनता के रहन-सहन के दर्जे की समस्या पर गम्भीर विचार कर इस परिणाम पर पहुंचे है कि नगर की जनसंख्या की तुलना मे ग्राम की जनसंख्या का रहन-सहन का स्तर प्रायः सदा ही नीचा रहता है। इसका मुख्य कारण ग्राम की व्यक्तिगत कम औसत आय है। इसके अलावा इस सम्बन्ध मे एक और तथ्य दृष्टव्य है कि गांवो की जनसंख्या के विभिन्न वर्गों, जमीदारों, काश्तकारों, मजदूरों, दस्तकारों, बटाई पर खेती करने वालों के रहन-सहन में नगरों के विभिन्न वर्गों की तुलना में कम असमानता और अधिक एक-तत्वीयता पाई जाती है।

गैर आर्थिक कारण. यद्यपि आय विभिन्न वर्गों की उपस्थिति तथा उनके रहन-सहन के दर्जे को निश्चित करने के लिए मुख्यतः उत्तरदायी है, किन्तु अनेक सामाजिक कारण भी उसे प्रभावित करते हैं। भारत में जाति-प्रथा का इसमें महत्त्वपूर्ण हाथ है। इसके अतिरिक्त, सभ्यता का स्तर भी बहुत अंशो में गांवों के रहन-सहन के स्तर को प्रभावित करता है। हम जानते हैं कि—हमारे गांवों में पुस्तकालय, रेडियो, सिनेमा, डाकघर इत्यादि सुविधाएं अभी तक नहीं पहुंच सकी हैं।

अतः रहन-सहन का स्तर इनसे प्रभावित नहीं होता। पर फिर भी शहरों के सम्पर्क में आने से गांवों के रहन-सहन के स्तर पर निश्चित प्रभाव पड़ता है। ग्रामवासियों की रुचियों और प्रयोग की वस्तुओं में शहरी तत्वों का समावेश होने लगता है।

ग्रामजीवन के अध्ययन में नगरी समुदाय का गावों में रहन-सहन के स्तर पर प्रभाव और संघात का अध्ययन एक समाजशास्त्री के लिए महत्त्वपूर्ण है। गांवों का रहन-सहन का स्तर कोई अपरिवर्तनशील चीज नहीं है। उसमें निरन्तर परिवर्तन आते रहते हैं।

ग्राम-परिवार

गांवों में परिवार का महत्व. ग्राम संस्थाओं में परिवार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह उसका मुख्य आधार है। यह ग्रामवासियो के आर्थिक और सास्कृतिक जीवन और व्यक्तिगत आकांक्षाओं और रुचियों, चरित्र और शिक्षा का प्रमुख स्रोत है। कुछ विचारकों के अनुसार हमे गांव के सारे संगठन पर परिवार की छाप दिखाई देती है। परिवार उसमे सर्व व्याप्त है।

ग्राम समुदाय के संगठन कार्यों, विकास और अन्य संस्थाओं से उसके अन्तः सम्बन्धों के सिलसिलेवार अध्ययन के लिए गांवों में परिवार संस्था का अध्ययन अनिवार्य है।

कृषक ग्राम परिवार के मुख्य लक्षण

पितसत्ताक संयुक्त परिवार (Patriarchal Joint Family). अधिकांश विकसित ग्राम समाज मे, जो कि हलों की खेती पर आश्रित है, पितृसत्ताक संयुक्त परिवार परिवार का प्रमुख और प्रचलित रूप है। प्रमुख ग्राम-समाजशास्त्रियों ने इस प्रकार के परिवारों की निम्न प्रधान विशेषताएं गिनाई है :

(१) **अधिक एक-तत्वीयता** (Homogeneity). एक शहरी परिवार की तुलना मे ग्राम परिवार अधिक एकतत्वीय, स्थिर और एकीकृत होता है। यहा पर पति-पत्नी, माता-पिता और बच्चों के सम्बन्ध और बन्धन अधिक दृढ होते है। भारतीय गांवों के पारिवारिक जीवन की ओर दृष्टिपात करने से इस तथ्य को भलीभांति समझा जा सकता है। यद्यपि नये प्रभाव गांव में संयुक्त परिवार प्रथा को क्रमशः विघटित कर रहे है, पर फिर भी परिवार के सदस्यों पर इसका प्रबल प्रभाव है। गांव के संयुक्त परिवार में केवल एक केन्द्रीय परिवार के सदस्य ही साथ नहीं रहते, बल्कि अनेक बार दूर के सम्बन्धी भी उसके सदस्य होते हैं।

(२) **घर का समुवाय.** ग्राम परिवार के प्रायः सभी सदस्य कृषि या दस्तकारी के कार्य में एक साथ अपना-अपना सक्रिय सहयोग देते हैं, स्त्री-पुरुषों में उम्र के आधार पर श्रम का विभाजन पाया जाता है। एक साथ रहने, खाने और काम करने के कारण परिवार के सदस्यों में एकता की भावना दृढ़ होती है और उनमें

एक-सी अभिरुचियों और विचारों का विकास होता है।

(३) **अधिक अनुशासन और अन्तःनिर्भरता.** नगर के परिवार की तुलना में ग्राम-परिवार में अधिक अनुशासन पाया जाता है। चूंकि वहां पर प्रायः सार्वजनिक शिक्षा और मनोरंजन की व्यवस्था नहीं होती, ग्राम परिवार इन आवश्यकताओं को स्वयं पूरा करने का प्रयत्न करता है। यही उनके स्कूल, क्लब और चिकित्सालय के कार्य सम्पन्न करता है।

(४) **पारिवारिक अहं (Ego) का विकास.** ग्राम परिवार के सदस्यों की अत्यधिक अन्तःनिर्भरता उसके सदस्यों को एक दूसरे के ऊपर अधिक निर्भर बनाती है। वह परिवारों के सदस्यों को एक घनिष्ट सूत्र में बांधती है और उनमें एकता और सहयोग की भावना को दृढ़ करती है। इस प्रकार परिवार में सामूहिक चेतना की सृष्टि होती है और व्यक्तिवादी धारणाओं को स्थान नहीं मिलता। गांव में अगर परिवार का कोई सदस्य कोई बुरा काम करता है तो उससे सारे परिवार की बदनामी होती है। अगर उनमे से कोई अच्छा काम करता है तो उससे सारे परिवार का नाम ऊंचा होता है। इसलिए गांव वाले अपने खानदान की इज्जत रखने के लिए सब कुछ करने को तैयार होते हैं।

(५) **पिता की प्रभुता.** चूंकि ग्राम-परिवार अधिक एकीकृत और अनुशासित होता है, अतः घर के बड़े का उसके सदस्यों पर प्रबल शासन होता है। वह घर के विभिन्न सदस्यों के बीच काम बांटता है। लड़के, लड़कियों, भतीजे, भतीजियों का विवाह तय करता है। धार्मिक कार्यों का सचालन करता है, छोटों को खेती या दस्तकारी के काम की शिक्षा देता है और महत्वपूर्ण निर्णय करता है। उसे परिवार में असाधारण और सर्वोच्च सत्ता प्राप्त होती है। एक लेखक के शब्दों में गांवों में "एक परिवार के मुखिया को शासक, पुरोहित, शिक्षक और व्यवस्थापक के अधिकार प्राप्त होते हैं।"

(६) **विभिन्न कार्यों में अधिक घनिष्ठ सहयोग.** ग्राम परिवार के सदस्य घर के कार्य में घनिष्ठ या संयुक्त होने के कारण अपना अधिकांश समय एक दूसरे के निकट बिताते हैं। इसके विपरीत, नगरी परिवार विभिन्न कामों में लगे होने के कारण अधिकांश समय एक दूसरे से दूर ही बिताते है। यहां तक कि उनके मनोरंजन के केन्द्र भी घर से बाहर होते हैं। अतः उनके लिए घर केवल एक सोने का स्थान-मात्र रह जाता है।

(७) **शीघ्र विवाह और उनकी अधिक दर.** प्रायः ग्राम समुदाय के सदस्य नगरों का तुलना में कम उम्र में विवाह कर लेते हैं और वहां विवाहों की संख्या भी अधिक होती है। नगरों में अधिक उम्र तक अविवाहित रहने की प्रवृत्ति है।

(८) **परिवार सामाजिक दायित्व की इकाई.** चूंकि परिवार ही ग्राम-समुदाय

की प्रमुख इकाई है, अतः वही सब प्रमुख आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक कृत्यों को सम्पन्न करती है। वहां एक व्यक्ति का मूल्य उसके परिवार से आंका जाता है।

(९) **परिवार सामाजिक व्यवहार का मापदंड.** गांवों के सारे नैतिक नियम, धार्मिक शिक्षाएं और सामाजिक विधान उन सब बातों की निन्दा करते है जो कि परिवार की एकता को हानि पहुंचाते हैं। वह पत्नी और बच्चों को पूर्ण आज्ञा-पालन की शिक्षा देते है।

(१०) **राजनैतिक संगठन पर परिवार की छाप.** प्रायः गांवों का राजनैतिक संगठन भी उन सिद्धान्तों पर आधारित है जो कि एक ग्राम परिवार का निर्माण करते है। उनकी राजनैतिक विचारधारा राजा और प्रजा के सम्बन्धों को पिता और पुत्र के सम्बन्ध का रूप देती है। गांव का मुखिया एक पिता के समान है जिसे एक घर के सदस्यों की भांति सब मूक सहमति से स्वीकार करते है और उसकी आज्ञा का पालन अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। गांव के मुखिया के समस्त अधिकार उसे एक बड़े परिवार के मुखिया का दर्जा प्रदान करते है। गांव के मुखिया का कर्तव्य है कि गांव के विभिन्न सदस्यों की अपनी संतान की भांति रक्षा करे।

(११) **सहकारी सम्बन्ध.** ग्राम समुदाय के सदस्यों के आपसी सम्बन्ध मुख्यतः सहकारी (Co-operative) होते है जब कि शहरों में उसका रूप प्रधानतः एक ठेके का (Contractual) होता है। प्रमुख समाजशास्त्रियों की राय मे इसका कारण ग्राम और नगरी परिवार की भिन्नता है। सोरोकिन और जिमरमैन के शब्दों में "एक ग्राम परिवार में परिवार के सदस्य की एकता सहज और जैविक (Organic) होती है। वह साथ रहने, साथ काम करने, साथ अनुभव करने, साथ विश्वास करने से स्वतः फूट पड़ती है। उसके सदस्यों के बीच ठेके का रूप लिए सम्बन्ध बिल्कुल बेमौजू और परिवार की भावना के विरुद्ध होंगे, इसलिए कोई आश्चर्य नहीं ठेके की क़िस्म के सम्बन्ध परिवार-प्रधान (Familistic) समाजों में बहुत कम विकसित हुए है। इसके विपरीत, नगरों के परिवारों की भिन्न रुचियां और व्यक्तिवादी मनोवृत्ति होती है और वहां ग्राम-परिवार की तुलना में सहज सहयोग का अभाव होता है।

(१२) **परिवार उत्पादन (Production), उपभोग (Consumption) और विनिमय (Exchange) की इकाई.** ग्राम समुदाय के आर्थिक संगठन पर भी ग्राम-परिवार की छाप होती है। उत्पादन और उपभोग पर परिवार का प्रभुत्व रहता है। बाजार अविकसित होता है। नकद क्रय-विक्रय का स्थान मुख्यतः वस्तुओं और सेवाओं की अदल-बदल लेते है। समस्त आर्थिक सम्बन्धों में एक पारिवारिक भावना व्याप्त रहती है। भारत में जजमान-लागदार सम्बन्ध इसका एक

अच्छा उदाहरण हैं। एक जजमान के लागदार आदर्श रूप में अपने को एक बृहत् परिवार का सदस्य समझते हैं। उनके एक दूसरे को पुकारने तक की रीति इसकी पुष्टि करती हैं। वे चाचा-चाची, ताऊ-ताई इत्यादि नामों से सम्बोधित करते हैं। एक दूसरे के दुःख-दर्द, खुशी और गमी में वह सदा शरीक होते हैं। इसके विपरीत, नगर की अर्थ-व्यवस्था प्रधानतः बाजारी-अर्थ-व्यवस्था होती है। परिणामतः, नगर समुदाय के सदस्यों के सम्बन्धों में आर्थिक दृष्टिकोण, प्रतियोगिता और ठेके की प्रधानता रहती हैं।

(१३) **पारिवारिक धर्म और पूर्वज पूजा (Ancestor-Worship) की प्रभुता.** ग्राम समुदाय की विचारधारा और संस्कृति मे भी परिवारकी भावना व्यक्त होती हैं। उन पर परिवारकी परम्परा का प्रभुत्व होता है। धार्मिक कृत्यों और अन्य रस्मों का मुख्य उद्देश्य परिवार की समृद्धि और कल्याण होता है। भारत के अनेक भागों में कुलदेवता की पूजा उसका अच्छा उदाहरण है। इसके अतिरिक्त, ग्राम समाजों में पूर्वज-पूजा का सर्वत्र प्रचलन है। यहां तक कि देवी और देवताओं के आपसी सम्बन्ध भी परिवारयुक्त है। वह आपस मे एक दूसरे से माता-पिता, भाई-बहन इत्यादि रूप में सम्बन्धित माने जाते हैं।

(१४) **परम्परा की प्रभुता.** उक्त सब कारणों के कारण ग्राम-समुदाय, नगर-समुदाय की तुलना में कम गतिशील होता है और वहां पर परम्परा सामाजिक व्यवहार के समस्त क्षेत्रों पर शासन करती है। इस परम्परा मे बहुत धीमे परिवर्तन होते है।

भारत में ग्राम परिवार

औद्योगिक क्रान्ति और प्रतियोगी बाजार की अर्थ-व्यवस्था के आक्रमण और प्रवेश से पहले परिवारवाद (Familism) भारत के ग्राम समुदायों का प्राण था। आधुनिक उद्योगों के विकास ने गांवों की आवश्यकता-पूर्ति की अर्थ-व्यवस्था को (Subsistence Economy) समाप्त कर पूंजीवादी प्रतियोगी अर्थ-व्यवस्था की बुनियाद डाली। इस रूपान्तरण और नगरों के अन्य प्रभावों ने ग्राम परिवार में विघटन की सृष्टि की और वह क्रमशः अपने पुराने पारिवारिक गुणों को खोने लगा। पाश्चात्य देशों की तुलना में अभी भी यहां के गांवों में नगरी प्रभावों का प्रवेश बहुत कम हुआ है। फिर भी गांवों में रोजगार की कमी और शहरों में आर्थिक उन्नति के नये अवसरों ने संयुक्त परिवार के अनेक सदस्यों को नगरों में जाने को प्रेरित किया है। इस प्रवृत्ति ने संयुक्त परिवार विभक्त होने में सहायता पहुंचाई है। इसके अलावा नगर से आने वाली व्यक्तिवादी मनोवृत्ति ने इस प्रवृत्ति को और भी बढ़ावा दिया है।

आधुनिक उद्योगों के विकास ने ग्राम परिवार के बहुत-से आर्थिक कृत्यों को

भी समाप्त कर दिया है। पहले गांव की स्त्रियां अपने कपड़ों के लिए सूत कात या बुन लेती थीं। लेकिन मिल के सस्ते कपडे से इसको बहुत धक्का पहुंचा है। इस प्रकार परिवार के सदस्यों के सम्मिलित श्रम का क्षेत्र बराबर सीमित और संकीर्ण होता जा रहा है।

स्कूलों और हस्पतालों और अन्य सरकारी संस्थाओं के रूप में गांवों में राज्य का हस्तक्षेप बराबर बढ़ता जा रहा है। शिक्षा और चिकित्सा अब परिवार के हाथ मे निकलकर बाह्य संस्थाओं के हाथ मे चली जा रही है। बीमारी की चिकित्सा में घर के बूढ़े-बूढ़ियों के घरेलू नुस्खों का स्थान अब डाक्टर के रूप में एक गैर आदमी लेता जा रहा है। सरकारी न्याय संस्थाओं ने पंचायत के प्रभुत्व को कम या समाप्त कर दिया है। जाति कानूनों का स्थान सरकारी कानूनों ने ले लिया है। संक्षेप में ग्राम परिवार के कृत्यों और प्रभुता में निरन्तर कमी आती जा रही है, उसकी एकता क्षीण हो रही है।

ग्राम्य धर्म

ग्राम्य धर्म ग्राम-समुदाय के व्यवहार और सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित करने मे महत्वपूर्ण पार्ट अदा करता है। अतः ग्राम-जीवन के अध्ययन में इसका प्रमुख स्थान है।

धर्म की प्रभुता. प्रायः सभी ग्राम-समुदायों का अध्ययन कर समाजशास्त्री इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि नगरों की तुलना मे ग्रामों में धर्म की ओर अधिक रुझान होता है। कृषि पर निर्भरता, जिसकी सफलता बहुत कुछ प्रकृति की कृपा पर आश्रित है, तथा प्राकृतिक शक्तियों के वास्तविक रूप का अज्ञान और वैज्ञानिक संस्कृति का अभाव गावों में अधिक धार्मिकता के मुख्य कारण हैं। प्रायः जीववाद (Animism), जादू-टोना, भूत-प्रेत, देवी-देवता, उनके धर्म का प्रधान अंग हैं। इसकी तुलना में नगर का धर्म प्रायः अधिक परिष्कृत, चिंतनशील और अन्तर्मुखी है। ग्राम्य धर्म बहिर्मुखी और कर्मकांड प्रधान है।

ग्रामवासियो की धार्मिक वृत्ति मुख्यतः उनके बौद्धिक भावात्मक और व्यावहारिक जीवन को शासित करती है। धर्म उनके समस्त जीवन और कार्यों में व्याप्त है। परिवार, जाति, सामाजिक जीवन, आर्थिक कृत्य, और यहां तक कि मनोरंजन पर भी, धर्म का रंग चढ़ा रहता है। धार्मिक कल्पनाएं ही उनकी नैतिक मान्यताओ को निर्धारित करती हैं। चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तु कला, संगीत कला, लोक गीतो इत्यादि का रूप और विषयवस्तु, सामाजिक और आर्थिक त्योहारों, सब ही पर धर्म का प्रभुत्व दिखाई देता है।

प्राग्-औद्योगिक अर्थ व्यवस्था में तो धर्म का गांवों के सामाजिक जीवन पर एकछत्र राज्य था। यहां तक कि शरीरशास्त्र, चिकित्सा विज्ञान, ज्योतिष, गणित,

कृषि-शास्त्र, समाज-शास्त्र, आचार-शास्त्र इत्यादि लौकिक विज्ञानों पर भी उसी का प्रभुत्व था और वह भी धार्मिक रंग में रंगे हुए थे और उन पर पुरोहित वर्ग का एकाधिकार था।

आवश्यकता-पूर्ति की अर्थ-व्यवस्था के अंतर्गत सभी क्षेत्रों में गांव का नेतृत्व भी पुरोहित वर्ग के हाथ में था। सामाजिक रूढ़ियां धार्मिक विश्वासों का परिणाम थीं। धार्मिक नेता और संस्थाएं उनकी संरक्षक थीं।

नई प्रवृत्तियां. औद्योगिक क्रान्ति, नगर के प्रभावों, लौकिक कार्यों, राज्य के बढ़ते हस्तक्षेप, ऐहिक (Secular) शिक्षा के बढ़ते प्रसार और नये राजनैतिक नेतृत्व गांवों में धर्म के प्रभाव को क्रमशः क्षीण करते जा रहे हैं। इस प्रकार ग्राम जीवन पर धार्मिक नेताओं की प्रभुता और शासन धीरे-धीरे समाप्त हो रहे हैं। बावजूद इसके, धर्म अभी भी ग्रामवासियों के आचरण पर पर्याप्त प्रबल प्रभाव डालता है और नगरों की तुलना में वह वहां पर अभी भी बहुत शक्तिशाली है और रहेगा।

ग्राम्य धर्म बनाम नगरी धर्म

प्राकृतिक शक्तियों, पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों की पूजा, जादू-टोना, बहुदेव-वाद (Polytheism), पुराण (Mythology), भूत-प्रेत इत्यादि जैसे भोंड़े और स्थूल विश्वास प्रायः ग्राम्य धर्म का अंग होते हैं। इसके विपरीत, नगर के धर्म और विश्वास का रूप प्रायः सूक्ष्म, सुन्दर, बौद्धिक और गंभीर होता है। यह आदर्श-वादी विचारकों के गूढ़ चिन्तन का परिणाम होता है। नगर का धर्म चरम सत्य का स्वभाव, मानवज्ञान का प्रारम्भ इत्यादि गंभीर समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न करता है।

जब कि ग्राम्य धर्म का रुझान कठोरता और स्थूलता की ओर होता है, नगर धर्म अमूर्त सूक्ष्मताओं की ओर प्रवृत्त होता है। जबकि ग्रामबासी बहुदेवी-देवताओ की मनौती करते हैं, नगर के शिक्षित वर्ग संसार के आदर्शवादी दृष्टिकोण की ओर झुकते हैं। यही नही, नगरों में तर्कप्रधान बुद्धिवाद और दार्शनिक भौतिकवाद जैसे आंदोलन भी जन्म लेते और फलते हैं, जब कि गावों में इनका कोई स्थान नहीं है।

इस सम्बन्ध मे हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ग्राम्य या नगरी धर्म कोई सर्वथा निश्चित, स्थायी और अपरिवर्तनीय वस्तु नहीं है। बावजूद भिन्नता के, उनमें अनेक समानताएं भी ढूंढ़ी जा सकती है। फिर भी नगरवासियों की तुलना मे ग्राम-वासियों की धार्मिकता और धार्मिक विश्वासों में प्रायः पर्याप्त अन्तर रहता है। ग्राम और नगर समुदायों के संगठन और जीवन के अन्तर उसके लिए प्रधान रूप से उत्तरदायी कहे जा सकते हैं। अन्ततः, नगरी और लौकिक प्रभाव ग्राम्य धर्म में

निरन्तर परिवर्तन उपस्थित करते रहते हैं।

ग्राम्य समुदाय की सौन्दर्यात्मक संस्कृति (Aesthetic Culture)

सौन्दर्यात्मक कृतियां और कार्य (Aesthetic Activities) किसी समाज की संस्कृति का महत्वपूर्ण अंश है। कला के क्षेत्र में यह यहां के निवासियों के आदर्श, आकांक्षा, स्वप्न, मूल्यों और धारणाओं तथा साहित्य के रूप में यह उनके प्राकृतिक और सामाजिक ज्ञान को अभिव्यक्त करती है।

रेखाचित्र, चित्रकला, मूर्तिकला, नक्काशी, पच्चीकारी, सूक्ष्म वस्तकारी, जनवार्त्ता (Folklore), किस्से, कहावतें, पहेलियां, कविता, संगीत, नृत्य और अभिनय एक ग्राम सौन्दर्यात्मक संस्कृति के प्रधान अंग है।

ग्राम-सौंदर्यात्मक संस्कृति के प्रधान लक्षण

प्रमुख समाजशास्त्रियों ने आवश्यकतापूर्त्ति-प्रधान (Subsistence) सौन्दर्यात्मक संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषताओं को खोजने का प्रयास किया है। उन्होंने उसके निम्न प्रधान लक्षण बताए है :

(१) **जीवन से कला की आत्मीयता.** सोरोकिन के शब्दों में ऐसे समाजों मे "कलाएं" धर्म, जादू-टोने, बौद्धिक प्रयत्नों और अन्य कार्यो से पृथक् न थीं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यहां तक कि कृषि कार्य में भी इनका प्रवेश था और यह धर्म और अन्य सांस्कृतिक क्रियाओं का अभिन्न अंग थीं।"

(२) **कलात्मक कृत्यों में जनता का सामूहिक योगदान.** आधुनिक समाजों की तरह आवश्यकतापूर्त्ति-प्रधान ग्राम समाजों मे कलाकारों और जनता के बीच कठोर विभाजन न था। वहां पर समूह के सारे ही सदस्य उसमे भाग लेते थे। वह श्रोता भी थे और अभिनेता भी, कलाकार भी और दर्शक भी, वहा पर कोरा कलाकार वर्ग न था। कलात्मक कृतियों में इस सामूहिक योगदान को आज भी शहरी सभ्यता से कम प्रभावित गांवों में देखा जा सकता है। लोक-नृत्यों, लोक-गीतों और त्यौहारों के अवसर पर इसकी सुन्दर अभिव्यक्ति होती है।

(३) **परिवार प्रधान (Familistic) कला.** जैसा कि हमें पीछे जिक्र कर चुके है कि ग्राम्य जीवन के प्रत्येक पहलू पर परिवार की छाप है। उसकी कला भी उससे मुक्त नही हैं। परिवार के सदस्यों का जन्म, विवाह, रोग, मृत्यु, ग्राम्यकला के मुख्य विषय है। उसकी अभिव्यक्ति, विषयवस्तु, उपमाओं, प्रतीकों पर पारिवारिकता व्याप्त है।

(४) **कला की सरलता.** सामान्य भौतिक संस्कृति के निम्न स्तर के कारण ग्राम्य कला की टैकनीक और साधन सरल थे। वह गांव की दस्तकारी से बने होते थे अथवा स्वयं परिवार के लोग मिलकर उन्हें तैयार कर लेते थे। उदाहरण के लिए, ढोल, नगाड़ा, ढोलक, बांसुरी, खंजरी, एकतारा, खड़ताल, थाली, गागर, लोटे और

घड़े जैसी वस्तुएं उनके प्रधान वाद्य यंत्र थे। आधुनिक हारमोनियम, पियानो जैसे जटिल साधनों का निर्माण और प्रयोग प्राचीन ग्राम समाजों में संभव न था। यही साधनों की सरलता अन्यत्र भी देखी जा सकती थी।

(५) **कृषि की जीवन प्रक्रियाएं कला की मुख्य विषयवस्तु.** ग्राम समुदायों की कला में कृषि की छाप सर्वत्र दिखाई देती है। उनके संगीत, लोकगीत, नृत्य, कहानियों, पहेलियों, अभिनय पर उसका प्रबल प्रभाव था। यद्यपि वास्तुकला (भवन-निर्माण), मूर्त्ति कला, और डिजाइनों और सजावट पर यह प्रभाव उतना प्रत्यक्ष न था। चूंकि कला जीवन पर आधारित थी, अतः उस पर जीवन की छाप स्वाभाविक थी। उदाहरण के लिए, ग्राम समाजों के गीतों, नृत्यों और अभिनय में हमें हल चलाने, फसल बोने, निराने, काटने, उड़ाने, गाहने, पानी भरने, धान कूटने इत्यादि कार्यों का प्रधानरूप से चित्रण मिलता है। इसके अलावा परिवार, धर्म, जादू, कला के अन्य मुख्य विषय थे। स्थानीय पेड़-पौधों, फल-फूलों, जीव-जन्तुओं पशु-पक्षियों का उसमें कलात्मक चित्रण था। ज्यामितिक डिजाइनों मे कृषि से सम्बन्धित जादू-टोने के गोपनीय अर्थों का समावेश था। इसकी कला पर दैनिक जीवन का प्रबल प्रभाव था।

(६) **कलाकृतियों का सामूहिक सृजन और सामूहिक अभिव्यक्ति.** जब कि शहरों मे गीत, चित्र, कहानियां व्यक्ति विशेष की कृति के रूप मे प्रकट होती है, ग्रामों मे उसका रूप सामूहिक था। उनका श्रेय किसी एक व्यक्ति को प्राप्त न था, वह सारे समुदाय के सम्मिलित प्रयत्नों का परिणाम थी, उनके पीछे पुश्तों के प्रयत्न छिपे हुए थे। अनामता (Anonymity) ग्राम कलाकारों की प्रमुख विशेषता थी। इसके अतिरिक्त ग्राम्य कला मे पीढियों के जीवन के अनुभव संचित थे। इसीलिए नगर की कला अधिक संयुक्त और स्थायी कही जा सकती है।

(७) **व्यापार वृत्ति का अभाव.** आवश्यकतापूर्ति-प्रधान समाजों मे वस्तुएं बिक्री की चीजे नहीं होती। अतः वहां पर कलाकार भी नगरों की तरह बेचने के लिए कला की कृतियों का निर्माण या प्रदर्शन नही करते। गांवों के कलाकार ग्राम समुदाय या परिवार के उपभोग और आनन्द के लिए उनका निर्माण और प्रदर्शन करते है। ग्राम की कला में मुनाफा वृत्ति का अभाव है। बहुत अंशों में उसे स्वान्तः सुखाय या कला कला के लिए उक्ति की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। कला ही ग्राम कला का प्रधान उद्देश्य है।

ग्राम-कला का रूपान्तरण

ऊपर हमने जिस ग्राम कला का जिक्र किया है, वह बहुत कुछ आत्मनिर्भर नगरों और उद्योगीकरण के प्रभावों से दूर, व्यापारिक दृष्टि से अविकसित ग्रामों की कला कही जा सकती है। लेकिन ग्राम समुदाय के समस्त पहलुओं की भांति

इस पर भी निरन्तर बाह्य प्रभाव कार्य कर रहे हैं जो कि इसके इस आदर्श रूप को परिवर्तित करते रहते है।उक्त अवस्था हमें प्राचीन किस्म के गांव में ही मिल सकती है। अतः ग्राम की कला का अध्ययन करते समय उसके परिवर्तनों को ध्यान में रखना जरूरी है।

हम स्वयं आज अपने गावों मे देख सकते है कि किस प्रकार सिनेमा संगीत और राग लोकगीतों और स्थानीय रागों का स्थान लेते जारहे है। सिनेमा ग्रामोफोन, रेडियो और नगरों के संपर्क ने जीवन के अन्य क्षेत्रों के साथ-साथ कला का भी प्रभावित किया है। यह प्रभाव गांवों की सौन्दर्यात्मक (Aesthetic) संस्कृति के क्रमिक नगरीकरण मे देखा जा सकता है।

भारतीय ग्रामों म जाति-व्यवस्था (Caste System)

जातियों में विभाजन भारतीय ग्राम के संगठन की एक अनुपम विशेषता है। यहा पर जाति ही मुख्यतः किसी व्यक्ति के सामाजिक दर्जे (Status) और कार्य (Function), उसके उन्नति के अवसरों, उसकी योग्यता और अयोग्यताओं को निर्धारित करती है। यहां तक कि जाति भेद गांवों के विभिन्न वर्गों के पारिवारिक और सामाजिक जीवन, खान-पान, कपड़ों, रहने के स्थानों, घर के डिजाइनों, सामाजिक सम्बन्धों और आर्थिक स्थिति को अत्यधिक रूप से निश्चित करते ह। भूमि के स्वामित्व पर भी जाति का प्रभाव देखा जा सकता है। गांवों के शासन के कार्य भी प्रायः जाति के आधार पर बंटे होते है। बहुत अंशों में जाति ही अपने समूह के सदस्यों के धार्मिक और लौकिक कृत्यों को निर्धारित करती है। जाति पर आधारित विभिन्न सामाजिक वर्गों ने एक निश्चित मनोवृत्ति को जन्म दिया है और सामाजिक दूरी (Social distance) तथा ऊंच-नीच के सम्बन्धों का सूक्ष्म विकास किया है। हाल ही में गांवों में बालिग मताधिकार और प्रजातन्त्र के प्रवेश ने जाति-भावना को और भी अधिक दृढ़ कर दिया है। इस लिए भारतीय ग्राम जीवन का कोई भी अध्ययन बिना जाति व्यवस्था के संगठन को समझे हुए सर्वथा अधूरा है।

आधुनिक यातायात और संवादवहन के साधनों, केन्द्रीय शासन, उद्योगीकरण और गांवों में बालिग मताधिकार, प्रजातंत्र और सामुदायिक योजनाओं के प्रवेश ने ग्राम-जीवन को अत्यन्त प्रभावित किया है। अनेक जातियों को अपने पुराने काम छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा है, निम्न और शोषित जातियों को ऊंचा उठने का मौका मिला है, नये-नये संघर्षों की सृष्टि हुई है। इससे यह स्पष्ट है कि जाति-व्यवस्था कोई अपरिवर्तनीय संस्था नहीं है। उसमें निरंतर परिवर्तन आ रहे है। ग्राम जीवन का अध्ययन करते समय उन परिवर्तनों को ध्यान में रखना आवश्यक है। फिर भी जाति-प्रथा गांवों में अभी पर्याप्त सुदृढ़ है और शीघ्र ही इसकी

समाप्ति के कोई आसार नजर नहीं आते। इस सम्बन्ध में यह तथ्य आजकल विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य है कि ग्राम विशेष में किसी जाति के पास कितनी जमीन और उसके सदस्यों की कितनी संख्या है, यह तथ्य वहां की अधिकारी सत्ता (Authority) और सामाजिक सम्बन्धों को समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

परिवर्तित ग्राम-समुदाय

अन्य सब वस्तुओं की भांति ग्राम-समुदाय भी अपने प्रारम्भ से ही निरंतर परिवर्तित हो रहा है। उसकी यंत्र विद्या (Technology) अर्थ-व्यवस्था, सामाजिक संस्थाए, उसकी विचारधाराएं, कला और धर्म मे सदा रूपान्तरण होता रहा है। इस रूपान्तरण की रफ्तार कभी हल्की तो कभी तेज रही है। यह परिवर्तन प्राकृतिक और कृत्रिम दोनों ही प्रकार के हो सकते है। अकाल, बाढ़ इत्यादि प्राकृतिक घटनाएं अनेक बार ग्रामों के सामाजिक जीवन मे भीषण विशृंखलता उत्पन्न कर देती है। पर सामाजिक रूपान्तरण में मनुष्य की संस्कृति के विकास का हाथ मुख्य है। यह सांस्कृतिक विकास कई बार स्वत: ही कुछ ऐसे संस्थात्मक और कार्यात्मक परिवर्तनों को जन्म देता है कि बिना किसी विशेष योजना और प्रयत्न के सामाजिक परिवर्तन हो जाते है। किन्तु इस प्रकार के परिवर्तन प्राय: सामाजिक विघटन की सृष्टि करते है। अनेक बार यह परिवर्तन एक सुनिश्चित योजना का परिणाम होते है। आज के युग मे आयोजित (Planned) परिवर्तनो का महत्व विशेष रूप से बढ़ गया है। उदाहरण के लिए, भारत में सामुदायिक योजनाओं (Community Project) के विस्तार द्वारा होने वाले परिवर्तनों को हम बहुत अंशों मे आयोजित परिवर्तन कह सकते है।

ग्राम-समुदाय के सामाजिक जीवन और सामाजिक सम्बन्धों में यान्त्रिक (Technological) परिवर्तनों का प्रमुख हाथ रहा है। कुदाल (Hoe) की कृषि से ट्रैक्टर की कृषि तक के परिवर्तनों ने उसमें क्रान्तिकारी रूपान्तरण उपस्थित किया है। इसके अलावा, राज्य द्वारा केन्द्रीय कानून बनाकर ग्रामों के सामाजिक सम्बन्धों और ढांचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते है। उदाहरण के लिए भारतीय गावों में बालिग मताधिकार और पंचायत राज्य का प्रवेश गांवों के अपने निर्णय का परिणाम न होकर केन्द्रीय कानून का परिणाम है। इन परिवर्तनों को हम अनिवार्य (Compulsory) परिवर्तनों का नाम दे सकते है।

बाहर के लोगों द्वारा गांवों में जाकर लोगों को किसी नये कार्य को करने या नयी रीति को अपनाने को कहना, समझाने का तरीका (Persuasive) ह। किसी नयी विधि या कार्य को करके उसकी सफलता को प्रदर्शित करन का एक अन्य प्रदर्शनात्मक तरीका (Demonstrative method) है। आज की सामुदायिक योजनाओं के कार्यकर्त्ता सामाजिक परिवर्तन लाने में उक्त दोनों तरीकों को विशेष रूप से प्रयुक्त कर रहे है।

इसके अलावा बायकाट, हड़ताल, क्रान्ति इत्यादि साधनों से भी गांवों में रूपान्तरण उपस्थित होते है। इन तरीकों को सामाजिक दबाव (Social Pressure) का नाम दिया जाता है। अन्त में, बाह्य प्रभावों का सम्पर्क (Contact) तथा लौकिक सार्वजनिक शिक्षा का प्रसार गांव में सामाजिक परिवर्तन लाने के प्रभावशाली साधन हैं।

ग्राम-समुदाय का अध्ययन करते समय इन समस्त परिवर्तनों को ध्यान में रखना जरूरी है।

ग्राम और नगरी जीवन के प्रमुख अंतर

समाजशास्त्रियों ने ग्राम-समुदाय को नगरी समुदाय से पृथक् करने के लिए विशेष मानदंड निर्धारित किये हैं। जनसंख्या के तत्व, सांस्कृतिक विरासत, भौतिक सम्पत्ति की मात्रा, सामाजिक संगठन और जीवन की सरलता और जटिलता, सामाजिक सम्पर्कों की अल्पता और अधिकता इनमें से प्रमुख है।

ग्राम समुदाय को नगरी समुदाय से अलग करने मे निम्न मापदंड मुख्य है :

१. पेशों (Occupation) में अन्तर।
२. वातावरण (Environment) के अन्तर।
३. समुदायों के आकार (Size) के अन्तर।
४. जनसंख्या के घनत्व (Density) के अन्तर।
५. जनसंख्या की एकतत्वीयता (Homogeneity) और बहुतत्वीयता (Heterogeneity) के अन्तर।
६. सामाजिक गतिशीलता (Mobility) के अन्तर।
७. निष्क्रमण या परिव्रजन (Migration) की दिशा के अन्तर।
८. सामाजिक विभेदीकरण (Differentiation) और सामाजिक स्तरीकरण (Stratification) के अन्तर।
९. सामाजिक अन्तःक्रिया (Interaction) की पद्धति के अन्तर।

सोरोकिन और जिमरमैन ने ग्राम और नगरी समुदाय के प्रमुख अन्तरों को निम्न प्रकार व्यक्त किया है :

१. पेशे. गांवों में अधिकांश परिवार खेती करते है और वहां पर गैरकृषकों की संख्या बहुत कम होती है। इसके विपरीत, नगरों के निवासी मुख्यतः पक्के माल के बनाने, व्यापार, शासन, सेवाओं इत्यादि विभिन्न कार्यों में लगे होते हैं।

२. वातावरण. गांवों में मानव-सामाजिक वातावरण पर प्रकृति की प्रभुता होती है और ग्रामवासियों का प्रकृति से सीधा सम्बन्ध होता है। इसके विपरीत, नगर प्रकृति से पर्याप्त दूर होते है। यहां पर प्राकृतिक वातावरण की तुलना में मानव द्वारा निर्मित वातावरण की प्रभुता, ताजी हवा की कमी, पत्थर और लोहे की

बहुतायत होती है ।

३. **समुदाय का आकार.** ग्राम-समुदाय का आकार छोटा होता है । खुले हुए खेत और छोटे समुदाय गांवों की विशेषता है । थोड़ी जनसंख्या और कृषि का अभिन्न सह-सम्बन्ध है । इसके विपरीत, एक देश और एक समय में, गांवों की तुलना में नगरों की जनसंख्या का आकार बहुत बड़ा होता है । दूसरे शब्दो मे अधिक जन-संख्या और नगरों में एक निश्चित सह-सम्बन्ध (Correlation) है ।

४. **जनसंख्या का घनत्व.** गांवों में जनसंख्या का घनत्व नगरों की तुलना में बहुत कम होता है । सामान्यतः गांवों और घनत्व में सह-सम्बन्ध है । इसके विपरीत, गांवों की तुलना में नगरों की जनसंख्या का घनत्व अत्यधिक होता है । नगरों के विकास और जनसंख्या के घनत्व की वृद्धि मे एक निश्चित सह-सम्बन्ध पाया जाता है ।

५. **जनसंख्या की एकतत्वीयता और बहुतत्वीयता.** गांवों की जनसंख्या नगरों की तुलना में नस्ली और सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक एकतत्वीय होती है । इसके विपरीत, नगरों की जनसंख्या अधिक बहुतत्वीय होती है । नगरों के विकास और बहुतत्वीयता की वृद्धि मे एक निश्चित सह-सम्बन्ध पाया जाता है ।

६. **सामाजिक विभेदीकरण और स्तरीकरण.** गांवो मे शहरों की तुलना में कम विभेदीकरण और स्तरीकरण होता है । श्रम-विभाजन सरल होने के कारण बहुत थोड़े पेशेगत वर्ग होते है । इसके विपरीत, नगरों में सूक्ष्म श्रम विभाजन और नाना प्रकार के अनेक नये उद्योगों की वृद्धि नये-नये वर्गों को जन्म देती है । अतः यहा पर विभेदीकरण और स्तरीकरण अत्यधिक होता है । नगरों के विकास और विभेदीकरण और स्तरीकरण की वृद्धि मे निश्चित सह-सम्बन्ध है ।

७. **गतिशीलता.** गांवों में नगरों की तुलना में स्थान और पेशे का परिवर्तन बहुत कम होता है। यदि निष्क्रमण होता भी है तो गांव वाले शहरों की ओर जाते है । नगरों के विकास और गतिशीलता में सीधा सह-सम्बन्ध है । यहा पेशेगत गतिशीलता नगरों की तुलना में अधिक होती है । लोग सरलता और शीघ्रता से एक काम छोड़ कर दूसरा काम अपना लेते है । केवल भीषण संकट की ही अवस्था में नगरवासी गांवों की ओर निष्क्रमण करते है ।

८. **अन्तःक्रिया की पद्धति.** गांवों मे प्रति व्यक्ति के सम्पर्कों की संख्या नगरों की तुलना मे कम होती है । उसके सदस्यों की अन्तःक्रिया का क्षेत्र भी सीमित होता है । उनके अधिकांश सम्पर्क प्राथमिक समूहों तक सीमित रहते है । वहां व्यक्तिगत और अपेक्षया स्थाई सम्बन्धों की प्रधानता रहती है और सम्बन्धों की सरलता और सचाई पाई जाती है । "यहां मनुष्य मानव प्राणी के रूप में अन्तःक्रिया करता है ।" इसके विपरीत, नगरों में सम्पर्कों की संख्या अत्यधिक होती है । यहां प्रति-

व्यक्ति की अन्तःक्रिया क्षेत्र विस्तृत होता है और उसके सम्पर्कों में माध्यमिक (Secondary)सम्पर्कों की प्रधानता रहती है। यहां पर आपसी व्यवहार में अधिक तकल्लुफ, बहुमुखता, दिखावटी और रूढ़ शिष्टाचार पाया जाता है। यहां पर मनुष्य मनुष्य के प्रति 'संख्या' या उसके 'पते' के रूप में अन्तःक्रिया करता है।

नगरों का विकास

दस्तकारी और व्यापार की वृद्धि से नगरों का उदय. सामुदायिक जीवन के विकास में नगरों का उदय काफी बाद की घटना है। जिस प्रकार कृषि के प्रारम्भ होने के साथ ग्रामों का बसना शुरू हुआ, उसी प्रकार उद्योग खाद्य वस्तुओं तथा पक्के माल को ले जाने की सुविधाओं के बढ़ने, परिणामतः, व्यापार की उन्नति और वृद्धि के साथ नगरों का उदय हुआ। नगर दस्तकारी की वस्तुओं के निर्माण और क्रय-विक्रय तथा खाद्य पदार्थों के क्रय-विक्रय के केन्द्र बने। इस प्रकार उन स्थानों पर जहां यातायात की सुविधाएं थी, वस्तुओं की पर्याप्त माग थी, अथवा आस-पास कच्चे माल के मिलने की पर्याप्त सुविधाएं थीं, अथवा जहाँ राजधानियां थी, छोटे-बड़े नगर बन गये। वह स्थान और बन्दरगाह जहाँ से कि माल देश-देशान्तरों को भेजा जाता था, बड़े व्यापारिक नगरों के रूप में विकसित हो गये। इसके अतिरिक्त, विभिन्न प्रकार की वस्तुएं बनाने वाले उत्पादन-केन्द्र औद्योगिक नगरों के रूप मे विकसित हो गये। कुछ स्थानों ने धार्मिक पवित्रता, परिणामतः वहां पर बड़ी संख्या में लोगों के आने-जाने के कारण, नगरों का रूप धारण कर लिया।

उद्योगीकरण (Industrialisation), नगरों की वृद्धि और विस्तार. औद्योगिक क्रान्ति से पहले नगर प्रायः छोटे होते थे। औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पादन के तरीके में आमूलचूल परिवर्तन कर बड़े पैमाने के उत्पादन की नीव डाली। इस बड़े पैमाने के उत्पादन के लिए बड़ी राशि में पूंजी की आवश्यकता थी और साथ ही इसके अन्तर्गत एक ही उत्पादन-संस्थान में एक साथ बहुत बड़ी संख्या में मजदूरों का काम करना अनिवार्य हो गया। किसी स्थान पर प्राप्त सुविधाओं के कारण एक मुख्य उद्योग की स्थापना हुई और उस एक मुख्य उद्योग के स्थापित होने पर अनेक पूरक और सहायक गौण उद्योगों की स्थापना हुई। इन उद्योगों के क्रय-विक्रय की मांग को पूरा करने के लिए विभिन्न और निरंतर बढ़ने वाली व्यापारिक यातायात और संवादवहन की सुविधाओं की आवश्यकता उत्पन्न हुई और समय बीतने पर छोटे-छोटे औद्योगिक नगर, अन्ततोगत्वा बृहत् नगरों में परिवर्तित हो गये। इस प्रकार उद्योगीकरण ने नगरों की वृद्धि और विस्तार में पर्याप्त योगदान दिया। वास्तव में उद्योगीकरण और नगरीकरण एक समानान्तर प्रक्रिया बन गये।

भारत में नगरों का विकास. शिल्पकला और दस्तकारी के पर्याप्त विकास के साथ भारत में नगरों की स्थापना शुरू हुई। मौर्य युग में हमे पाटलिपुत्र, उज्जैन, ताम्रपर्णी इत्यादि नगरों का वर्णन मिलता है। सारे मध्यकाल में देश भर में विभिन्न छोटे-बड़े नगर विद्यमान थे। यह नगर मुख्यत: शिल्प और व्यापार के केन्द्र थे और इन्हीं में प्राय: राजधानियां थीं। अंग्रेजी शासन की स्थापना के फलस्वरूप, देशी राज्यों और दस्कारी के नष्ट होने के बाद, इनमें से अधिकांश नगरों का प्राचीन वैभव नष्ट हो गया। उनके स्थान पर नये औद्योगिक नगरों का विकास प्रारम्भ हुआ। कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद, मद्रास, टाटानगर, कानपुर इनमें से प्रमुख हैं। यों तो भारत में उद्योगीकरण प्रारम्भ हुए आज प्राय: एक शताब्दी हो चुकी है, लेकिन यह देश अभी भी मुख्यत: खेती पर निर्भर है और इसकी ८३ प्रतिशत जनता गांवों में रहती है। बावजूद उद्योगीकरण की मन्द प्रगति के, पिछले तीस सालों में नगरों की जनसंख्या में असाधारण वृद्धि हुई है। पिछले दस वर्षों में तो इस वृद्धि ने बहुत ही उग्र रूप धारण कर लिया है। १९४१ और १९५१ के बीच हमारे नगरों की जनसंख्या में ५४ प्रतिशत वृद्धि हुई है। भारत की लगभग १७ प्रतिशत जनता शहरों में रहती है। नगरवासियों की संख्या की असाधारण वृद्धि ने आज नगरों में अनेक सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को उत्पन्न कर दिया है। देश-निर्माण की किसी भी योजना में इनका समाधान होना आवश्यक है। उद्योगीकरण और नगरीकरण की ओर कदम उठ चुका है, उसकी प्रगति को नहीं रोका जा सकता। अत: यह आवश्यक है कि हम उसके समुचित नियंत्रण का प्रयत्न करें।

उद्योगीकरण और नगरों के विकास से उत्पन्न समस्या का समाधान करने से पहले उसकी प्रमुख विशेषताओं और सामाजिक-आर्थिक जीवन पर उसके प्रभावों को जानना जरूरी है।

नगर की विशेषता

नागरिक-जीवन ग्राम-जीवन से पर्याप्त पृथक्. नगरों के जीवन में ग्राम-जीवन से पर्याप्त मौलिक मतभेद है। यों तो मध्यकालीन और आधुनिक नगरों के जीवन में भी पर्याप्त अन्तर है, पर तत्त्वत: आधुनिक नगरों ने मध्यकालीन नागरिक जीवन की कुछ विशेषताओं को तीव्रतर कर दिया है। संक्षेप में, उद्योग और व्यापार नागरिक जीवन की मुख्य धुरी हैं। नगरों के निवासी अपनी भोजन की आवश्यकताओं के लिए गांवों पर निर्भर होते हैं। गावों के विपरीत, वह बहुत बड़ी संख्या में एक स्थान पर एकत्रित होकर रहते हैं। उनकी जीविका का साधन, रहन-सहन का स्तर, स्वास्थ्य, ज्ञान, विश्वास, धारणाएं, व्यवहार, सामाजिक संगठन और जीवन गांवों से पर्याप्त पृथक् होता है। परिणामत: उनकी समस्याएं

भी पर्याप्त भिन्न होती हैं। इसलिए उनका पृथक् रूप में अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

समुदायों का समुदाय. सदस्यों की संख्या बहुत सीमित तथा उनके आपस में घनिष्ठतया सम्बद्ध और आबद्ध होने के कारण, ग्राम एक समुदाय और प्राथमिक समूह है; इसके विपरीत, सदस्यों की अत्यधिक संख्या तथा आपस में उनकी अल्प घनिष्ठता तथा आत्मीयता के अभाव में, नगर विभिन्न समुदायों का एक समुदाय है। नागरिक समूह एक बहुत ही ढीला-ढाला समूह है।

उद्योगीकरण और नगरीकरण के सामाजिक-आर्थिक प्रभाव

आज हम जिस नागरिक जीवन का अध्ययन करते हैं, वह उस नागरिक जीवन का है जो कि एक औद्योगिक समाज में विद्यमान है। कृषि-प्रधान देशों में ग्रामों और उद्योग-प्रधान देशों में नगरों का प्रभुत्व रहता है। अतः उद्योगीकरण और नागरिक जीवन के प्रभावों का साथ-साथ अध्ययन अप्रासंगिक न होगा।

उद्योगीकरण और तज्जनित नगरों की वृद्धि और विकास ने सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया है। विभिन्न देशों में उद्योगीकरण और नगरों का प्रसार विभिन्न परिस्थितियों में और विभिन्न रीतियों से हुआ है। ऐसी स्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक है कि उनके जीवन में कुछ पार्थक्य दृष्टिगोचर हो, फिर भी औद्योगिक और नागरिक जीवन के कुछ तत्त्व तो ऐसे हैं, जिन्हें कि सार्वभौम या स्थायी कहा जा सकता है। इसके विपरीत, कुछ ऐसे तथ्य हैं जिन्हें पारिस्थितिक, संक्रमणकालीन अथवा समाज के ढांचे-विशेष से सम्बद्ध कहा जा सकता है। आगे हम दोनों प्रकार के तथ्यों का जिक्र करेंगे।

१. आर्थिक विशृंखलता, संकट और बेकारी. उद्योगीकरण ने उत्पादन के साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किए। जिस काम के लिए पहले सैकड़ों आदमियों की जरूरत पड़ती थी, उसे अब कुछ व्यक्तियों द्वारा सुधरे-यन्त्रों और मशीनों की सहायता से अल्प समय में पूरा करना संभव हुआ। परिणामतः जो लोग हाथ के उद्योगों में लगे हुए थे वह मशीन के माल की प्रतियोगिता के सामने न ठहर सके और उनमें से अधिकांश बेकार हो गये। उनमें से थोड़े ही लोग तत्काल नए उद्योगों में खप सके और उन्हें एक लम्बे समय तक भीषण आर्थिक कष्टों का सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त, अनियन्त्रित पूंजीवादी व्यवस्था में उद्योगों और उत्पादन का संचालन बाजार की मांग के अनुमान और मुनाफे की प्रवृत्ति द्वारा परिचालित होता है। जिस समय भी पूंजीपति मुनाफे की दर में कमी अथवा घाटे की संभावना देखते हैं, उत्पादन रुक जाता है। इस प्रकार समय-समय पर भीषण आर्थिक संकट और मन्दियों की सृष्टि होती है। परिणाम-

स्वरूप, उद्योग-प्रधान नगरी सभ्यता में उसके सदस्यों को पर्याप्त आर्थिक अनिश्चितता और अस्थिरता का जीवन यापन करना पड़ता है। किन्तु हमें यहां पर यह स्मरण रखना चाहिए कि यह अवस्था उद्योगीकरण का अनिवार्य अंग नहीं है। उत्पादन में मुनाफे की वृत्ति की समाप्ति और आर्थिक आयोजन द्वारा इसे बहुत अंशों में समाप्त किया जा सकता है।

२. **आर्थिक पर-निर्भरता और विशेषीकरण.** गांव मूलतः स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर थे। गांव के सदस्य अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुएं स्वयं तैयार कर लेते थे। इसके विपरीत, नगर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य प्रदेशों पर आश्रित होते हैं। आर्थिक परावलम्बन उनका प्रमुख लक्षण है। वहां पर श्रमिकों के बीच सूक्ष्म श्रम-विभाजन होता है। उद्योगीकरण ने इस प्रवृत्ति को और भी अधिक प्रोत्साहित कर दिया है। यह अत्यधिक पर निर्भरता और विशेषीकरण, आर्थिक यन्त्र में किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न होने पर विस्तृत कठिनाइयों को जन्म देते हैं। किसी उद्योग-विशेष पर निर्भरता उस उद्योग की वस्तुओं की मांग अथवा उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन होने पर, उससे सम्बन्धित व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति को गंभीर रूप से प्रभावित करती है।

३. **क्रय-विक्रय की प्रधानता.** ग्रामों मे जनता के अधिक स्वावलम्बी होने, उपहारों का अत्यधिक रिवाज होने तथा सेवाओं के पारिश्रमिक के रूप में अनाज का प्रयोग, क्रय-विक्रय को बहुत ही सीमित रखते हैं। इसके विपरीत, नगरों में छोटी-से-छोटी वस्तु के लिए मुद्रा में उसकी कीमत चुकानी पड़ती है। वहां उपभोग की वस्तुएं दूरस्थ प्रदेशों से आती है। इस प्रकार उत्पादकों और उपभोक्ताओं में सीधा सम्बन्ध न होने के कारण, एक ही वस्तु को अनेकानेक मध्यस्थों के हाथों से गुजरना पड़ता है। जनसंख्या का एक बड़ा अनुपात केवल क्रय-विक्रय का ही कार्य करता है। क्रय-विक्रय के लिए विभिन्न संस्थाओं का उदय और विकास होता है। इस प्रकार उद्योगीकरण और नगरों के अन्तर्गत आर्थिक जीवन में क्रय-विक्रय की प्रधानता होती है। यह क्रय-विक्रय की प्रधानता ही उद्योग और नगर-प्रधान समाजों मे अनेक बार भीषण आर्थिक संकट का कारण बन जाती है। क्रय-विक्रय संस्थाओं के कार्यों में तनिक-सा भी व्याघात भयंकर आर्थिक विशृंखलता को जन्म दे सकता है। विनिमय-दर का नियंत्रण और बैंकों की ऋण-व्यवस्था क्रय-विक्रय को अत्यन्त प्रभावित करती है, अतः इनका सुचारु रूप से संचालन उद्योग-प्रधान नगरी सभ्यता की एक मुख्य समस्या है।

४. **उत्पादन-यन्त्रों पर मजदूरों के स्वामित्व की समाप्ति और नियन्त्रण की पृथकता.** उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने बड़े पैमाने पर उत्पादन को जन्म दिया। नये उन्नत उत्पादन-साधनों को अपनानेके लिए बृहत् पूंजी और उन्हें चलाने के

लिये बड़ी संख्या में मजदूरों को एक ही स्थान पर काम करने की आवश्यकता थी। इन नये और कीमती उत्पादन-यन्त्रों का स्वामी बनना साधारण मजदूरों के बूते के बाहर था। केवल पूजीपति ही उन्हें लगा सकते थे। उन्होंने इन्हें लगाया और मजदूर रोजी पर उनके नीचे काम करने लगे। इससे पहले, जब तक कि उत्पादन प्रणाली सरल और उसके यन्त्र सस्ते थे, उत्पादन यन्त्रों का वह स्वयं ही मालिक था। किन्तु बड़ी मशीनों के आगमन ने स्थिति को बिल्कुल बदल दिया। इनके आने से उत्पादन के यन्त्रों का स्वामित्व कमकरों के हाथ से निकल गया। आगे चलकर एक नई घटना घटी। शुरू में तो पूंजीपति स्वामी ही स्वयं उद्योगों के वास्तविक संचालन और नियंत्रणकर्त्ता थे, लेकिन बाद में उद्योगों के संचालन का कार्य बहुत ही विशिष्ट हो गया और उसके लिए विशेष योग्यता-प्राप्त संचालकों— मैनेजरों की आवश्यकता पडी। इस प्रकार उद्योगों का वास्तविक संचालन पूंजीपतियों अथवा नये उद्योग के स्वामियों के हाथों से भी निकल कर अन्ततोगत्वा वेतनप्राप्त मैनेजरों के हाथ मे चला गया।

५. **अधिक सम्पत्ति का उत्पादन.** भाप या बिजली से परिचालित नये उत्पादन यन्त्र पुराने हाथ के सरल यन्त्रों की तुलना में कही अधिक श्रेष्ठ थे। उनके उपयोग ने जहां एक ओर पर्याप्त सामाजिक अव्यवस्था पैदा की, वहाँ दूसरी ओर उनके प्रयोग ने बड़े पैमाने पर सम्पत्ति का उत्पादन संभव बनाया। संक्षेप मे, उन्होंने जनता के लिए वस्तुओं के उत्पादन की नींव डाली। बड़े पैमाने पर वस्तुएं बनने के कारण उनकी प्रति वस्तु लागत अत्यन्त नगण्य हो गई और जो वस्तुएं या सेवाएं पहले केवल कुछ चुने हुए व्यक्तियों को उपलब्ध थी, वह सर्वसाधारण को मिलने लगीं। जनता के रहन-सहन के स्तर में उन्नति हुई। उनकी गरीबी दूर हुई और समृद्धि का सूत्रपात आ। यही कारण है कि कृषि और ग्रामबहुल देशों की तुलना में उद्योग-प्रधान और नगरबहुल देश आज कही अधिक सम्पन्न और समृद्ध है।

६. **सम्पत्ति का अधिक असमान वितरण.** गांवों में सम्पत्ति का उत्पादन भी कम था और उसकी असमानता भी कम थी। इसके विपरीत, उद्योगीकरण ने जहां नगरों की कुल सम्पत्ति में वृद्धि की, वहां उसने वितरण की असमानता को भी बढ़ाया। मुनाफे द्वारा परिचालित औद्योगिक व्यवस्थाओं में तो यह असमानताएं असाधारण अनुपात में बढ़ गई। समाज द्वारा परिचालित और नियंत्रित औद्योगिक व्यवस्थाओं में अवश्य उसे कम करने के प्रयत्न हुए। जैसे-जैसे मजदूरो के रहन-सहन का दर्जा ऊंचा उठ रहा है, उनमें शिक्षा का प्रसार हो रहा है, राजनैतिक चेतना बढ़ती जा रही है, और सरकारी यन्त्र पर उनका प्रभाव बढ़ता जा रहा ह। ऐसे कानून बन रहे हैं, जिससे कि पहले की तुलना में आर्थिक असमानता निरंतर

कम होती जा रही है। परिस्थितियों की वर्तमान प्रवृत्ति असमानता को कम करने की ओर ही है।

७. निवास-स्थानों की कमी. उद्योगीकरण और नगरों के बड़ी तेजी से विस्तार ने जनता के रहने की समस्या को बड़े उग्र रूप में उपस्थित किया है। गावों में जीविका उपार्जन की कठिनाई और उद्योगीकरण ने ग्रामों से नगरों की ओर जनसंख्या के अभियान की गति को बहुत तेज कर दिया है। परिणामतः, बड़ी संख्या में जनता ग्रामों से नगरों की ओर निष्क्रमण कर रही है। नगरों की बढ़ती जनसंख्या के अनुपात में वहाँ पर निवास-स्थानों का कम बढ़ना गंभीर सामाजिक समस्या है। निवास-स्थानों के बनाने में पर्याप्त समय और धन की आवश्यकता होती है। इसलिए नगरों की जनसंख्या की वृद्धि, परिणामतः मकानों की मांग की तुलना में उनकी पूर्ति, सदा अपर्याप्त रहती है। भारत में ही १९४१ से १९५१ तक नगरों की जनसंख्या में ५४ प्रतिशत की वृद्धि हुई जब कि मकानों में कठिनाई से १० प्रतिशत हुई होगी। वातावरण आरोग्य समिति के अनुसार फिलहाल हमारे नगरों में लगभग १९ लाख घरों की कमी है। इसमें पाकिस्तान से आये हुए शरणार्थियों के लिए अपेक्षित १० लाख घरों का समावेश नहीं है।

नगरों में निवास स्थान की कमी गंभीर सामाजिक और नैतिक समस्याओं को जन्म देती है। निवास-स्थान के अभाव में प्रायः कई व्यक्तियों स्त्री-पुरुषों और बच्चों को एक तंग जगह में साथ-साथ सोना पड़ता है, जिसका उनके स्वास्थ्य और चरित्र पर हानिकर प्रभाव पड़ता है।

८. अधिक शिक्षा. उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने आर्थिक सम्पत्ति में वृद्धि कर शिक्षा के विस्तार को भी परोक्ष रूप से प्रभावित किया है। ग्रामों की तुलना में नगरों में शिक्षा की विस्तृत सुविधाएं हैं। पर्याप्त संख्या में छात्र और अध्यापक तथा अन्य आवश्यक सुविधाएं प्राप्त होने के कारण वहां पर उच्च और विशेष शिक्षा प्रदान करना भी संभव है। इसीलिए उच्च और टेक्नीकल शिक्षा के केन्द्र नगरों में ही स्थापित हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, नगरवासी ग्रामवासियों की तुलना में अधिक सम्पन्न है और अपने बच्चों को स्कूलों और कालिजों में भेज सकते हैं। इन्हीं सब बातों का परिणाम है कि नगरों में शिक्षा का अधिक प्रसार है। निस्संदेह उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने सामान्यतः शिक्षा को प्रोत्साहित किया है।

९. निकृष्ट स्वास्थ्य तथा श्रेष्ठ और विस्तृत चिकित्सा-सुविधाएं. गांवों की तुलना में सामान्यतः शहरों में खुली हवा और रोशनी की पर्याप्त कमी रहती है। कारखानों का धुआं, तापक्रम, कोलाहल, निवास-स्थानों की कमी, गंदी मजदूर-बस्तियां नगरवासियों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव छोड़ती हैं। शहरों के अति

गतिशील और तेज जीवन, वहां के लोगों में बढ़ती और अतृप्त वासनाओं ने, विशेषतः मानसिक रोगियों की संख्या में असाधारण वृद्धि की है। न्यूरोसिस—स्नायु-रोग औद्योगिक और नागरिक सभ्यता की एक विशेष देन है। स्वास्थ्य के लिए हानिकर उक्त कारणों के बावजूद, पिछले पचास सालों से शहरों के वातावरण को स्वच्छ करने, वहां पर गंदी बस्तियों को समाप्त करने तथा सफाई की सुविधाएं जुटाने की दिशा में पर्याप्त प्रगति हुई है। इसके अतिरिक्त, नगरों में रोगो की चिकित्सा और निवारण की विस्तृत सुविधाएं प्राप्त है। नगरों की समृद्ध आर्थिक अवस्था बहुत अंशों में इसके लिए उत्तरदायी है।

१०. **पारिवारिक नियंत्रण का अभाव.** उत्पादन, शिक्षा और मनोरंजन की इकाई और संस्था के रूप में नगरों में परिवार समाप्त हो चुका है। वह केवल प्रेम और प्रजनन की इकाई के रूप में वहां जीवित है। जीविका उपार्जन के लिए परिवार के विभिन्न सदस्य पृथक् कारखानों या दफ्तरों में काम करते है। उन्हें सारा दिन घर से बाहर रहना पड़ता है। शिक्षा के लिए स्कूल है; मनोरंजन का स्थान सिनेमा इत्यादि बाह्य संस्थाओं ने ले लिया है। इसके अतिरिक्त, सामाजिक और राजनैतिक कार्यों के लिए विभिन्न संस्थाएं और दल हैं। परिवार के व्यक्ति इनके सदस्य बनते हैं और इनके प्रभाव में आते है। इस प्रकार एक तरह सिर्फ सोने भर के लिए परिवार के सदस्य घर पर इकट्ठे होते हैं। इन सब प्रवृत्तियों का यह अनिवार्य परिणाम है कि व्यक्ति के ऊपर से परिवार का नियंत्रण बहुत कुछ उठ चुका है। परिवार के बजाय, व्यक्ति के व्यवहार पर अन्य बाह्य प्रभावों का प्रभाव अधिक प्रबल है और वही उसका नियंत्रण करते हैं।

११. **उच्चतर विवाह-आयु और अल्प विवाह.** शिक्षा के प्रसार द्वारा नई आकांक्षाओं के जागृत होने तथा पुरानी परम्पराओं का प्रभाव नष्ट होने के कारण, नगरोंमें सामान्यतः लोग अधिक उम्र में विवाह करते हैं। इसके अतिरिक्त, नागरिक परिस्थितियों ने परिवार के पूर्व महत्त्व और अनिवार्यता को काफी कम कर दिया है तथा उससे प्राप्त संतोष और सुविधाओं के अनेक नये साधन और स्थानापन्न प्रस्तुत कर दिये है। इन सबका यह परिणाम है कि विवाह के प्रति लोगों का पहले जैसा अनुराग और आकर्षण नहीं रह गया है। विवाह को अधिक समय तक स्थगित करना या कुछ स्थितियों में सर्वथा उससे बचना औद्योगिक और नागरिक समाज की एक विशेषता है।

१२. **एकाकी और छोटे परिवार.** संयुक्त परिवार हमारे ग्राम-जीवन क एक विशेषता थी। किन्तु आर्थिक कठिनाइयों और व्यक्तिवादी स्वाधीनता की विचारधाराओं ने उनके टूटने की स्थिति उत्पन्न की। अनेक ग्रामवासी अपने संयुक्त परिवारों से पृथक् हो अपनी पत्नी और बच्चों को नगर में ले गये। इसके

अतिरिक्त, नगर की परिस्थितियों में तो संयुक्त परिवार असंभव है। परिणामतः, एकाकी परिवारों का ही आधिपत्य है। पर जहां नगरों का जीवन एकाकी परिवारों के पक्ष में है, वहां वह छोटे परिवारों के भी अनुकूल है। नगरों में पारिवारिक भावना के ह्रास, शिक्षा के प्रसार और रहन-सहन के स्तर में उन्नति तथा गर्भ-निरोध (Birth Control) के बढ़ते ज्ञान और सुविधाओं के फलस्वरूप, माता-पिता अधिक संतान की उत्पत्ति के विरुद्ध होते हैं। इन्हीं कारणों से ग्रामों की तुलना मे नगरों में जन्म-दर पर्याप्त कम होती है और परिवार छोटे होते हैं।

१३. पुरुषों की अधिकता. स्त्रियों की संख्या की तुलना में पुरुषों की अधिकता, नागरिक जीवन की एक अन्य विशेषता है। भारत में तो यह स्थिति कुछ नगरों में बहुत ही उग्र है। हमारे औद्योगिक नगरों के अधिकांश मजदूर अभी भी गांवों और कृषि से सम्बन्धित हैं। निवास-स्थान की कमी और अन्य आर्थिक कठिनाइयां, उन्हें अपने स्त्री और बच्चों को नगरों में लाने और बसाने के मार्ग में अन्य बाधाएं हैं। इसी का परिणाम है कि कुछ नगरों मे पुरुषों की संख्या स्त्रियों से दुगुनी है। इस स्थिति का नगरों की नैतिकता पर विशेष प्रभाव पड़ा है। पारिवारिक जीवन के अभाव मे मजदूर व्यभिचार की ओर अग्रसर होते हं। स्त्रियों की अल्प संख्या नगरों मे चारित्र्य-शैथिल्य का प्रमुख कारण बनती है।

१४. नारी का ऊंचा स्थान. शिक्षा की सुविधाओं और निरंतर बढती आर्थिक स्वाधीनता और स्वाधीन विचारों ने नगरों मे स्त्रियों की स्थिति को उन्नत करने में पर्याप्त योग प्रदान किया है। ग्रामों की तुलना में यहां पर सामान्यतः स्त्रियों का स्थान ऊंचा है।

१५. सामुदायिक घनिष्ठता का विनाश और सहयोग-भावना का अभाव. ग्राम एक छोटा समुदाय था, जिसके सदस्य एक दूसरे से परिचित तथा सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से घनिष्ठतया सम्बन्धित थे। उनके विचारों मे समता थी। परिणामतः, उनमे घनिष्ठ सौहार्द, स्नेह, आत्मीयता और सहयोग की भावना विद्यमान थी। उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने उस सामुदायिक एकता और सहयोग की भावना को नष्ट कर दिया। नगर के निवासी एक समुदाय के न हो, अनेक समुदायों के सदस्य है, जिनकी विभिन्न और विरोधी विचारधाराएं और मागें हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम, वहां पर सहयोग के स्थान पर सदैव सघर्ष और प्रतियोगिता की संभावना और उपस्थिति है। सामुदायिक एकता के नष्ट होने से वहां पर सामाजिक विघटन की स्थिति विद्यमान है।

१६. विचारों की विविधता. उद्योगीकरण और तज्जनित नागरिक विकास ने

वहां के आर्थिक-सामाजिक जीवन और उनके सम्बन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर, वहां के निवासियों के विचारों में भीषण परिवर्तन उपस्थित किये। परम्परागत समाज का ढांचा नष्ट हो जाने से उसकी चिन्तनप्रणाली, उसके मूल्यों, मान्यताओं और आदर्शों के प्रति नगरवालों की आस्था नष्ट हो गई है। नये संकट, समस्याओं और परिस्थितियों से मुक्ति दिलाने के लिए नई-नई विचारधाराएं, कार्यक्रम और नारे उनके सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं। पारिवारिक नियंत्रण और सामुदायिक एकता समाप्त हो रही है। इन सबका यह परिणाम है कि नगरवासियों के विचारों में एक विचित्र अराजकता विद्यमान है। कुछ अंशों तक और कुछ सीमाओं मे तो विचारो मे विभिधता एक स्वस्थ लक्षण है, किन्तु जब यह विभिन्नता सामाजिक सहयोग को नष्ट करने का कारण बन जाय, तब चिन्ताजनक हो जाती है।

१७. जातिभेद और वर्गभेद की कमी. भारत का ग्राम-समाज मुख्यतः जाति-भेद और वर्गभेद पर आधारित था। उद्योगीकरण और नागरिक जीवन ने जाति-भेद और वर्गभेद की बहुत-सी कठोरताओं को कम कर दिया। विभिन्न जाति और धर्म के लोगों के साथ-साथ रेलों और मोटरों मे यात्रा, काम करने तथा रहने ने छूत-छात और खान-पान क बहुत-से बंधनों को नरम कर दिया है। इसके अतिरिक्त, नगरो मे विभिन्न जातियों के लड़के-लड़कियों की साथ-साथ शिक्षा तथा जातिभेद के विरुद्ध नये आन्दोलनों ने ऊंच-नीच की भावना को नष्ट करने में बड़ा योग दिया है। अन्त में आर्थिक मजबूरियों ने जाति-व्यवस्था को नष्ट करने मे अपनी प्रबल चोट की है। एक पेशे से दूसरे पेशे के बीच गतिशीलता और निष्क्रमण पर्याप्त बढ़ गया है, और कुछ अपवादों को छोड़, प्रत्येक जाति और सम्प्रदाय के सदस्य आज नगरों में प्रायः सभी पेशों और धंधों में पाये जाते हैं। इसके अति-रिक्त, उन्नत रहन-सहन ने अधिकाधिक नागरिकों को शिक्षा की सुविधाएं प्रदान कर वर्ग-भेद के अन्तर को भी पर्याप्त कम कर दिया है।

१८. धर्म का घटता प्रभाव. ग्राम-जीवन आविष्कारों और विज्ञान की कमी के कारण पर्याप्त रहस्यमय था। अतः प्रकृति के रहस्यों और घटनाओं को सुलझाने में धर्म प्रमुख साधन था। नगरों में आर्थिक जीवन, घटनाओं और सामाजिक प्रश्नो को परीक्षण और तर्क से सुलझाने का प्रयत्न हुआ। रूढ़ि का स्थान प्रयोग और विश्वास का स्थान परीक्षा ने लिया। किन्तु अभी भी ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जो कि तर्क-परीक्षा के नीचे नही आ पाये हैं और वहां धार्मिक विश्वास का जोर है। संक्षेप में, नगरों में धर्म का क्षेत्र निरंतर संकुचित होता जा रहा है और उसका प्रभाव घटता जा रहा है। इसका एक प्रधान कारण नगरों मे गैर-धार्मिक और बाह्य ऐहिक (Seoular) प्रभावों की प्रधानता है।

१९. राज्य-शक्ति का केन्द्रीकरण और व्यक्ति के महत्त्व का ह्रास. उद्योगी-

करण ने उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से श्रमिकों को पृथक् कर, यातायात और संवादवहन के साधनों के विपुल विस्तार तथा शिक्षा और रेडियो, सिनेमा और समाचार-पत्रों के प्रसार तथा नये अविष्कारों ने राज्य को जनता के आर्थिक, सामाजिक, यहां तक कि मानसिक क्रियाओं को, अधिकाधिक नियंत्रित करने की क्षमता प्रदान की है। उद्योगीकरण और नगरों के विकास के बिना यह संभव न था। औद्योगिक देशों में राज्य द्वारा शक्ति का केन्द्रीकरण बहुत सरल हो गया है। यह शक्ति का केन्द्रीकरण विशेषत: युद्ध के विनाशात्मक अस्त्र-शस्त्रों के केन्द्रीकरण में व्यक्त हुआ है। इस प्रकार जिन देशो में राजनैतिक दलों ने उद्योगीकरण से उत्पन्न परिस्थितियों और सामाजिक नियंत्रण के आविष्कारों और टेक्नीकों से लाभ उठाकर राज्य की शक्ति को केन्द्रित करने का प्रयत्न किया है, वहां पर व्यक्ति का महत्त्व और मूल्य प्राय: नष्ट हो गया है। अत्यधिक केन्द्रीकरण से रक्षा और व्यक्ति की स्वाधीनता का संरक्षण आज के औद्योगिक समाज की एक गम्भीर समस्या है। किन्तु जब कि एक ओर हम उद्योगीकरण और नगर-जीवन द्वारा उत्पन्न निकटता और निर्भरता का प्रयोग शक्ति के केन्द्रीकरण में कर सकते है, वहां दूसरी ओर हम उसे विकेन्द्रित भी कर सकते है। अत: उद्योगीकरण के साथ स्थानीय और प्रादेशिक ईकाइयों तथा जनता को विस्तृत अधिकार प्रदान कर केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का प्रतिकार किया जा सकता है।

२०. **जीवन की तेज गति और संस्कृति की अत्यधिक गतिशीलता.** ग्राम-जीवन मन्द गति से चलता है। इसके विपरीत, नगरों में जीवन की गति बहुत तेज है। हर व्यक्ति बहुत व्यस्त और व्यग्र है। हर ओर विशेष दौड़-धूप और चपलता नजर आती है। ऐसा लगता है कि जैसे मनुष्य और मशीन में होड़ है। किसी को कारखाने पहुंचने की जल्दी है तो किसी को दफ्तर का काम निपटाने की फिक्र है। हर काम के लिए समय की पाबन्दी है। समय की कमी है और मिनट-मिनट का मोल है। इस अत्यधिक सक्रियता और गति का प्रभाव मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर अच्छा नहीं पड़ता। इसीलिए नगरों में पर्याप्त अधिक लोग अत्यधिक श्रम, थकान और स्नायु-रोगों से पीड़ित पाये जाते है।

इसके अतिरिक्त, औद्योगिक समाज और नगरों मे, विशेषत: भौतिक क्षेत्र मे, निरन्तर वृद्धि और उन्नति होते रहने के कारण संस्कृति में बहुत शीघ्र और निरन्तर परिवर्तन आते रहते है। इस प्रकार उसके सदस्यों के जीवन-क्रम और विचारों मे अत्यधिक अस्थिरता और गतिशीलता रहती है। परिणामत:, वहां सामाजिक विघटन के बीज सदैव विद्यमान रहते हैं।

२१. **प्रकृति से पार्थक्य और बच्चों के लिए खेल-कूद के स्थान की कमी.**

उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने वहां की जनता को प्रकृति से बहुत दूर फेंक दिया है। सूर्योदय और संध्या, चांदनी और चैत की दुपहरी, वसन्त और हेमन्त के दृश्यों से नगरवासी वंचित रहते हैं। इसी प्रकार वनस्पति, पशु-पक्षियों से भी उनका सम्पर्क नहीं होता। नगरों में स्थान की भीषण कमी होती है, जिससे बच्चों को खुली हवा में स्वच्छन्द प्रकृति से आत्मीयता स्थापित करने का अवसर नहीं मिलता। मोटर, ट्राम, साइकिल इत्यादि गाड़ियों के डर से बच्चे स्वच्छन्द खेल-कूद और दौड़-धूप नहीं कर सकते। परिणामतः, उनके व्यक्तित्व के विकास में रुकावट पड़ती है। नगर का जीवन मुक्त व्यक्तित्व और प्राकृतिक सौन्दर्यानुभूति के विकास में सहायक नहीं होता।

२२. **व्यापारिक मनोरंजन.** उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने मनोरंजन को धर्म, परिवार और समुदाय से पृथक् कर अनियंत्रित अवस्था में व्यापारिक संस्थाओं, अथवा नियंत्रित अवस्था मे सरकार के हाथों में दे दिया है। इस प्रकार अस्वास्थ्यकर, अश्लील, सस्ते या प्रचारात्मक मनोरंजन की सभावनाएं बढ़ गई हैं। स्वस्थ, सामाजिक और सृजनात्मक मनोरंजन का विकास आज के औद्योगिक समाज की एक गंभीर समस्या बन गई है।

२३. **असंतुष्ट व्यक्तियों की वृद्धि और जनता का भोगवादी दृष्टिकोण.** अत्यधिक उपभोग के साधन जुटा व्यक्तियों की इच्छाओं और आकांक्षाओं में असाधारण वृद्धि कर, तथा रूढ़ि और परम्परा में विश्वास न होने के कारण, उद्योगीकरण तथा तज्जनित नगरों के द्रुत विकास और उससे उत्पन्न अव्यवस्थाओं ने नगरों में निराश और जीवन से असंतुष्ट व्यक्तियों की संख्या में विपुल वृद्धि कर दी है। इसके अतिरिक्त, अधिक उपभोग ने और अधिक उपभोग प्रवृत्ति को जागृत किया है। फैशनों के प्रतिदिन होने वाले परिवर्तनों मे यह प्रवृत्ति अच्छी तरह व्यक्त हुई है। जब कि गांवों की जनता सामान्यतः संतुष्ट और भाग्यवादी है, नगरों की जनता अधिक असंतुष्ट और भोगवादी है।

२४. **अधिक अपराध की प्रवृत्ति.** उद्योगीकरण और तज्जनित नगरों के विकास ने प्राचीन परम्पराओं को नष्ट कर दिया है, तथा व्यक्तिगत व्यवहार के नियंत्रण के पुराने साधनों, परिवार, धर्म, रिवाज इत्यादि के प्रभाव को बहुत कम कर दिया है। इसके अतिरिक्त, नगरों में व्यक्ति किसी एक घनिष्ठ समुदाय का सदस्य न होने, कठिनाई में पड़ने पर अन्य लोगों द्वारा सहायता न पाने, अधिक प्रलोभनों के होने, आसानी से न पकड़े जाने और पहचाने जाने तथा अपने लोगों के सामने अपमानित होने के भय के अभाव तथा अपराध को छुपाने की सुविधा होने के कारण, सरलतया अपराध की ओर अग्रसर होता है। ग्राम और नगरों मे हुए विभिन्न प्रकार के अपराध के आंकड़े इस बात को सिद्ध करते हैं कि नगरों में ग्रामों

की तुलना म अधिक अपराध होते हैं। अपराधों का उन्मूलन नगरों की एक प्रमुख सामाजिक समस्या है।

२५. भीड़ व्यवहार (Crowd Behaviour) की बढ़ती संभावनाएं. उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने बहुत बड़ी संख्या में जनसमूहों को एक स्थान पर एकत्रित कर दिया है। नगर मे रहने वाले विभिन्न वर्गों में आपसी एकता की अनुभूति बहुत कम होती है। इसके अतिरिक्त, नगर के जीवन ने बड़ी संख्या में ऐसे व्यक्तियों को पैदा कर दिया है जो कि अपने जीवन से पर्याप्त असंतुष्ट और निराश हैं। उनके व्यक्तित्व का विघटन हो चुका है। ऐसी स्थिति मे जब कि उन पर परम्परागत नियंत्रण की संस्थाओं का प्रभुत्व समाप्त हो चुका है, उन्हें किसी भी समय वर्तमान अवस्था से मुक्ति की आशा दिला उत्तेजित किया जा सकता है। नये आविष्कारों के फलस्वरूप विकसित प्रचार के नये और प्रभावपूर्ण साधनों के प्रयोग ने अवसरवादी नेताओं और प्रचारकों का कार्य और भी सरल कर दिया है। माइक्रोफोन, रेडियो, टेलीविजन और समाचार-पत्रों और सिनेमा की सहायता से आजकल आसानी से जनता को एक भीड़ की भांति भड़काया जा सकता है। इस प्रकार आज के उद्योग-प्रधान नागरिक समाज मे भीड़-व्यवहार की संभावनाएं बहुत बढ़ गई हैं। समाज-सुधारकों के लिए यह एक गभीर स्थिति है, जिसका कि उन्हें प्रतिकार करना है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने हमारे जीवन के विभिन्न पहलुओं को गंभीर रूप से प्रभावित किया है। जहां उसने समाज को आर्थिक उन्नति की दिशा मे आगे बढ़ाया है, शिक्षा का विस्तार किया है, चिकित्सा-सुविधाओं को उन्नत किया है, अन्धविश्वासों को नष्ट किया है, वहां उसने अनेक भीषण सामाजिक समस्याओं की सृष्टि की है।

सातवां अध्याय

समूह और सामूहिक व्यवहार

GROUP AND COLLECTIVE BEHAVIOUR

मनुष्य सामाजिक प्राणी. जब हम कहते हैं कि व्यक्ति अपनी प्रेरणाओं की प्रतिक्रिया द्वारा एक व्यक्तित्व का निर्माण करता है तो हम जिन प्रेरणाओं की ओर निर्देश करते है, वह या तो व्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणायें हैं, उसके शरीर की 'मांगे' और या बाह्य' प्रेरणायें हैं। बाह्य प्रेरणाओं में भी वह प्रेरणाएं जो दूसरे मनुष्यों द्वारा या दूसरे मनुष्यों के संसर्ग के प्रभाव द्वारा प्राप्त होती है, सामाजिक प्रेरणाएं कहलाती है, परन्तु जो भौतिक पदार्थों से प्राप्त होती हैं, वे सामाजिक नही है। हम अपनी आन्तरिक शारीरिक प्रेरणाओं की प्रतिक्रिया समाज के आश्रय में और समाज की सहायता से करते है। हम उन व्यवहारो को अपनाते है जो हमने परिवार मे, मित्रों में, सभाओं मे, सीखे है। भोजन करने, सोने, मल-त्याग करने, ऐन्द्रियिक तृप्ति करने आदि सभी चेष्टाओं मे हम दूसरों से सीखे हुए, दूसरों द्वारा बताए गए साधनों की सहायता से, प्रतिदिन इन प्रेरणाओं की प्रतिक्रिया करते है। प्राकृतिक या भौतिक वस्तुओं और घटनाओं, उदाहरणार्थ जंगल मे हिंसक पशुओं की उपस्थिति अथवा मार्ग में वर्षा प्रारम्भ होने या गिर पड़ने के प्रति हमारी प्रतिक्रियाएं भी, समाज में सीखे हुए व्यवहारों द्वारा निर्धारित होती है।

व्यक्तित्व के विकास में समाज का कितना हाथ है, यह अपने प्रतिदिन के व्यवहार से समझ लेना कठिन नहीं है। तब यह सामाजिक व्यवहार क्या है, कैसे हम समूहों में कुछ सीखते है, कैसे दूसरे लोगों का आश्रय लेकर जीवन व्यतीत करते है, और कैसे हमारे विचारों, भावनाओं, आकांक्षाओं और आदर्शों पर सामूहिक जीवन का प्रभाव पड़ता है— इन सबकी व्याख्या आवश्यक प्रतीत होती है।

सामाजिकता सहज-प्रवृत्ति (Instinct) नहीं. मनुष्य समाज के अंग क्यों है? क्या जैसा कि मैक्डूगल ने कहा है, मनुष्य के मन में मामाजिकना की कोई सहज-प्रवृत्ति है, जो उसे दूसरे लोगों से मित्रता बढ़ाने और मेल-जोल करने पर बाध्य करती है? हम देखते है कि छोटे बच्चे उन्हीं से अधिक हिल जाते हैं जो उनके भरण-पोषण में सहायक होते है। दो महीने के छोटे बच्चे केवल अपने माता-पिता को देखकर ही मुस्कराते है, क्योंकि उनकी शारीरिक आवश्यकताओं को वे परा

करते हैं। वे दूसरे छोटे बच्चों या पशुओं को देखकर नहीं मुस्कराते। छोटे बच्चों की संगति की वे उपेक्षा करते हैं। यही नहीं, यह भी देखा गया है कि वे ऐसी संगति को नहीं चाहते, और इसीलिए किसी खिलौने इत्यादि वस्तु को बीच में रखकर ही उनमें सामूहिक व्यवहार बढ़ाया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि इसका कारण खिलौना या खिलौनों के प्रति प्रतिक्रिया ही है, दूसरे बच्चों के प्रति प्रतिक्रिया नहीं।

मानव-शिशु की असहायवस्था से सामाजिकता का उदय. यदि सामाजिक व्यवहार का कारण कोई मानुषिक सहज-प्रवृत्ति नही है, तो फिर शिशु इतना सामाजिक व्यवहार क्यों दिखाई देता है ? इसका कारण शिशु का असहाय होना है और हमारे शरीर की मांगों—चालकों (Drives) का केवल समाज में ही पूरे हो सकना है। क्योंकि शैशव से ही शिशु दूसरे मनुष्यों को अपनी सहायता करते देखता है, इसलिए वह उनके प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करता है, और यही सामाजिकता का आधार है। जंगलों में मिले विजन पोषित (Feral) बच्चों के व्यवहार के अध्ययन से यह सिद्ध हो चुका है कि वे 'सामाजिक' नहीं थे। मनुष्य के प्रति सामाजिक व्यवहार न करने पर भी वे अपने को पालने वाले पशुओं के प्रति 'सामाजिक' थे। बत्तखों के बच्चों तक का यह व्यवहार है कि यदि उनको भोजन देने की जिम्मेदारी मनुष्य संभाल ले, तो वे बत्तखों के पीछे न दौड़कर, मनुष्य के पीछे दौड़ते हैं। हमारे सामाजिक व्यवहार का कारण भी ऐसा ही है।

सामाजिक व्यवहार के साधन

अन्तःक्रिया (Inter-action) और सामीप्य. जब भी दो मनुष्यों का सम्पर्क होता है, वे एक दूसरे को अन्तःप्रेरित करते हैं। परन्तु यदि उनका अन्तः-उद्दीपन (Inter-stimulation) केवल एक दूसरे को देख लेने तक ही सीमित है, तो सामाजिक व्यवहार का निर्माण नहीं होगा। उसके लिए दोनों मनुष्यों मे कुछ समानता का होना आवश्यक है; एक भाषा-भाषी होना, एक हित लिए होना, एक क्रिया में रत होना—इनमें से किसी एक गुण का होना आवश्यक है, ताकि उनका सम्बन्ध क्रियाशून्य न हो, बल्कि उनमें अन्तःउद्दीपन और अन्तः-क्रिया हो सके।

अन्तःक्रिया, उद्दीपन-प्रतिक्रिया-उद्दीपन की इकाई. सामीप्य और अन्तः-क्रिया यह दोनों सामाजिक व्यवहार के लिए आवश्यक है। यह अन्तःक्रिया, एकांगी नहीं होती। ऑलपोर्ट ने इसे उद्दीपन प्रतिक्रिया की शृंखला बताया है, परन्तु यह उद्दीपन प्रतिक्रिया की ऐसी इकाई है, जिसमें उद्दीप्त की प्रतिक्रिया से उद्दीपक को प्रेरणा मिलती है, और प्रेरक द्वारा उसका उत्तर प्रेरित के लिए दूसरा उद्दीपन ल आता है। उदाहरणस्वरूप दो व्यक्ति मिले; एक ने दूसरे से कुछ प्रश्न किया,

दूसरे के लिए यह उद्दीपन था। उसने उसका उत्तर दिया, पहले के लिए यह उत्तर उद्दीपन बना। उसका कार्य फिर दूसरे को उद्दीपन देगा। पहले ने प्रश्न पूछा था, तो उसका उद्दीपन भी यह था कि उसने दूसरे को देखा था। इसी उद्दीपन-प्रतिक्रिया-उद्दीपन की शृंखला को वाइस ने अन्तःक्रिया कहा है—ऐसी अन्तःक्रिया जिसमे प्रेरणा और प्रतिक्रिया का भेद मिट जाता है।

हमारे अध्ययन का आधार व्यक्ति नहीं, समष्टि. जब हम व्यक्तित्व को प्रेरणाओं की प्रतिक्रिया कहते हैं, तो हमें उद्दीपन-प्रतिक्रिया के अर्थ को स्पष्टतया समझ लेना होगा। व्यक्तित्व अब अन्तःक्रियाओं का फल समझा जायेगा। यह अन्तःक्रिया कुछ विशेष अवस्थाओं और परिस्थितियों में होगी, जिनमें व्यक्ति के अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति भी सम्मिलित होंगे, या दूसरों द्वारा प्रभावित अथवा रचित विषय उपस्थित होंगे। इस लिहाज से हर एक अवस्था सामाजिक होगी और व्यक्तित्व सामाजिक अवस्था का अंग होगा।

ऐसी अन्तःक्रियात्मक अवस्थाओं का अध्ययन ही व्यक्ति का और व्यक्तियों का, समाज का और सामाजिक व्यवहार का अध्ययन है। अतः हमारे अध्ययन का विषय, व्यक्ति न होकर, यह अन्तःक्रियात्मक अवस्थाएं, सामाजिक अवस्थाएं होंगी। हमारे अध्ययन का विषय समाज होगा। यह सामाजिक अवस्थाएं एक दूसरे पर इस तरह जाती है कि समस्त परिस्थिति का अध्ययन करने के लिए इनके घटना-क्रम का अध्ययन करना होता है।

सामाजिक अन्तःक्रिया के साधन और शर्तें

यह पहले ही कहा जा चुका है कि सामीप्य सामाजिक व्यवहार की पहली शर्त है। पर उसके लिए केवल यही पर्याप्त नही है। इसके साथ (१) एक भाषा, (२) एक-दूसरे के प्रति समवस्थापन (Accommodation), (३) जिन बातों मे समवस्थापन न हो पाए, उनमें अन्तःसम्बन्ध करने की इच्छा और (४) उद्देश्य की एकता भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ, यदि ऐसे दो व्यक्ति मिलते हैं, जो एक दूसरे की भाषा नही समझते, तो उनका सम्बन्ध अल्पकालीन ही होगा और उनमे सामाजिक अन्तःक्रिया का विकास नही हो पाएगा। इसी प्रकार यदि दो व्यक्ति एक भाषा-भाषी होने पर भी, एक-दूसरे से बोलना न चाहें, परस्पर मुंह फेरे रहे, तो यह सामूहिक व्यवहार होने पर भी, उनके सम्बन्ध विकसित न होंगे। इसी प्रकार और कितनी ही बातों में समानता होने पर भी, यदि दो व्यक्ति धर्मभेद या वर्णभेद के कारण एक दूसरे से पृथक् रहें और इन बातों में परस्पर कुछ समवस्थापन करना ही न चाहें, तो भी यही परिणाम होगा।

मनोवैज्ञानिक और शारीरिक अवस्थाओं का प्रभाव, इसी के साथ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि समूह के सदस्यों की शारीरिक और मानसिक अवस्था

क्या है। यदि एक समूह के सभी सदस्य नशे में है, तो कोई उत्तेजक घटना वह सामूहिक व्यवहार विकसित नहीं कर सकेगी, जो साधारणतः विकसित होना चाहिए। यदि उनमें से कोई सदस्य शोकग्रस्त हो, तो शायद वह सामूहिक व्यवहार में भाग नहीं लेगा, और चार शोकग्रस्त मित्र किसी मेले में जाकर सामूहिक अन्तःक्रिया का अंग नहीं बन पाएंगे।

सामाजिक अन्तःक्रिया के दो तत्त्व—सदस्यता और नेतृत्व. किसी भी अन्तः-क्रियात्मक अवस्था का हम दो दृष्टिकोणों से विश्लेषण कर सकते है: व्यक्तियों पर उसका प्रभाव क्या होगा और अवस्था का प्रकार क्या होगा। इसके लिए दो बातों का ज्ञान आवश्यक है:

(१) अन्तःक्रियात्मक अवस्था का उदय कैसे हुआ और उसके सदस्य कैसे है? इनका निर्धारण पहले से ही, जनरीति और सांस्कृतिक प्रकार द्वारा हो चुका होता है या अकस्मात् होता है?

(२) अन्तःक्रियात्मक अवस्था का नेतृत्व, क्या संस्कृति द्वारा या परीक्षण और सुधार की चेष्टा द्वारा या अकस्मात् निर्धारित हुआ है?

यदि समूह का उदय, सदस्यता और नेतृत्व पहले से ही निर्धारित है, तो ऐसे समूहो का जन्म होगा जो अपने कुछ नियमों और जनरीतियों द्वारा नियन्त्रित होंगे, इनमें राजनैतिक, धार्मिक और व्यापारिक समूहों का समावेश होगा। परन्तु यदि सदस्यता निर्धारण आकस्मिक है, तो सामूहिक व्यवहार भी आकस्मिक होंगे और ऐसे समूह भीड़ और उत्तेजित भीड़ की कोटि में आयेंगे।

समूहों के भेद

संस्कृति द्वारा निर्धारित समूह और आकस्मिक समूह. इस प्रकार हम देखते हैं कि समूहों के दो बड़े प्रकार हैं, एक वह जो एक उद्देश्य, एक रीति और एक नेतृत्व को लेकर और सदस्यता के नियम बनाकर चलते हैं, और दूसरे वह जो आकस्मिक होते है। इसी प्रकार समूहों के और भी कई अलग-अलग भेद किए गए हैं।

समूह. (Group) एक समूह एक से अधिक व्यक्तियों का वह सम्मिलन है, जिसके सदस्य अन्तःउद्दीप्त (Inter-stimulated) हों, और उनमें सामाजिक अन्तःक्रिया (Inter-action) होती हो। यही समूह व्यक्ति के व्यवहार शिक्षा, प्रेरणा, इत्यादि को प्रभावित करते हैं। परिवार, राजनैतिक दल, कक्षा, पाठशाला, मित्र-मण्डली, यह सभी एक प्रकार के समूह है, और कम या अधिक मात्रा में, हमारे व्यक्तित्वों पर प्रभाव डालते हैं।

प्राथमिक हितों की पूर्ति और स्थायित्व में अन्तर समूहों के अन्तर का कारण. समूह भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। ओग्बर्न ने उनके अन्तर का आधार निम्न

तत्वों को बताया है : (१) वे किन प्राथमिक हितों की पूर्ति करते हैं ? और (२) उनके स्थायित्व का परिमाण क्या है ? एल्वुड ने दो प्रकार के समूह बताए हैं। वे समूह जो सस्कृति द्वारा स्वीकृत हैं, और दूसरे वह समूह जिनको संस्कृति स्वीकार नहीं करती। चोरों के दल, क्रान्तिकारियों के दल, और अपराधियों के समूह दूसरी प्रकार के समूह हैं।

प्राथमिक और माध्यमिक समूह (Primary and Secondary Groups). कूले ने भी समूहों को दो श्रेणियों में बांटा है, प्राथमिक और माध्यमिक। प्राथमिक समूह वह समूह है जिसमें हम रहते हैं और जिसके अन्य सदस्यों के हम प्रतिदिन सम्पर्क में आते रहते है और जिससे हम अपने प्राथमिक हितों की पूर्ति के लिए जुड़े हुए हैं। चूंकि ऐसे समूह हमारी प्रेरणा के प्रधान साधन होते हैं, इसलिए हमारे जीवन और व्यक्तित्व पर उनका प्रभाव मुख्य होता है। परिवार एक ऐसा ही प्राथमिक समूह है। ग्राम, मुहल्ला, पाठशाला और बच्चों के हमजोली व खेल के साथी भी प्राथमिक समूह हैं। ऐसे समूहों में हम लोकनिन्दा से डरते हैं, और साथ ही सम्मान की कामना करते हैं।

राजनैतिक दल, धार्मिक दल, क्लब और गोष्ठी माध्यमिक समूह हैं। हम किसी एक या अधिक हितों की प्राप्ति के लिए इन समूहों के अंग बनते हैं। हमारे चरित्र पर इनका प्रभाव न्यून होता है ; क्योंकि इनके सदस्यों में परस्पर साक्षात् सम्बन्ध कम होता है।

दोनों समूहों की तुलना. जब मानव संस्कृति अधिक सरल थी, छोटे-छोटे समुदाय थे, तब प्राथमिक समूहों की प्रधानता थी, और व्यक्ति के व्यक्तित्व पर समाज और समूह का प्रभाव अपरिमित था। पर संस्कृति की जटिलता और मानव-सम्बन्धों की बहुलता ने माध्यमिक समूहों को जन्म दिया और समाज में उनका प्राधान्य कर दिया है। माध्यमिक समूह का वास्तविक तत्त्व सम्पर्क की अस्थिरता के अनुभव में है। वे समूह जो अपने सदस्यों को ऐसे सम्पर्क का अनुभव कराते है जिनमें घनिष्ठता का अभाव हो, माध्यमिक समूह होते हैं। इसकी तुलना में, प्राथमिक समूह में व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ व सौहार्दपूर्ण होता है। कूले के अनुसार वह "मानव-स्वभाव के पोषण-गृह" होते हैं। शिशु यहीं से न्याय, महत्वाकांक्षा, प्यार, सहिष्णुता इत्यादि भावों को सीखकर 'मानव' बनते हैं। इनका वास्तविक सार घनिष्ठता और व्यक्तियों के विलयन में होता है।

विशिष्ट (Disjunctive) **और सीमांतरित** (Overlapping) **समूह.** बोगार्डस के मत भी समूहों के विशिष्ट और सीमान्तरित दो भेद हैं। एक समय में एक व्यक्ति केवल एक ही विशिष्ट सामाजिक समूह का सदस्य होना है. पर इसके साथ ही वह कितने ही अन्य अलग-अलग समूहों का सदस्य हो सकता है। एक विशेष

राष्ट्र का सदस्य होते हुए भी वह कई अन्तर्राष्ट्रीय समूहों का सदस्य हो सकता है। राष्ट्र एक विशिष्ट प्रकार के समूह हैं, और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं सीमान्तरित प्रकार के समूह हैं।

सामाजिक, छद्म-सामाजिक (Pseudo-social) **और असामाजिक** (Asocial) **समूह.** इसी प्रकार बोगार्डस ने विभिन्न समूहों को सामाजिक, छद्म-सामाजिक और असामाजिक कहा है। यह नाम उसने उन समूहों के दूसरे समूहों के प्रति व्यवहार को देखकर दिये हैं। सामाजिक जीवन में अपना पूरा योग देनेवाले समूह सामाजिक समूह हैं। एक अलग ग्राम या अपने तक ही सीमित एक क्लब एक असमाजिक समूह हैं। ऐसे समूह जो सामाजिक जीवन मे भाग तो लेते है, परन्तु केवल स्वार्थ या अपने लाभ के लिए, वह छद्म-सामाजिक कहलाते हैं। यह समूह दूसरे समूह के सहारे जीते हैं, अतः परजीवी है।

व्यक्तिगत और सार्वजनिक समूह (Private and Public Groups). गिडिंग्स ने समूहों को व्यक्तिगत समूह और सार्वजनिक समूह, इन दो वर्गों मे बांटा है। ब्राह्मण जाति एक व्यक्तिगत समूह है, और विधानमण्डल व परिवार भी ऐसे ही समूह हैं। इन समूहों की सदस्यता कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए ही होती है। पर ऐसे समूह जिनके सभी लोग सदस्य बनकर सामूहिक जीवन में योग दे सकते हैं, सार्वजनिक समूह कहलाते है। प्रायः सभी अनियन्त्रित समूह जैसे कि भीड़ और जनता दूसरी कोटि में आते हैं। व्यक्तित्व पर व्यक्तिगत समूह का प्रभाव अधिक होता है।

दृश्य और अदृश्य समूह (Visible and Invisible Groups). चेपिन के अनुसार समूह के दृश्य और अदृश्य यह दो भेद है। दृश्य समूह वह समूह है जो अपना कार्यक्रम खुले रूप में करते हैं, जैसे कि परिवार या विधान-सभा अदृश्य समूह वह है जो गुप्त रहकर कार्य करते है, जैसे कि चोरों, ठगो और क्रान्तिकारियों के समूह। अदृश्य समूह वर्तमान समाज के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकते है और वह विद्यमान सामाजिक प्रणालियों और व्यवसायों को तोड़ना चाहते है, और तोड़ते है।

अन्तःसमूह व बहिःसमूह (In-group and Out-group). सुमनर ने समूहों को अन्तःसमूह और बहिःसमूह, इन दो भागों में बांटा है। जो समूह हमारे अपने होते हैं, जिनके हम अंग होते है और जिनमें 'हम एक है' की भावना होती है, अन्तःसमूह हैं। उन समूहों से हम अपने मत, आचरण, मूल्य और आदर्श ग्रहण करते है। इन समूहों से पृथक् समूह बहिःसमूह है। हम उनको परायेपन और कभी-कभी विरोध और उपेक्षा की भावना से देखते है। उनकी तुलना में अपने अन्तःसमूह को प्यार करना स्वाभाविक है और इसी को जाति-अहंकार (Ethnocen ricism) कहा गया है।

में कोई एक पृथक् आत्मा है जैसा कि हीगल और वुंट का मत है, या सामूहिक चेतना या इच्छा-शक्ति जैसी कोई पृथक् वस्तु है, जैसा कि मैक्डूगल और दुरखाइम की धारणा है। समाज अलग-अलग व्यक्तियों के सम्मिलन से बना है। जैसे हार्मोनियम के अलग-अलग स्वर मिलकर एक संगीत बनाते हैं, उसी प्रकार अन्तःक्रियात्मक अवस्था भी, जो सामूहिक व्यवहार का आधार है, एक निरन्तरता और प्रणालीगत रूप लिए होती है। परन्तु न तो हम संगीत को एक आत्मा और चेतनायुक्त इकाई मान लेते हैं, जिसमें अलग-अलग स्वरों का कोई अस्तित्व न हो, और न ही हम समाज को एक आत्मा समझकर व्यक्ति के अस्तित्व से इन्कार कर सकते हैं।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सम्पूर्ण सामूहिक व्यवहार व्यक्तियों के व्यवहारों द्वारा ही उदित होता है और यह व्यवहार प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र और विशिष्ट व्यक्तिगत रूप में करता है। हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि व्यक्ति एक वस्तु है, एक सत्य है। सामूहिक शिक्षण, अभिसंहन (Conditioning), सुझाव (Suggestion), अनुकरण (Imitation), दबाव इत्यादि जिन साधनों से वह अपना प्रभाव व्यक्ति पर डालता है, वे सभी साधन प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने विशेष व्यक्तित्व के अनुसार ही प्रभावित कर सकते हैं। समाज को किसी अवास्तविक, अलौकिक या रहस्यमयी सत्ता या चेतना से विभूषित करना समाज के अध्ययन को वैज्ञानिक अध्ययन के दायरे से दूर फेंक देना है। हमें तो उन वास्तविक प्रक्रियाओं का अध्ययन करना चाहिए जिनके द्वारा व्यक्ति समूह का अंग बन जाता है।

समाज और सहजप्रवृत्ति (Instinct)

मानव व्यवहारों में कुछ सामान्य प्राथमिक आधारभूत प्रवृत्तियां

सभी व्यक्तियों के सभी प्रकार के व्यवहारों को कुछ ऐसी प्राथमिक और आधारभूत इकाइयों में बांटा जा सकता है, जो उन व्यवहारों के जन्म, विकास और प्रकार पर प्रकाश डाल सकें। सभी व्यक्ति कुछ समानता लिए हुए होते हैं, और सभी घृणा, प्रेम, क्रोध, काम वासना, भूख, प्यास और निद्रा के वश होकर व्यवहार करते हैं। कुछ ऐसी इकाइयां, जो सभी मनुष्यों में विद्यमान हो और जो सभी के व्यवहार का आधार हों, उन्हें सार्वजनिक और सामान्य मानकर मानव-व्यवहार के अध्ययन का आधार बनाया जा सकता है।

यह तो ठीक है कि सभी व्यक्तियों के शरीरों में कुछ ऐसे चालक होते हैं जिन्हें शरीर की आवश्यकताएं उद्दीप्त करती हैं। भूख, निद्रा इत्यादि उनमें ही गिने जा सकते हैं। इसी प्रकार कुछ ऐसे उद्वेग (Emotions) भी है, जैसे

क्रोध, मोह, प्यार, भय और लज्जा आदि, जो सभी व्यक्तियों के व्यवहार में दृष्टिगोचर होते हैं और उन्हें प्रभावित करते है। परन्तु क्या यह भी शरीर की आवश्यकताओं की तरह बहुत बुनियादी और महत्त्वपूर्ण हैं ? क्या यह भी शरीर के साथ ही जन्म लेते हैं ? जिस प्रकार शिशु जन्म से ही भूख से पीड़ित होता है, क्या वह घृणा से भी उसी प्रकार जन्म से ही उत्तेजित होता है ? क्या भूख और प्यास की तरह उद्वेग भी शरीर में कुछ अशान्ति, कुछ तनाव (Tension) की अवस्था को जन्म देकर अपनी शीघ्र तृप्ति के लिए व्यक्ति को उद्दीप्त करते हैं ?

सहजप्रवृत्ति जन्मजात होती है. इस दृष्टिकोण से यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है कि हमारे स्वभाव में कुछ ऐसी आधारभूत और बुनियादी प्रवृत्तियां विद्यमान हैं कि नहीं, जो जन्मजात हों, जो शरीर में पहले से ही विद्यमान हों और जो मानव-व्यवहार को एक विशिष्ट निर्धारित उद्देश्य की ओर, जिससे कि उनकी तृप्ति हो सके, ले जाएं।

मैक्डूगल, थॉर्नडाइक, विलियम जेम्स और तार्दे प्रभृति मनोवैज्ञानिकों ने इन प्रवृत्तियों का अस्तित्व स्वीकार किया है, और इन्हें सहजप्रवृत्तियों (Instincts) का नाम दिया है। परन्तु उनके क्या गुण हैं, और संख्या में वह कितनी है, इन विषयों पर उनमें तीव्र मतभेद है। फिर भी हम अधिक मान्य धारणाओं को स्वीकार करके सहजप्रवृत्तियों का अध्ययन करेंगे। मैक्डूगल ने इनकी संख्या बारह बताई है, थॉर्नडाइक ने आठ, फ्रायड ने केवल दो (विनाशात्मक और रचनात्मक), और विलियम जेम्स ने तो यहां तक कह दिया कि मानव में उतनी ही प्रवृत्तियां है जितनी कि पशुओं में है।

नस्ल की रक्षा के लिये उपयोगी सिद्ध हुए व्यवहार. मैक्डूगल के अनुसार अधिक चलित अर्थों में 'सहजप्रवृत्ति' कुछ ऐसी विशेष जन्मजात प्रवृत्तियों का नाम है जो किसी एक जाति के सभी सदस्यों या प्राणियों में सामान्यत: विद्यमान होती हैं। कुछ ऐसी नस्ली विशेषताएं भी सहजप्रवृत्ति है जो प्राणियों की वातावरण के प्रति अनुकूलतासम्पादन (Adaptation) की प्रक्रिया में धीरे-धीरे विकसित हो गई हैं और जो न तो उन प्राणियों की मानसिक रचना से मिटाई जा सकती हैं, और न ही व्यक्तियों द्वारा केवल अपने जीवनकाल में सीखी जा सकती है। यह सहजप्रवृत्तियां मानव या किसी दूसरी प्राणिक जाति के मन में इसलिए अमिट हो गईं, क्योंकि ये ऐसे व्यवहार द्वारा विकसित हुईं, जिनके कारण प्राणी वातावरण के प्रति लाभदायक आचरण कर सका। इस रूप में सहजप्रवृत्तियां प्राचीन काल से मनुष्य और वातावरण की अन्त:क्रिया में मनुष्य को लाभ और सुरक्षा देने वाले व्यवहार की शेष चिह्न है। यह उपयोगी होने के कारण नस्ल की शारीरिक और मानसिक विरासत में स्थापित हो गई है।

सहजप्रवृत्ति लक्ष्ययुक्त होती है. प्रत्येक सहजप्रवृत्ति का एक लक्ष्य, एक ध्येय होता है। उस ध्येय की पूर्ति के लिए मानव शरीर में कुछ पूर्वनिर्धारित क्रियाओं की एक शृंखला स्थापित होती है। हम भूख लगने पर कुछ खाना चाहते है। भोजन या क्षुधातृप्ति क्षुधा की सहजप्रवृत्ति का ध्येय है। इस ध्येय या लक्ष्य की पूर्ति के लिए हाथ बढाना, भोजन को मुंह मे डालना, चबाना, यह क्रियाओं की कड़ियां है। कीड़ों के मन में तो यह सब बहुत विस्तार से स्वभावतः ही स्थापित होती है। पक्षियों में भी घोंसला बनाने की सहजप्रवृत्ति लक्ष्य-प्राप्ति के लिए कुछ क्रियाओं की विस्तृत कड़ियों के रूप में काम करती है।

व्यक्तिगत अनुभव से अप्रभावित. सहजप्रवृत्ति नस्ली विरासत के रूप मे प्राप्त होती है, और जन्म से शरीर मे विद्यमान रहती है। इसे इस संसार में अपने अनुभव से सीखना नही पड़ता। इसका लक्ष्य भी पूर्वनिर्धारित होता है। यह तो हो सकता है कि लक्ष्य-प्राप्ति के साधन के रूप मे हम अपने अनुभव द्वारा भिन्न-भिन्न मार्ग अपना लें, परन्तु लक्ष्य और लक्ष्य-प्राप्ति की लालसा को हमारा अनुभव नही बदल सकता; प्रभावित भी नही कर सकता।

सहजप्रवृत्ति की तृप्ति सुखकर, अतृप्ति पीड़ाजनक. यदि हम सहजप्रवृत्ति के लक्ष्य की प्राप्ति कर लेते है तो हमारे शरीर में जो तनाव अशान्ति का कारण बनता है, वह दूर हो जाता है। अन्यथा वह तनाव कायम रहता है, और हम अतृप्ति के कारण पीड़ा का अनुभव करते है। जब हम किसी से क्रुद्ध होते है, तो कितने बेचैन होते है। अपने शत्रु की पराजय देखकर, अपने उद्देश्य में सफल होकर, हम कितने प्रसन्न होते है।

सहजप्रवृत्ति की परिभाषा. जिन्सबर्ग के शब्दो में, "सहजप्रवृत्ति क्रिया की उन कड़ियों का नाम है, जो जीवन के लिए उपयोगी होती हैं, जो जन्म से निर्धारित होती है और पूर्व अनुभव से स्वतन्त्र होती है।" मैक्डूगल के शब्दों में "सहज-प्रवृत्ति एक आनुवंशिक, सहजात, मनःशारीरिक प्रवृत्ति है, जो व्यक्ति को विशेष प्रकार के पदार्थों को प्रत्यक्ष करने और उनकी ओर ध्यान देने पर बाधित करती है, जो उसे उन पदार्थों को प्रत्यक्ष कर लेने पर एक विशेष गुण वाली उत्तेजित भावना को महसूस करने और उस भावना के अनुसार एक विशेष प्रणाली में क्रिया करने के लिए बाध्य करती है।"

सहजप्रवृत्ति और उत्क्षेप (Reflex). स्पैंसर के अनुसार सहजप्रवृत्ति अनेक उत्क्षेपों का समन्वय है। परन्तु उत्क्षेप शरीर के किसी एक भाग में ही उत्तेजित हो जाने वाली एक विशेष क्रिया को कहते हैं, जिसका हमारे शिक्षण व चिन्तन से सम्बन्ध नहीं होता। इसकी तुलना में सहजप्रवृत्ति सारे शरीर का व्यवहार होती है। वह एक विशेष क्रिया नहीं है, वह क्रियाओं की एक शृंखला को

जन्म देती है, मन में एक तनाव और एक अशान्ति पैदा कर देती है। जब कि उत्क्षेप केवल शारीरिक क्रिया है, सहजप्रवृत्ति शारीरिक भी होती है और मानसिक भी।

सहजप्रवृत्ति के कार्य. सहजप्रवृत्ति के कार्य का तीन अलग-अलग विभागों में विभाजन किया जाता है, उसके (१) बोधात्मक (Cognitive), (२) क्रियात्मक (Conative), (३) रागात्मक (Affective) अलग-अलग कार्य है। उद्दीपन (Stimuli) का प्रत्यक्षीकरण, उद्दीपन द्वारा उद्दीप्त भावना से प्रेरित कुछ क्रियाएं और लक्ष्य-प्राप्ति पर तृप्ति और सुख की भावना, यह सहजप्रवृत्ति के अलग-अलग रूप हैं। किसी सुन्दर फूल को तोड़ने या हमें बुरा प्रतीत होने वाले व्यक्ति को मारने के लिए दौड़ने की हमारी क्रिया, इन्हीं तीनों तत्वों को लेकर चलती है।

सहजप्रवृत्ति और बुद्धि. इस सारी योजना मे बुद्धि का क्या स्थान है? बुद्धि और सहजप्रवृत्ति का क्या सम्बन्ध है? हाबहाउस का कथन है कि उद्दीपक के प्रत्यक्षीकरण के उपरांत जो भावना उदित होती है, वह बुद्धि से सम्बद्ध होती है क्योंकि वह नियत नहीं होती और उसमें लचकीलापन व नमनीयता होती है।

हम यह कह चुके है कि सहजप्रवृत्ति लक्ष्ययुक्त है। लक्ष्य तो सदा ही निर्धारित रहता है, परन्तु उस तक पहुंचने के साधन पूर्णतः पूर्वनिश्चित नही होते। बुद्धि उन साधनों को विकसित करती है। सहजप्रवृत्ति मे जो अपरिवर्तनीयता रहती है, बुद्धि अपने पूर्वसंचित अनुभव द्वारा उसे कम करती है; लक्ष्य तक पहुंचने के मार्ग को परिष्कृत करती है। लक्ष्यनिर्धारण सहजप्रवृत्ति द्वारा होता है, पथप्रदर्शन बुद्धि द्वारा।

आरम्भ में अनुभवहीनता के कारण बुद्धि केवल तात्कालिक लक्ष्य को ही पहचान पाती है, पर ज्यों-ज्यों यह विकसित होती है, अन्तिम लक्ष्य को समझने में भी समर्थ हो जाती है और पथप्रदर्शन करती है। इससे स्पष्ट है कि लक्ष्यप्राप्ति के साधन हमारे अनुभवों द्वारा निर्धारित होते है।

सहजप्रवृत्ति का प्रभाव. मानव व्यवहार मे सहजप्रवृत्ति का कितना प्रभाव है? मैक्डूगल ने इसे मानव व्यवहार का आधार बताया है। उसके कथनानुसार मानव एक ऐसा इंजन है जिसको चलाने के लिए सहजप्रवृत्ति नाम की अग्नि की आवश्यकता है। सहजप्रवृत्ति शरीर के व्यवहार को प्राणवान् करने वाली शक्ति है।

जिन्सबर्ग ने मैक्डूगल की धारणा का विरोध किया है। उसका कहना है कि प्रथम तो हम समाज में रहने के कारण अपने जीवन में कुछ ऐसे आदर्श या प्रेरक स्वीकार कर लेते हैं, जो जन्मजात नहीं हो सकते; दूसरे हमारा व्यक्तित्व

केवल शारीरिक या प्राणिक गुणों का परिणाम नहीं है। उस पर केवल कुछ सहजप्रवृत्तियों का ही नहीं, बल्कि सामाजिक और भौगोलिक वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है, और व्यक्ति के अपने अनुभव भी उसे प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त, यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि हमारे व्यवहार के प्रेरक मिले-जुले होते हैं, उनको पृथक्-पृथक् सहजप्रवृत्तियो मे विभाजित कर पाना और पहचान पाना असम्भव है। सामाजिक क्रियाओं का जो प्रभाव मानव व्यवहार पर पड़ता है, वह भी मानव-क्रियाओ को बहुत अधिक बदल देता है। अत: मैक्डूगल की धारणा भ्रान्तिपूर्ण है और हमें मानव-व्यवहार और स्वभाव में सहजप्रवृत्ति को अधिक महत्त्व न देना चाहिए।

व्यवहारवादियों (Behaviourists) की धारणा. परन्तु मनोविज्ञान में एक और विचारधारा है, जिसे व्यवहारवादी विचारधारा कहा जाता है। जे० बी० वाट्सन इसके मुख्य समर्थक हैं। यह मानव व्यवहार और क्रिया को किसी सहज-प्रवृत्ति का परिणाम नही मानते। यह विचारधारा 'सहजप्रवृत्ति' नाम की किसी वस्तु के अस्तित्व से ही असहमत है। इसके अनुसार मनुष्य जो भी व्यवहार करता है, उसका कारण समाज और वातावरण है। व्यक्ति तो केवल एक शरीर है, जिसमें नाड़ी संस्थान, ग्रन्थि संस्थान और मस्तिष्क का समावेश है। यह सब अनुभव और क्रिया द्वारा परिवर्तित होते रहते है, परन्तु प्रत्येक पहले परिवर्तन का प्रभाव अपने अन्दर सुरक्षित रखते है, उसे विनष्ट नही होने देते। वातावरण और उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया द्वारा वह इन तीनों चीजों का विकास करते है और अभ्यास और शिक्षण द्वारा अपनी बुद्धि को बढाते रहते है।

सहजप्रवृत्तियों के अस्तित्व और शक्ति पर मानवशास्त्रियों की खोज. पिछले पच्चीस वर्षों मे मानवशास्त्रियों ने अपनी खोजों से कुछ ऐसे तथ्यों पर प्रकाश डाला है कि सहजप्रवृत्तियो को मानने वालों को अपनी धारणाओं को बदलना पड़ रहा है। रूथ बैनेडिक्ट और मारगरेट मीड ने छ: आरण्यक जातियों के कबीलों के अध्ययन से यह दर्शाया है कि कई ऐसी प्रवृत्तियां जिन्हें हम अपनी संस्कृति के प्रभाव के कारण सहज मानते है, वह अन्य कबीलों में नही दिखाई देतीं।

मारगरेट मीड ने यौन-व्यवहार के सम्बन्ध में अरापेश, मुंडुगुमर और शाम्बुली कबीलो का उदाहरण दिया है। अरापेश कबीले के स्त्री और पुरुष दोनों ही अपने यौनिक व्यवहार मे बहुत कम उत्तेजित, बहुत शान्त और उदासीन है, जब कि मुंडुगुमर कबीले में दोनों ही उग्र यौन-व्यवहार का प्रदर्शन करते है, यहां तक कि इस कबीले मे बच्चे अनिच्छित और उपेक्षितो की भांति पाले जाते है और मां बच्चों की ओर ध्यान नहीं देती। शाम्बुली कबीले मे, जो दोनों कबीलों के सौ मील के अन्दर-अन्दर ही वास करता है, स्त्री यौन-व्यवहार में उग्र है, पुरुष सुस्त है।

शक्ति, सत्ता और सम्पत्ति की स्वामिनी भी स्त्री है।

इस सम्बन्ध में स्त्रियों में मातृत्व की 'सहजप्रवृत्ति' (Maternal Instinct) का उदाहरण भी दिया जा सकता है। अंडमान में माता-पिता अपने बच्चों को किसी दूसरे की गोद देकर सम्मान प्राप्त करते है। वहां छः वर्ष से अधिक का कोई बच्चा माता-पिता के साथ नही रहता। प्राचीन काल मे चीन में परिवार के सभी बच्चों का पालन-पोषण सबसे बड़ी पत्नी करती थी, और वही उनके सम्मान और प्यार को प्राप्त करती थी। वास्तविक माताओं का बच्चों पर कोई अधिकार न होता था। इसी प्रकार न्यूगिनी के मेनास लोगों में माता की जगह पिता ही बच्चों का पालन-पोषण करता है।

होपी और जूनी लोगों मे घृणा की सहजप्रवृत्ति, स्पर्द्धा और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की भावनाओं या प्रवृत्तियों का कोई चिह्न नही पाया जाता, जब कि क्वाकितुल लोगों और हमारी आधुनिक सभ्यता में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इन तथ्यों से यह परिणाम निकलता है कि सहजप्रवृत्ति कोई निश्चित वस्तु नही है। वह हमारी सामाजिक व्यवस्था, संस्कृति और अनुभव द्वारा बदल जाती है, और अलग-अलग रूप धारण कर लेती है।

समाज में सहजप्रवृत्ति

मैक्डूगल, ट्रॉटर, तार्द, बेगहॉट और दूसरे विद्वानों ने व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार का कारण अधिकतर 'सहजप्रवृत्ति' को बताया है। मैक्डूगल ने आत्मप्रकाश (Self-assertion) और आत्म लघुता (Self-abasement) की प्रवृत्ति को और तार्द ने अनुकरण की सहजप्रवृत्ति को, सामाजिक व्यवहार का आधार बताया है। ट्रॉटर ने सामाजिकता की 'सहजप्रवृत्ति' की कल्पना की है। इन तीनों सिद्धान्तों का विस्तार से अध्ययन करना सामाजिक व्यवहार का कारण समझने के लिए आवश्यक प्रतीत होता है।

मैक्डूगल का मत

सामजिकता करुणाभाव का परिणाम. मैक्डूगल के कथनानुसार सामाजिक जीवन का आधार करुणा की भावना है। यह भावना पितृत्व की भावना का प्रधान रूप है। वास्तव मे आरम्भ में यह मातृत्व की भावना थी, पर अन्य कई गुणों की तरह यह पुरुष को भी प्राप्त हो गई। जब हम किसी दूसरे व्यक्ति को अन्याय-पीड़ित देखते है तो इसी करुणाभावना को उत्तेजना मिलती है, और इस प्रकार यह परोपकार की भावना—पर-रक्षा की भावना को भी जन्म देती है। जब यह भावना अपनी तृप्ति के मार्ग में कोई बाधा देखती है, तो अन्य सभी सशक्त भावनाओं (Impulses) की तरह प्रतिरोध और क्रोध की ओर प्रवृत्त होती है, और इस प्रकार, नैतिक विरोध और क्रोध का आधार बनती है।

मैक्डूगल के मत की समालोचना. मैक्डूगल के मत में निम्न दोष दर्शाये गये हैं. सामाजिक व्यवहार का रक्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। जब हम अन्याय के विरुद्ध लड़ते हैं, तो यह आवश्यक नहीं होता कि पीड़ित व्यक्ति हमारा रक्त सम्बन्धी हो। सामाजिकता की भावना को माता या पिता के प्यार से सम्बन्धित करने की कोई आवश्यकता नहीं। न ही यह आवश्यक है कि हम इस भावना को दूसरी भावनाओं पर आधारित करें। इसे भी हम एक अलग, स्वतन्त्र और बुनियादी नैसर्गिक भावना मान सकते हैं।

सामाजिक जीवन का आधार दूसरों मे अन्तःक्रिया (Interaction)

हमारे सारे सामाजिक व्यवहार के लक्ष्य दूसरे लोग होते हैं। सभी भावनाएं अपने लक्ष्य के रूप में दूसरे पदार्थों की ओर ही अग्रसर होती हैं। दूसरों के प्रति प्रतिक्रिया सामाजिकता का आधार है। शैंड के शब्दों में "हमारी प्रत्येक भावना में एक सबल निःस्वार्थता निहित है, क्योंकि जिन उद्दीपकों से वह उद्दीप्त होती है, उनमें से कई उद्दीपक दूसरे व्यक्तियों द्वारा प्रदत्त होते है, हमारे अपने द्वारा नहीं।" एक पतंगा अपने बच्चे के लिए परिश्रम करता है, जब कि वह उसे कभी नही देख सकता। क्या यह स्नेहभावना के कारण है? और फिर क्या ज्ञान और सौन्दर्य के प्रति प्रेम भी इसी के कारण होता है?

हम सामाजिक मान्यताएं क्यों स्वीकार करते हैं. मैक्डूगल का विचार है कि हम जो अपने समाज के नियमों का पालन करते हैं, सामाजिक मान्यताओं को स्वीकार करते हैं और शक्ति के सम्मुख नतमस्तक होते हैं, उसका कारण यह है कि हम समाज से अपने लिए सम्मान चाहते है, दण्ड से डरते हैं और दूसरों की इच्छानुसार कार्य करके उनको प्रसन्न करना चाहते हैं। हमारी आत्म-सम्मान की भावना (Self-regarding Sentiment) और निषेधात्मक आत्म भावना (Negative Self-feeling) दोनों का सम्मिलन इस व्यवहार का आधार है। हमारी नैतिक प्रगति का कारण यह है कि हमारी आत्म-सम्मान की भावना अधिक विकसित हो जाती है, और जिनके प्रति उनकी इच्छानुसार चलकर और उनको प्रसन्न करके हम सक्रिय सहानुभूति का प्रदर्शन करते हैं, वह भी ऊंचे स्तर के हो जाते है। और चूंकि हमारा आचरण देखने वाले परिष्कृत स्वभाव के हैं, इसलिए हमारा आचरण भी परिष्कृत होता रहता है।

इस धारणा में जिस सहजप्रवृत्ति को महत्त्व दिया गया है, वह एक नहीं, कई अलग-अलग व्यवहार-प्रणालियों का सामूहिक नाम है। अतः उसे एक सहज-प्रवृत्ति मानना कठिन है। हम दूसरों से डरते हैं, हम दण्ड से डरते है, हम दूसरों को प्रसन्न करना चाहते हैं और अपने को भी। क्या इन सबको एक ही नाम देकर कोई ठीक धारणा बनाना संभव है? और यदि हम सामाजिक मान्यताओं को

इसीलिए मानते हैं, तो एक ऐसे समाज में, जिसमें सभी व्यक्ति हमारी तरह इन मान्यताओं को मानते हैं, कुछ खास नीतियां या आदर्श ही क्यों मान्य होते है ? इसका क्या कारण है ?

मैक्डूगल ने 'सामाजिक सहज प्रवृत्ति' का कार्य केवल यह बताया है कि लोग एक स्थान पर एकत्रित हो जाएं। अगर इस नाम की कोई सहज प्रवृत्ति है, तो उसका कार्य यह भी तो हो सकता है कि लोग सर्वदा इकट्ठे ही, समूहों में ही काम करें।

ट्रॉटर का मत

सामाजिक सहज प्रवृत्ति के कारण सामाजिक गठन. ट्रॉटर ने सामाजिकता की सहजप्रवृत्ति को बहुत अधिक महत्व दिया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने साथियों के व्यवहार से प्रभावित होता है, और सदा चाहता है कि वह अपने समूह में, अपने साथियों में रहे। सामाजिकता की सहजप्रवृत्ति के ही कारण हमारा यह व्यवहार है, और इसी के कारण समूह की ओर से या उसके सम्मान के साथ जो भी सुझाव हमें प्राप्त होता है, उसका हम पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इसके ही कारण समूह के सदस्यों की मानसिक रचना में एक मौलिक परिवर्तन आ जाता है। इस सहजप्रवृत्ति की महत्ता इस बात में है कि हम बिना सोचे-समझे ही सामूहिक आदर्शों, मूल्यों और मान्यताओं को अपनी स्वीकृति दे देते है। यद्यपि बहुत-सी मान्यताएं बिल्कुल युक्तिहीन होती है, तथापि हमें और समूह के दूसरे सदस्यों को वह युक्तिसंगत जंचती हैं।

ट्रॉटर के अनुसार आदर्शों, रिवाजों, विचारों और मूल्यों का प्रबल प्रभाव सामाजिकता की सहजप्रवृत्ति की देन है। जिसे हम 'अन्तरात्मा (Conscience) कहते है, वह भी 'समाज की निन्दा से भय' का दूसरा नाम है। हमारी पूर्णता की लालसा, आत्म विलयन और मुक्ति की जिज्ञासा, जो धर्म का आधार हैं, कभी-कभी हमारे समाज से स्वतन्त्र न हो सकने और आत्मनिर्भर होने में असमर्थ होने के कारण, उत्पन्न होती हैं।

ट्रॉटर के मत की आलोचना. ट्रॉटर के सिद्धान्त से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि सुझाव के प्रभाव के कभी न्यून और कभी अधिक होने का क्या कारण है। कुछ लोग एक सुझाव को स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु उनके दूसरे साथी नहीं करते। ऐसा क्यों होता है ? यदि सबमें यह सहजप्रवृत्ति है, तो सभी को उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए। इसी प्रकार इस समस्या पर भी प्रकाश नही पड़ता कि एक समूह में कुछ विशेष मान्यताएं ही क्यों मान्य हुईं, दूसरी क्यों नहीं।

किसी एक कारण से सामाजिक व्यवहार की व्याख्या करना भ्रान्तिपूर्ण. वास्तव में तो सामाजिक व्यवहार की किसी एक कारण से या एक सहजप्रवृत्ति

से ही व्याख्या करने की चेष्टा करना ही भ्रान्तिमूलक है। किसी एक प्राथमिक बुनियादी भावना, जैसे डर या सामाजिकता के विद्यमान होने पर भी, मानव व्यवहार पर प्रभाव डालने वाले कितने ही अन्य तत्त्व हैं। यह कहना कि युद्ध डर के परिणामस्वरूप होते हैं या आक्रमणकारी भावना के कारण होते हैं, किसी भी विशेष युद्ध के विषय में कोई ज्ञान प्रदान नही करता। युद्धों के अनेक कारण होते हैं। किसी एक युद्ध का इतिहास जानने के लिए, तत्कालीन योद्धाओं का इतिहास, उनके रिवाज, उनके झगड़ों इत्यादि का जानना आवश्यक है।

प्रत्येक घटना अनेक कारणों के परिणामस्वरूप घटती है न कि किसी एक कारण से। हमारी भावनाएं हम में विद्यमान हैं, पर हमारा व्यक्तित्व उन भावनाओं का संग्रह नहीं, उनके सात्मीकरण (Assimilation) का परिणाम होता है, क्योंकि उसका विशेष गुण है उसकी एकता, उसकी सम्पूर्णता, उसका संगठन। हमारी प्रत्येक प्रतिक्रिया किसी एक भावना या प्रवृत्ति का नहीं, अपितु कई प्रवृत्तियों के सात्मीकरण का परिणाम होती है। दूसरे, हमारी भावनाओं पर हमारे पूर्व अनुभवों, हमारे सम्पूर्ण ज्ञान और वृद्धि का बहुत प्रभाव होता है, उनसे हमारी भावनाओं की प्रबलता की मात्रा कम या अधिक हो जाती है, उनका क्षेत्र और उनकी परिधि बढ़ जाती या छोटी हो जाती है, उनकी अभिव्यक्ति की प्रणालिया अनेक हो सकती है, और उनको अलग-अलग ढंगों से बदला जा सकता है। हमारी भावनाएं किस दिशा में अभिव्यक्त होंगी, इसका निर्धारण सामाजिक मूल्यों, संस्थाओं और रूढ़ियों पर अवलम्बित होता है।

किसी एक तत्त्व पर बल देकर सामाजिक व्यवहार की व्याख्या उस तत्त्व को तो प्रकाश मे ले आती है, पर व्याख्या की दृष्टि से बहुत अधूरी है। सम्पत्ति-संग्रह के लिए सम्पत्ति-संग्रह की सहजप्रवृत्ति को मान लेने पर भी, क्या इसका कारण जानना कठिन नहीं है कि क्यों जूनी लोग सामूहिक सम्पत्ति की व्यवस्था को मानते है, जब कि उनके पड़ौसी क्वाकितुल उसे नहीं मानते।

बेगहाट का मत

अनुकरण (Imitation) सामाजिक व्यवहार का आधार. बेगहाट ने १८७३ मे अपनी पुस्तक 'भौतिकशास्त्र और राजनीति' में अपने मत का प्रतिपादन किया। उसने आदिम समाज में अनुकरण की महत्ता को देखकर उसे ही समाज को ढालने वाली शक्ति माना है। बेगहाट के मत से आज के समाज की प्रक्रियाओं मे भी सबसे बुनियादी प्रक्रिया अनुकरण ही है। हम सब जो सामाजिक रीति-रिवाज सीखते है और समाज के अंग बन जाते हैं, वह भी अनुकरण ही का प्रभाव होता है। हम अनुकरण करने को बाध्य होते हैं और न जानते हुए भी अनुकरण करते जाते हैं। अनुकरण समाज को स्थायी, और स्थिर रखने वाली

वांछित है। समाज में प्रगति या परिवर्तन अचानक होता है। अकस्मात् ही किसी नई चीज का उदय हो जाने पर सभी उसका अनुकरण करने लगते है और उसे स्वीकार कर लेते हैं।

बेगहॉट के विचार में अनुकरण की इतनी अधिक शक्ति है कि अगर अनुकरण की चेष्टा असफल रहे, तो हमें दुःख होता है। अनुकरण हमें समाज के प्रचलित रिवाजों को मानने को बाध्य करता है। प्रगति का कारण उसने एक और प्रवृत्ति को माना है, जिसे उसने वाद-विवाद की प्रवृत्ति कहा है।

तार्दे का मत

पुनरावृत्ति (Repetition), **विरोध** (Opposition) **और अनुकूलन** (Adaptation) **का अविरल-चक्र.** तार्दे ने और बाद में बाल्डविन ने भी अनुकरण की सत्ता को मनोवैज्ञानिक तरीके से बहुत महत्त्वपूर्ण बताया है। उसके अनुसार सामाजिक प्रक्रिया सदस्यों की मानसिक अन्तःक्रिया के समूह का नाम है। इस मानसिक अन्तःक्रिया के तीन रूप है: पुनरावृत्ति, विरोध और अनुकूलन।

उक्त तीनों के सापेक्ष महत्त्व के विषय में तार्दे का मत है कि "इन तीनों प्रक्रियाओं का एक ऐसा वृत्तीय-क्रम है, जो अविरल आगे-ही-आगे बढते रहने की क्षमता रखता है। अनुकरणात्मक पुनरावृत्ति (Imitative Repetition) के द्वारा ही एक आविष्कार, जो कि बुनियादी सामाजिक अनुकूलन (Adaptation) है, प्रसारित और दृढ़तर होता है। अपनी ही एक अनुकरण करने वाली किरण (Imitative Ray) के किसी दूसरे आविष्कार की अनुकरण करने वाली किरण के साथ मिलन के द्वारा ही, वह आविष्कार या तो नए संघर्षों को जन्म देने की चेष्टा करता है और या किसी नए और अधिक जटिल आविष्कार को जन्म देता है, जो स्वयं अपनी अनुकरण करने वाली किरणों का उसी तरह प्रसार करता है। और इस प्रकार यह चक्र अविरल गति से चलता और बढ़ता रहता है। "यदि उक्त तीनों तत्त्वों की तुलना की जाय तो पहले और तीसरे तत्त्व (पुनरावृत्ति और अनुकूलन) दूसरे तत्त्व (विरोध) से अधिक ऊंचे, अधिक गहरे, अधिक महत्त्वपूर्ण और शायद अधिक स्थायी होते हैं। दूसरे तत्त्व (विरोध) का महत्त्व केवल इतना ही है कि वह विरोधी शक्तियों में ऐसे तनाव को उत्तेजित करता है, जो आविष्कारक प्रतिभा का उदय करने के योग्य हो।"

प्रगति का आधार आविष्कार (Invention). **अनुरूपता का आधार अनुकरण.** उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुकरण समाज का आवश्यक गुण है, जो एक आविष्कार को प्रसारित करता है। प्रगति का श्रोत आविष्कार है, अर्थात् ऐसे विचारों और व्यवहारों को स्वीकार कर लेना जिनमें नवीन और विशेष गुण हों। अनुकरण समाज में समानता, अनुरूपता, सहयोग और सहकारिता को

जन्म देता है। सामाजिक प्रक्रिया एकरूपता व समान गुणों को विकसित करती है। इसके प्रभाव के कारण व्यक्तियों के मस्तिष्क पहले की अपेक्षा अधिक समान हो जाते हैं, उनमें एक ही प्रकार के विचारों का उदय होता जाता है।

कुछ सामाजिक अवस्थाएं, जैसे अधिक जनसंख्या और समाज में एकतत्वीयता की उपस्थिति, आविष्कार के लिए अनुकूल होती हैं। अनुकरण भी सामाजिक अन्तःक्रिया के तीव्र वेग से प्रबल हो जाता है।

अनुकरण को प्रभावित करने वाले तत्त्व. दो प्रकार के सामाजिक तत्त्व जिन्हें तार्दे ने तर्कसंगत (Logical) और तर्कातीत (Extra-Logical) कहा है, अनुकरण और आविष्कार को प्रभावित करते है। कोई भी नया आविष्कार जो तत्कालीन प्रचलित और मान्य धारणाओं के विरुद्ध हो, मान्य नही होता, और उसका अनुकरण नही किया जाता। यह तर्कसंगत तत्त्व के प्रभाव का उदाहरण है।

तर्कातीत (Extra-logical) तत्त्व. तर्कातीत तत्त्व तीन है: (१) सिद्धान्तों और मतों का प्रसार कर्मकांड की तुलना में अधिक शीघ्रता से होता है। कानूनी धारणाएं कानूनी पद्धतियों की अपेक्षा शीघ्र प्रचलित और प्रसारित होती है; (२) आविष्कारक की प्रतिष्ठा और सम्मान से अनुकरण की गति बढ़ जाती है, बड़े नगरों, सफल व्यतिक्यों और उच्च वर्गों या संस्कृतियों द्वारा स्वीकृत या व्यवहृत आविष्कार का अनुकरण शेष व्यक्ति या समूह भी अतिशीघ्र करते है; (३) समाज की एक अवस्था में रिवाज और परम्परा का प्रभाव प्रबल होता है, तो दूसरी में नवीनता का। यदि अवस्था पहली प्रकार की है, तो आविष्कार बहुत शीघ्र परम्परा का अंग बन जाता है।

तार्द का प्रभाव. तार्दे के इस मत का रॉस पर बहुत प्रभाव पड़ा। ला बौन सिडिस और सीगेल ने 'सुझाव' पर बहुत बल दिया है, सिडिस ने तो इसे आदिम समाज की आत्मा की उपाधि दे दी है। परन्तु तार्दे और उसके अनुयायियों की इन बातों में आंशिक सत्य होने पर भी वह अपने पक्ष को पूर्णतः सुलझाकर पेश नहीं कर सके हैं। 'अनुकरण' शब्द को उन्होंने अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया है। व्यक्तियों के अन्तः संचार (Communication), सुझाव, सहानुभूति सभी को 'अनुकरण, कह दिया है।

अनुकरण (Imitation), सुझाव (Suggestion) और सहानुभूति (Sympathy) के सामाजिक काय

तार्दे के मत को तीन रूपों— अनुकरण, सुझाव और सहानुभूति— में विभाजित कर अध्ययन करने से उसकी प्रामाणिकता की जांच की जा सकती है।

अनुकरण उत्क्षेपात्मक (Reflex) नहीं. तार्दे ने अनुकरण को अचेतन उत्क्षेपात्मक व्यवहार (Unconscious Reflex Action) माना है। परन्तु

हम सर्वदा दूसरे लोगों के व्यवहार को देखकर वैसा ही व्यवहार नहीं करते। किसी की क्रोधावस्था से हममें डर की अनुभूति होती है। बच्चे को हंसता देखकर उसे प्यार करने की, चूमने की, स्वयं मुस्कराने की और उसे चुप कराने की अलग-अलग भावनाएं हमारे मन में आ सकती हैं। अतः तार्दे द्वारा अनुकरण को उत्क्षेपात्मक व्यवहार समझना भ्रान्तिमूलक है, क्योंकि उत्क्षेप मे तो एक खास अचेतन प्रतिक्रिया होती है। फिर भी दूसरों को चुप देखकर स्वयं चुप हो जाने और मुस्कराते देखकर मुस्कराने में उत्क्षेपात्मक क्रिया भी होती है।

वुडवर्थ ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि कई ऐसी क्रियाएं, जिनको हम उत्क्षेप मानते हैं, वास्तव में उत्क्षेप नहीं हैं। जब कोई दर्शक एक फुटबाल के खिलाड़ी को फुटबाल को पांव से दूर फेंकते देखकर स्वयं भी पांव चला देता है, तो वह उत्क्षेपात्मक अनुकरण है। परन्तु कितनी ही बार दर्शक खिलाड़ी के पांव मारने से पहले ही अपना पांव चला देता है। इस प्रकार इसे अनुकरण कहना भ्रान्तिपूर्ण है।

अनुकरण की प्रवृत्ति दूसरों के समान होने और उनके मत को स्वीकार करने में भी दृष्टिगोचर होती है। पर इस अनुकरण में हम इच्छापूर्वक प्रयत्न करते हैं, और हमारा अनुभव इसमें हमारा पथप्रदर्शक होता है। हम जान-बूझकर अपने अनुभव के प्रकाश में ही अनुकरण का निर्णय करते हैं। इस रूप मे यह सहज-प्रवृत्ति कैसे हो सकता है।

तीसरी प्रकार का अनुकरण विचारपूर्ण और तर्क-संगत अनुकरण होता है। तार्दे के अनेक उदाहरण इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु ऐसा अनुकरण, जो हम जान-बूझकर, प्रमाण को युक्तियुक्त मानकर करते है, वह वास्तव में अनुकरण नहीं कहा जा सकता; न ही वह उत्क्षेप होता है, न ही सहजप्रवृत्तिमूलक। इसलिए अनुकरण किसी सहजप्रवृत्ति का नाम नहीं हो सकता।

सुझाव. आदर्शों और विचारों के अनुकरण का नाम सुझाव है। व्यक्ति बहुधा अपने तर्क की सहायता न लेकर सुझाई हुई चीजों को स्वीकार कर लेता है। किसी सहजप्रावृत्तिक या रागात्मक भावना को उत्तेजित करके और विरोधी विचारों का निरोध करके ही सुझाव सफल होता है। हांद के अनुसार यह जानना आवश्यक है कि सुझाए जाने वाले विचारों का संग्रह क्या है, वह किस भावना को उत्तेजित करता है, और क्या व्यक्ति के मन मे कोई विरोधी विचार या भावना पहले से ही तो विद्यमान नहीं है। यही तत्त्व सुझाव के प्रभाव को नियन्त्रित करते है।

सुझाव के प्रभाव का आधार व्यक्ति की सहजप्रवृत्तियों और भावनाओं (Impulses) की व्यवस्था और उनकी अलग-अलग अवस्था है। कोई व्यक्ति

किसी एक प्रकार के सुझाव से अधिक प्रभावित हो जाता है, दूसरे प्रकार के सुझाव से नहीं, परन्तु वही सुझाव किसी दूसरे को अत्यन्त प्रभावित कर देता है। इसमें दोनों व्यक्तियों की मानसिक और मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं का अन्तर ही यह अन्तर उपस्थित करता है। इस अन्तर के अध्ययन के लिए व्यक्तियों की इन अवस्थाओं और उनके विचारों, आदर्शों, और भावनाओं की व्यवस्था जैसे जटिल तत्त्वों का अध्ययन करना जरूरी है।

सहानुभूति (Sympathy). सहानुभूति वह संवेदन है जो संक्रामक रोग की भांति विभिन्न व्यक्तियों में फैल जाता है। मैक्डूगल के अनुसार एक ही संवेदन का प्रसार पक्षी-समाज को एक सूत्र में बांधे और दृढ़ बनाए रखता है। मैक्डूगल की धारणा, जिसे भावनाओं का सहानुभूतिपूर्ण आगमन (Induction) कहा जाता है, यह है कि एक व्यक्ति द्वारा एक विशेष भावना की अभिव्यक्ति दूसरे व्यक्ति में भी उसी भावना का उदय करती है। यह तो पहले कहा जा चुका है कि यह धारणा गलत है। किसी को डरते देखकर डर भी लग सकता है, दया भी आ सकती है, या हंसी भी। जब कभी एक-सम भावना का प्रसार होता भी है, तो उसका कारण उस आदर्श या हित की समानता होती है, जिसके कारण उस भावना का उदय हुआ है। जब हम किसी ओजस्वी भाषणकर्ता के देश-भक्ति से ओत-प्रोत भावुक भाषण को सुन देश-भक्ति की भावना में बहने लगते हैं, तो इसका कारण भाषणकर्ता से सहानुभूति नहीं, देश से सहानुभूति या भक्ति होता है।

निष्कर्ष. इस सारे तर्क-वितर्क से इस परिणाम पर पहुंचना कठिन नहीं कि समाज में शुद्ध अनुकरण का महत्त्व बहुत संदेहात्मक है। बल्कि सुझाव और सहानुभूति भी सामाजिक जीवन में अद्वितीय तत्त्व नहीं है। वह भी दूसरी भावनाओं और प्रवृत्तियों पर आधारित हैं और इनमें से कोई भी सहजप्रवृत्ति नहीं है।

सामाजिकता कोई सहजप्रवृत्ति नहीं

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाज में सामाजिक सहजप्रवृत्ति नाम की कोई वस्तु नही है। हम जिन कारणों से समाज के अंग बनते है, उनका जिक्र किया जा चुका है। फिर भी यह दोहरा देना पर्याप्त होगा कि समाज में ही मानव अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। मानव शिशु की असहायता और पराश्रितता उसे समाज का अंग बना देते है। और चूंकि शैशवकाल से ही हमें सामाजिक व्यवहार से सुख और सहारा मिलता है, इसलिए हम मां के साथ अपने सम्बन्ध में, और पारिवारिक जीवन में ही सामाजिकता का पाठ पढ़ते हैं। अनुकरण, सुझाव और सहानुभूति, इन तीनों ही को, हम अपने अनुभव या दूसरों की

क्रियाओं के आभास द्वारा सीखते हैं, और इस प्रकार यह कोई निश्चित सहज-प्रवृत्तियां नहीं हैं।

सामाजिक प्रक्रियाएं (Social Processes)

इनका अध्ययन समूहों के अन्त:सम्बन्ध और आन्तरिक अवस्था के ज्ञान के लिए आवश्यक. समूहों में अलग-अलग व्यक्ति कैसे एक दूसरे के प्रति अन्त:क्रिया में भाग लेते हैं; कैसे एक ही समूह में छोटी-छोटी इकाइयां, श्रेणियां और जातियां परस्पर अन्त:सम्बन्ध स्थापित करती हैं; और दो समूह किस प्रकार के व्यवहारों द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं, यह गम्भीर अध्ययन का विषय है। दो समूह परस्पर सहयोग की भावना से भी सम्बद्ध हो सकते है और संघर्ष की भावना से भी। एक समूह के अंतर्गत दो विभिन्न श्रेणियां कभी धीरे-धीरे एक दूसरे में मिल भी सकती हैं और पूर्णत: पृथक् भी रह सकती हैं। दो व्यक्ति परस्पर इस प्रकार समीकृत (Adjusted) हो सकते हैं कि एक दूसरे के गुणों और अवगुणों को स्वीकार करके साथ-साथ रहने लगें, और यह भी हो सकता है कि वे एक दूसरे के विरोधी गुणों को महत्ता देकर एक दूसरे का विरोध करें। इसमें से कौन-सी प्रक्रिया किस समूह या किन समूहों में सामाजिक व्यवहार का निर्धारण करती है, इस तत्त्व का अध्ययन न केवल समूहों की अन्त:क्रियाओं को पूर्णत: समझने के लिए आवश्यक है, बल्कि इसलिए भी कि समूहों के आन्तरिक रूपों और स्वभावों या रीतियों पर भी इस तत्त्व का प्रभाव पड़ता है।

यदि दो समूह परस्पर सात्मीकरण (Assimilation) की प्रक्रिया द्वारा एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं, तो उनमें धीरे-धीरे भिन्नता न्यून होती जायेगी, और किसी भी समय दोनों में से प्रत्येक का आन्तरिक रूप थोड़ी देर पहले या बाद के रूप से भिन्न होगा। परन्तु यदि दो समूह विरोधी या स्पर्द्धात्मक प्रक्रियाओं से एक दूसरे से सम्बंधित होते हैं, तो वह साथ-साथ रहने पर भी एक दूसरे से कुछ सीख सकेंगे। उनकी पृथकता की इस भावना से उनका विकास मद्धम पड़ जायेगा।

सेमुएल बटलर ने एक स्थान पर आलंकारिक भाषा में कहा है कि दूसरे व्यक्तियों के प्रति हमारे सम्बन्ध या तो डोरी की तरह होते हैं या चाकू की तरह, जिसका अभिप्राय यही है कि एकीकरण और विभाजन की दोनों शक्तियां समाज में अपना-अपना प्रभाव डालती रहती है। यह गतिशील शक्तियां, जिन्हें हम व्यक्ति पर समाज के प्रभाव के रूप में, व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहार में और समूहों के परस्पर व्यवहार में देखते हैं, सामाजिक प्रक्रियाएं कहलाती है। इन्हीं को औगबर्न और निकौफ ने मानव अन्त:क्रिया के गतिशील प्रतिमान कहा है। यह

प्रक्रियाएं व्यक्तित्व के निर्धारण और निरूपण में और समूह की व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण भाग अदा करती हैं । यह सामाजिक प्रक्रियाएं समाज में व्यक्तित्वों के विकास और प्रौढ़ता के लिए कार्य करती हैं ।

अनेक प्रक्रियाओं की समकालीनता. एक समाज में एक ही समय एक से अधिक प्रक्रियाओं का आवास हो सकता है । भारत में स्वातंत्र्य आंदोलन के समय जहां एक ओर साम्राज्य के विरुद्ध विरोध की भावना प्रबल हो रही थी, वहां दूसरी ओर भारत के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में सहयोग और एकीकरण की प्रक्रियाओं द्वारा राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था । अपने दैनिक जीवन में भी हम देखते है कि कुछ व्यक्तियों के प्रति हम विरोधी या उपेक्षापूर्ण व्यवहार करते और कुछ के प्रति सहयोगी व्यवहार करते हैं । आज अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों और गोरे लोगों में जो स्पर्द्धा और विरोध की भावना विद्यमान है उसके साथ-साथ ही अफ्रीकनों और भारतीयों में वर्णभेद की नीति के विरुद्ध घृणा और हितों की एकता के कारण सहयोग की भावना बढ़ रही है । भारत के विभाजन के पश्चात् सम्प्रदायों में तो समवस्थापन (Accommodation) की प्रक्रिया द्वारा मैत्री बढ़ने लगी है, परन्तु पृथक् भाषा-भाषियों में स्पर्द्धा का उदय हो रहा है और एक भाषाभाषी समुदाय समीपतर होते जा रहे है । इस प्रकार एक नहीं, अनेक सामाजिक प्रक्रियाएं मिलकर हमारे व्यक्तित्वों और सामूहिक रीतियों पर प्रभाव डालती हैं ।

मुख्य सामाजिक प्रक्रियायें Imp.

विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं में से यह छः सामाजिक प्रक्रियायें मुख्य है : (१) सहयोग (Co-operation), (२) स्पर्द्धा (Competition), (३) विरोध (Conflict) (४) समवस्थापन (Accommodation), (५) समीकरण (Adjustment), (६) सात्मीकरण (Assimilation), इन सबका अध्ययन आवश्यक है । इनके अतिरिक्त सुझाव (Suggestion) और अनुकरण (Imitation) आदि भी अन्य कुछ प्रक्रियायें हैं जिनका यथास्थान विचार किया गया है ।

१. सहयोग (Co-operation).

मानव समाज सहयोग के बिना सुचारु रूप से अपना अस्तित्व कायम नही रख सकता । हम सब समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयास और चेष्टा करते हैं । एक समान उद्देश्य के लिए मिल कर प्रयत्न करना सहयोग है । शत्रु से अपनी रक्षा, समान लाभों की इच्छा या परोपकार की भावना से, समूह और व्यक्ति दूसरे समूहों या व्यक्तियों से सहयोग करते हैं । सहयोग से व्यक्तियों में एक सरगर्मी, जोश और अधिक काम करने की प्रवृत्ति उदित हो जाती है, और काम करने का वेग और कार्य-क्षमता भी बढ़ जाती है ।

सामाजिक परिवर्तन में सहयोग की गति बहुत कुछ अदृश्य होती है। जिन्सबर्ग के शब्दों में "विभिन्न राजनैतिक समूहों में, राजनैतिक और आर्थिक अन्तःनिर्भरता के विकास में, और सम्भवतः सांस्कृतिक भिन्नताओं के बावजूद, विज्ञान, कला, धर्मों और संस्कृतियों के आधारभूत सात्मीकरण (Assimilation) और उद्देश्य की एकता में भी सहयोग की भावना की ही अभिव्यक्ति होती है।

सहयोग की भावना का सहजप्रवृत्ति और आत्मरक्षा के स्तर से धीरे-धीरे अत्यधिक परिष्कृत, स्वतंत्र और स्नेहयुक्त सहयोग की वृत्ति में विकास हुआ है। क्रोपाटकिन ने अपनी पुस्तक 'पारस्परिक सहायता' में सहयोग के कारण प्राणियों की अलग-अलग जातियों के अस्तित्व और जीवन-रक्षा के कितने ही प्रमाण दिए हैं। परस्पर सहायता का प्रचलन प्राणियों की निम्नतम स्तर की जातियों, चींटियों आदि में भी होता है, और ऊंची विकसित जातियों में भी सन्तान के पोषण और खाद्य सामग्री के संग्रह में परस्पर सहायता से सहयोग का उदय होता है। क्रोपाटकिन ने, मनुष्यों में सहयोग और सहायता के विस्तृत होते हुए क्षेत्र का वर्णन करते हुए इस ओर संकेत किया है कि सहयोग के कारण ही हमारे समाज में मानसिक और शारीरिक दृष्टियों से दुर्बल व्यक्तियों को भी स्थान मिला हुआ है।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहयोग. सहयोग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दोनों प्रकार का हो सकता है। जब हम समानहित के लिए एक साथ मिलकर सामूहिक रूप में वह कार्य करते हैं जो कि हम अकेले भी कर सकते हैं, तो यह प्रत्यक्ष सहयोग है। परन्तु जब हम भिन्न-भिन्न कार्यों को करते हुए एक ही ध्येय की ओर बढ़ते हैं, जैसा कि श्रम-विभाजन में होता है, तो यह अप्रत्यक्ष सहयोग है।

जब कभी भी लोग अपनी भिन्नताओं से लाभ उठाकर एक हित की पूर्ति करना चाहते हैं, तो वहां श्रम-विभाजन विकसित हो जाता है। हमारी यांत्रिक प्रगति के साथ-साथ प्रत्यक्ष-सहयोग को अप्रत्यक्ष सहयोग स्थान देता गया है। तभी श्रम-विभाजन और विशेषीकरण के कारण हम प्रगति कर सके हैं। इसके साथ-ही-साथ प्रत्यक्ष सहयोग में जो घनिष्ठता, स्नेह और व्यक्तिगत सम्पर्क के तत्त्व विद्यमान थे, उनका स्थान पृथक्ता, विशिष्टता, दूरी और निःस्नेह वातावरण ने ले लिया है। और आज व्यक्तित्वों के विघटन का मुख्य कारण प्राथमिक समूह, परिवार, पाठशाला और बचपन के प्रत्यक्ष घनिष्ठ सहयोग के वातावरण और व्यस्त जीवन के श्रम-विभाजित, अव्यक्तिगत सहयोग के वातावरण का परस्पर अन्तर ही है।

सहयोगात्मक क्रियाएं. सोरोकिन ने सहयोगात्मक क्रियाओं के तीन भेद किए हैं; (१) सीमांत सहयोग, जो अंशतः स्पर्द्धात्मक और अंशतः सहयोगात्मक होता है; (२) माध्यमिक सहयोग, जो अधिकतर सहयोगी समूहों में होता है। इसमें समूह के सदस्य परस्पर सहयोग करते हुए भी सहयोग का पूरा-पूरा अर्थ नहीं समझते।

(३) पूर्ण सहयोग, जिसमें समष्टि-हित की भावना प्रबलतम होती है।

समष्टि-हित और वैयक्तिक हित. सहयोगियों के दृष्टिकोण भी दो प्रकार के हो सकते हैं। यदि भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक ही समान हित के लिए सहयोग करते है, तो उनमें से प्रत्येक सामूहिक लाभ की चिन्ता करता है, अपने स्वार्थ की नहीं। ऐसे समूहों में व्यक्तिगत बलिदान की भावना प्रबल होती है। निराशा या पराजय ऐसे समूहों को विशृंखल नहीं करती; विपत्ति उनको छिन्न-भिन्न नहीं कर देती।

परन्तु यदि भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपने अलग-अलग, पर एक-जैसे लाभों के लिए सहयोग करते हैं, तो वह सामूहिक लाभ की उतनी चिन्ता नहीं करेंगे। वह तो केवल समान हितों की अभिज्ञता के कारण परस्पर थोड़ा-थोड़ा समीकरण ही करेंगे ? अपने-अपने हितों की दृष्टि से कुछ मैत्री-स्थापन (Reconciliation) ही करेंगे। विपत्ति उनके सहयोग को समाप्त कर देगी। इसी कारण हमारा आधुनिक समाज जिसमें व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के प्रयास में श्रम विभाजन के प्रकार का सहयोग है, अस्थिरता और अशान्ति के भय से भयभीत है।

सहयोग सामूहिक जीवन का प्राण है; प्रेरणा का केन्द्र है; सामाजिकता का सार है। परन्तु अत्यधिक सहयोग ऐसी व्यवस्था को भी जन्म दे सकता है जिसमें काम की गति ही रुक जाए; जिसमें व्यक्ति अपना-अपना अलग-अलग व्यक्तित्व ही खो दें; जिसमें चेष्टा आरम्भ करने की शक्ति का, रचनात्मक प्रयास का, व्यक्तिगत विचारों का और नए-नए अनुभवों और प्रयत्नों का पूर्ण ह्रास होने लगे जाए। ऐसी अवस्था में तो सहयोग समाज की प्रगति को ही समाप्त कर देगा।

२. विरोध (Conflict).

विरोध वह प्रक्रिया है जिसे बटलर ने सामाजिक जीवन में चाकू का नाम दिया है। हमारे समाज में यह प्रक्रिया युद्ध, संघर्ष, हड़ताल, क्रान्ति, मार-पीट और हत्या आदि के रूप में प्रकट होती है। डार्विन, गुम्पलोविज और गिडिंग्स आदि कुछ विद्वानों ने इसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सनातन माना है। फ्रायड ने भी इसे मनुष्य के स्वभाव का नैसर्गिक, प्रभावी और अनिवार्य अंग बताया है। परन्तु जो प्रवृत्तियां हमारे जीवन का अंग है, वही मानवता के इतिहास के प्रत्येक काल मे सामाजिक जीवन का आवश्यक अंग रही हों, यह जरूरी नहीं है। सामाजिक विरोध के अन्तर्गत वह सम्पूर्ण व्यवहार आ जाता है, जिसमें अलग-अलग व्यक्ति या समूह एक ही उद्देश्य या लक्ष्य के लिए एक-दूसरे के विरुद्ध चेष्टा करते हों। यह सामाजिक शक्तियों के संघर्ष का नाम है, चाहे वह संघर्ष आर्थिक क्षेत्र में हो, या राजनैतिक क्षेत्र में।

प्रत्यक्ष विरोध. प्रत्यक्ष विरोध वह होता है जिसमें दो या अधिक व्यक्ति

या समूह एक दूसरे व्यक्ति या समूह को दबाकर, पीड़ित कर या निराश करके अपने लक्ष्य की प्राप्ति की चेष्टा करते हैं। मुकदमेबाजी, झूठा प्रचार और बड़े रूप में व्यापारिक स्पर्द्धा ये, सभी प्रत्यक्ष विरोध के उदाहरण हैं। परन्तु यह विरोध धीमा और संयत होता है, जब कि वर्ग-संघर्ष और अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध तीव्र व उग्र प्रत्यक्ष विरोध हैं।

अप्रत्यक्ष विरोध. जब दो या अधिक व्यक्ति, एक ही लक्ष्य के लिए इस प्रकार प्रयास करते हैं कि उनमें प्रत्यक्ष संघर्ष तो नही होता, परन्तु एक की सफलता दूसरे की असफलता या निराशा का कारण बन जाती है, तो यह अप्रत्यक्ष विरोध कहलाता है।

विरोध केवल विनाशक नहीं. यदि समाज मे विरोध की अपेक्षा सहयोग अधिक प्रचलित न हो, तो समाज की स्थिरता, शान्ति, व्यवस्था और संगठन खतरे में पड़ जाय। परन्तु यह कहना भी गलत होगा कि विरोध समाज के लिए एकदम अहितकर है। विरोध प्रगति को जन्म देता है; नवीनता का उदय करता है; असत्य का विनाश करके समाज की रक्षा करता है।

३. स्पर्द्धा (Competition)

जब विरोध व्यक्तिगत नहीं होता और उसमें दूसरे के विनाश की भावना का अभाव होता है, तो यह स्पर्द्धा का रूप ले लेता है। लघु मात्रा मे प्राप्य पदार्थों के लिए हमारी वह चेष्टा, जिससे हम दूसरों की चेष्टाओं में बाधा नहीं डालते, बल्कि केवल अप्रत्यक्ष (Indirect) रूप में अपनी सफलता द्वारा दूसरों की सफलता को रोकते है, स्पर्द्धा है। स्पर्द्धा और विरोध मे यह अन्तर है कि स्पर्द्धा में विरोध की अपेक्षा ध्यान और चेष्टा कम होती है। व्यापारियों में स्पर्द्धात्मक प्रकार का सम्बन्ध होता है। लेखकों, फिल्मों और रिवाजों में भी यही प्रक्रिया कार्य करती है। किसी भी समाज में अलग-अलग विचारधाराएं, और भिन्न-भिन्न विश्वास-प्रणालियां, जब तक बिल्कुल सीधे-विरोध में नहीं आ जाती, तब तक स्पर्द्धात्मक ढंग से सर्वमान्यता प्राप्त करने के लिए चेष्टा करती रहती है।

सहयोग और विरोध. मानवता के इतिहास के आरम्भ में जब मनुष्य के खाद्य-सामग्री-संग्रह के साधन बहुत सरल और आदिम थे, जनसंख्या की वृद्धि ने अपर्याप्त भोजन सामग्री के कारण विरोध को जन्म दिया। इसके साथ ही खाद्य-सामग्री के संग्रह में व्यक्ति अपने-अपने समूह से सहयोग भी करते थे। जैसा कि डार्विन और क्रोपाटकिन ने सिद्ध किया है, न केवल मनुष्यों में, बल्कि दूसरे प्राणियों में भी, यह दोनों प्रक्रियाएँ विद्यमान है। जिस प्रकार घृणा और स्नेह, यह दोनों परस्पर विरोधी भावनाएं मनुष्यों के हृदयों में एक साथ वास करती हैं, इसी प्रकार सहयोग और विरोध भी साथ-साथ रहते हैं।

विरोध के लिए दो विरोधियों का एक दूसरे को विरोधी रूप में स्वीकार करना जरूरी है, अन्यथा उपेक्षा या क्षमताशीलता द्वारा संघर्ष बचाया भी जा सकता है। दूसरे समूह से विरोध एक समूह की आन्तरिक एकता और सदस्यों के परस्पर सहयोग को दृढ़ करता है। इसी प्रकार दूसरे समूहों के विरुद्ध लड़ाई के लिए अपने समूह से सहयोग अनिवार्य है। सहयोग और विरोध दोनों प्रक्रियाएं साथ-साथ चलती हैं, और यह प्रश्न बेकार है कि इनमें से कौन-सी प्रक्रिया अधिक पुरानी या अधिक शक्तिशाली है।

अलग-अलग संस्कृतियों में जिस प्रक्रिया की प्रबलता होती है, साधारणतः वही प्रक्रिया व्यक्तियों के जीवन की और व्यक्तित्व की अभिन्न अंग बन जाती है। डकोटा इण्डियन लोगों में धनवान् होकर मरना घृणित समझा जाता है- अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने धन को बांटने में दूसरों से स्पर्द्धा करता है। परन्तु हमारे समाज में सभी व्यक्ति धनसंचय के लिए तीव्र स्पर्द्धा में लगे रहते हैं।

यान्त्रिक निर्णयवाद (Technological Determinism) **की धारणा भ्रान्तिपूर्ण.** हम देखते हैं कि कई संस्कृतियां सहयोगात्मक हैं, जैसे जूनी और होपी संस्कृतियां, और कई स्पर्द्धात्मक, जैसे क्वाकितुल और हमारी आधुनिक संस्कृति। किसी समाज में कोई विशेष प्रक्रियाएं क्यों अधिक शक्तिशाली है, इसका कारण उस समाज की औद्योगिक या यान्त्रिक प्रणाली में निहित नहीं होता। एक ही यान्त्रिक प्रणाली वाले दो समाज स्पर्द्धात्मक और सहयोगी, दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इसका कारण तो उन समाजों के अपने-अपने आदर्शों, मूल्यों और विचार-धाराओं में निहित होता है।

अहंभाव की तृप्ति स्पर्द्धा और सहयोग दोनों में सम्भव. स्पर्द्धा द्वारा हमारी शक्ति प्राप्त करने की आकाक्षा, महत्त्व प्राप्त करने की इच्छा और सम्मान की भूख की तृप्ति होती है। हम अपनी सुरक्षा के लिए, वर्तमान और भविष्य में भूख से बचाव के लिए, धनसंचय या प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए, दूसरे लोगों से मुकाबिला करते है या उनका विरोध करते है; नए अनुभवों के लिए लालायित होते हैं, अपनी महत्ता का आभास या प्रमाण पाते हैं; और अपने अहम् को तृप्त करते हैं।

परन्तु यह न समझना चाहिए कि सहयोग में अहं की तृप्ति या व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। जूनी समाज में सब से अधिक सहयोग-भावना वाले व्यक्ति को ही सम्मान मिलेगा। अपने दैनिक जीवन में भी क्या हम अपने आदर्श की विजय से, अपनी टोली की सफलता से, चुनाव में अपने उम्मीदवार की काम-याबी से, प्रसन्न नहीं होते और उसमें अपनी विजय का आभास नहीं पाते ? शायद सहयोगात्मक समाज में ही व्यक्ति की सुरक्षा पूरे तौर से सम्मानित होगी और व्यक्तिगत विपत्ति का भय न रहेगा।

विरोध या स्पर्धा नैसर्गिक नहीं. यह कहना कि सहयोग या विरोध या स्पर्द्धा हमारे स्वभावों के नैसर्गिक अंग हैं, बहुत भ्रान्तिपूर्ण है। यह तो समाज द्वारा व्यक्तियों में भर दिए जाते हैं, और यह, न केवल व्यक्तियों को, बल्कि समाज की व्यवस्था को भी, अत्यधिक प्रभावित करते हैं। किसी समाज में इनका क्या रूप होगा, इसका बहुत कुछ निर्धारण उस समाज की व्यवस्था करेगी, और इसलिए इन प्रक्रियाओं का अध्ययन अलग-अलग समाजों की पृष्ठभूमि में ही करना होगा।

४. समीकरण (Adjustment)

दो व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह जब परस्पर विरोध और संघर्ष में रत होते हैं, तो अन्त में उस संघर्ष की निष्फलता या एक दूसरे को पराजित कर सकने की असफलता को स्वीकार करके विरोध या संघर्ष का अन्त कर देते है, और लड़ाई-झगड़ा छोड़कर साथ-साथ रहने लग जाना आरम्भ कर देते हैं। यह देखा गया है कि जो बच्चे शीघ्र झगड़ पड़ते है, वह मित्रता की स्थापना भी शीघ्र ही कर लेते है।

जिस प्रक्रिया द्वारा दो परस्पर विरोधी समूह समीकृत होकर रहने लगें और शत्रु-भाव या द्वेष के होते हुए भी, साथ-साथ काम करने लग जाएं, उस प्रक्रिया को समाजशास्त्रियों ने समीकरण का नाम दिया है। साथ-साथ रहने या काम करने का यह अर्थ नहीं होता कि द्वेष-भावना का अन्त हो गया है। इसीलिए सुमनर ने समीकरण को विरोधात्मक सहयोग का नाम दिया है। किन्तु समीकरण की मात्रा द्वेष की अवस्था में कम होती है, और उसकी अनुपस्थिति में अधिक।

हम अपने शैशव से ही समीकरण का पाठ पढ़ते आए है। बच्चा अपनी आशा के पूरा न होने पर विरोधी भावना प्रदर्शित करता है, परन्तु शीघ्र ही अपने विरोध की निष्फलता का ज्ञान प्राप्त कर के बड़ों के व्यवहार के अनुसार समीकृत होता जाता है, और अपने व्यवहार को उनके अनुकूल बनाने लगता है।

५. समवस्थापना (Accommodation)

विरोध की समाप्ति पर दो समूह या व्यक्ति क्या सम्बन्ध स्थापित करेंगे, अर्थात् उनमें समीकरण का क्या रूप होगा, इसका निर्धारण दोनों के पूर्व अनुभव द्वारा होता है। यदि विरोध एक समूह की पूर्ण पराजय पर समाप्त होता है, तो पराजित को विजयी की इच्छा के आगे नतमस्तक होना पड़ता है और पराजय स्वीकार करके एक हीन दशा को स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार समीकरण समाज में दो व्यक्तियों या समूहों के पारस्परिक सम्बन्ध और स्थान का निर्देश कर देता है। पर यह ऐसे समूहो मे होता है जो असमान शक्ति वाले होते है। परन्तु यदि दोनों समूह लगभग एक-सी ही शक्ति रखते हों, तो उनमें शासक-शासित, प्रबल-दुर्बल और उच्च-हीन सम्बंध की जगह समभाव स्थापित हो जायेगा। दोनों ही थोड़ा-थोड़ा झुकेंगे जिससे कि समझौता हो सके, और परस्पर समझौते से

ही उनमें सुलह स्थापित्त हो जायेगी । इस स्थिति को समवस्थापन कहेंगे ।

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बुनियादी सिद्धांतों पर कोई सुलह नहीं हो पाती, सुलह विरोध के कारण से भी प्रभावित होती है और संस्कृति का भी इस पर प्रभाव पड़ता है । हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में अहिंसा और प्रेम को प्रमुख स्थान दिया गया । इसीलिए हमारे नेता जनता से भारत की ब्रिटिश राष्ट्रसंघ सदस्यता को मनवा सके । फ्रांस और जर्मनी में परस्पर अविश्वास की जो भावना विद्यमान है, वह उनकी संस्कृतियों का अंग बन गई है, और इसीलिए उनके बीच समवस्थापन की समस्या बहुत कठिन बन गई है ।

सहनशीलता (Tolerance). जिन समहों मे समवस्थापन नहीं हो सकता और जिनके आधारभूत सिद्धान्त या आदर्श, व्यवस्थाएं या धर्म परस्पर वैषम्यों का समीकरण नहीं कर सकते, उन समूहों में परस्पर सहनशीलता का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । भारत मे सूफीमत, कबीर, नानक और अमीर खुसरो की शिक्षाएं हिन्दू और मुस्लिम धर्मो मे ऐसी ही सहनशीलता की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थी ।

मत-परिवर्तन (Conversion). सहनशीलता में असह्य, पर अनिवार्य को सह लेने की भावना होती है, पर उससे मैत्री नहीं होती । परन्तु कई बार किन्हीं नये कारणो या नई घटनाओं के कारण परस्पर घृणा स्नेह में परिवर्तित हो जाती है और हृदय-परिवर्तन विश्वास का विकास करता है । अलग-अलग विचार रहते हुए भी सहयोग होने लगता है, परन्तु पृथक्ता बनी ही रहती है । लेकिन एक विरोधी अपनी भूल मान ले या दूसरे के दृष्टिकोण को स्वीकार करले, तो मत-परिवर्तन हो जाता है और दोनो विरोधी व्यक्ति या समूह एक ही आदर्श की प्राप्ति में संलग्न हो जाते है ।

समीकरण (Adjustment) के इन रूपों में से कौन-सा रूप अपनाया जायेगा, इसका निर्णय न केवल व्यक्तियों और समूहों की पारस्परिक शक्ति करती है, बल्कि विरोध के अंत का समय भी । परन्तु इसमे सबसे अधिक प्रभाव संस्कृति का होता है । शान्ति-प्रिय संस्कृतियों में विरोधी पंच-निर्णय मान लेते है, परन्तु कई संस्कृतियों में व्यक्तिगत प्रतिशोध की ज्वाला विरोधियों को सदा जलाती रहती है । इसी प्रकार, यदि कोई क्रो इंडियन दूसरे डकोटा कबीले के सदस्य का खून कर दे,तो यह आनन्द का विषय होता है, पर अपने ही कबीले के व्यक्ति को मारना दण्डनीय है । परन्तु कुछ कबीलों में बिल्कुल उलटा रिवाज है और परस्पर सहयोगी जूनी, पड़ौसी नोबाहो लोगों को हानि पहुंचाना गर्व की बात समझते है । हमारे समाज में व्यक्तिगत विरोध को बुरा माना जाता है और इसके निपटारे के लिए पंचायतें, अदालतें, विधान इत्यादि बने हुए है । इस रूप मे यह स्पष्ट है कि विरोध

कैसे समाप्त हो और समीकरण का क्या रूप हो, इसका बहुत कुछ निर्धारण समूह की संस्कृति पर निर्भर है।

६. सात्मीकरण (Assimilation)

मतपरिवर्तन के किस्म का समीकरण सात्मीकरण का उदाहरण है। पार्क और बर्जेस के शब्दों में यह "अन्तःप्रवेश और विलयन की वह प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति और समूह दूसरे व्यक्तियों और समूहों की स्मृतियों, भावनाओं और धारणाओं को सीखते हैं, उनके अनुभव और इतिहास में साझीदार होकर उनके साथ एक ही सांस्कृतिक जीवन के अंग बन जाते हैं।" दूसरे देशों में बस जाने वाले प्रवासी धीरे-धीरे नई संस्कृतियों और आदर्शों को अपने जीवन में मिलाने की चेष्टा करते हैं और समय पाकर उन्हीं देशों के जीवन के अंग बन जाते है। गोद लिए हुए बच्चे धीरे-धीरे नए परिवार के मूल्यों और विश्वासों को सीखकर उन्हीं में घुल-मिल जाते है।

इसका यह अर्थ नही है कि सात्मीकरण इकतरफा प्रक्रिया है। जब एक अल्पसंख्यक समूह किसी बड़े राष्ट्रीय समूह का अंग बनता है, तो न केवल वह उस राष्ट्र की परिपाटियां और धारणाएं स्वयं स्वीकार करता है, बल्कि उसके राष्ट्रीय जीवन को भी अपने विचारों और रिवाजों द्वारा प्रभावित करता है। भारतीय संस्कृति किस प्रकार द्राविड़, आर्य, पारसी, मंगोल, अरबी, योरुपीय इत्यादि, अनेक संस्कृतियों से मिलकर एक संयुक्त, सम्पन्न और गतिशील संस्कृति के रूप मे विकसित हुई है, और किस प्रकार अलग-अलग आगन्तुक समूहों ने हमारे समाज में सात्मीकृत होकर अपना प्रभाव इसके समाज और जीवन पर छोड़ा है, इस तथ्य का अध्ययन सात्मीकरण की प्रक्रिया के दोतरफा होने का अच्छा उदाहरण है।

सात्मीकरण (Assimilation) पर संख्या का भी प्रभाव पड़ता है। संख्या में बहुत थोड़े लोग किसी बृहत् समाज में धीरे-धीरे पूर्णतः घुल-मिल जाते हैं और उनकी अपनी अलग सामूहिक पृथक्ता नहीं रह पाती। परन्तु यदि उनकी संख्या अधिक हो या बराबर बढ़ रही हो, तो न केवल उनकी अपनी एकता और स्वाभिमान ही सात्मीकरण की प्रक्रिया की गति को बहुत धीमा कर देंगे, बल्कि बृहत् समाज भी उनके प्रति अविश्वास और अनुदारता की भावना से भर जायेगा। और इस प्रकार, सात्मीकरण के स्थान पर फिर विरोध विकसित हो जाएगा।

सात्मीकरण के लिए आवश्यक है कि दो समूहों में एक-दूसरे के प्रति वैर भावना न हो और वे ऐसी भावनाओं द्वारा आन्दोलित हों, जो उन्हें समीपतर लाती रहें। जब तक कोई समूह अहंकारपूर्ण विचारधारा रखता है, तब तक परस्पर समीकरण होने पर भी, पृथक्ता बनी ही रहती है। नस्ली अहंकार भी सात्मीकरण के मार्ग में बाधक होता है। दो समूहों में यदि केवल संस्कृतियों

का अन्तर होता है, तो दूसरी-तीसरी पीढ़ी में नए समूह के लिए पूर्ण सामाजिक स्वीकृति प्राप्त कर लेना सम्भव हो जाता है। परन्तु नस्ल, धर्म और आदर्शों की तीव्र विषमताएं सामाजिक स्वीकृति की प्राप्ति को कठिन बना देती हैं। इस अवस्था में तो शासक-शासित, श्रेष्ठ-निकृष्ट या उच्च-निम्न की हैसियत से ही समीकरण सम्भव होता है।

भीड़ व्यवहार

भीड़ (Crowd) और सक्रिय उत्तेजित भीड़ (Mob)

अनिर्धारित नेतृत्व और सदस्यता के समूह. सदस्यता और नेतृत्व का निर्धारण एक समूह के प्रकार और उसके व्यवहार की विशेषताओं पर अच्छा प्रकाश डालता है। जिन समूहो का नेतृत्व या सदस्यता, या इन दोनों का निर्धारण परम्परा द्वारा होता है, उनमें हम उन सभाओं व गोष्ठियों आदि को गिन सकते हैं, जिनमे श्रोताओं व दर्शकों का प्रवेश निमन्त्रण-पत्र या टिकट द्वारा होता है। पर हमारे समाज में ऐसी परिस्थितियां और अवसर भी कम नहीं होते, जिनमें एक समूह न तो जान-बूझकर या सोच-समझकर न निश्चित प्रणाली नेतृत्व का निर्णय करता है, द्वारा; और जहाँ सदस्यों के विषय मे भी कोई विशिष्टता की आवश्यकता नही होती। ऐसे समूहों में भीड़ और उत्तेजित भीड़ महत्त्वपूर्ण है।

शहर के बीच में घूमते हुए राहगीर जब दो साइकिल सवारों की टक्कर से पैदा हुई लड़ाई से आकृष्ट होकर इकट्ठे हो जाते हैं, तो न तो उनके आकर्षण, का केन्द्र पूर्वनिर्धारित होता है न ही उनके मन मे इस बात का कुछ विचार होता है कि वहां कौन-कौन और कैसे-कैसे व्यक्ति आकर यह तमाशा देखेंगे। इन अर्थों में एक भीड़ कुछ ऐसे व्यक्तियों का आकस्मिक समूह है, जो किसी ध्यान को आकृष्ट करने वाले एक समान केन्द्र के आस-पास एकत्रित हो जाते है। इसमें उनकी संख्या की कोई निश्चित धारणा नहीं होती। परन्तु फिर भी उनकी पर्याप्त संख्या आवश्यक है।

इससे यह न समझना चाहिए कि एक वक्ता की वक्तृता सुनने के लिए आमन्त्रित श्रोतागण भी एक 'भीड़' है। उनके ध्यान का एक निश्चित केन्द्र होने पर भी वह एक परम्परा द्वारा पूर्व निर्धारित हैं। सिनेमा-दर्शक, राजनैतिक भाषण या प्रदर्शन मे भाग लेने वाले सदस्य या श्रोतागण किसी सुन्दर वस्तु की ओर एकटक देखने वाले परिवार के सदस्य, यह सब नियमबद्ध और पूर्वनिश्चित व्यवहार वाले, परम्परा द्वारा निर्दिष्ट समूह हैं। पर भीड़ आकस्मिक होती है; उसकी कोई एक नियत प्रणाली नहीं होती।

भीड़ (Crowd)

एक सामान्य केन्द्र की ओर आकर्षितों का अस्थायी जमघट. जैसा कि ऊप

कहा जा चुका है, 'भीड़' एक सामान्य केन्द्र की ओर आकृष्ट व्यक्तियों का एक आकस्मिक जमघट है। ज्यों ही आकर्षण का केन्द्र नष्ट हो जाता है या एकत्रित व्यक्तियों के ध्यान का केन्द्र बनने के अयोग्य हो जाता है, वह भीड़ तितर-बितर हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि भीड़ एक अस्थायी समूह है। आकर्षण के सामान्य केन्द्र के ध्यान से उतरते ही भीड़ अन्तर्ध्यान हो जाती है।

शारीरिक सामीप्य, साक्षात् सम्पर्क, वेग पूर्ण अन्तःउद्दीपन (Inter-stimulation). इस तरह इकट्ठे हुए लोग संख्या में इतने तो होने ही चाहिएं कि वे एक-दूसरे के साक्षात् शारीरिक सम्पर्क में आ सकें। एक आकर्षण केन्द्र की ओर उत्सुक होने के कारण वे सभी उसके पर्याप्त समीप पहुंचना चाहते हैं। सब एक-दूसरे से आगे निकलना चाहते है। परिणामतः, कन्धे-से-कन्धे भिड़ने लगते है।

शारीरिक सामीप्य और निकट सम्पर्क द्वारा वह एक-दूसरे पर अपनी उपस्थिति से प्रबल प्रभाव डालते है। प्रत्येक व्यक्ति पर अन्य सबके उपस्थित होने की उद्दीप्ति होती है और प्रत्येक व्यक्ति अन्य सब को भी उद्दीप्त करता है। इस सामूहिक उद्दीपन से, जो शारीरिक सम्पर्क से और भी तीव्र हो जाता है, सभी उद्दीप्त होते है। किसी के कुछ कहने और व्यवहार करने का भी इस पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार जब एक व्यक्ति पर चारों ओर से उद्दीपन का आक्रमण होता है, तो वह अत्यन्त उत्तेजित हो जाता है। केन्द्र में खड़े लोग सबसे अधिक उद्दीप्त होते हैं, किनारों पर खड़े हुए उनकी अपेक्षा बहुत कम।

भीड़ में घुसने या बढ़ने के कारण शारीरिक दबाव. ऐसे समय यदि वे लोग जो किनारों पर या बाहर खड़े है, उत्सुकता के कारण आगे बढ़ने की चेष्टा करें; जो बीच में हैं, वे सबसे आगे जाना चाहें; और कुछ अधिक तेज या अति उत्सुक व्यक्ति दूसरों को कुहनी मार कर या धकेल कर आगे निकलना चाहें, तो भीड़ में शारीरिक दबाव बहुत बढ़ जाता है। कन्धे से कन्धे भिड़ने के साथ-साथ रेले में आगे या पीछे धकेले जाना, पिस जाना, फेंके जाना आदि आकस्मिक एवं उत्तेजक अनुभव शरीर के अन्दर की अवस्था को उद्दीप्त करते है, और भीड़ की शक्ति के प्रति प्रत्येक सदस्य का अनुमान बढ़ाकर उसके प्रति सम्मान की भावना और उत्तेजना को बढ़ा देते हैं।

भीड़ समूह में अपरिचितता और अनुत्तरदायित्व. ऐसे समूह के सदस्य क्योंकि उस समूह के अंग हो जाते हैं, और समूह अपनी संख्या या शक्ति के कारण उनके सम्मान का पात्र हो जाता है, इसलिए वे अपने को व्यक्तिगत उत्तरदायित्व से मुक्त अनुभव करते हैं। और क्योंकि समूह में काम करने वालों पर उनके कार्यों का परिणाम या उत्तरदायित्व सीधा उनके गले नहीं मढ़ा जाता, इसलिए भी उनकी

नैतिकता का स्तर नीचे गिर जाता है। भीड़ समूह के सदस्य व्यक्तियों की एक दूसरे से अपरिचिति भी उनको व्यक्तिगत रूप से अपने नैतिक उत्तरदायित्व से बहुत कुछ मुक्त कर देती है। भीड़ में हमें यह चिन्ता नहीं होती कि हम किसी उत्तरदायित्व से बंधे हुए है, या हमें कोई देख रहा है। और इस अनियन्त्रण के कारण हम उत्तेजना और उद्दीपन के तीव्र वेग में अपने आप को, अपने उच्च बन्धनों और आदर्शों को भूल जाते हैं।

नैतिक बन्धनों की शिथिलिता और अनुत्तरदायित्व, समूह की प्रतिष्ठा और अपने उत्तरदायित्व को उस पर छोड़ देने की प्रवृत्ति और उद्दीपन के वेग की तीव्रता के कारण, हम अपनी नैतिकता को तिलांजलि देकर निम्न और असभ्य व्यवहार तक कर बैठते है। हमारे मन और आचरण पर से संस्कृति और समाज का भय हट जाने से हमारी असामाजिक भावनाएं प्रबल हो उठती हैं।

इस प्रकार हम भीड़ में तीव्र उद्दीपन तथा समूह के प्रति सम्मान की भावना और नैतिक बन्धनों को ढीला होते देखते हैं। ये सब बातें व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती है। पर इनके साथ व्यक्तियो की मनोवैज्ञानिक अवस्था, नेता, सुझाव, प्रतीकों, संकेतों, ध्वनियो और नारों की उत्तेजना का भीड़ पर जो प्रभाव पड़ता है, वह और भी भयंकर होता है। किसी भीड़ में कितनी उत्तेजना है, इसे देखकर सामान्य बुद्धि से ही हम भीड़ और सक्रिय या उत्तेजित भीड का अन्तर पहचान सकते है।

सक्रिय या उत्तेजित भीड़ (Mob)

दूसरों को किसी ओर देखते देख स्वयं भी उसी तरफ देखने लगना या दूसरों को सुनते देखकर स्वयं भी सुनने लगना मानव-स्वभाव है। जब लोग केवल कुछ मिनटों के लिए ठहरकर कुछ देखने लगते है, तो वह भीड़ होती है। परन्तु जब उत्तेजना और साक्षात् सम्पर्क नैतिक बन्धनों को ढीला करने लगते है, और भीड़ वस्तुतः उत्तेजित हो जाती है, और वह या तो किसी सुझाव के कारण या किसी नेता के आदेश पर अपनी उत्तेजना को क्रियात्मक रूप देने लगती है, तो वह सक्रिय भीड़ हो जाती है। उसे उत्तेजित भीड़ भी कह सकते है।

इन समूहों में एक सामान्य आकर्षण केन्द्र होने के अतिरिक्त, चेतना की गहराई में बैठी हुई प्रवृत्तियां और उद्वेग उच्छशृंखल हो जाते हैं। एक सक्रिय भीड़ में प्रेम, भय, क्रोध और आक्रमण की प्रवृत्तियां प्रबल हो उठती हैं। ऐसी अवस्था में एक ऐसी लड़ाई भी आरम्भ हो सकती है जो 'सब को मारो' प्रवृत्ति का विस्तार करे। अन्त में जब वह एकत्रित समूह फैलने लगता है, तो वह भीड़ नहीं रहती। प्रायः डर और घबराहट के कारण ऐसा होता है, और अगर पर्याप्त खुला स्थान हो, तो भीड़ जल्दी ही तितर-बितर हो जाती है। पर एक जलते हुए सिनेमा या

नाट्यशाला में यही प्रवृत्ति बाहर निकालने के रास्तों को रोककर दूसरों के लिए घातक हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सक्रिय भीड़ के व्यवहार में अनुकरण, सुझाव, प्राथमिक चालकों, भावनाओं और नेता का महत्वपूर्ण हाथ होता है।

भीड़ व्यवहार के आधार

भीड़ व्यवहार के प्राथमिक लेखकों ने इसे एक रहस्यमयी शक्ति का परिणाम समझा था। ला बौन का विचार था कि कभी-कभी सामूहिक चेतना व्यक्तियों पर अधिकार कर लेती है, इसे उसने 'भीड़ की मानसिक एकता का नियम' कहा है। बाद के लेखकों ने इस भीड़ व्यवहार को उसके अनैतिक उत्तेजित आचरण के कारण विकृत व्यवहार कहा है। मार्टिन ने फ्रॉयड के सिद्धांत का अनुसरण करते हुए इसे 'दबी हुई कामवासना की अभिव्यक्ति' कहकर समझाने की चेष्टा की है। पर हमें किसी एक तत्त्व से नहीं, कई तत्त्वों के विश्लेषण से इसे समझाने का प्रयत्न करना होगा।

अनुकरण (Imitation). प्राचीन समाजशास्त्रियों ने अनुकरण के भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं। वॉल्टर बेगहाट और तार्दे ने सांस्कृतिक प्रणालियों और तत्त्वों के प्रसार (Diffusion) को अनुकरण बताया है। बाल्डविन ने इसे सरल और जटिल, सभी प्रकार के शिक्षण के रूप कहा है। स्पष्टत: अनुकरण शिक्षण की प्रक्रिया को घटा देता है, क्योंकि दूसरे व्यक्ति को कुछ करते हुए देखने का सीधा प्रभाव यह होता है कि दर्शक भी उसी प्रकार की क्रिया करने लगता है। अनुकरण-कर्ता भूल-सुधार की चेष्टा नहीं करता। जो भी हो, यह तो निश्चित है कि अनुकरण एक व्यक्ति की क्रिया का दूसरे व्यक्ति द्वारा अपनाये जाने का नाम है। इस प्रकार अनुकरण कोई पृथक् सहजप्रवृत्ति नही है। चूंकि हम सबका शरीर-यंत्र एक-सा ही होता है, इसलिए हमारे उद्दीपन और प्रत्युत्तर भी प्राय: एक ही ढंग के होते हैं, और यह एक समान व्यवहार का आधार बनते है। इसी प्रकार हम शैशव से ही दूसरों को देखकर वैसा ही करने के अभ्यस्त हो जाते है। दसरों को हंसते देखकर हंस पड़ना स्वाभाविक-सा लगता है। शिशु के अपनी मातृ भाषा सीखने और सामाजिक रीत-रिवाज व मान्यताएं सीखने का आधार अनुकरण ही है।

प्रतिष्ठित व्यक्ति का व्यवहार अनुकरण की लालसा को बढ़ाता है। नेता की प्रेरणा भी इसी कारण प्रभाव डालती है। कई बार अनुकरण सोच-समझकर भी किया जाता है। परन्तु भीड़-व्यवहार में ऐसा बौद्धिक अनुकरण नहीं होता। इन अवस्थाओं में तो अचेतन और आकस्मिक अनुकरण ही होता है।

सुझाव (Suggestion). नादिरशाह के आक्रमण के समय चंडूखाने में अफवाह उड़ाई गई कि, "वाह रे मुहम्मदशाह रंगीले, तूने भी क्या मुगलई हाथ

दिखाया। नादिशाह को बुलाकर कत्ल कर ही तो दिया।" बादशाह इस प्रकार तातारियों के सरदार-विजेता को समाप्त कर दें, तो फिर इस 'प्रतिष्ठित' व्यवहार का अनुकरण जनता क्यों न करे ? और थोड़े ही समय में राजधानी में बिखरे सात सौ तातारियों को समाप्त कर दिया गया।

यह घटना सुझाव के प्रबल प्रभाव की ओर संकेत करती है। जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को किसी विचार, विश्वास या क्रिया की प्रेरणा इस प्रकार देता है कि वह अपनी बुद्धि द्वारा बिना परखे या समझे उन्हें मान ले तो यह प्रक्रिया सुझाव कहलाती है। मैक्डूगल के शब्दों में, सुझाव संवादवहन (Communication) की एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति सुझाई गई बात की युक्तिसंगतता पर विचार किये बिना ही, उसे स्वीकार कर लेता है।

दूसरों की विचारशक्ति पर रोक लगाकर उनसे अपना मनचाहा कुछ करा सकना ही सुझाव है। इसमें बाहर की प्रेरणा या उद्दीपक और व्यक्ति की मानसिक या आन्तरिक तत्परता दोनों की आवश्यकता पड़ती है।

मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो शीघ्र ही सुझाव के प्रभाव में आ जाता है। वह दूसरों की राय मानने से पहले सोचने के लिए नही ठहरता। प्रतिष्ठित और माननीय व्यक्तियों द्वारा सुझाई गई प्रेरणाएं अधिक प्रभावोत्पादक होती है, और उनको शीघ्रता से मान लिया जाता है। एक परीक्षण में कुछ ऐसे विद्यार्थियों को जो चिकित्सा-शास्त्र के बारे में कुछ नहीं जानते थे, इस विषय के बारे में कुछ सुझाव दिये गये और उनसे कहा गया कि वे उन पर गलत और सही के निशान लगा दें। यद्यपि आधे सुझाव गलत थे, फिर भी अधिकतर विद्यार्थियों ने चार में से तीन पर सही के निशान लगा दिए। इस परीक्षण से सिद्ध होता है कि व्यक्ति अधिकतर विश्वासी होते है। इसका कारण भी है। हम प्रत्येक तथ्य या प्रत्येक मत का विश्लेषण नहीं कर पाते ; हमारी शारीरिक सामर्थ्य हमें इसका अवसर नही देती। ऐसी स्थिति में हम अधिकतर विश्वास करके, ही काम चला सकते है। बचपन से ही समझे बिना, बड़ों द्वारा सुझाये काम करके हम अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते है।

इसीलिए वयस्कों की अपेक्षा शिशु और बालक, सुझाव द्वारा अधिक प्रभावित होते है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को तथ्यों के परीक्षण का कम अवसर मिलता है, अतः उनमें शीघ्र विश्वास करने और दूसरों की राय पर अपनी राय बनाने की प्रवृत्ति प्रबल होती है और वे सुझाव द्वारा पुरुषों की अपेक्षा अधिक प्रभावित होती है।

प्रचार और अफवाह के कारण सुझाव का प्रभाव. सुझाव के प्रभाव की वृद्धि में प्रचार, अफवाह, सांस्कृतिक अभिसंह (Conditioning) तथा चिन्ह, प्रतीकों, पताकाओं और शब्दों के उत्तेजक प्रयोगों का बड़ा हाथ होता है। सुझाव

कुछ अर्थों में भयानक प्रभाव उत्पन्न करता है, क्योंकि कर्ता यही समझता है कि वह यह व्यवहार स्वयं जान-बूझकर कर रहा है। प्रचार के साधन तो आज बहुत सुविकसित हैं। यथा-स्थान उनका वर्णन किया गया है।

अफवाह तीन प्रकार से फैलाई जा सकती है: (१) चर्चा द्वारा, (२) चिट्ठी, टेलीफोन या तार द्वारा, और (३) बड़े पैमाने पर समाचारपत्र, सिनेमा और रेडियो द्वारा। इस सम्बन्ध में जीनोवीव की प्रसिद्ध चिट्ठी जिसको इंग्लैण्ड की कंज़र्वेटिव पार्टी ने चुनाव के अवसर पर प्रकाशित करके प्रचारित कर दिया था और जिसके परिणामस्वरूप लेबर पार्टी को चुनाव में बहुमत प्राप्त न हो सका था, एक अच्छा उदाहरण है।

पत्र का आशय था कि रूसी बोल्शविकों को यह सूचना प्राप्त करके कि लेबर पार्टी इंगलैण्ड में रूस जैसी सशस्त्र क्रान्ति करने का कार्यक्रम बना चुकी है, बड़ी प्रसन्नता हुई है, इसलिए रूसी क्रान्तिकारियों की ओर से वह बधाई की पात्र है। यह पत्र रूसी क्रान्तिकारी नेता जीनोवीव ने लेबर पार्टी को लिखा था। कहना अनावश्यक है कि पत्र का कोई वास्तविक अस्तित्व न था। सारी बात झूठी थी, परन्तु इसका प्रचार इस वेग से किया गया कि बहुत लोगों ने इस पत्र पर विश्वास कर लिया।

भीड़ के प्रति सम्मान की भावना. सुझाव की शक्ति को तीव्र करने वाला एक तत्त्व यह है कि व्यक्ति भीड़ के कार्यों को अधिक सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। यह भावना कि बहुत अधिक लोग एक साथ है, उनकी दृष्टि में समूह की प्रतिष्ठा को बढ़ा देती है। समूह की स्वीकृति से जो कार्य होते है, हम आरम्भ से ही उनको सम्मान देते आए है। इसी कारण हम बहुत बार भीड़ में बिना जाने व सोचे-समझे ही अनैतिक असाधारण कार्यों को करने लगते है।

भीड़ पर ताल (Rhythm) का प्रभाव. भीड़ के एक साथ, एक खास क्रम से, एक ही काम करने से व्यक्ति पर उसका प्रभाव बढ़ जाता है। सेनाओं के कदम मिलाकर चलने की ध्वनि, प्रार्थना-समूहों का कीर्तन, मिलकर गाये जाने वाले भक्तिपूर्ण गीत और भजन, आकाश को हिला देने वाले जय-घोष और किसी आकर्षक व्यवस्था-विशेष से पक्तियों मे खड़े हुए लोग, यह सभी समूह के प्रभाव को तीव्रतर कर देते हैं। सुझाव का वेग, मात्रा, तीव्रता सभी भीड़ समूह की ताल से अधिक प्रभावोत्पादक हो जाते हैं।

पूर्व धारणाओं और भावनाओं का भावात्मीकरण (Emotionalisation). सुझाव और अनुकरण दोनों प्रक्रियाएं व्यक्तियों के पहले से बने विचारों, भावनाओं और पूर्व धारणाओं को नए रूप में ताजा कर देती हैं, उनको एक नया वेग दे देती हैं। और उनकी सहायता से अपने प्रभाव को अधिक तीव्र बना देती हैं। शीघ्र

बिखर जाने वाली भीड़ों को छोड़कर और सभी जनसमूह अपने सदस्यों में कुछ भावनाओं और संवेगों को विकसित कर देते है। वास्तव में तो किसी भीड़ के स्थायित्व का आधार इसी बात पर निर्भर होता है कि वह अपने सदस्यों में कितना गहरा भावात्मक सम्पर्क स्थापित कर सकती है, जब एक बार कुछ भावनाएं उदित हो जाती है तो वह हर नई वस्तु पर, नई परिस्थिति पर, अपनी छाप छोड़ देती है। व्यक्ति का दृष्टिकोण उन से इतना प्रभावित हो जाता है कि वह हर एक नई परिस्थिति को इन भावनाओं द्वारा परिवर्तित ढंग से देखता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक पैट्रिक ने कहा है, "हम वस्तुओं को जैसी वे है, वैसी नहीं, बल्कि जैसे हम है, वैसी देखते हैं।"

उत्तेजना की दशा में यह तथ्य और भी अधिक सत्य होता है। न केवल प्रत्यक्षबोध (Perception) बल्कि वे धारणाएं और चित्र भी जो हमारे मस्तिष्क में पहले से विद्यमान होते है, भावनात्मक हो जाते हैं। भय या क्रोध की अवस्था में व्यक्ति, अपने साथियों के समान ही, शोषक, शत्रु, आततायी और अत्याचारी के विषय में अद्भुत और कृत्रिम कल्पनाएं करने लगता है। गप्प का प्रसार करने वाले न केवल इन चित्रों और कल्पनाओं की रचना को उद्दीप्त करते हैं, बल्कि उनको अधिक प्राणवान् भी बना देते है।

नेता की भूमिका. भीड़ समूह में भीड़ ही के प्रति सम्मान की भावना नहीं वरन् नेता के प्रति सम्मान की भावना भी, अपना प्रभाव प्रदर्शन करती है। चूंकि एक व्यक्ति आगे बढ़कर सारे समूह का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, इसलिए वह अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगता है और उसकी ससूह का पथ प्रदर्शन करने की क्षमता, व्यक्तियों को उसका अनुकरण करने की प्रेरणा देती है। प्रत्येक व्यक्ति में अपने को नेता के साथ मिला देने की भावना का उदय होता है। हम अपनी भावनाओं और व्यक्तित्व को परारोपित (Project) कर नेता में मूर्त देखते है, और उसके विचारों और मान्यताओं को स्वीकार करने में प्रसन्नता अनुभव करते है। शैशव से हमें परिवाररूपी सामाजिक पाठशाला में आज्ञा-पालन की जो शिक्षा मिलती है, वह अभिसंहित रूप में हमारे व्यक्तित्व का अंग बन जाती है, और इसलिए हम नेता की आज्ञा का पालन करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। नेता भीड़ का केन्द्र बनकर उसे बिखर जाने से रोके रखता है, भीड़ की मूक भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है, उनको वाणी देता है, उनको एक मूर्त रूप, कुछ विशेष शब्द, और निश्चत धारा देता है, जो समूह में फैलती जाती है और सभी सदस्यों की विशिष्ट प्रकार से सोचने की प्रवृत्ति को दृढ़ कर देती है। वह भीड़ में कुछ ऐसे शब्द, चिह्न और सामूहिक घोष भी लोकप्रिय कर देता है, जो बाद में उसे क्रियात्मक होने के लिए प्रेरणा देते रहते

हैं। वह न केवल उनको कार्य करने की प्रेरणा देता है, बल्कि वह उन्हें एक विशिष्ट दिशा भी बता देता है, जिसकी ओर वह अग्रसर हों। इसके अतिरिक्त, वह समूह की भावनाओं को प्रतीकों या चिह्नों द्वारा उत्तेजित करके उनको सक्रिय बना देता है।

मनोवैज्ञानिक अवस्थाएं और भीड़-व्यवहार

प्राथमिक प्रेरक भावनाएं (Motivations). वयस्क व्यक्तियों को प्रेरित करने वाली तीन प्रमुख बुनियादी प्रेरक भावनाएं होती है : (१) सुरक्षा और सामाजिक प्रतिष्ठा, (२) स्नेहमय जीवन, जो अधिकतर परिवार में केन्द्रित रहता है और (३) सामाजिक मूल्य और मान्यताएं, जो कि नियमपालन, व्यवस्था-स्थापन, सम्पत्ति का स्वामित्व और नागरिक अधिकार इत्यादि से सम्बन्धित होती हैं। जब भी इन प्रेरकों में से कोई अधिक उद्दीप्त हो जाता है, तब ही व्यक्ति अप्रत्याशित व्यवहार करने लगते हैं। व्यक्ति को अपने परिवार या अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा पर किसी विपत्ति की आशंका बहुत अधिक चौंका देती है, और इसी तरह अपनी श्रेणी या अपने समाज की मान्यताओं के प्रति सक्रिय उपेक्षा उसे उत्तेजित कर सकती है। भारत में साम्प्रदायिक दंगों के समय अपनी सुरक्षा की चिन्ता, अपने परिवार और बच्चों के प्रेम और अपनी मान्यताओं या संस्कृति के विरुद्ध आक्रमण की भावना ने ही अच्छे पड़ोसियों को भी एक दूसरे का वध करने पर उद्यत कर दिया। भीड़ समूह इन प्राथमिक प्रेरकों से सम्बद्ध प्रतिक्रियाओं को अपने समूह-विषयक उद्दीपकों द्वारा प्रबल बना देता है, विपत्ति की सन्निकटता और उसकी भयानकता को और भी अधिक महत्त्व दे देता है।

भीड़ समूह द्वारा अचेतन में दबी भावनाओं का उदय. न केवल वे ही चालक जो हमारी चेतन (Conscious) अवस्था में विद्यमान रहते है, बल्कि वे भावनाएं भी जिनको अचेतन (Unconscious) अंतर्हित है भीड़ समूह मे अपनी अभिव्यक्ति करने लगती है। फ्रायड के कथनानुसार हम शैशव से ही अप्रिय, समाज और संस्कृति द्वारा वर्जित भावनाओं को बलपूर्वक अपने मन में दबा देते हैं, अपनी चेतन अवस्था से निर्वासित कर देते है, हमारी नैतिकता या चेतना, जिसे हमारे समाज के आदर्श और मान्यताएं निर्धारित करती हैं, इन भावनाओं को हमारे चेतन में आने से रोक रखती है। परन्तु, जैसे कि कहा जा चुका है, भीड़ समूह में यह नैतिक बन्धन शिथिल हो जाते है। भीड़ में हम अपने नहीं, भीड़ के आदर्शों पर चलते है। अतः भीड़ हमारी अचेतन मे निर्वासित असंस्कृत भावनाओं को उत्तेजित करके हमें संस्कृति द्वारा वर्जित कार्य करने को उद्यत कर देती है।

नागरिक सभ्यता और भीड़ व्यवहार

सामाजिक हितों की पूर्ति. हमारी सभ्यता के इस युग में, अव्यवस्थित

औद्योगिक विकास के कारण बड़े-बड़े नगर जिसे ल्यूइस ममफोर्ड ने राजनगरीय (Metropolitan) कहा है, बन गए है और लोग अपने आत्मसीमित ग्राम-समुदायों और सुगठित पारिवारिक इकाइयों को छोड़कर उन नगरों मे बस गए हैं, भीड़-समूह का प्रभाव बहुत बढ़ गया है।

आज नगरों में व्यक्ति अपने सभी हितों की पूर्ति करने में असमर्थ है। ग्राम में उसके सामाजिक हित पूरे हो जाते थे, वह एक समुदाय का अंग था। नगर में वह अपने उस समुदाय की अनुपस्थिति के कारण, वैसा सामुदायिक वातावरण प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी सामाजिक भावनाएं अतृप्त और अवरुद्ध रहती है। न ही नगर इसके स्थान पर ऐसी संस्थाओं का शीघ्रता से विकास कर सका है, जो उसकी इस हानि को पूरा कर सकें। एक ऐसी बस्ती में जहां भांति-भांति के लोग अलग-अलग गांवों से आकर बस गए है, गांव जैसा घनिष्ठ वातावरण पा सकना उनके लिए बहुत कठिन है।

निराशा का वातावरण. दूसरी ओर नागरिक जीवन की कृत्रिमता, जटिलता और अस्वाभाविकता व्यक्ति के जीवन में एक सूनापन उत्पन्न कर देती है। प्रकृति से सम्पर्क की कमी, स्नेहरहित वातावरण और स्वच्छन्दता पर बन्धन भी, उसके मन में एक निराशा और उदासी का उदय करते है। आर्थिक मांगों का पूरा न हो सकना इतना पीड़ाजनक नही है, जितना अपनी सापेक्ष गरीबी की जागृत भावना। धनवानों के विलास की तुलना में अपनी हीनता, अभाव और दुर्दशा का अनुभव व्यक्तित्व के विकास पर बुरा प्रभाव डालते है।

भाग्यवाद में विश्वास. हमारे औद्योगिक ढाचे में इतना विशिष्टीकरण हो गया है कि साधारण मनुष्य उसे समझ नही सकता। सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं को समझ पाने में भी वह असमर्थ है। यह असमर्थता और अयोग्यता उसे आरण्यक व्यक्ति की ही भांति भाग्यवादी बना देती है, वह अपने ज्ञान और अपनी शक्ति पर नही, बल्कि कुछ अलौकिक कल्पनातीत शक्तियों में विश्वास करने लगता है। अपने अज्ञान के कारण जीवन में कोई आनन्द न पाकर, निराश हो, वह इस विश्वास को अपने हृदय में स्थान देता है कि इस अज्ञेय व्यवस्था को कोई चमत्कार ही बदल सकता है।

जीवन मे नीरसता का आधिक्य. हमारी औद्योगिक प्रणालियों के विशिष्टीकरण और जटिल और अत्युन्नत श्रमविभाजन के कारण एक व्यक्ति को सारा दिन एक ही काम बार-बार दोहराते रहना पड़ता है। इससे जीवन में बहुमुखता नहीं रहती, जीवन एकांगी हो जाता है। यह तत्त्व भी जीवन को नीरस बनाने में योग दता है।

परिवर्तन और दृढ़ नेतृत्व की कामना. आशाओं की अपूर्ति, निराशाओं

की वृद्धि, व्यक्तित्व के विकास का अवरोध और भाग्यवाद में विश्वास—इन सब तत्वों के एकत्रित हो जाने और एक दूसरे को अधिक प्रभावी बना देने से, आज के सामान्य व्यक्ति के मन में परिवर्तन की प्रबल आकांक्षा और उसकी पूर्ति के लिए एक नेता की लालसा बड़ी बलवती हो गई है। समूह के प्रभाव के वेग का बढ़ जाना और नेता के प्रति निष्ठा की भावना का अधिक प्रबल हो जाना इन्हीं आकांक्षाओं का परिणाम है। भीड़ समूह हमारी परिवर्तन की लालसा, जीवन की नीरसता, शुष्कता और उकताहट से बचने और पलायन करने की तीव्र इच्छा और हमारे कौतूहल को पूर्ण करने का साधन होता है, या कम-से-कम इन लालसाओं की पूर्ति की आशा दिलाता है। इसलिए आज के नागरिक जीवन में भीड़-समूह का प्रभाव बहुत बढ़ गया है। नागरिक जीवन में सुझाव की शक्ति, नेता के व्यक्तित्व के प्रबल प्रभाव और एक ही स्थान में अधिक लोगों के एकत्रित हो सकने के कारण भीड़ में अन्तःप्रेरणा का वेग बहुत तीव्र हो जाता है।

सामूहिक समाज का उदय. कुछ थोड़े-से स्थानों में आवश्यकता से अधिक लोगों के आवास के कारण, नगरों में भीड़ व्यवहार और सुझाव की शक्ति बढ़ गई है। थोड़ी ही देर में अफवाह तेजी से सब ओर प्रसारित हो जाती है, उत्तेजना पल भर में सभी व्यक्तियों को उद्दीप्त कर देती है, और जो व्यवहार एक स्थान पर एकत्रित हुए लोगों में होना चाहिए, वह अपने-अपने घरों में बैठे व्यक्तियों में भी अल्प मात्रा में दृष्टिगोचर होने लगता है। थोड़ी ही देर में लोग घरों से बाहर निकल आते हैं, छोटे-छोटे समूह बना लेते है और फिर वही सब कुछ होने लगता है जो भीड व्यवहार की विशेषता है। भीड़ की सभी प्रक्रियाएं बलवती हो जाती है। पहले की अपेक्षा आज भीड़ें न केवल परिमाण मे बड़ी होती हैं, बल्कि उत्तेजना की मात्रा में भी।

संस्कृति और भीड़ व्यवहार

हाल ही में भीड़ समूह और उसके व्यवहार को सामाजिक रोग के रूप में अध्ययन करने की परिपाटी चल पड़ी है। हमारा समाज, जो बातें व्यक्तियों के व्यवहार में सहन नही कर सकता, वह भीड़ समूहों के व्यवहार मे स्वीकार कर लेता है। भीड़ों मे निन्दित व दुष्ट कर्म करने वाले भी दण्ड नहीं पाते, और जो लोग भीड़ की उत्तेजना से पागल होकर पागल सरीखा आचरण करते हैं, उनको पागलखाने में नहीं भेजा जाता इससे स्पष्ट है कि हमारी संस्कृति भीड़ में व्यक्ति के व्यवहार को एक रोग मानकर उसकी उपेक्षा कर देती है।

फिर भी यह ध्यान देने का विषय है कि विभिन्न संस्कृतियां भीड़ व्यवहारों पर अपना प्रभाव डालकर उनकी सीमाएं निर्धारित कर देती हैं। कई संस्कृतियों में कुछ कर्म वर्जित होते हैं। जूनी संस्कृति भावनाओं के संयम पर अधिक बल देती

है, जबकि क्वाकितुल संस्कृति भावातिरेक को पसन्द करती है। अमेरिका में भीड़ समूह आत्मविस्मृत होकर सरकारी सम्पत्ति को नष्ट कर देते है और किन्हीं नियमों और व्यवस्था की परवाह नहीं करते। परन्तु इंग्लैण्ड में, इसके प्रतिकूल भीड़, व्यवहार बहुत संयत होता है। सम्राट् जार्ज पंचम की रजतजयन्ती के समय बकिंघम प्रासाद के सामने के बगीचे में बहुत भारी भीड़ एकत्रित हुई, परन्तु उनकी समाप्ति पर देखा गया कि न तो उस बगीचे में से कोई फूल ही तोड़ा गया था, और न ही उसे कोई अन्य हानि पहुंचाई गई थी। खेद से कहना पड़ता है कि इस विषय में हमारी संस्कृति में भीड़ व्यवहार पर ऐसे कोई दृढ़ बन्धन नहीं लगाये हैं।

स्वतन्त्रताप्राप्ति से पहले और उसके पश्चात् भीड़व्यवहार से प्रेरित जो साम्प्रदायिक दंगे इस देश में हुए, उसमें हजारों मनुष्य मारे गये। इसके विपरीत, १९३४ में पेरिस में जो दंगे हुए, वे इतने विस्तृत थे कि एक बड़े राजनैतिक बवंडर की सम्भावना हो गई थी, परन्तु फिर भी उनमें सम्पत्ति की हानि होने पर भी हत्या बिल्कुल नही हुई। इसका कारण फ्रांस में कैथोलिक मत का प्रचार था, जिसमें हत्या को बहुत जघन्य माना गया है। इसके साथ ही फ्रांसीसी क्रान्ति के पश्चात बने कठोर दण्ड-विधानों ने भी सांस्कृतिक मान्यताओं को लोकप्रिय बनाने में सहायता प्रदान की।

सुझाव और संस्कृति. यह संकेत किया जा चुका है कि जो व्यक्ति अधिक भावुक और अशिक्षित होते हैं, वह सुझाव से अधिक प्रभावित होते है। प्रत्येक संस्कृति व्यक्तियों के चरित्र-नियंत्रण के लिए कुछ ऐसे भावनात्मक निषेध और प्रतिबन्ध लागू कर देती है कि उस दशा में सुझाव का कोई प्रभाव नहीं हो पाता। हमारी ही संस्कृति में कोई भी तीव्र प्रतिष्ठित और प्रचारित सुझाव हिन्दुओं को गोवध के लिए प्रेरित नही कर सकता। यदि किसी व्यक्ति के मन में यह संस्कार बद्धमूल है कि अमुक कार्य किसी भी अवस्था में अनुचित है, तो उसे उस ओर झुका सकना बहुत कठिन है।

इसी प्रकार यह भी देखा जाता है कि सुझाव के प्रभाव को कम करने के लिए अलग-अलग संस्कृतियां अलग-अलग साधनों का प्रयोग करती हैं। सुझाव के प्रभाव को कम करने का सबसे अच्छा उपाय व्यक्तियों में स्वतन्त्र चिन्तन और मनन की प्रवृत्ति को प्रबल कर देना है। चिन्तनशील व्यक्ति सुझाव को स्वयं सोचे-विचारे बिना स्वीकार नहीं कर लेते। स्वयं सोच-विचारकर प्रमाणों या तथ्यों का विश्लेषण करके जो बात स्वीकार की जाती है, वह सुझाव की कोटि में नहीं आती। वाद-विवाद, भाषणकर्ता से प्रश्नोत्तर, लेखों की समालोचना, व्यक्ति को अपना निर्णय स्वयं करने की स्वतन्त्रता, शक्ति का अधिक-से-अधिक

विकेंद्रीकरण, जिससे लोग अपना-अपना उत्तरदायित्व समझे, मतदान और शिक्षा, यह सब सुझाव की शक्ति को कम करते हैं।

एक अध्ययन में कुछ उच्च शिक्षा प्राप्त अमेरिकन विद्यार्थियों के सामने कुछ ऐसे दृश्य उपस्थित किए गए, जिनमें नीग्रो लोगों द्वारा गोरी जाति की नारी के प्रति घृणित अत्याचार और अपमान की ओर संकेत किया गया था। यह सुझाव भी उनको प्रबल रूप से दिया गया कि वह नीग्रो लोगों से बदला लेने के लिए उत्तेजित भीड़ में मिलें। परन्तु उन विद्यार्थियों में से अधिक ने अपनी शिक्षा के प्रभाव के कारण इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया।

भारत में भी गांवों में एक नारी के प्रति किसी युवक के अनर्गल प्रलाप को क्षमा नहीं किया जाएगा और सुझाव का लोगों पर तात्कालिक प्रभाव पड़ेगा, परन्तु नगरों में शायद इसकी उपेक्षा कर दी जाए।

इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि व्यक्ति का स्वभाव और संस्कृति की मान्यताएं, दोनों सुझाव के प्रभाव के वेग को अधिक या कम करने में अपना-अपना योग देती है।

सामूहिक व्यवहार के अन्य रूप

१. श्रोता (Audience) और दर्शक समूह (Spectators)

संस्कृति निर्धारित अस्थायी समूह. ऐसे अस्थायी समूहों की चर्चा, जिनकी सदस्यता और नेतृत्व संस्कृति या परम्परा द्वारा निर्धारित नहीं होते, भीड़-व्यवहार के प्रकरण में की जा चुकी है। श्रोताओं या दर्शकों के समूह अधिकतर कुछ परम्पराओं के नियंत्रण को मानते हैं। एक श्रोता-समूह मे नेता का चुनाव अकस्मात् नही होता, किसी मान्य या प्रचलित ढंग से होता है। परन्तु उसकी सदस्यता के बारे में ऐसा कोई नियम नही है। वह श्रोता या दर्शक जो किसी नियत भाषणकर्ता का भाषण सुनने आते है या किसी निश्चित दृश्य को देखने आते है, किसी विशिष्ट रीति से नहीं चुने जाते। परन्तु कई बार ऐसा भी होता है कि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को ही श्रोता या दर्शक के रूप में आने की अनुमति दी जाती है। इन सभाओं के स्थान, समय और विषय इत्यादि का निर्धारण भी श्रोता या दर्शक समूह के एकत्रित होने से पूर्व ही हो जाता है।

सदस्यों में अन्त:प्रेरणा का अभाव. ऐसे समूहों में सब व्यक्तियों का ध्यान नेता या दृश्य की ओर होता है और उनके लिए उद्दीपन का केवल वही केन्द्र होता है। सदस्यों के परस्पर अन्तःउद्दीपन का स्तर बहुत नीचा नही होता। इसीलिए एक स्थान में एकत्रित होने पर भी वह भीड़ जैसा व्यवहार नहीं करते। उनके व्यवहारों पर भी कुछ संस्कृति द्वारा निर्धारित रूढ़ियों का बन्धन दूर रहता है।

श्रोता या दर्शक समूह का भीड़ बनना सम्भव. यह सम्भव है कि किसी विशेष घटना के घटने पर श्रोता या दर्शकगण अकस्मात् उत्तेजित हो जाएं, अपना मानसिक संतुलन खो बैठें और उत्तेजित भीड़ का-सा व्यवहार करने लगें, जैसा कि कभी-कभी खेलों में रैफरी द्वारा किसी पक्षपात व अन्यायपूर्ण निर्णय देने पर हो जाता है। फिर भी अधिकतर अन्य अस्थायी समूहों की अपेक्षा यह समूह अधिक शांत रहते हैं।

२. जनता और जनमत (Public Opinion)

जनता समान विषयों में अभिरुचि रखने वालों का एक शिथिल समूह. प्रत्येक समाज में हर समय बहुत-से ऐसे विषय होते हैं, जिन पर अलग-अलग व्यक्तियों या समूहों के पृथक्-पृथक् मत होते हैं। इन विषयों और समस्याओं पर समाज मे निरंतर विचार विनिमय होता रहता है, परन्तु अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग विषयों में अभिरुचि रखते है और वे ही उस विषय पर हो रहे वाद-विवाद मे भाग लेते है। जितने अधिक ऐसे विषय होते है, उतने ही ऐसे समूह भी होते है। जिन व्यक्तियों को एक ऐसे विशेष विवाद-ग्रस्त विषय में अभिरुचि होती है, और जो एक स्थान में रहने के कारण नही, प्रत्युत प्रसार और संचार (Communication) के साधनों द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, वे व्यक्ति एक 'जनता' (Public)का निर्माण करते हैं।

एक व्यक्ति, साधारणतः एक से अधिक विषयों में अभिरुचि रखता है, और इसलिए वह एक से अधिक जनताओं का सदस्य हो सकता ह। एक जनता में जो विवाद चलता रहता है, वह भीड़ की तरह उत्तेजित भावनाओं द्वारा निर्णीत नहीं होता; बल्कि विचार-विनिमय, तर्क-वितर्क और युक्तियों द्वारा होता है। इस तथ्य के आधार पर भीड़ और जनता का अन्तर समझा जा सकता है, मोटे तौर पर एक ऐसे संगठित समूह को, जिसके सदस्य किसी एक समान विषय में अभिरुचि रखते हों, हम जनता कह सकते है।

जनमत एक गतिशील प्रक्रिया (Dynamic Process) जनता का अधिक भाग किसी एक विषय पर जो मत रखता है, उस विषय पर उसी को जनमत कहा जाता है। परन्तु किसी विषय पर जनता पूर्णतः एकमत नहीं होती, क्योंकि जनता द्वारा पूर्णस्वीकृति प्राप्त कर लेने पर विशेष विषय सर्वमान्य मान्यताओं या जनरीतियों का अंग हो जाते हैं। इसीलिए जनता के एक प्रतिनिधि भाग के मत को जनमत कहने की धारणाओं को ठुकराकर कूले ने जनमत के गतिशील रूप पर बल दिया है। जो लोग जनता के बहुमत को स्वीकार नहीं करते, वह अपने मत का प्रचार करते रहते है और जनमत को बदलने का प्रयास करते

रहते हैं। इस प्रकार यह एक गतिशील प्रक्रिया है, एक अगतिशील (Static) धारणा नहीं है।

समाज के प्रारम्भ से ही अलग-अलग व्यक्तियों के विचारों, आदर्शों और भावनाओं में परस्पर अन्तःक्रिया होती रहती हैं। जनमत इस अन्तःक्रिया से सम्बन्धित एक गम्भीर प्रक्रिया है, जो व्यक्तियों के विचारों को प्रभावित करके उन्हें कुछ निष्कर्षों पर लाती है। अपने गतिशील प्रवाह के कारण जनमत समूहों के विचारपूर्ण अभिमतों को एक निश्चित वाणी देता है और उनका रूप सुधारता रहता है, और इसके साथ ही यह अल्प समय के लिए अस्थायी तौर पर जनता के आदर्शों, भावों और मान्यताओं को स्पष्ट रूप से निर्धारित करता है।

ग्रामीण समाजों में जनमत. जनमत के अध्ययन के लिए यह जानना आवश्यक है कि सभ्यता के साधारण स्तर और मत प्रकाशन के सांस्कृतिक माध्यम कैसे हैं। प्राचीनकाल में छोटे-छोटे ग्रामों मे सभी लोग साक्षात् और घनिष्ठ सम्बन्धों के कारण शीघ्र ही जनमत की अभिव्यक्ति कर सकते थे, और व्यक्तियों पर उसका प्रभाव भी उस समय अत्यधिक होता था। पर वहाँ विवाद के विषय बहुत थोड़े थे, क्योंकि अधिकतर बातों पर परम्परा, धर्म, समुदाय और जन-रीतियों का तीव्र नियन्त्रण होता था। केवल दैनिक जीवन की बाते ही जनमत की परिधि के भीतर आ पाती थीं। इस प्रकार के अपरिवर्तनीय, बहुत कुछ स्थायी विश्वासों और जनरीतियो को, जो सभी कृषक समाजो और वस्तु विनिमय की अर्थ-व्यवस्थाओं (Barter Economies) में प्रचलित थीं, विलियम बाँवर ने अगतिशील जनमत का नाम दिया है।

नगरीय सभ्यताएं और जनमत. गतिशील जनमत यूनान और रोम की नागरिक सभ्यताओं में बहुत प्रभावशाली था। पैरीक्लीज और सिसरो के काल में घनी जनसंख्या वाले नगरों में तत्कालीन महत्त्व के विषयों पर प्रमाण और तर्कों का आश्रय लेकर विशद विवाद हुआ करते थे और भाषणों, प्रहसनों और नाटकों द्वारा अपने-अपने मत का प्रचार भी सम्भव था। इटली के पुनर्जागरण काल में छोटे-छोटे नागरिक समूहों के उदय ने, बीच के दीर्घकाल में फैली कृषि-अर्थ-व्यवस्था पर आधारित ग्राम समूहों के अगतिशील जनमत को गतिशील बना दिया। आज के युग में औद्योगीकरण, तीव्र प्रगति और हमारी संस्कृति के द्रुत नगरीकरण ने तो जनमत के क्षेत्र, गति, गुण और प्रभाव को बहुत ही विकसित कर दिया है।

आधुनिक सभ्यता का जनमत पर प्रभाव. जनसंख्या में तीव्र वृद्धि और बृहत् नगरों में जनता के एकत्र हो जाने से जनमत का वेग बढ़ गया है।

हमारे नैतिक आदर्श, मान्यताएं, और विश्वास बदल रहे है, और ऐसे संक्रान्ति-काल में यह सभी जनमत और वाद-विवाद के दायरे में आ जाते हैं। इस प्रकार इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। यातायात और संवादवहन के साधनों से इसकी गति में अनुपम तेजी पैदा हो गई है। मनुष्यों के परस्पर सम्बन्धों और हितों के क्षेत्र और उनकी अनेकरूपता निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं। जीवन की गति और विविधता ने भी इसमें अपना योग दिया है।

इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि हमारे समाज में प्राथमिक समूहों का स्थान माध्यमिक समूहों ने ले लिया है और घनिष्ठ और व्यक्तिगत सम्बन्धः का स्थान निर्वैयक्तिक रस्मी सम्बन्धों ने। हम स्वयं निरन्तर वर्धमान तथ्यों का ज्ञान नहीं रख सकते, हमारी जानकारी आज बहुत सीमित और विशिष्ट हो गई है। बढ़ते हुए श्रम विभाजन और विशेषीकरण का प्रभाव भी इसी दिशा में पड़ा है। अधिकांश विषयों पर हमारे विचार और निष्कर्ष अधिकतर काल्पनिक ही होते है। वस्तुस्थिति से उनका सम्बन्ध कम होता है। सिनेमा, रेडियो, समाचार-पत्रों और पुस्तकों द्वारा जनमत को बनाया और बदला जा सकता है। पर इन साधनो को भी जनमत का सम्मान करना पड़ता है और कुछ मान्यताओं के बन्धनों को स्वीकार करना पड़ता है।

हमारे समाज मे एक व्यक्ति जो कठिनाई या समस्या अनुभव करता है, उसके निदान वह पहले स्वयं ही सोचता है और उसके विचारों पर उसकी पूर्व-धारणाओं का प्रभाव पड़ता है। दूसरे लोगों को भी जब वह इसी उधेड़-बुन में देखता है, तो परिवार या मुहल्ले तक विवाद फैलता है। परन्तु जब तक अनुभव की गई कठिनाई समाज के पर्याप्त बड़े भाग की समस्या नहीं होती, वह जनमत का विषय नहीं बन पाती। जब उस पर विवाद का रूप बृहत् हो जाता है, और संवाद-वहन के साधन भी उसमें अपना योग देते है तो जनमत का उदय होने लगता है।

जनमत निर्माण की मुख्य अवस्थाएं. जनमत निर्माण में चार मुख्य अवस्थाएं है : (१) सबसे पहले विषय का निर्माण, (२) उसके बाद उस समस्या की गम्भीरता का अध्ययन और तथ्यों की खोज, (३) विकल्पों (Alternatives) का अध्ययन और (४) विवाद और विचार-विनिमय के पश्चात् जनता के बहुमत द्वारा जनमत का निर्माण।

स्वस्थ जनमत निर्माण की समस्या. परन्तु आज अनन्त तर्कयुक्त निष्कर्षों और सही तथ्यों को जनता के ज्ञान का अंग बना देना कठिन हो गया है। इसके लिए नेताओं और सुधारकों को, जो जनमत-निर्माण में पथप्रदर्शन करते है, विशेषज्ञों के समीपतर होना पड़ेगा और समाज को अपने संवाद-वहन के साधनों का ऐसा उपयोग करना होगा कि जनता अधिक ज्ञानवान् हो। तभी जनमत अधिक तार्किक,

युक्तिसंगत और कल्याणकारी बन जायगा । यदि ऐसा नहीं होगा तो कुछ स्वार्थी और महत्वाकांक्षी सत्ताधारी इन बड़े साधनों का दुरुपयोग करके सचाई को छिपाकर जनमत को अपनी इच्छानुसार निर्मित और नियंत्रित करते रहेंगे ।

(३) प्रचार (Propaganda)

प्रचार : शब्दों और प्रतीकों का पूर्व नियोजित प्रयोग. दूसरे व्यक्तियों के विचारों, धारणाओं और आदर्शों को बदलने के लिए शब्दों और चिह्नों को चतुरता से उपयोग में लाने की चेष्टा प्राचीन काल से ही चली आती है । इटली के प्राचीन नगर पौम्पियाई की दीवारों पर चुनाव-सम्बन्धी वाक्य लिखे पाए गए हैं । हिरोडोटस, जिसे इतिहास का पिता कहा जाता है, उसके बारे में भी यह सन्देह है कि उसने भी एथेन्स के शासको के हित और कीर्ति के लिए शब्दों और तथ्यों का अनुचित प्रयोग किया था । प्रारम्भ में 'प्रचार' शब्द का प्रयोग रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय ने अपने 'धर्म के नियमों क प्रसार' के अर्थ में किया था । जिस प्रणाली से हम प्रतीकों (Symbols) के प्रयोग द्वारा मानव व्यवहारों को बदलने का प्रयत्न करते है, उस प्रणाली को प्रचार कहा जाता है ।

शिक्षा, विचार-विनिमय और प्रचार. शब्दों और प्रतीकों का प्रयोग परम्पराओं, आदर्शों, रूढ़ियों और मान्यताओं को शिशुओं और बालकों के मन मे स्थापित करने के लिए भी किया जाता है । परन्तु इसको शिक्षा कहते है । प्रचार का उद्देश्य विवादग्रस्त, परम्परा-विरोधी या नवीन धारणाओं को फैलाना और लोकप्रिय बनाना होता है, जब कि विचार-विनिमय में हम अपनी पूर्णधारणाओं से युक्त होकर ही किसी समस्या को सुलझाने की चेष्टा करते है । प्रचार में हम दूसरे व्यक्तियों के मन में बैठी ऐसी पूर्वधारणाओं को बाहर निकाल देने का प्रयत्न करते हैं, अथवा नई धारणाएं बैठाने का प्रयत्न करते हैं । जब हम जान-बूझकर शब्दों का व्यवस्थित और क्रमबद्ध उपयोग करते है, और सुझाव और दूसरी मनोवैज्ञानिक प्रणालियों का आश्रय लेकर इस उपयोग द्वारा लोगों के अभिमतों, विचारों और मूल्यों को इस प्रकार नियंत्रित करने का प्रयत्न करते हैं कि अन्त में उन लोगों के विचार को बदल सकें, तो हमारी यह चेष्टा प्रचार कहलाएगी ।

प्रचार और समूह. दो समूहों में मैत्री-स्थापन (Conciliation) के लिए भी प्रचार का प्रयोग हो सकता है और पारस्परिक विरोध को बढ़ाने के लिए भी । सामूहिक मान्यताओं में व्यक्तियों का विश्वास अडिग रखने और समूह में एकता कायम करने के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है । प्रचार द्वारा झूठी-सच्ची कहानियों और अतिशयोक्तिपूर्ण तथ्यों पर समूह का विश्वास प्राप्त किया जा सकता है ।

प्रचार का मनोवैज्ञानिक आधार. शैशव काल से व्यक्तियों के मन में जो

धारणाएं बस जाती हैं और उनकी जो विचार-प्रणालियां बन जाती हैं, उन्हीं धारणाओं और विचार-प्रणालियों को उत्तेजित कर देना प्रचार का लक्ष्य होता है। अनुकरण और सुझाव का सहारा लेकर और उन आदर्शों को जगाकर जो हमें प्रिय है, वह हमें भावुक बना देता है। ऐसी ही भावनाओं के आधार पर झूठी-सच्ची कहानियां गढ़कर कुशल प्रचारक हमें अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है और हमारे विचारों को बदलने में सफल होता है।

प्रचारक की सफलता के नियम. प्रचारक हमारी अवरुद्ध भावनाओं और अतृप्त इच्छाओं को चेतन कर देता है, और हम मे किसी लक्ष्य की प्राप्ति की लालसा जागृत कर देता है। जब वह लालसा जागृत हो जाती है, तो वह उसकी पूर्ति के मार्ग की ओर संकेत कर देता है। अपनी कार्यसिद्धि के लिए वह अपने प्रचार को जनता की बुनियादी और प्राथमिक इच्छाओं के साथ जोड़ता है और प्रतीकों द्वारा उनकी भावना-प्रधान इच्छाओं को छेड़ता है। समस्याओं को सरल भाषा, और ढंग से में लक्ष्य को स्पष्ट बनाकर जनता के सम्मुख पेश करने में ही उसकी सफलता है। बुनियादी मांगों या उद्देश्यों को बार-बार क्रमबद्ध रूप से दोहराकर ही वह जनता का सौहार्द प्राप्त कर सकता है। जब इन प्रणालियों द्वारा वह व्यक्तियों के मनों में अपने लक्ष्य के लिए सहानुभूति या झुकाव पैदा कर लेता है, तब अतिशयोक्ति और झूठ के प्रयोग से जनता को अत्यन्त प्रभावित कर देना उसके लिए कठिन नहीं रहता।

प्रचारक और वकील. प्रचारक और वकील के काम में बहुत कुछ समानता है। दोनों ही अपने-अपने पक्ष के लिए सिद्धान्तों, शब्दों और तथ्यों का उचित और अनुचित प्रयोग करते हैं, परन्तु जहां वकील अपनी बात न्यायाधीश को मनवाना चाहता है, वहां प्रचारक जनता को। यह सभी जानते हैं कि जनता न्यायाधीश जैसी सतर्क और चतुर नही होती। जनता की अज्ञानता के कारण प्रचारक के हाथ में एक भयानक शक्ति रहती है। यदि वह मानवीय आदर्शों का उल्लंघन करके जनता को धोखा देने लगे तो बहुत अनिष्ट की आशंका हो सकती है। परन्तु किसी प्रचार को दबाकर उसको प्रभावहीन नहीं बनाया जा सकता। उसे रोकने में उस प्रचार के झूठ का भंडाफोड़ और दूसरी नीतियों का प्रचार ही समर्थ हो सकते हैं।

प्रचार का नियन्त्रण. आधुनिक समाज में व्यक्ति तथ्यों से बहुत दूर अपने छोटे-से संसार में रहता है। वह अपने विचारों का निर्माण अधिकतर समाचारपत्रों, रेडियो और सिनेमा से करता है, और अपनी असमर्थता और अज्ञानता के कारण शीघ्र ही उनके सुझावों पर विश्वास कर लेता है।

कुछ नगरों में शक्ति के एकत्रीकरण और उत्पादन के केन्द्रीकरण के कारण

हमारी प्रजातान्त्रिक व्यवस्था आज नाममात्र को ही प्रजातान्त्रिक रह गई है। यदि हमें समाज के सदस्यों की विचारशक्ति को एकदम कुण्ठित कर देने में समर्थ केन्द्रीय प्रचार के शक्तिशाली साधनों से अपने समाज की रक्षा करनी है, तो हमें प्रचार के साधनों पर सार्वजनिक नियंत्रण करना होगा, उसके दुरुपयोग को रोकने के लिए विशिष्ट संस्थाओं का निर्माण करना होगा और उसके रचनात्मक उपयोग के लिए आवश्यक प्रयत्न करना होगा। इसके लिए एक सीमा तक राजनैतिक शक्ति और सम्पत्ति के उत्पादन के साधनों का यथासम्भव विकेन्द्रीकरण एक प्रभावशाली उपाय सिद्ध हो सकता है। सार्वजनिक, उच्च, स्वाधीन, शिक्षा भी दूषित प्रचार के प्रभाव को नियन्त्रित करने में परोक्ष रूप से योग दे सकती है। सभी व्यक्तियों और दलों को प्रचार की समान सुविधाएं प्रदान करने से भी प्रचार के अनिष्ट की आशंका कम हो जाती है।

आज हमारे सम्मुख एक जटिल प्रश्न है कि कहीं प्रचार के माध्यम हमारी संस्कृति के विनाश और विघटन का कारण न बन जाये। यह तो एक कठोर सत्य है कि हम चाहते हुए भी प्रचार के साधनों को छोड़ नहीं सकते। ऐसी स्थिति में उनके उचित और कल्याणकारी उपयोग की ओर ध्यान देना ही बुद्धिमत्ता है।

(५) नेतृत्व (Leadership)

प्रभुता और आधीनता (Dominance and Submission). लगभग सभी सामाजिक अन्त:क्रियात्मक अवस्थाओं में कुछ सदस्य शेष सदस्यों के व्यवहारों पर अधिक प्रभाव डालते है, जब कि उन कुछ सदस्यों पर शेष सदस्यों का प्रभाव कम पड़ता है। हमारे समाज में ही नहीं, सभी समाजों में, सभी क्षेत्रों और संस्थाओं में कुछ व्यक्ति अधिक प्रबल और प्रभावशाली होते हैं। सेना, शासक और प्रजा के सम्बन्धों, परिवारों, राजनैतिक दलों, धार्मिक सम्प्रदायों, यहां तक कि, विचार-विनिमय या विनोद के लिए स्थापित समितियों में भी, यह द्विविध व्यवहार दृष्टिगोचर होता है। कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक प्रबल और प्रभावशाली होते है और बाकी लोग उनके प्रति विनम्र होते हैं। इन व्यवहारों को ही प्रभुता और आधीनता कहा गया है।

शैशव अभ्यास और व्यक्तिगत सामाजिक प्रभाव. प्रभुता और आधीनता के यह व्यवहार केवल वयस्कों में ही नहीं दिखाई देते, बल्कि शिशुओं में भी यह विद्यमान है। एडलर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि 'बड़े बच्चे छोटे बच्चों पर शासन करते हैं'। परन्तु एडलर के इस सिद्धान्त को गुडेनाऊ और लीही ने ३०० किंडरगार्टन में पले बच्चों का अध्ययन करके भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध कर दिया है। बच्चों और वयस्कों में यह अन्तर आयु के कारण नहीं होते। उनका आधार शैशव

में मां और शिशु का परस्पर व्यवहार होता है। बच्चे को अधिक स्नेहपूर्ण वातावरण मिलता है या निःस्नेह, उसकी पुकार पर मां शीघ्र उसकी ओर ध्यान देती है या नहीं, इन बातों का उसके व्यक्तित्व के निर्धारण में पर्याप्त हाथ होता है। साथी बच्चों की अपेक्षा वह दुर्बल है या सबल, स्वस्थ है या अस्वस्थ, बड़ा है या छोटा—यह तत्त्व भी उसके व्यवहार को प्रभावित करते हैं। असमर्थ और दुर्बल बच्चे समर्थ और सबल बच्चों को देखकर दूर हट जाते है, और इस व्यवहार के कारण: दोनों ओर अभ्यास के प्रभाव से प्रभुता और आधीनता उनके स्वभावों का अंग बन जाती है।

प्रभुता और नेतृत्व. परन्तु सभी प्रकार की प्रभुता नेतृत्व नहीं कहलाती। एक व्यक्ति को तभी एक समूह का नेता कहा जा सकता है, जबकि वह समूह जिसका वह नेता है, एक समान-हित पर आधारित हो और उस व्यक्ति द्वारा निर्धारित रूप में व्यवहार करता हो। अनुयायियों द्वारा नेता की आज्ञा का पालन किसी दबाव या परम्परा के कारण नहीं होता। पुरोहित, राजा और सेनापति सही अर्थों में नेता नहीं कहला सकते; न ही सामन्त या पूंजीपति जो एक श्रेणीबद्ध समाज में अपने धन या प्रभुता के कारण सम्मानित होते है, नेता हैं। जब एक समूह किसी एक व्यक्ति का अनुकरण किसी दबाववश, अभ्यासवश या अन्ध-विश्वास के कारण नहीं, वरन् स्वेच्छा से और तर्कयुक्त आधारों पर करता है, तभी उस व्यक्ति को नेता कहा जा सकता है।

सर्वप्रथम डेविड ह्यूम ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया था कि नेता की शक्ति और समह द्वारा उसकी शक्ति के सम्मान को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। समूह अपने कुछ प्रिय हितों या मूल्यों और आदर्शों की प्राप्ति और रक्षा के लिए नेता के प्रति सम्मान प्रकट करता है, क्योंकि उसे यह विश्वास होता है कि उसके नेतृत्व में वह उन हितों या मूल्यों की प्राप्ति या रक्षा कर सकेगा। ऐसे हितों में अधिकतर आर्थिक, धार्मिक या आदर्शवादी हित होते है।

नेता के गुण. नेताओं और सामान्य व्यक्तियों में अन्तर किन्हीं दैवी गुणों के कारण नहीं होता। गौड्विन के कथनानुसार 'प्रबन्धक' और 'उपाधिधारी' प्रकार के नेता अधिक भारी और लम्बे होते है; परन्तु यह आवश्यक नहीं है। स्वार्ड ने विभिन्न कालिज के ११४ विद्यार्थी नेताओं और ११४ सामान्य विद्यार्थियों की बुद्धि-मापक अंकों द्वारा तुलना करके प्रमाणित किया कि नेताओं में से ७० प्रतिशत ने सामान्य विद्यार्थियों के औसत अंकों के बराबर या उनसे अधिक अंक प्राप्त किए, और इस प्रकार, सामान्य विद्यार्थियों से अधिक बुद्धिमत्ता प्रदर्शित की। एक नेता में बुद्धिमत्ता, किसी काम को प्रारम्भ करने की क्षमता, बहिर्मुखता (Extroversion), आत्म-विश्वास, उत्साह और सहानुभूति के गुणों का होना आवश्यक है।

नेता के कार्य. पिगर्स के अनुसार नेतृत्व परस्पर प्रेरणा प्रदान करने की प्रक्रिया है। जो व्यक्ति अधिक गतिशील, कर्मण्य और चतुर होते हैं और जिनमें सहानुभूति होती है, वही जल्दी नेतृत्व संभाल सकते है। नेता ध्येय-प्राप्ति के लिए एक योजना निर्धारित करता है और उस योजना को कार्यान्वित करने की नीति भी नियत करता है। वह न केवल अपने समूह का प्रतिनिधि होता है और समूह के कार्यों को दिशा प्रदान करता है, बल्कि समूह में एकता रखने का उत्तरदायित्व भी उसी पर होता है। अपने कर्मचारियों के चुनाव में उसे पूरी सावधानी से काम लेना होता है और निश्चय करना होता है कि वह किस-किस कार्य को अधिक सुचारु रूप से कर सकेंगे। उनके परस्पर सम्बन्धों पर नियन्त्रण रखना भी उसके लिए आवश्यक है। वह जहां अपने पदाधिकारियों या समूह के दूसरे सदस्यों को नियमोल्लंघन के लिए दण्ड देकर नियन्त्रण और व्यवस्था स्थापित करता है, वहां उत्साहवर्धन के लिए पारितोषिक और पदक इत्यादि भी प्रदान करता है। समूह के आन्तरिक द्वेषों और झगड़ों को सुलझाना, निर्णय करना, सुलह-सफाई कराना, एक नेता का आवश्यक कार्य होता है। वह अपने कार्यों और जीवन को अनुकरणीय बनाकर आदर्श उदाहरण उपस्थित करता है। वह अपने समूह की एकता, अपने आदर्श और समूह की गतिविधि का प्रतीक भी होता है।

नेता की सफलता के साधन. एक नेता की सफलता के लिए उसका अपना व्यक्तित्व बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि वह जनता का विश्वास प्राप्त कर सके। इसके लिए वह योजनाएं और साधन प्रस्तुत करता है। अपने अनुयायियों की भावनाओं को वह कुछ विशेष उद्देश्यों की ओर केन्द्रित कर देता है और उनके क्रोध को एक शत्रु, एक श्रेणी या एक विरोधी आदर्श की ओर उन्मुख कर देता है। उदाहरणार्थ, पूंजीपति, हिन्दू, मुसलमान अथवा साम्य-वाद से घृणा सिखाकर नेता अपने विशिष्ट समूह में सम्मान प्राप्त करता है। प्रतीकों और चिन्हों द्वारा जैसे ध्वज, स्वस्तिक, हलाल, सलीब, चरखा इत्यादि प्रतीकों द्वारा और 'भारत छोड़ो,' 'दिल्ली चलो' इत्यादि नारों द्वारा; लाल कुर्ती, खद्दर या ऐसे ही किसी विशेष पहनावे द्वारा; और क़वायद के नियमों, अभिवादन की प्रणालियों, प्रार्थनाओं और गीतों द्वारा भी समूह में एकता कायम रखना और समूह का विश्वास प्राप्त किए रखना, नेता का कार्य होता है।

नेता और अनुयायियों का एक दूसरे पर प्रभाव. नेता का अपने अनुयायियों पर प्रभाव उसके सम्मान, समूह द्वारा उसकी पूजा और उसके विषय में समूह में प्रचारित किम्वदन्तियों के कारण होता है। यह किम्वदन्तियां उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण फैल जाती हैं या फैलाई जाती हैं। सामान्य जनता पिता के प्रति अपने प्रेम और सम्मान की भावना को नेता में आरोपित कर देती है। इसी

कारण मुस्तफा कमाल को अतातुर्क (तुर्कों का पिता), गांधी जी को राष्ट्र-पिता और सनयातसेन को चीन का पिता कहकर सम्मानित किया जाता है। परन्तु नेताओं पर भी इस शक्ति का प्रभाव पड़ता है। मुसोलिनी ने शक्ति को हस्तगत करने के बाद जनता की इस आराधना से प्रेरित होकर अपने कार्यक्रम को कुछ बदल दिया था।

नेता और सामाजिक परिस्थिति. नेता के उदय और सफलता के लिए परिस्थितियों का अनुसरण करना भी आवश्यक है। कई नेता अपने समय से अधिक प्रगतिशील होने के कारण असफल रहते हैं, परन्तु कितने ही समय और परिस्थिति द्वारा नेतृत्व की मांग होने पर भी नेतृत्व का विकास नहीं कर पाते। जब वास्तव में ही किसी अवस्था में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव हो रही हो, उस समय यदि एक ऐसे उचित नेता का, जो उस आवश्यकता को पूरा कर सकता हो उदय हो जाय, तभी नेतृत्व का विकास हो सकता है।

सामाजिक पुर्नानिर्माण में नेता का महत्व. नेता और नेतृत्व के लक्षणों और प्रभाव का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी समाज में नेता एक महत्वपूर्ण कार्य अदा करते है। यह भी सत्य है कि अनेक बार जनता ने गलती से धूर्त, स्वार्थी और अल्पबुद्धि व्यक्तियों को अपना नेता चुना है और उनकी गलतियों का घातक परिणाम भोगा है। फिर भी हम समाज से नेताओं को तिलांजलि नहीं दे सकते। आज के गतिशील और जटिल समाज में तो नेताओं की आवश्यकता, कार्य और महत्व बहुत ही अधिक बढ़ गया है। सामाजिक पुर्नानिर्माण और आयोजन के लिए श्रेष्ठ, निःस्वार्थ, बुद्धिमान् नेताओं का होना परम आवश्यक है। समाज का यह कर्तव्य है कि वह सामान्य जनता में विद्यमान, पर अविकसित नेतृत्व प्रतिभा के विकास की सुविधा जुटाये और साथ ही जनता में सही और श्रेष्ठ नेताओं को चुनने की उचित शिक्षा और समझ प्रदान करे।

नौवां अध्याय

संस्कृति

CULTURE

संस्कृति का जन्म और विकास

संस्कृति को समझने के लिए पहले यह आवश्यक है कि हम यह जानें कि वह कैसे प्रारम्भ हुई और कैसे उसका विकास हुआ। यह पृथ्वी जिस पर हम रहते हैं कैसे बनी, इसे ठीक-ठीक कोई भी नहीं जानता। प्रारम्भ में इस पर सर्वत्र जड़ पदार्थ थे। एक दीर्घ समय के बाद इस पर जीवों का प्रादुर्भाव हुआ। जीवन ने कीड़े-मकोड़ों, साँपों, चिड़ियों और स्तनधारियों के नाना रूप धारण किये।

सीखने की शुरूआत

इस प्रारम्भ काल में 'सीखने' का कोई स्थान नहीं था। एक पशु अन्य पशु से कुछ भी नहीं सीखता था। जिस भांति एक फूल दूसरे फूल से खिलना नहीं सीखता। एक बेल सूरज की किरणों के प्रभाव से स्वतः ही किसी पेड़ पर चढ़ने लगती है। पशुओं के सरल प्रत्युत्तरों (Reflexes) को जो कि उनके सीखने का परिणाम नहीं होते, सहज (Instinctive) व्यवहार कहते हैं। यह आनुवंशिकता द्वारा नियंत्रित होता है।

चींटियों का उदाहरण. चींटियों के व्यवहार का रूप बड़ा जटिल है और वह श्रम-विभाजन, पद-विभाजन और विभिन्न प्रकार के श्रमकार्यों पर आधारित है, किन्त यह सब व्यवहार चींटियों में जन्मजात हैं। यह व्यवहार तब तक नहीं बदलते जब तक चींटी ही स्वयं न बदल जाय। प्रो० ह्वीलर ने आदिनूतन (Oligocene) युग की ५ से ७ करोड़ वर्ष पहले की बाल्टिक में संरक्षित चींटियों में वही जाति-भेद पाया जो कि उनमें आज पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि ५ करोड़ सालों में चींटियों ने कुछ नहीं सीखा और यह भी कहा जा सकता है कि चींटियों को अधिक सीखने की जरूरत ही क्या थी। उन्होंने अपने सूक्ष्म संगठन को आनुवंशिकता द्वारा, न कि व्यक्तिगत शिक्षा के आनुकूल्य द्वारा, प्राप्त किया था।

पशुओं में सीखना. पशुओं में धीरे-धीरे सीखने की सामर्थ्य का विकास होने लगा। केवल आकस्मिक अनुभव से ही नहीं, किन्तु अपने साथियों के अनुकरण और संवाद-संवहन से कुछ साथ रहने वाले पशु निरन्तर सामूहिक जीवन द्वारा अपने बच्चों को शिकार, सुरक्षा अथवा काम-शास्त्र इत्यादि की शिक्षा देते हैं, जिसे

कि उनके बच्चे अनुकरण द्वारा सीख जाते हैं। उदाहरण के लिए हम सभी, जानते हैं कि बिल्ली किस तरह अपने बच्चे को चूहे मारना सिखाती है। चूहे मारना बिल्ली के बच्चे के लिए सहज व्यवहार नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि कुछ बिल्ली के बच्चों को शुरू से चूहों के साथ रखा गया, पर वे चूहे मारने वाले नहीं निकले।

इसी तरह चिड़ियाँ अपने बच्चों को उड़ना और गाना सिखाती हैं। जब अंग्रेजी अबाबील के कुछ बच्चों को कनारी चिड़ियों के साथ रखा गया तो उनके गाने का स्वर और तान बदल गई। इस तरह हम देखते हैं कि बिल्लियों के चूहे मारने या अबाबील के गाने में केवल आनुवांशिक कारण ही काम नहीं कर रहे हैं, उनमें सीखने का भी बड़ा हाथ है।

सीखना शारीरिक रचना प्रणाली का कार्य. सीखने की सामर्थ्य शारीरिक रचना से प्रत्यक्ष प्रभावित होती है। यही कारण है कि पृष्ठवंशी प्राणी (Vertebrates) जो कि विकसित नाड़ी संस्थान और रीढ़ की हड्डी से युक्त हैं, इस दशा म बहुत उन्नत हैं। बन्दरों और लंगूरों में सीखने की खूब सामर्थ्य है, यद्यपि हाथी, घोड़े और कुत्ते भी सीखने में पर्याप्त कुशलता का परिचय देते हैं। इस तरह हम देखते है कि सीखने का प्रारम्भ हमारे प्राणिक विकास पर अवलम्बित है। किसी प्राणी में जितना हीं सूक्ष्म नाड़ी-संस्थान होगा, उसमें उतनी ही अधिक सीखने की सामर्थ्य होगी।

सीखने का संस्कृति से सम्बन्ध. 'सीखने द्वारा, व्यवहार के संक्रमण द्वारा एक अद्भुत वस्तु का जन्म हुआ जिसे हम अधिजैविक (Super-organic) कहते हैं। इसी अधिजैविक के सरल प्रारम्भ से आज उस विशाल प्रासाद का निर्माण हो सका है, जिसे हम सभ्यता कहते हैं। उदाहरण के लिए, एक चिड़िया के दूसरी चिड़िया को तान के संक्रमण से आज के रेडियो की नींव पड़ी है जिससे करोड़ों आदमियों को एक साथ आवाज पहुंचाई जा सकती है। एक बिल्ली के बच्चे द्वारा अपनी माँ के चूहे पकड़ने की हरकत को देखकर आज के टैलीविजन के विचार का उदय हुआ है। हम यह जान सकते हैं कि सूर्य और चांद कैसे बने, मोटर कैसे बनाई जाती है, सुन्दर गाना कैसे सीखा जा सकता है, सूर्य और चाँद की कितनी दूरी है। यह सब बातें केवल सीखने के संक्रमण से ही संभव हुई है।

संस्कृति की परिभाषा

समाजशास्त्र में संस्कृति शब्द का साधारण बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्न अर्थ है। हम सामान्यतः सुन्दर परिष्कृत रुचिकर अथवा कल्याणकारक व्यक्तिगत या सामाजिक व्यवहार या गुणों को संस्कृति समझते हैं। परन्तु समाजशास्त्र में संस्कृति का ऐसा कोई अर्थ नहीं है। इसमें किसी भी समाज की अच्छी

बुरी सभी चीजों, सभी रीति-रिवाजों, पारिवारिक, आर्थिक, राजनैतिक, संगठनों इत्यादि अन्यान्य कार्य-कलापों का समावेश है। संस्कृति के सम्बन्ध में एक बात और स्मरणीय है कि संस्कृति मानव की ही विशेषता है। प्राणिजगत् के निम्न पशुओं में इसका विकास नहीं हुआ है।

विभिन्न विद्वानों ने संस्कृति की विभिन्न परिभाषाएं दी है। इनमें से टेलर की परिभाषा बहुत प्रसिद्ध है। उसके शब्दों में "संस्कृति एक वह जटिल सम्पूर्ण है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, कानून, तथा मानव जाति के सदस्य की हैसियत से सीखी, किसी भी अन्य सामर्थ्य का समावेश है।"

रेडफील्ड ने संस्कृति को "परम्परागत स्वीकृतियों का एक संगठित स्वरूप, जो कि कला, उपकरणों और परम्परा द्वारा संरक्षित रहते है और जो मानव समूह की विशेषता है," कहा है।

बोगार्डस के शब्दों में "एक समूह की कार्य करने और सोचने की समस्त रीतियां संस्कृति है। यह वह पृष्ठभूमि है जिस पर प्रत्येक बच्चा जन्म लेता है और जो तत्काल उसे एक विशेष प्रकार से कार्य करने और सोचने के लिए नियन्त्रित करने लगती है।"

चार्ल्स एलवुड के अनुसार, 'उन व्यवहारों के लिए जो कि सामाजिक रूप से संक्रमित किये जा सकते हैं, संस्कृति एक सामूहिक नाम है।" सामान्यतः समाजशास्त्री किसी समूह-विशेष की समस्त बौद्धिक, नैतिक, यान्त्रिक और भौतिक प्रगति को संस्कृति में ही सम्मिलित करते हैं। पर प्रो० मैकाइवर और मैक्सवेबर का मत इस सम्बन्ध में कुछ भिन्न है।

मानवशास्त्री के लिए संस्कृति वह सार्वभौम शब्द है जिसमें सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू, नावें और आदमखोरी तक का—समावेश है। स्थापत्यशास्त्री विभिन्न पत्थर के औजारों के लिए इस शब्द का प्रयोग करते है। प्रो० टायनबी ने, बिना किसी राजनैतिक इकाई के भेद के, किसी भी प्रादेशिक क्षेत्र में विद्यमान जीवन रीति को 'सभ्यता' का नाम दिया है।

सभ्यता और संस्कृति में भेद करने वाले, सभ्यता में जीवन के साधनों तथा संस्कृति में कला, धर्म, नैतिक प्रेरणा और ज्ञान का समावेश करते हैं। इससे स्पष्ट है कि मानव कर्मों की एक दिशा में प्रगति, दूसरी दिशा में प्रगति से बहुत भिन्न है।

क्लारेंसकेस ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि संस्कृति मानव जाति का ही एक विशिष्ट गुण है तथा निम्न पशुओं के किसी भी प्रकार के व्यवहार को संस्कृति नाम देना उचित नहीं है। उसके अनुसार पशुओं के पास, चिड़िया के गाने और उसकी उड़ने की योग्यता की भांति, केवल मानसिक गुण हैं पर भौतिक सम्पत्ति नहीं है। मनुष्य द्वारा वस्तुएं तैयार की जाती है, जो कि मनुष्य से पृथक् होती

हैं। संस्कृति की बुनियाद औजारों के आविष्कार और उपयोग में, अर्थात् कृत्रिम भौतिक साधनों में है।

टेलर की परिभाषा के अनुसार संस्कृति, भौतिक संस्कृति के अतिरिक्त भी, कुछ चीजें हैं। यद्यपि मनुष्य के सम्बन्ध में संस्कृति के भौतिक पहलू पर जोर दिया जाता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि निम्न पशुओं में इसका कोई स्थान ही नहीं है। कोहलर ने बताया कि किस भांति पिंजड़े के बाहर लटके केले को लेने के लिए बन्दर ने एक लकड़ी में दूसरी लकड़ी जोड़ कर उसे लेने का प्रयत्न किया। क्या यह दो लकड़ियों का मिलाना आविष्कार नहीं है ?

भाषा का महत्व

भाषा का बोलना और समझना एक प्रमुख तत्व है, जिसने निम्न पशुओं की तुलना में मनुष्य की संस्कृति को इतना उन्नत बनाया है। भाषा जिसके द्वारा विचारों को 'जैसे आग लग गई और सब भस्म हो गये,' को, प्रकट किया जा सके, पशुओं की कुछ चीखों की तुलना में एक महत्वपूर्ण घटना है। एक विकसित भाषा नाना वस्तुओं के सम्बन्ध में नाना प्रकार के विचारों को प्रकट करने की सामर्थ्य प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त, भाषा में ज्ञान को पीढ़ियों तक सुरक्षित रखने की शक्ति है। हिन्दी भाषा में कई लाख शब्द हैं। प्रागक्षर (Pre-literate) संस्कृतियों की भाषा की शब्दावलि केवल कुछ हजारों तक पहुंचती है। सरल-से सरल भाषाओं का भी व्याकरण होता है और उनमें से कई तो हमारी भाषा से भी जटिल हैं। उदाहरण के लिए, ऐस्किमो भाषा में एक ही संज्ञा सैंकड़ों रूपों में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त की जा सकती है।

बन्दरों में यद्यपि भाषा जैसी कोई चीज नजर नहीं आती, फिर भी उनके इशारों हाव-भावों व चीख-पुकारों में, एक प्रतीकात्मक अनुभव का आभास मिलता है। लरनेड ने वानरों में अन्य पशु और व्यक्तियों से सम्बद्ध संवहन के भोजन, पानी आदि बत्तीस तत्व पाये। चूंकि एक वानर बच्चा सिखाये जाने पर भी भाषा नही सीख पाता, इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि भाषा सीखने की सामर्थ्य प्राणिक विकास पर निर्भर है। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि मनुष्य में हठात् और अकस्मात ही भाषा का विकास हो गया। भाषा वास्तव में कोई एक आकस्मिक करिश्मा न था। इसके विकसित होने में उसी प्रकार बहुत समय लगा होगा, जैसे कि एक गौरिल्ला के ६०० घन सेण्टीमीटर मस्तिष्क को, मनुष्य क मस्तिष्क के बराबर, १,५०० घन सेण्टीमीटर का बनने में लगा है।

यह तथ्य कि निम्न पशुओं में भाषा नहीं है, मनुष्य और पशुओं की अधि-जैविक (Super-organic) संस्कृति के अन्तर को स्पष्ट करता है। यह अन्तर इतना अधिक है कि मनुष्य की तुलना में पशुओं की संस्कृति अति तुच्छ और नगण्य

जीतती है। अतः यह कहना भूल नहीं कि मनुष्य के साथ ही संस्कृति का प्रारम्भ है।

संस्कृतियों की तुलना

अर्थव्यवस्था के जन्म और विकास का अध्ययन हमें संस्कृतियों की तुलना करने में बहुत सावधान कर देगा। उदाहरण के लिए, क्या एस्किमो की संस्कृति एक सरल संस्कृति है? बीसवीं सदी के संयुक्त राज्य अमरीका की संस्कृति की तुलना में वह असाधारण रूप से अविकसित है। ऐस्किमो संस्कृति उन मानवसम प्राणियों की संस्कृति की तुलना में कहीं अधिक उन्नत है जो कि ५-१० लाख साल पहले एक भोंड़ी भाषा का निर्माण कर रहे थे। इन प्राणियों से हिमयुग तक का फासला हिमयुग से बीसवी शताब्दी के फासले से कई गुणा अधिक था। पहला फासला लाखों सालों का था जब कि दूसरा केवल २५ हजार साल का है।

प्रारम्भिक मानव-संस्कृतियां

मूस्तरियन संस्कृति. प्राचीनतम मानव संस्कृति जिसके कि अवशेष हमें प्राप्त हैं, मस्तूरियन संस्कृति है, जिसमें नीनडरथल मानव का निवास था।

इस नीनडरथल मानव की संस्कृति के सम्बन्ध में, जो कि पुरा-पाषाणयुग (Paleolithic Period) में विकसित हुई, कुछ जानना बहुत जरूरी है। किन्तु इस सम्बन्ध में कठिनाई यह है कि कोई भी रिवाज इतने अधिक समय तक शेष नही रह सकते। २५०० हजार साल तक सीली जमीन पर भौतिक संस्कृति के चिन्हों का बाकी रहना भी बहुत कठिन है। मूस्तरियन संस्कृति के जो अवशेष मिले हैं वे दो प्रकार के हैं: बादाम की शक्ल के पत्थर के पत्तर जो कि बीच की घुंडी को तोड़कर बनाये गये हैं, इस घुंडी को ऐसी शक्ल दी गई है, जैसी कि दो हथेलियों को मिलाकर बनती है, इस औजार को कू-दे-पों कहते है। कू-दे-पों मूस्तरियन काल से पहले की संस्कृतियों में भी पाया जाता है। पत्थरों के पत्तरों का उपयोग मूस्तरियन संस्कृति में पर्याप्त विकसित था, क्योंकि हमें एक तरफ से तेज किये हुए पत्तर भी मिलते हैं। औद्योगिक कामों के लिए पत्थर छीलने, रंदने, छेदने, आदि के लिए, विभिन्न औजार तथा चाकू की तरह के विभिन्न प्रकार के फलक, मुड़े हुए फलक, आरी की तरह कटे फलक, दोहरे फलक, चोंच की शक्ल के फलक तथा कई धार वाले फलक पाये जाते हैं। वहां पत्थर के घन और हथौड़े थे। युद्ध और शिकार के लिए इनके पास पत्थर के भाले, फेंकने के पत्थर और चाकू थे। उस समय के कुछ हड्डी के औजार भी प्राप्त हैं, उनमें एक हड्डी की निहानी भी है। आग का ज्ञान मनुष्य को मूस्तरियन संस्कृति से पहले प्राप्त था।

नीनडरथल मानव की खोपड़ी के माप से, जो कि आज के मानव के बराबर ही है, हम यह अनुमान लगाते हैं कि उसकी कोई भाषा भी रही होगी। किन्तु उसने क्या परम्परा छोड़ी या उसकी विश्व के सम्बन्ध में क्या कल्पना थी, इस

सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते। किन्तु जिस भांति कब्रों में उसके कंकाल पड़े मिले हैं, उससे ज्ञात होता है कि नीनडरथल मनुष्य का कोई धर्म भी था और वह परिवारों में रहता था। इसका अनुमान हम उसकी लाश के साथ दाबी हुई वस्तुओं से लगाते हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि शायद वह पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे और अंत्येष्टि का यह काम उनके परिजन करते थे। वह एकपत्नी-व्रती थे अथवा बहुपत्नीव्रती, उनके यहां स्त्रियों की क्या स्थिति थी, क्या अनुशासन था, इस सम्बंध में हमारे पास कुछ जानने का साधन नहीं है। शायद उनके यहां स्त्री-पुरुषों में श्रम विभाजन था। वह शायद गुफाओं में रहते थे। उनके कपड़ों के कोई अवशेष नहीं मिलते। पर वह जलवायु, जिसमें वह रहते थे, आज के ग्रीनलैण्ड जैसी रही होगी। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वह कपड़े भी पहनते होंगे। सारी ही आदिम संस्कृतियों में, जिनके अवशेष आज प्राप्त हैं, हमें किसी न किसी प्रकार के ग्राम या बिरादरी संगठन, संगीन, वाद्य, चित्रकला के दर्शन होते हैं। परन्तु मूस्त-रियन संस्कृति में यह सब कुछ थे या नहीं, या कैसे थे, इस बारे में हम कुछ नहीं जानते।

नीनडरथल मानव के बाद सामाजिक विरासत में तेजी से वृद्धि हुई और क्रोमैग्न्यौन मानव की मैडलिनियन संस्कृति, जो कि आज से लगभग १०-१५ हज़ार साल पहले विकसित हुई, उस स्तर तक पहुंच गई जहां कि आजकल के ऐस्किमो हैं। अतः आज से १०-१५ हजार साल पहली मानव संस्कृति का परिचय प्राप्त करने के लिए ऐस्किमो संस्कृति का अध्ययन उपयोगी होगा।

ऐस्किमो संस्कृति

हम यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि हिम-युग के क्रोमैग्न्यौन मानव की सभ्यता ऐस्किमो के ही समान थी, पर हम इतना अवश्य जानते हैं कि दोनों की भौतिक संस्कृतियां, जलवायु और भौगोलिक वातावरण बहुत कुछ समान है। यह बहुत संभव है कि क्रोमैग्न्यौन मानव की संस्कृति ऐस्किमो संस्कृति से बहुत कुछ मिलती-जुलती हो। चाहे कुछ भी हो, उस समय के अवशिष्ट पत्थर और हड्डी के औजारों के आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि वह बहुत उन्नत और जटिल थी।

सुविधा के लिए ऐस्किमो संस्कृति का भौतिक (Material) और अभौतिक (Non-material) दो भागों में अध्ययन करना बेहतर होगा।

भौतिक संस्कृति

निवास. ऐस्किमो बर्फ के घरों में रहते हैं, जिन्हें कि एक कुशल ऐस्किमो कुछ ही घंटों में तैयार कर सकता है। घरों की शक्ल आधी गेंद की तरह होती है। यह बर्फ का घर एक दिये से ही इतना गर्म हो जाता है कि इसके अन्दर ऐस्किमो

कमर तक नंगे रहते हैं, फिर भी बर्फ नहीं पिघलती। बर्फ की छत से खालों को लटकाकर वह हवा से सुरक्षा प्राप्त करते हैं, क्योंकि खाल और बर्फ की दीवार के बीच पर्याप्त हवा रह जाती है।

यातायात. यातायात के लिए जब बर्फ सख्त होता है, ऐस्किमो स्लेड का प्रयोग करते हैं। यदि कोई बहती लकड़ी या हड्डी नहीं मिलती, तो वह जमी हुई साल्मन मछली और वालरस की खाल से स्लेड बना लेते हैं। एक छोर से दूसरे छोर तक साल्मन बिछा दी जाती है और उसे एक खाल में लपेटकर जमने छोड़ दिया जाता है, और बाद में उसे स्लेड से बांध दिया जाता है। रगड़ को कम करने के लिए कुछ पानी छिड़क दिया जाता है, जो जम जाता है, और इस तरह चमड़े को घिसने से बचाता है। सधे हुए रेंडियरों की सहायता से एक ऐस्किमो अपनी स्लेड द्वारा बर्फ पर एक घोड़ा-गाड़ी से अधिक तेजी से यात्रा कर सकता है।

जल-यातायात के लिए ऐस्किमो के पास एक हल्की खाल की नाव होती है जिसमें पीपे के ढक्कन के बराबर एक छेद होता है। जब ऐस्किमो अपने खाल के कोट को उसके हुक जैसे छेद में बांध उसमें बैठता है, तो लहरों के थपेड़ों अथवा वालरस की चोट से उलट-पलट जाने के बावजूद भी, उसमें पानी नहीं भरता और न ही बैठने वाला गिरता है।

विस्तृत प्रदेश में बिखरे हुए ऐस्किमो के लिए यात्रा के यह साधन बहुत ही उपयुक्त हैं। इनकी जनसंख्या बहुत कम है, संसार के समस्त ऐस्किमो एक शहर में बसाये जा सकते है। एस्किमो बड़ा घुमक्कड़ जीव है। उसे भोजन-प्राप्ति के लिए बहुत भटकना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, उसे घूमने का भी बेहद शौक है।

विशेषज्ञों की राय में ऐस्किमो के पास सर्वोत्तम और निर्दोष जूते हैं, जिनमें हर उंगली के लिए अलग-अलग जगह होती है और पैर बड़े आराम में रहता है।

इसके अतिरिक्त, शिकार में ऐस्किमो अपने चातुर्य का विशेष परिचय देता है। उसके शत्रु भेड़िये को पकड़ना आसान नहीं है। उसको मारने का एक तरीका ह्वेल मछली की हड्डी को मोड़ उस पर चरबी लपेटकर उसे जमा देना है। भेड़िया उसे एक सटाके में निगल जाता है। पेट में जाने पर चरबी पिघल जाती है और हड्डी से उसका पेट फट जाता है। या एक चाकू पर खून लगाकर रख दिया जाता है। भेड़िया खून देखकर आकर्षित होता है और चाकू को चाट अपनी जीभ काट लेता है और जैसे ही चाकू पर अधिकाधिक खून आने लगता है वह उसे और ज्यादा चाटता है और अन्ततोगत्वा कमजोरी से गिरकर मर जाता है। ऐस्किमो का जख्मी जलचर का पीछा करने का तरीका भी बहुत कुशलतापूर्ण है। हारपून

हथियार के बाहर कुछ फूले ब्लैडर बंधे रहते और बाहर तैरते रहते हैं, ऐसी स्थिति में जब वालरस या अन्य जलचर दौड़ने का प्रयास करता है, उसकी गति कम हो जाती है और वह जल्दी ही थककर गिर जाता है।

उपर्युक्त आविष्कार हिम युग के हैं, जिसमें कि मानव को केवल पत्थर और हड्डी के ही औजार प्राप्त है, परन्तु इनमें तथा इनके प्रयोग में भी उसकी कुशलता का पर्याप्त प्ररिचय मिलता है।

अभौतिक संस्कृति

धर्म. ऐस्किमो का धर्म भी है, यद्यपि हम नहीं जानते कि क्रोमैग्न्यौन मानव का भी कोई धर्म था कि नहीं। ऐस्किमो की देवी सेडना है जो समुद्र की सतह पर अपने पिता के साथ रहती है। सेडना समस्त समुद्री जीव जन्तुओं, जो कि खाद्य-सामग्री के प्रमुख साधन है, तथा ऋतुओं पर नियंत्रण करती है। ऐस्किमो के धार्मिक नेता या पुरोहित अंगकूट कहलाते हैं। वह बहुत शक्तिशाली समझे जाते है, क्योंकि वह सेडना से खाद्य-सामग्री और तूफान जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर परामर्श करते हैं। वह अलौकिक शक्ति द्वारा इनुआ नामक शक्ति से विभूषित होते है। इस तरह अंगकूट रोगियों तथा आहतों को ठीक करने अथवा अकाल को समाप्त करने के चमत्कार सम्पन्न कर सकते हैं। ऐस्किमो शिकारी का अपना विश्व-विज्ञान और अपने धार्मिक नेता है। इस प्रकार के धर्म का विकास एक उच्च श्रेणी के बौद्धिक स्तर को सूचित करता है।. उनके यहां धार्मिक पूजा के लिए बर्फ के बने विशेष पूजा-स्थान भी हैं। इनमें विधिअनुसार जाड़े की लम्बी रातों में नाच-गान होता है।

उनके विभिन्न प्रकार के धार्मिक नियम हैं। ऐसा माना जाता है कि सील मछली का जन्म सेडना की उंगलियों से हुआ, अतः प्रत्येक मारी गई मछली के लिए प्रायश्चित करना आवश्यक है। सील काटते समय सब काम बन्द कर देना अनिवार्य है। वालरस मारने के बाद तीन दिन आराम करने का विधान है। इसी तरह, विशेष कालों में स्त्रियों के लिए विशिष्ट विधान हैं। वह कच्चा मांस नहीं खा सकतीं; उन्हें विशेष प्रकार के बर्तनों में भोजन रांधना होता है; वह उत्सवों में भाग नहीं ले सकतीं। इन टैबुओं—वर्जित बातों का उल्लंघन करने का परिणाम अपराधी पर उस काली वस्तु का आक्रमण होता है, जो शिकार के जानवर को दिखाई देती है और जिसे देखकर वह भाग जाते हैं, और इस तरह भोजन की पूर्ति के लिए संकट खड़ा हो जाता है। अकाल के निवारण के लिए सार्वजनिक प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इस तरह उनकी संस्कृति में दंड के भी सूक्ष्म विधि-विधान है।

नैतिकता. इसी तरह ऐस्किमो में नैतिकता के विभिन्न नियम हैं, यद्यपि

यह हमारे नियमों से बहुत भिन्न है। यात्री के आतिथ्य में भोजन और आश्रय के अतिरिक्त, कभी-कभी सोने के साथी का भी समावेश होता है। पर इसके लिए पति-पत्नी दोनों की सहमति आवश्यक है। ऐसे आतिथ्य की अस्वीकृति मेज़बान और स्त्री के लिए बड़ी अपमान की बात समझी जाती है। पुरुष परिवार का मुखिया माना जाता है और बिना उसकी अनुमति के किसी प्रकार की कामुक उच्छृंखलता बहुत दण्डनीय है। अतः काम-सम्बन्ध में उनके व्यवहार को किसी भी तरह कामाचार नहीं कह सकते। बूढ़ा ऐस्किमो, जो कि शिकार करने के योग्य नहीं रहता, या तो वह समूह को छोड़ स्वयं अकेला चला जाता है, या समूह को अपने को छोड़कर जाने के लिए कह देता है, या समूह द्वारा भोजन बचाने की चिन्ता में स्वयं मरने को छोड़ दिया जाता है।

युद्ध. ऐस्किमो शायद ही कभी लड़ते हैं, यद्यपि अन्य आदिम जातियों की भांति खानदानी या स्थानीय वर्गों के झगड़े उनमें भी पाये जाते हैं। युद्ध के बजाय ऐस्किमो व्यंग और कटाक्ष द्वारा अपने झगड़ों का निपटारा करते हैं। लोगों के सामने एक भंडवा या हास्य-गान प्रतियोगिता के रूप में झगड़े का संचालन होता है। प्रत्येक दल गाने की कड़ी जोड़कर जवाब देता है और कुछ ही समय में श्रोता-गण इस परिणाम पर पहुंच जाते हैं कि युक्ति और हाजिरजवाबी में कौन विजयी रहा।

स्वास्थ्य. ऐस्किमो लोगों का स्वास्थ्य अच्छा होता है। यद्यपि वह बहुत गंदे रहते हैं, जिसके लिए उनका वातावरण बहुत कुछ उत्तरदायी है। उनमें बीमारी विरल है। अन्वेषकों का मत है कि ऐस्किमो बहुत प्रसन्न रहते हैं। वे चिड़चिड़े और तुनुकमिजाज नहीं होते।

सामाजिक संगठन. ऐस्किमो सामाजिक संगठम परिवार और ग्राम-समुदाय पर आधारित है। परिवार के पुरुष भोजन जुटाते और घर बनाते हैं, स्त्रियां भोजन पकाती और कपड़े बनाती है। एक वर्ग के परिवार भोजन और वस्तुओ का सम्मिलित उपभोग करते हैं। चूंकि ग्राम बहुत छोटे-छोटे होते हैं, अतः उसके सदस्यों में बहुत निकटता और घनिष्ठता होती है। विभिन्न परिवारों के पुरुषों से मिलकर शिकारी दल का निर्माण होता है। ऐस्किमो में बहुत कम संगठित सरकार है। शक्ति दो प्रकार के नेताओं—अंगकूट और सर्वोत्तम शिकारियों में निहित है। नेतृत्व आनुवंशिक और निश्चित रूप से संगठित नहीं है। तब भी यह क्षमतावान् को प्राप्त होता है। ऐस्किमो के एक बड़े आदमी में आविष्कर्त्ता, उद्योगी नेता आदि के अनेक गुणों का सम्मिलन होता है।

कला. क्रोमैग्न्यौन लोग अद्भुत कलाकार थे। उनकी कला की तुलना आज की कला से की जा सकती है। ऐस्किमो-कला अधिक उन्नत नहीं है, फिर भी

उनका हाथी दांत और कपड़े का काम दर्शनीय है। उनके फ़र आधुनिक औरतों के फ़रों से अधिक सुन्दर होते हैं। एक ही हाथीदांत के टुकड़े को बिना काटे उसमें सुन्दर डिजाइन एवं चित्र तराशकर हार तैयार कर देना उनकी विशेषता है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से हमें एस्किमो संस्कृति की एक झलक मिल जाती है। यद्यपि उनकी संस्कृति इससे कहीं अधिक जटिल और सूक्ष्म है। परवर्त्ती हिमयुग का क्रोमैग्न्यौन मानव प्राणिक दृष्टि से आधुनिक मानव की भांति अति विकसित था और उसमें सस्कृति के सभी तत्व विद्यमान थे।

सभ्यता का उद्गम

यदि हम भौतिक अवशेषों से अनुमान करें, तो हमें ज्ञात होगा कि हिमयुग की तुलना में, इतिहास के शुरू में संस्कृति बहुत तेजी से आगे बढ़ रही थी। पुराने पाषाणयुग की तुलना में दजला-फरात और सिन्धु नदी के कांठे के लोग अति विकसित संस्कृति का निर्माण कर चुके थे। इतिहास के शुरू में लम्बे प्रयत्नों के बाद लिपि पूर्णता को प्राप्त कर सकी। मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा तथा अमरीका की माया संस्कृति में इसने चित्रलिपि का रूप धारण किया। संस्कृति के विकास में लिपि का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। चूंकि संस्कृति का आधार संक्रमण है, अतः इसमें लिपि का उतना ही महत्त्व है जितना कि बोली या भाषा का।

इतिहास और सभ्यता लिपि के साथ प्रारम्भ होती है। ऑगबर्न और निम-कौफ के शब्दों में सभ्यता को अधिजैविक का परवर्त्ती चरण कहा जा सकता है। वास्तव में सभ्यता शब्द सामाजिक संगठन के एक स्वरूप को सूचित करता है। सभ्यता से पहले पश्चिमी एशिया और यूरोप में समाज समरक्तता और बिरादरी के आधार पर संगठित था। ग्रामों और समुदायों के विकास के साथ समरक्तता सामाजिक संगठन में पीछे धकेल दी गई और केवल परिवार तक सीमित रह गई, जैसा कि आजकल हमारे यहां पर है। समूह नागरिक आधार पर संगठित किये जाने लगे और सभ्यता का सूत्रपात हुआ। भूमध्यसागरीय प्रदेश में नागरिक समाज अतिविकास को प्राप्त हुए। उन्होंने लिपि को सुधारा और भौतिक उन्नति की। इस तरह लिपि और धातुओं के आगमन से प्रायः सभ्यता का प्रारम्भ समझा जाता है। पर जैसे-जैसे प्रागैतिहासिक संस्कृतियों की जटिलता और सूक्ष्मता सामने आ रही है, वैसे-वैसे सभ्यता और आदिम समाज का अन्तर काफी अस्पष्ट होता जा रहा है।

लिखित इतिहास के काल में धातुओं का पर्याप्त विकास हुआ है। १९ वीं शती में पक्के लोहे का निर्माण तथा २० वीं शती में मिश्रित धातुओं का प्रयोग इसमें विशेष महत्त्व रखता है। शक्ति से चलनेवाली मशीनों ने उसे एक नई दिशा दी। आदिम सभ्यता के पास ढोने के पशु, लीवर और पाल थे। सभ्यता के प्रारम्भ में हवाई

चक्की का आगमन हुआ। किन्तु इन सबसे महत्वपूर्ण भाप के ऐंजिन का आविष्कार था। बाद में इन्टरनल कम्बशन, पेट्रोल ऐंजिन और बिजली की मोटर आई।

भौतिक और अभौतिक संस्कृति

अभौतिक संस्कृति (उदाहरण के लिए धर्म और रीति-रिवाजों) की तुलना में भौतिक संस्कृति (उदाहरण के लिए औजार और इमारतों) में सांस्कृतिक विकास की संचयात्मक प्रवृत्ति विशेष रूप से व्यक्त होती है। पुरानी परिभाषाएं संस्कृति में भौतिक वस्तुओं का समावेश नहीं करती थीं। उनके अनुसार संस्कृति उपकरणों का समूह न होकर सीधा व्यवहार था। इस परिभाषा के अन्तर्गत भौतिक वस्तुओं के निर्माण में मानसिक अथवा अभौतिक तथ्यों का कोई स्थान नहीं था। फिर भी, भौतिक संस्कृति शब्द का प्रयोग चल पड़ा है। इसमें उन भौतिक वस्तुओं का समावेश है जो हमारी सामाजिक विरासत का अभिन्न अंग बन चुकी हैं। वास्तव में प्रकृति के अतिरिक्त, नूतन मानव निर्मित वस्तुएं भी हमारे वातावरण में जुड़ जाती हैं। उदाहरण के लिए, घर हमारी वर्षा, हवा, सर्दी और गर्मी से सुरक्षा करते है। इस तरह भौतिक संस्कृति एक नया वातावरण बन जाती है। अधिजैविक (Super-organic) के विभिन्न अंग, परिवार, शिक्षा, मनोरंजन—उसके अनुकूल अपने को ढालने का प्रयत्न करते हैं। अभौतिक संस्कृति बहुत कुछ अपने को नये औजारों आविष्कारों और यन्त्रों के अनुकूल बनाने का ही परिणाम होती है।

सामाजिक संगठन. विशेष उद्देश्य के विश्लेषण के लिए भौतिक और अभौतिक संस्कृति में विभेद करना आवश्यक है। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह एक बड़ी सांस्कृतिक इकाई, सामाजिक संगठन का अंग है। उदाहरण के लिए, घर, भोजन, फर्नीचर, बर्तन पारिवारिक संस्था की भौतिक संस्कृति के अंग हैं, जब कि विवाह, एकपत्नीत्व अथवा पितृसत्ता उसकी अभौतिक संस्कृति के प्रतिनिधि हैं। भौतिक और अभौतिक संस्कृतियां बुनियादी मानवीय क्रियाओं के चारों ओर विकसित होती हैं और इस तरह सामाजिक संस्थाओं का विकास होता है। यौन-सम्बन्ध, क्रिया, स्तुति, क्रीड़ा मनुष्य के मुख्य कार्य हैं। इन्हीं पर परिवार, आर्थिक, धार्मिक और मनोरंजन संस्थाओं की बुनियाद खड़ी हुई है। पुस्तक के अगले अध्यायों में इन सबका विस्तार से वर्णन है। सामाजिक संस्थाएं संस्कृति का मूल तत्व और सार हैं।

सार्वभौम संस्कृति प्रतिमान (Universal Culture Pattern)

आज लगभग ५०० प्रागक्षर (Pre-literate) संस्कृतियां विद्यमान है। विभिन्न संस्कृति के अंगों के सम्बन्ध में एक बात विचारणीय है कि क्या समस्त आदिवासी संस्कृतियों में यह सब अंग उपलब्ध हैं। क्लार्क बिजलर, जिन्होंने इस विषय का गंभीर अध्ययन किया है, उनके अनुसार निम्न अंश सभी प्रागक्षर संस्कृतियों में

पाये जाते हैं : (१) बोली ; (२) भौतिक गुण, उनसे सम्बद्ध वस्तुएं और कुशलता ; (३) कला ; (४) पुराण और विज्ञान ; (५) धार्मिक कृत्य ; (६) परिवार और सामाजिक प्रणाली ; (७) सम्पत्ति ; (८) सरकार ; और (९) युद्ध । उपर्युक्त नौ विभाजन संस्कृति के अल्पतम विभाग हैं, जिन्हें विजलर ने संस्कृति के 'सार्वभौम प्रतिमान' कहा है । किन्तु यह सब बातें तभी पूरी हो सकती हैं, जब कि उपर्युक्त विभागों का हमारा अर्थ पर्याप्त विस्तृत हो । क्योंकि जैसा कि हम देखेंगे, उदाहरण के लिए, प्रागक्षर संस्कृतियों में, हमें सरकार का प्रारम्भ ही दिखाई देता है ।

संस्कृति के विभिन्न अंगों का अन्तःसम्बंध (Inter-relationship)

संस्कृति के विभिन्न अंग एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और वह पृथक् कार्य नहीं करते । उदाहरण के लिए, परिवार, शिक्षा संस्था से सम्बद्ध है । प्रागक्षर संस्कृतियों में धर्म और चिकित्सा एक दूसरे से गुंथी हुई है । संस्कृति के विभिन्न अंग अत्यधिक अनुपात में एक दूसरे से सम्बद्ध हैं । कला धर्म के पर्याप्त निकट है । सरकार और उद्योग एक दूसरे से घनिष्ठतया जुड़े हुए हैं । जैसे कि पुराने समय में, परिवार उत्पादन के साथ था वैसे आज आचार और धर्म साथ-साथ है । इस तरह हम देखते हैं कि संस्कृति एक शरीर या मशीन की भांति है जिसके समस्त अंग या पुर्जे एक दूसरे से सम्बन्धित हैं ।

संस्कृति संकुल (Culture Complex)

संस्कृति का प्रत्येक उप-भाग कुछ चीजों से मिलकर बना होता है । जब यह अन्तःसम्बन्ध किसी प्रबल सांस्कृतिक गुण के चारों ओर केन्द्रित होते है, उन्हें संकुल या सम्मिश्रण कहते है । इस तरह खाने-पीने सोने, मिलने, उठने-बैठने आने-जाने, खेती करने, व्यापार करने, मोटर चलाने आदि प्रत्येक का एक संकुल है । उदाहरण के लिए रसोई, पकाने वाला, थाली, कटोरी, गिलास, दाल, सब्जी, रोटी, चावल, आसन, हाथ धोना, उंगलियों से खाना, इत्यादि हमारा भोजन संकुल है । संस्कृति संकुल में संस्कृति के गुणों के परस्पर सम्बन्ध बहुत निकटतया दिखाई देते है, और इससे भी अधिक संस्कृति के विभिन्न अंगों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट होता है ।

संस्कृति प्रतिमान (Culture Pattern)

संस्कृति के विभिन्न अंगों से जो व्यवस्था स्थापित होती है उसे संस्कृति प्रतिमान कहते हैं । प्रत्येक संस्कृति की व्यवस्था में कुछ अन्तर होता है । चीन की संस्कृति अमरीका की संस्कृति से बहुत भिन्न है । उदाहरण के लिए, चीन का पारिवारिक संगठन बहुत बड़ा है, जिसमें प्रायः २० या इससे भी अधिक सदस्य मिलकर रहते है । चीनी परिवार धार्मिक और आर्थिक संगठन से घनिष्ठतया सम्बद्ध है । पूर्वजों की पूजा उसकी मुख्य विशेषता है । चीन में अभी भी

परिवार उत्पादन की प्रमुख इकाई है। अमरीका की भांति वहां बृहत् कारखानों के उत्पादन का विकास नहीं हुआ है, और आज भी चीन एक कृषि प्रधान देश है। इसके अतिरिक्त, चीनी कृषि का आर्थिक संकुल अमरीका से बहुत भिन्न है। चीन में हल-भैंस, कुदाल, और हाथ से खेती होती है, जब कि अमरीका में ट्रैक्टर, थ्रैशर और मोअर का बोलबाला है। इस तरह हम कह सकते हैं कि चीनी संस्कृति अमरीकन संस्कृति से भिन्न है।

संस्कृति-वैशिष्ट्य (Ethos). अनेक संस्कृतिशास्त्रियों ने विभिन्न संस्कृतियों की प्रमुख विशेषताओं को बताने का प्रयत्न किया है। इन प्रयत्नों की बड़ी कमी सदैव परिवर्तनशील और विभिन्न-तत्त्वीय जटिल संस्कृति को अति सरल शब्दों में रखने का प्रयास है। हम प्रायः सुनते हैं कि जर्मनी की संस्कृति तानाशाही, भारत की आध्यात्मिक, इंग्लैण्ड की प्रजातान्त्रिक, स्पार्टा की सामरिक, एथेन्स की व्यापारिक और पुनर्जागरणकालीन इटली की संस्कृति कलात्मक है।

एक संस्कृति से किसी एक प्रबल विशेषता को चुन लेने कि यह प्रवृत्ति एक व्यक्तिगत प्रतिक्रिया मात्र है। वैज्ञानिक विवेचन के लिए यह आवश्यक है कि समस्त या बहुत से संकुलों को, जो कि एक संस्कृति को एक विशिष्ट व्यक्तित्व या स्वरूप प्रदान करते है, एक साथ प्रस्तुत किया जाय। उदाहरण के लिए, जापान की संस्कृति के लक्षणों को हम पूर्वज-पूजा, राजा की दिव्यता, युद्ध-प्रियता, ज्ञान के प्रति सम्मान तथा विनय और भद्रता में व्यक्त कर सकते है। अमरीका की संस्कृति विशाल मशीनों, धनलिप्सा, भोगवाद, प्रतियोगिता, रहन-सहन का उच्च स्तर तथा प्रजातन्त्र में विश्वास के रूप में प्रकट होती है। सोवियत रूस की संस्कृति मार्क्सवाद, और महान् रूसी जाति की श्रेष्ठता में अटूट विश्वास, सामूहिक कल्याण, मशीनों, प्रत्येक कार्य में कम्युनिस्ट पार्टी की सार्वभौमता और लेनिन की प्रशंसा में व्यक्त होती है। इसमें कोई शक नहीं कि प्रत्येक संस्कृति की कुछ अपनी विशेषताएं होती हैं, पर उन्हें सरल भाषा में व्यक्त करना बहुत कठिन कार्य है।

सांस्कृतिक क्षेत्र (Culture Area)

सांस्कृतिक प्रतिमानों और विशेषताओं के आधार पर विभिन्न प्रदेशों को पृथक् सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है। वास्तव में इस तरह जो सीमाएं बनती हैं, वह वर्तमान राजनैतिक सीमाओं से प्रायः मेल नहीं खातीं। एक देश में कई संस्कृतियों और कई देशों में समान संस्कृति के दर्शन होते हैं। और फिर किसी प्रदेश विशेष में भी संस्कृति का प्रतिमान निरन्तर अल्पाधिक गति से परिवर्तित होता रहता है। अमरीका, रूस आदि देशों में वहां विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों को खोजने के प्रयास हुए हैं। भारतवर्ष में अभी तक इस दिशा में कुछ विशेष कार्य नहीं हुआ है।

उत्तर प्रदेश के सांस्कृतिक क्षेत्र. डा० डी०एन० मजूमदार ने अवश्य उत्तर प्रदेश के सांस्कृतिक क्षेत्रों को परिसीमित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार उत्तर प्रदेश को निम्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में बांटा जा सकता है।

(१) प्रांत का निचला हिमालय प्रदेश जो कि खस, राजपूत ब्राह्मणों की संस्कृति को, जो कि डोमों पर लादी गई है, प्रकट करता है। गढ़वाल इसका केन्द्र बन सकता है।

(२) ऊपर से मिलती-जुलती संस्कृति की एक प्रशाखा कुमाऊं प्रदेश में है।

(३) तीसरा क्षेत्र लगभग तराई के प्रदेश को ढकता है, लखीमपुर-खीरी इसका केन्द्र कहा जा सकता है। इसमें तीन-चार क्रमिक सांस्कृतिक तहों का समावेश है, जो कि बौद्ध धर्म के ताने-बाने में संयुक्त हो गई हैं।

(४) चौथा सांस्कृतिक क्षेत्र मिर्जापुर का आदिवासी इलाका है। इसमें मुख्यतः मुण्डा या द्रविड़ भाषा से सम्बद्ध भाषा-भाषी आदिवासी रहते हैं। यह क्षेत्र एक ओर बिहार और दूसरी ओर मध्य भारत की आदिवासी संस्कृतियों से सम्बद्ध है।

(५) बनारस एक पृथक् सांस्कृतिक क्षेत्र है, जिसमें हिन्दू संस्कृति की विशेषताएं संरक्षित हैं।

(६) पश्चिमी उत्तर प्रदेश को दो सांस्कृतिक क्षेत्रों में बांटा जा सकता है। (क) बुन्देलखण्ड (ख) मथुरा और आगरा। यह सांस्कृतिक क्षेत्र मध्यकाल की अनेक वीरता और भक्ति की परम्पराओं को संरक्षित किये हुए हैं।

(६) लखनऊ, कानपुर और इलाहाबाद को पृथक् संस्कृति क्षेत्रों में नहीं बांटा जा सकता, क्योंकि इन प्रदेशों की जनश्रुति में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

व्यक्ति और संस्कृति

क्या संस्कृति अनुवंशिकता (Heredity) से निर्धारित होती है?

मनुष्य के प्राणिक स्वभाव और संस्कृति में परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। क्या मनुष्य का प्राप्त स्वभाव उसके अधिजैविक (Super-organic) के स्वरूप को निर्धारित नहीं करता? क्या काम-प्रवृत्ति, परिवार, क्रीड़ा-प्रवृत्ति, मनोरंजन और क्षुधा-प्रवृत्ति मनुष्य के आर्थिक संगठन को निश्चित नहीं करती? इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य का प्राप्त स्वभाव अधिजैविक का एक सामान्य मार्ग प्रदर्शन करता है। परन्तु वह उसके ब्यौरे को निश्चित नहीं करता। यह ठीक है कि मनुष्य की काम-प्रवृत्ति या जाति संरक्षण की आवश्यकता, एक परिवार की आवश्यकता को सिद्ध करती है, किन्तु उस परिवार के छोटे-बड़े, एक विवाही, बहु-पत्नीयुक्त, बहुपतियुक्त, तलाक और बेतलाक या रखेलियों के साथ, विभिन्न स्वरूप हो सकते हैं। हम किसी अन्तर्राष्ट्रीय हस्पताल में एक हजार बच्चे देखकर यह नहीं

बता सकते कि वह कैसे परिवारों का निर्माण करेंगे। किन्तु यदि हमें यह मालूम हो कि किन समुदायों में उनका पालन-पोषण होगा तो हम भली भाँति बता सकते हैं कि वह कैसे परिवारों, रीति-रिवाजों, व्यवहारों का पालन करेंगे, और कौन-सी भाषा का प्रयोग करेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य का प्राप्त स्वभाव उसके अधिजैविक की सीमा को निर्धारित करता है और कुछ सामान्य प्रवृत्तियों की ओर संकेत करता है। फिर भी यह प्रश्न रह ही जाता है कि मनुष्य का प्राणिक स्वभाव उसके कितने अधिजैविक ब्यौरे को निश्चित करता है।

इस सम्बन्ध में सार्वभौम संस्कृति-प्रतिमान पर नजर डालना भी जरूरी है। क्या विजलर के प्रतिमान—भाषा, परिवार, युद्ध, औजार आदि, मनुष्य के प्राणिक स्वभाव (Biological-Nature) से निर्धारित होते हैं? हम एक ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के पास मोटरकार हो और वह सब कोट-पतलून पहनना शुरू कर दें और लिखना-पढ़ना जान जायें, तो क्या इससे यह सिद्ध होता है कि यह उनकी प्राणिक प्रकृति का परिणाम है? यही बात युद्ध के सम्बन्ध में, जो कि सार्वभौम संस्कृति प्रतिमान का एक अंग है, लागू होती है। हम यह नहीं कह सकते कि युद्ध मानव की जन्मजात प्रवृत्ति है।

अधिजैविक (Super-organic) जैविक (Organic) के लिए हानिकर हो सकता है. यदि अधिजैविक मनुष्य की प्राप्त प्रवृत्ति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हो, तो संस्कृति और मनुष्य की प्राणिक आवश्यकताओं मे कोई विरोध ही पैदा न हो। पर सदैव ऐसा नही होता। कुछ सांस्कृतिक विशेषताएं निश्चयात्मक रूप से मनुष्य के प्राणिक जीवन के लिए हानिकर होती है। उदाहरण के लिए, चीन में स्त्रियों के पैर छोटे करने के लिए उन्हें लोहे के जूते पहनाने का रिवाज, भारत में बाल विवाह या पर्दा प्रथा अथवा योरोप में बहुत देर से विवाह, प्राणिक दृष्टि से हानिकर हैं। इस तरह संस्कृति में निरोध और नियन्त्रण है। जितनी ही शिक्षा बढ़ती है उतना ही यह बढ़ता जाता है। मनुष्य में अन्य प्राणियों की तुलना मे शिक्षा-अवधि सबसे लम्बी है। इस तरह संस्कृति को उसकी जन्मजात प्रवृत्ति को परिवर्तित करने या मोड़ने का पर्याप्त अवसर मिलता है।

एक शारीरिक क्रिया—क्रोध के लिए विभिन्न रिवाज. हमारी प्राणिक प्रकृति की प्रवृत्तियों को विभिन्न प्रकार से ढाला जा सकता है। एक शारीरिक प्रक्रिया—क्रोध के उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। आसाम के नागा बड़े लड़ाकू लोग हैं; ग्रीनलैण्ड के ऐस्किमो बहुत शान्तिप्रिय हैं। द्वितीय महायुद्ध में अंग्रेज राष्ट्रीयता से प्रेरित होकर लड़े जब कि उनकी ओर से भारतीय सैनिक केवल पेट और पद के लिए लड़े। व्यक्तियों के बीच लड़ाई तैश में हठात् शुरू हो सकती है। अनेक बार यह नियमबद्ध होती है। फ्रांस में व्यक्तिगत लड़ाई, जिन्हें ड्यूएल कहते हैं,

का रिवाज ऐसा ही है। ड्यूएल एक ही वर्ग के लोगों के बीच हो सकता है, उसके लड़ने के निश्चित नियम होते हैं, लड़ने वाले जिनका पालन करते हैं। अमरीका के गुंडों में ऐसा कोई नियम नहीं है। वह शत्रु को किसी बहाने मोटर में बैठा, शहर के बाहर ले जाकर उसे किसी प्रकार के प्रतिकार का अवसर दिये बिना गोली मारकर जमीन में गाड़ देते हैं।

कई जातियों में लड़ना, जहाँ नारी के सम्मान का प्रश्न हो, बड़ा भारी गुण माना जाता है। बहुत से माता-पिता बच्चों को लड़ने की शिक्षा देने में पूरा जोर लगाते हैं। इसके विपरीत, अन्य माता-पिता बच्चों को लड़ाई-झगड़े से दूर रहने का उपदेश देते हैं। भारत में महात्मा गांधी ने निष्क्रिय प्रतिरोध पर बहुत बल दिया। बहुत-से वर्ग आपसी झगड़े निपटाने के लिए अदालत में जाना अपनी हतक समझते हैं और स्वयं ही अपने झगड़े निपटाने में गौरव का बोध करते हैं। उनकी शत्रुता एक समय में समाप्त नहीं होती। बहुत बार तो पीढ़ियों तक चलती है। सामान्यतः स्त्रियों में तथा स्त्री-पुरुषों में आपस में हाथापाई अच्छी नहीं मानी जाती, पर अमरीका के कुछ नीग्रो वर्गों में इसे अनुचित नहीं समझा जाता। वास्तव में स्त्री-पुरुष के बीच क्रोध की शारीरिक प्रक्रिया में कुछ विशेष अन्तर नहीं है।

इस तरह हम देखते है कि लड़ाई से सम्बद्ध सांस्कृतिक व्यवहार में विभिन्न जातियों तथा एक ही जातियों में विभिन्न समयों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। मनुष्य की मूल प्रवृत्ति इस सम्बन्ध में किसी एक प्रकार के व्यवहार को निर्धारित नहीं करती। न ही वह यह बताती है कि कितने-कितने अन्तर बाद या कभी भी लड़ाई होगी या नहीं। स्पष्ट है कि विभिन्न संस्कृतियां इस सम्बन्ध में मनुष्य के व्यवहार को संचालित करती हैं।

जनरीति (Folkways)

व्यवहार जब संगठित होते हैं और दोहराये जाते हैं, उन्हें रिवाज कहते हैं। रिवाज भी दो प्रकार के होते है—शिष्टाचार और नियम। प्रसिद्ध लेखक सुमनर ने इन्हे जनरीति नाम दिया है और तभी से यह नाम प्रचलित हो गया है। सुमनर ने रिवाजों की विभिन्नता और मूल्यों या मान्यताओं (Values) पर बहुत बल दिया है। जनरीति में दोनों का समावेश है।

जनरीति की विभिन्नता. लड़ने के विपरीत, भोजन एक अनिवार्य प्राणिक आवश्यकता है। मनुष्य बिना लड़े रह सकता है, पर बिना खाये नहीं। शायद प्राचीन काल में लड़ना सुरक्षा के लिए अनिवार्य रहा हो। जहां तक भोजन का सम्बन्ध है, शरीर की रक्षा के लिए उचित परिमाण में कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, चिकनाई, चूना, फास्फोरस, अम्ल, खनिज और लोहे की जरूरत पड़ती है। निम्न पशुओं में भूख भोजन का सरल मार्गदर्शक है। वह अपने आप सामान्यतः उचित

संतुलित भोजन की खोज कर लेते हैं। बच्चों पर परीक्षण करने पर भी ऐसा पाया गया कि उनके सामने ३५ खाद्य वस्तुएं रखने पर उन्होंने उनमें से उचित परिमाण में वह विभिन्न वस्तुएं, जो उनकी शारीरिक आवश्यकताओं के लिए ठीक थीं, चुन लीं।

छोटे बच्चों पर यह परीक्षण 'शरीर के प्राकृतिक ज्ञान' की ओर संकेत करता है, जो कि संतुलित भोजन के चुनाव में एक अच्छा मार्गदर्शक है। बावजूद इसके, हम देखते हैं कि विभिन्न प्रदेशों में, लोग उन वस्तुओं को खाना पसन्द करते हैं, जिनमें पोषक तत्वों की कमी है अथवा जिनमें से अनेक हानिकर भी है। चाय, काफी, शराब, पान, सुपारी, तम्बाकू ऐसी ही चीजे है। बहुत-से लोग चोकर सहित पोषक आटे की तुलना में चोकर निकाला आटा, बिना पालिश किये पोषक चावल की तुलना में पालिश किया चावल खाना पसन्द करते हैं। यही बात भोजन संबंधी परहेज के सम्बन्ध में भी लागू होती है। बहुत-से ऐसे लोग बहुत-से खाद्य पदार्थों को अखाद्य मानते है जो पोषक और गुणकारी हैं। अभी हाल तक चीन में गाय के दूध से बने पदार्थ नहीं खाये जाते थे। बहुत-सी जातियां गाय के दूध को मल की तरह मानती है। आदिवासी अपने गण-चिन्ह पशु या पक्षी को नहीं खाते। हिन्दुओं में गाय का मांस खाना पाप और मुसलमानों में सूअर का गोश्त खाना हराम है। यह तो यह, हमारे यहाँ बहुत से लोग टमाटर, शलजम, बैंगन, सोयाबीन और प्याज जैसी उत्तम तरकारियों को भी खाते डरते है। इसके विपरीत, अनेक आदिवासी चीटें, कीड़े-मकोड़े, मेंढ़क, सांप, छछूंदर तक बड़े चाव से खाते है। इस तरह हम देखते हैं कि भोजन सम्बन्धी पसन्द और परहेज बहुत बार सर्वथा अबौद्धिक होते हैं और उनका खाद्य वस्तु के पोषक तत्वों से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

वास्तव में खाने और लड़ने जैसे प्राणिक कार्यों के लिए भी संस्कृति हमारे व्यवहार का नियन्त्रण करती है। इसी प्रकार जन्म, मृत्यु, विवाह, सन्तान, यौन-सम्बन्ध, उत्पादन, व्यापार, पूजा, रहन-सहन, वस्त्र और कला जैसे, अन्यान्य कार्यों का स्वरूप भी संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है। मनुष्य के प्राप्त आनुवंशिक गुणों के आधार पर उसकी संस्कृति का अनुमान नहीं किया जा सकता। मूल प्रवृत्तियां विशिष्ट रिवाजों का आधार नही हैं।

रिवाजों की शक्ति

रिवाजों का एक विशेष लक्षण उनकी बाधित करने की शक्ति है। समुदाय के सदस्य को उनका पालन करना ही होता है। मुसलमानों में किसी शादी में शरीक होने के लिए अचकन पहनना जरूरी है। उत्तर भारत में बड़ों के साथ चारपाई पर बैठते समय अदवायन की ओर बैठने का कायदा है। हिन्दू विवाहित स्त्रियों में मांग में सिंदूर लगाने का रिवाज है। हिन्दू स्त्रियां अपने पति का

नाम नहीं लेतीं। इन सब रिवाजों का उल्लंघन ग़ैर कानूनी नहीं है, फिर भी इनका पालन कठोरता से किया जाता है ।

एक संस्कृति समुदाय के माध्यम से व्यक्तियों के व्यवहार के अनन्त पहलुओं का नियन्त्रण करती है । पच्चीस प्रागक्षर संस्कृतियों के नियन्त्रण क्षेत्र की निम्न तालिका से इसका अनुमान किया जा सकता है । यह तालिका सी० एफ० फोर्ड के आधार पर बनाई गई हैं ।

पच्चीस पृथक् संस्कृतियों द्वारा नियन्त्रित व्यवहार-क्रियाएं

नियन्त्रित करने वाली प्रतिशत संस्कृतियां	व्यवहार का प्रकार
१००	खाना, गुनगुनाना, बात करना, संभोग, निकट सम्बन्धियों से संभोग, देना, विवाह करना, तकल्लुफ दिखाना, नाम लेना, शोक करना, हानि पहुंचाना, अपने को हानि पहुंचाना ।
९६	प्रवेश करना, कपड़े पहनना, चुराना, अपने को जख्मी करना, कत्ल ।
९२	व्यभिचार, सालियों से संभोग, लेना, नहाना, छूना, काम करना ।
८८	दूध पिलाना, पीने, भोजन प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करना, भोजन अपवित्र करना ।
८०	देखना, सम्मान करना, दूसरों के नाम धरना, अपनी सुरक्षा ।
७६	सोना, दूसरों की सहायता करना, घनिष्ठ बनना, दूसरों की रक्षा, पशुओं का वध ।
७२	मूत्र त्याग, प्राग्वैवाहिक संभोग, आज्ञा पालन, आत्म शुद्धि, आत्म पृथक्करण, दूसरों का मान न करना, दूसरों का अपमान, दूसरों को बिना दर्द किये आहत करना ।
६८	मिलना, दूसरों को कपड़े पहनाना, दूसरों को दण्ड देना ।
६४	बदले से बचना, उत्पादन में बाधा डालना, मल-त्याग ।
६०	आदमखोरी, विलाप, चीखना, भुगतान करना, अपनी चिकित्सा, शिकार, मछली पकड़ना, खेती करना इत्यादि ।
५६	बैठना, दूसरों को शुद्ध करना, गुस्सा होना ।
५२	सांस खींचना, गाना, आतिथ्य करना, अपने को छुपाना ।
४८	कायरता सीखना, विशेषाधिकार ग्रहण करना, झगड़ना, खेलना, दुर्भाग्य का आवाहन करना ।

४४ थूकना, बाल्यावस्था में संभोग, नृत्य, आभूषण पहनना, दूसरों की चिकित्सा, शोक प्रकाश, दूसरों का मन जीतना, लड़ना, अपने को दण्ड देना ।

४० धूम्र-पान, मालिश, प्रसव में सहायता देना, दूसरों को सिखाना, दूसरों की आज्ञा का उल्लंघन, अश्लील होना ।

३६ चबाना, पसीजना, गर्भाधान होना, चलना, आलसी होना, बन्ध्या करना, मैत्री प्रकाश, दूसरों को शांत करना, दूसरों को धोखा देना ।

३२ नशीली वस्तुओं का उपभोग, वमन करना, बलात्कार, धन्यवाद देना, जननेन्द्रिय का गोपन, ले जाना, अपराध मानना, आकस्मिक मनुष्यवध, गर्भपात, शिशुवध, उत्पादन, सामान का विनाश ।

२८ काटना, वायु विकार, वैवाहिक संभोग, कदम बढ़ाना, इशारा करना, तलाक देना, प्रजनन शक्ति देना, आत्म शुद्धि, वीरता प्रदर्शन, दूसरों को गुस्सा दिलाना, आत्महत्या ।

२४ स्वप्न देखना, दूध पीना, सगाई के बाद व्यभिचार, रहना, बचना, सुनना, प्रसव में बाधा देना, पीड़ा व्यक्त करना, युद्ध में रुकावट डालना, भोजन की खोज में सहायता देना, रूढ़ि और टैबू का उल्लंघन ।

२० चाहना, सीटी बजाना, समलिंगी संभोग, झूठ बोलना, साथ देना, लालची होना, स्वतन्त्र होना, कृपालु होना, विरोधी लिंग के वस्त्र धारण करने में रुचि, माता के दूध को बढ़ाना, दूसरों को शुद्ध करना, अपने को बन्द करना, विश्वासघात, राजद्रोह ।

१६ खांसना, वेश्यावृत्ति, खड़े होना, पकड़ना, खुरचना, डरना, दूध पीने को निरुत्साहित करना, दूसरों का आभूषण पहनना, दूसरों का उपहास करना, दूसरों को आघात पहुंचाना ।

१२ मसाले खाना, चूमना, छींकना, फुसफुसाना, हंसना, समलिंगी संभोग, भागना, शान से रहना, छाती का दूध निकालना, दूसरों को अभिवादन, अनुमति लेना, अपराध का प्रायश्चित्त ।

८ नशे में हो जाना चिल्लाना, सोचना, हस्तमैथुन, विवाहेतर संभोग, बहकाना, पशुमैथुन, झुकना, कूदना, ईर्ष्यालु होना, कामकृपण होना, न्यायपूर्ण होना, दूसरों को सावधान करना, लूटना, जलाना ।

४ चखना, होठ चाटना, सूंघना, चेहरा बनाना, थर-थर कांपना, फैलाना, सोते हुए चलना, सोते हुए बोलना, जनना, अप्राकृतिक काम-व्यवहार, बेहोश होना, काम प्रदर्शनवाद, रेंगना, तैरना, चढ़ना, गुदगुदाना, ताली बजाना, आंख मारना, घृणा करना, जिद्दी होना, चिड़चिड़ा होना, अनुत्तरदायी होना, पराश्रित होना, प्यार करने वाला होना, उद्योगी होना, मितव्ययी होना, दूध पीने को उत्साहित करना, क्षमा याचना, नापसंदगी व्यक्त करना, डींग मारना, दूसरों को डराना, डरना ।

० मुंह में लार आना, खखारना, जोर से खांसना, सांस लेना, चमकना, शर्माना, कांपना, जभाई लेना, ऋतु धर्म होना, स्वप्न दोष, दूसरों को कष्ट देकर काम तृप्ति करना, अपने को कष्ट देकर काम तृप्ति, ठोकर मारना, आख झपकना, उत्सुक होना ।

रूढ़ियां (Mores)

जो रिवाज खाने-पहनने, उठने-बैठने, बोलने-चालने से अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों से सम्बन्ध रखते हैं, उन्हें एक विशिष्टता प्राप्त हो जाती है । ऐसे रिवाज मानव व्यवहार के बुनियादी चालकों—महत्वाकांक्षा, प्रेम, शक्ति प्राप्ति की इच्छा, सम्पत्ति-अर्जन की प्रेरणा आदि को नियंत्रत करते हैं । बाध्यता ऐसे रिवाजों का मुख्य लक्षण है । सुमनर ने ऐसे रिवाजों को रूढ़ि के नाम से पुकारा है । उसके अनुसार, "वह प्रचलित रीतियां और परम्परायें, जिनके बारे में यह दृढ़ धारणा है कि वह सामाजिक कल्याण के लिए लाभप्रद है और जो किसी अधिकारी द्वारा एकीकृत न होने पर भी व्यक्ति पर यह दबाव डालती हैं कि वह अपने आपको उनके अनुरूप बनाये, रूढ़ियां कहलाती हैं ।"

भारत की परिवर्तित रूढ़ियां. जातीय सहिष्णुता, स्त्री-पुरुषों की समानता, एकाकी परिवार, ऐहिकता (Secularism) और लोकतन्त्र आज के भारतवर्ष की मान्य रूढ़ियां बन रही हैं । इसके विपरीत, जातिभेद की भावना, पुरुषों की प्रभुता, संयुक्त परिवार, धार्मिकता और सामन्तशाही उन्नीसवीं शती में इसी देश की रूढ़ियां रही है ।

रूढ़ियों का पालन. समाज रूढ़ियों के विरुद्ध व्यवहार की अनुमति नहीं देता । आज हमारे यहां कोई जातीय या साम्प्रदायिक घृणा के पक्ष में प्रचार नहीं कर सकता, स्त्रियों की दासता का समर्थन नहीं कर सकता, लोकतन्त्र के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने का साहस नहीं कर सकता । रूढ़ियां हमें केवल कुछ कर्मों के करने से ही नहीं रोकतीं, अपितु वे हमें कर्म करने का स्पष्ट आदेश भी देती

हैं । उदाहरण के लिए, उन समाजों में, जहां परिवार प्रथा प्रबल हैं और न्यायालयों का अभाव है, यदि एक गूजर परिवार के सदस्य द्वारा एक जाट परिवार के सदस्य को कोई आघात पहुंचाया जाता है, ऐसी स्थिति में उस जाट परिवार के सदस्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह गूजर परिवार से उसका बदला ले । यह उसके आत्मसम्मान के लिए अनिवार्य-सा हो जाता है । अन्यथा समाज उसे कायर और नपुंसक ठहरायेगा । इस तरह रूढ़ियां व्यक्ति को कर्म करने के लिए भी बाध्य करती हैं । वह दिन दूर नहीं, जब कि स्त्री अबला समझी जाती थी और उसके सम्मान की रक्षा और अपनी बहन या पुत्री के सम्मान पर किसी प्रकार की आंच आते देख, अपने प्राणों की आहुति तक दे देना या दूसरों के प्राणों को ले लेना, किसी पुरुष के लिए बहुत ही गौरव की बात समझी जाती थी ।

रूढ़ियों का प्रभाव इतना प्रबल होता है कि हम बहुत बार उन रिवाजों के पालन में, जो कि शारीरिक दृष्टि से हानिप्रद सिद्ध हो सकते हैं । परम संतोष और आनन्द अनुभव करते हैं उदाहरण के लिए भारतीय मुस्लिम समुदाय और अनेक हिन्दू जातियों की स्त्रियों में पर्दाप्रथा एक रूढ़ि है , पर यह निर्विवाद रूप से उनके स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है । इसी तरह चीन के विशिष्ट कुलीन वर्गों मे छोटी लड़कियों के पंजों को मोड़कर कसकर बांध दिया जाता था ताकि उनके पैर बढने न पायें । छोटे पैरों को उस समाज में एक सम्मान और सौन्दर्य का चिन्ह समझा जाता था, और यहाँ तक कि कोई लड़की, जिसके पैर इस तरह बचपन मे छोटे न किये गए होते थे, अपने को छोटा समझती थी । इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य रूढ़ियों के दास है, चाहे वह उनके लिए हानिप्रद ही क्यों न हों । वह उसका पालन करते हैं । संस्कृति की यह विशेषता है कि वह रूढ़ि के द्वारा स्वस्थ प्राणिक क्रियाओं भी आघात कर पर सकती है ।

रूढ़ि किसी भी चीज को सही बना सकती है. रूढ़ि की शक्ति बहुत प्रबल होती है । वह किसी भी चीज को सही ठहरा सकता हैं । १८ वीं शती की भारतीय रूढ़ि ने अस्पृश्यता, बाल-विवाह, स्त्रियों की दासता और सामन्तशाही को सही माना । इस्लाम में एक पति के लिए चार स्त्रियों का रखना मान्य है । नात्सी जर्मनी में किसी जर्मन युवक के लिए लोकतन्त्र की बात करना बड़े शर्म की बात थी । आज के अमरीका मे साम्यवाद का समर्थन एक प्रकार से देशद्रोह है । सोवियत रूस मे मार्क्सवादी सिद्धान्त में किसी प्रकार की भूल निकालना सबसे बड़ा अपराध है । रूढ़ि की शक्ति इतनी प्रबल है कि वह निकटसम्बधियों से यौन सम्बन्ध को भी सम्मानजनक बना सकती है । उदाहरण के लिए, प्राचीन मिश्र में यह माना जाता था कि राजघराने के व्यक्तियों के श्रेष्ठ रक्त को संरक्षित रखने के लिए भाई-बहनों

में परस्पर विवाह होना जरूरी है। किसी देश की रूढ़ि मनुष्य-भक्षण जैसी जघन्य प्रतीत होने वाली प्रथा को भी उत्तम समझती है। ऐस्किमो की रूढ़ि वृद्ध मनुष्यों की हत्या को सही मानती है। प्राचीन स्पार्टा में शिशु-वध प्रचलित रिवाज था। हमारे यहां हत्यारे का वध और युद्ध में शत्रु का वध मान्य है।

जो एक समय सही माना जाता है वही अन्य समय गलत माना जा सकता है. रूढ़ियां किसी एक चीज को जो एक समय सही मानी जाती थी दूसरे समय उसी को गलत बना सकती हैं। आज की रूढ़ियां भारतवर्ष में अस्पृश्यता, बाल-विवाह, स्त्रियों की दासता के विरुद्ध हैं, पर आज से सौ साल पहले यही हमारे यहां अति-सम्मानित थीं। आज से तीस साल पहले हमारे कुछ उच्च वर्गों में किसी स्त्री के लिए सिर उघाड़े अपने पति के साथ सैर के लिए जाना बहुत ही निर्लज्जता की निशानी समझा जाता था, परन्तु आज, कम-से-कम शहरों में, यह एक सामान्य और स्वीकृत बात हो गई है। सर जेम्स जीन्स ने ठीक ही कहा है, "पाप और पुण्य ने सदियों के जीवन प्रवाह में प्रायः ही अपने स्थान को बदला है।"

रूढ़ि और कानून. सभ्य समाजों में रूढियां प्रायः कानूनों का रूप धारण कर लेती हैं, फिर भी देश का कानून और रूढ़ियां सदा एक-दूसरे के साथ-साथ नहीं चलते। कानून में ऐसी बातों का समावेश हो सकता है जो कि रूढ़ि के अन्तर्गत नहीं आतीं। इसके विपरीत, समस्त रूढ़ियां कानून नहीं बन जातीं। कुछ ऐसी बातें, जिन्हें सभी अनुचित समझते है, नही की जातीं, परन्तु उनके लिए किसी प्रकार का कानून बनाने की जरूरत नहीं पड़ती। अथवा कुछ ऐसे नाजुक और व्यक्तिगत मामले हो सकते है, जिन्हें कि कानून के दायरे में नही लाया जा सकता। उदाहरण के लिए, एक डाक्टर से बीमार होने की अवस्था में दूसरे डाक्टर द्वारा फीस लेना हमारे यहां अनुचित माना जाता है; यद्यपि इसके लिए कोई कानून नही है। इसी प्रकार विभिन्न पेशे के लोगों के आचार नियम इसी अलिखित निर्धारित कानून या रूढ़ि के अन्तर्गत आते हैं।

परिवर्तनशील विभिन्नतत्वीय समाज में जनरीतियां, रूढ़ियां और फैशन

रिवाजों का बदलना प्रायः बहुत कठिन समझा जाता है। वह जनरीतियां जो शीघ्र आती और शीघ्र चली जाती है फैशन कहलाती है और उन्हें रिवाज या रूढ़ि नहीं कहा जाता। रिवाजों के स्थायित्व को ही बेगहॉट ने 'रिवाज की केक' कहा है। यह रिवाज की केक कैसे बनती और टूटती है, एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

परिवर्तनशील समाज की तुलना में सापेक्षतया निश्चल समाज में रिवाज अधिक आसानी से जमते और अधिक समय तक ठहरते हैं। जब कि रिवाजों का पालन पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक चलता रहता है, व्यक्तियों के लिए उसके अनुकूल बनने का

आग्रह बहुत प्रबल हो जाता है। जब कि एक विशेष आरण्यक संस्कृति के सदस्य से यह प्रश्न पूछा जाता है कि वह क्यों अपनी पत्नी द्वारा बच्चा जनने के समय बिछौने पर लेटता है, तो इसका एक ही उत्तर उसके पास है, कि उसके यहां सदा से ऐसा ही होता चला आया है। यह स्मरणीय है कि सुमनर ने रिवाजों और रूढ़ियों के अधिकांश उदाहरण निश्चल समाजों से ही लिए हैं। इन आरण्यक समाजों में फैशन, अर्थात् शीघ्र परिवर्तनीय रिवाज विरल हैं। उस समाज में, जो कि तेजी से बदल रहा है, रिवाज बहुत अधिक समय तक नहीं दोहराये जाते जिससे कि उनमें बाध्यता आ सके।

इसके अतिरिक्त, समाज विभिन्न वर्गों से मिलकर बना हो सकता है। उसमें रईसों और श्रमिकों की स्त्रियां हैं, ग्राम्यवासी और नगरवासी हैं, धार्मिक और नास्तिक हैं। प्रत्येक वर्ग की एक-एक विशिष्ट जन-रीति है। अतएव एक विभिन्नतत्त्वीय समाज में एकरूपता कायम रखना बहुत कठिन है। कुछ धार्मिक वर्ग सोमवार को मौन और उपवास रखते हैं। उसी दिन एक विशिष्ट वर्ग के लोग खाना-पीना और नाच-गाना करते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि विभिन्न वर्गों की कुछ जनरीतियों में समानता हो, पर सबों में नहीं। उदाहरण के लिए, एक ग्रामवासी और एक नगरवासी, दोनों ही एक प्रकार का और दिन में बराबर बार भोजन करते हैं, पर वह एक समय सोकर नही उठते और न ही उनमें समान पड़ौसीपन नजर आता है। किसान जब गांव में चलता है, तो प्रत्येक राहगीर से बात करने रुक जाता है, पर नगरवासी किसी की ओर ध्यान नही देता। विशिष्ट परिस्थितियां बहुत हद तक इसके लिए उत्तरदायी है।

बावजूद इसके, आधुनिक समाज मे पर्याप्त स्थिरता और सांस्कृतिक बाध्यता विद्यमान है। प्रत्येक चीज ही शीघ्रता से परिवर्तित नहीं हो जाती। किसी रिवाज को बदलने में अधिक और किसी में कम समय लगता है। इस तरह एक परिवर्तन-शील समाज में विभिन्न रिवाजों और रूढ़ियों के परिवर्तन की दर और बाध्यता की तीव्रता में पर्याप्त विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के लिए, भारतवर्ष के नगर-निवासियों ने जिस तेज़ी से अंग्रेजी वेश को अपनाया, अंग्रेजी भोजन को नही। और जहां तक अंग्रेजी वेश का भी प्रश्न है, स्त्रियों ने तो उसे प्रायः बिल्कुल ही नही अपनाया और न ही निकट भविष्य में उसे अपनाने के कोई चिन्ह ही नजर आते है। किन्तु अंग्रेजी सौन्दर्य प्रसाधनों के अपनाने में हमारी स्त्रियों में वह मन्दता नहीं है। और फिर, वह रूढ़ियां जो कि अधिक बुनियादी समझी जाती हैं, शीघ्र परिवर्तित नहीं होतीं। वास्तव में हम ऐसे समाज की कल्पना भी नहीं कर सकते, जिसमें ऐसे कोई नियम या रूढ़ियां न हों जिन्हें प्रायः सम्मानित और कार्यान्वित न किया जाता हो।

दसवां अध्याय

संस्कृति और व्यक्तित्व

CULTURE AND PERSONALITY

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अटलान्टा विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में वुडवर्थ ने एक महत्वपूर्ण परीक्षण किया जिसमे विभिन्न नस्लों के लोगों की कष्ट सहने की क्षमता को जांचने का प्रयत्न किया गया था। इस परीक्षण से यह सिद्ध हुआ कि एक सामान्य अमरीकन की तुलना में एक रैड इंडियन में कष्ट सहने की अधिक क्षमता है। इसके कारणों की खोज करने पर इसका कोई प्राणिक या नस्ली कारण न मिला, पर उसे इन दोनों समुदायों की संस्कृति में ढूंढ़ा जा सकता है। मां की गोद से लेकर मृत्यु पर्यन्त रैड इंडियन को कष्ट-सहन की शिक्षा, अभ्यास और सम्मान करना सिखाया जाता है। यहां तक कि वह अपनी खोपड़ी को अपने कबीले द्वारा सुन्दर समझे जाने वाला रूप प्रदान करने के लिए कठोर यन्त्रणा को सहर्ष स्वीकार करता है। संध्या समय अलाव पर उसे वीर-गाथाएं सुनने को मिलती है। बचपन से ही उसे जीवन-मृत्यु का आभास मिल जाता है। यौवनावस्था की रस्में उसे कष्ट-सहन मे अभ्यस्त बना देती है। उनमें तनिक भी चूं करना महान् कायरता समझी जाती है। ऐसे वातावरण में कैसे व्यक्तित्व का निर्माण होगा, इसका अनुमान हम स्वयं ही लगा सकते हैं। अमरीकन संस्कृति इससे पर्याप्त भिन्न है। इसमें कष्ट या पीड़ा अनुभव करना या उसे स्वीकार करना कायरता नहीं समझा जाता। बचपन से ही बच्चों को यन्त्रणा या दर्दनाक दृश्यों से दूर रखा जाता है। पीड़ा-निवारण के लिए उसका प्रत्युत्तर सहनशक्ति न होकर, पीड़ानिवारक औषधियां और क्लोरोफार्म ही है। इस तरह रैड इंडियन कौर अमरीकन संस्कृति की तुलना कर, हम उनकी विभिन्न शारीरिक क्षमता के अन्तर का कारण जान सकते है।

इससे स्पष्ट है कि संस्कृति और व्यक्तित्व में अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में जन्म के समय मानव-प्राणी उन सब गुणों से शून्य होता है, जिन्हें कि हम मनुष्यत्व के साथ जोड़ते हैं। वह यह गुण धीरे-धीरे समाज और उसकी विरासत से सीखता है। जन्म से मृत्यु-पर्यन्त व्यक्ति और संस्कृति के बीच निरन्तर अन्तः-क्रिया होती रहती है। वस्तुतः सांस्कृतिक वातावरण व्यक्ति पर किस तरह और कितनी छाप छोड़ता है, इसका सही-सही निर्धारण अभी तक नहीं हो सका है, यद्यपि इस दिशा में प्रयत्न जारी है। अतः अभी हमें अभिव्यंजनात्मक (Impression-

istic) दृष्टि का ही सहारा लेना पड़ता है।

व्यक्तित्व के निर्माण में आनुवंशिकता के अतिरिक्त, सामूहिक और सांस्कृतिक दो शक्तियों का प्रमुख हाथ होता है। सामूहिक प्रक्रियाएं सामान्य हैं। एक व्यक्ति के साथ अन्य व्यक्तियों की अन्तःक्रिया प्रभुता या आज्ञापालन के रूप में व्यक्त होती है। प्रभुता या आज्ञा-पालन, नेतृत्व या अनुसरण, व्यक्तियों में प्रति-योगी क्षमता की भिन्नता और अन्तःक्रिया की आकस्मिकता के कारण, समूह-जीवन के सार्वभौम लक्षण है।

समूह-जीवन सामान्य सम्बन्धों का संकुल है। इसके विपरीत, संस्कृति में स्थूल और विशिष्ट गुणों का समावेश है। संस्कृति एक निश्चित और अनुपम वस्तु है, अतः उसका प्रभाव विशिष्ट और स्पष्ट है। विभिन्न समाजों में समूह-तथ्य तो लगभग समान ही है। कुछ लोग नेतृत्व करते हैं, बाकी पीछे चलते है। अन्तर केवल नेतृत्व के प्रकार का है जो संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए, मारवाड़ी समुदाय में करोड़पति होना सबसे बड़ी बात है, जब कि बंगाली समुदाय में एक साहित्यिक या संगीतज्ञ का अधिक सम्मान है। वास्तव मे संस्कृति समूह-प्रक्रियाओं को विशिष्ट दिशा और स्वरूप प्रदान करती है।

आगे हम संक्षेप में यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि संस्कृति किस भांति व्यक्ति को विशिष्ट रूप और रंग, अर्थ और तत्त्व प्रदान करती है।

भौतिक संस्कृति और व्यक्तित्व

व्यक्तित्व के निर्माण में भौतिक संस्कृति—किसी समुदाय में प्राप्त भौतिक वस्तुओं, यन्त्रों, उपकरणों का भी जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है। घड़ियों और समय पालन, आधुनिक यान्त्रिक जल-व्यवस्था और स्वच्छता के कार्य-कारण सम्बन्धों का उदाहरण देकर हम इस तथ्य को भली-भांति स्पष्ट कर सकते है।

घड़ियां और समय-पालन. घड़ी के आविष्कार ने निस्सन्देह समय-पालन की आदत को सम्भव बनाया और प्रोत्साहित किया है। उन आरण्यक समुदायों में, जहां घड़ियां नहीं है, लोग समय की पाबन्दी का कोई ख्याल नहीं करते। जब कि हमारे नगरों में सब काम समय पर किए जाते है, मुलाकातों का समय घण्टों और मिनटों में निश्चित रहता है। इसके विपरीत, घड़ीविहीन समुदायों में घण्टों और कभी-कभी तो दिनों तक का हेर-फेर हो जाना साधारण-सी बात है। इसमें सन्देह नहीं, कि आरण्यक समुदायों के लिए समय-पालन का महत्व कम है, जब कि आधुनिक सभ्यता के लिए वह अत्यधिक है। इसमें केवल घड़ी के आविष्कार का ही हाथ नहीं, वरन् सांस्कृतिक जीवन के अन्य उपकरणों और मांगों का भी, प्रबल हाथ है। आधुनिक सभ्यता रेडियो, रेलवे, दफ्तरों इत्यादि से परिपूर्ण है। इन सबों ने समय-पालन के प्रति हमें सजग बना दिया है। एक अरण्यवासी की

तुलना में आज नगरवासी समयपालन में अधिक सजग हैं। इसका प्रधान कारण नगरवासियों और उनकी संस्कृति का अन्तर है।

आधुनिक जल-व्यवस्था और स्वच्छता. हिन्दू संस्कृति में शारीरिक स्वच्छता को बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त है। नित्य स्नान करना, खाने-पीने की कोई वस्तु ग्रहण करने से पहले हाथों को भली-भांति धो लेना, हिन्दू आचार का आवश्यक अंग है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक यान्त्रिक जल-व्यवस्था ने भी स्वच्छता की प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया है। यही कारण है कि गांवों की तुलना में नगरों के रहने वाले अपने रहन-सहन में अधिक स्वच्छ नजर आते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत सी जातियां बिना आधुनिक यान्त्रिक जल-व्यवस्था के भी स्वच्छ रहती चली आई है, पर ऐसी दशा में अन्य बातें अनुकूल रही है। ऐस्किमो गन्दे रहते है। पानी के लिए उन्हें अपनी पीठ पर बर्फ की एक थैली रखनी पड़ती है ताकि शरीर की गर्मी से पिघलकर उसका पानी बन सके। ऐसी कठोर अवस्था में उनका गन्दा रहना अस्वाभाविक नहीं है। आज नगरों मे केवल टोंटी घुमाने मात्र से ही ठण्डा या गरम-पानी प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यदि लोग अधिक स्वच्छ रहें तो आश्चर्य ही क्या? इस भांति विभिन्न समाजों के लोगों की तुलना करने पर हम इस परिणाम पर पहुंचते है कि स्वच्छता आनुवंशिकता से सम्बन्धित न होकर संस्कृति से सम्बन्धित है। एक संस्कृति के अन्दर स्वच्छता का एक व्यक्तिगत आधार होता है। पर सामान्यतः यह पेशे, सम्पत्ति या अन्य किसी गुण का परिणाम होती है।

अभौतिक संस्कृति और व्यक्तित्व

एक ओर जिस भांति भौतिक संस्कृति समाज में व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करती है, दूसरी ओर उसी भांति अभौतिक संस्कृति भी व्यक्तित्व को ढालने मे महत्वपूर्ण भाग लेती है। भाषा निश्चित रूप से व्यक्तित्व को प्रभावित करने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभौतिक सांस्कृतिक तथ्य है। अतः उसका उदाहरण देना उपयुक्त होगा।

भाषा और व्यक्तित्व. मनुष्य और अन्य पशुओं मे सबसे बड़ा अन्तर यह है कि मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो कि बोल सकता है। भाषा ऐसी चीज है जो कि केवल साहचर्य से सीखी जा सकती है। यही कारण है कि विजन-पोषित मनुष्य (Feral Men) भाषा नहीं जानते। गूंगे-बहरे व्यक्ति भी शरीर-रचना-दोष के कारण ऐसा नहीं कर पाते। इस सम्बन्ध में हैलन कैलर का प्रसिद्ध उदाहरण दृष्टव्य है। अठारह वर्ष की अवस्था में उसने अपनी आंखों की रोशनी और श्रवण-शक्ति दोनों खो दी। इस समय से लेकर साठ वर्ष की अवस्था तक उसका व्यक्तित्व ढका रहा। वह ईर्ष्यालु, कमीनी और हकूमत जताने वाली रही। उसे

गुस्से के दौरे पड़ते थे। वह दूसरों के हिलते होठों की भाषा को समझने में असमर्थ थी। किन्तु इसी समय उसके जीवन में कुमारी सुलीवन ने प्रवेश किया। उन्होंने हैलेन के हाथों पर शब्द लिखने शुरू कर दिए, जिन्हें कि हेलन ने दोहराना और वस्तुओं से सम्बन्धित करना शुरू कर दिया। उसे यह पता नहीं था कि प्रत्येक वस्तु का नाम है। इस बात के हठात् ज्ञान ने उसके व्यक्तित्व में एक अद्भुत परिवर्तन उपस्थित कर दिया।

भाषा एक व्यक्तित्व-गुण. अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाषा व्यक्तित्व के विकास का प्रमुख साधन है, क्योंकि इसके माध्यम द्वारा ही व्यक्ति अपनी सूचनाएं और धारणाएं प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त, बोली स्वयं व्यक्तित्व का एक गुण बन जाती है, जैसा कि सापिर ने अपने सूक्ष्म अध्ययन में स्पष्टतः दिखलाया है। उसके अनुसार बोली एक जटिल वस्तु है, जिसके कि पांच पहलू हैं: आवाज का प्रकार, गतिशीलता, उच्चारण, शब्द-भण्डार, और शैली। इसमें से हर एक पहलू का व्यक्तित्व के लिए अपना अर्थ है। हम विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व के मूल्यांकन मे बहुत कुछ आवाज का अवलम्बन लेते हैं। हम बोली में हाव-भाव का भी समावेश करते हैं। आवाज और हाव-भाव की सहायता से हम जान सकते हैं कि अमुक व्यक्ति किस संस्कृति मे पला और बड़ा हुआ है।

भाषा का व्यक्तित्व के लिए कितना महत्व है, यह एक वैज्ञानिक के उदाहरण से समझाया जा सकता है। वैज्ञानिक का एक विशिष्ट व्यक्तित्व होता है। उसकी भाषा संयत और स्पष्ट होती है। यह सही है कि कोई भी व्यक्ति सदा वैज्ञानिक नही रहता। पर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि कुछ संस्कृतियां ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण के अधिक अनुकूल है,जो कि वैज्ञानिक व्यक्तित्व का विकास कर सकें। अफ्रीकी सूडानवासियों की तुलना में,जिनकी भाषा में विशिष्ट तथ्यों के लिए केवल एकवर्ण शब्द है, हमारी संस्कृति इसके अधिक अनुकूल है, जिसमें कि बहुत सूक्ष्म विचारों और भावों के लिए पृथक् शब्द है। उनकी संस्कृति में केवल एक ही शब्द के उच्चारण को ऊंचा-नीचा उठाकर विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। 'बड़ा' 'मझला' और 'छोटा' के लिए उनके यहां एक ही शब्द है। आवाज के उतार-चढ़ाव से ही उनके अन्तर को जाना जाता है। ऐसी संस्कृति में सूक्ष्मता के गुण का विकास होना पर्याप्त कठिन है।

विभिन्न संस्कृतियों की भाषा का अन्तर उनकी संस्कृति के अन्तर को बहुत कुछ प्रतिबिम्बित करता है। पर जहां एक ओर भाषा वैज्ञानिक के निर्माण मे योग देती है, वहां दूसरी ओर वैज्ञानिक भाषा के निर्माण में योग देता है। इसका अर्थ हुआ कि संस्कृति के विकास के साथ-साथ शब्द-भण्डार भी बढ़ता जाता है।

संस्कृत-प्रतिमान और व्यक्तित्व-प्रतिमान (Personality Pattern)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृति गुणों और व्यक्तित्व गुणोंमें परस्पर निकट सम्बन्ध है, पर इसका यह अर्थ नही कि वह अति कठोर और निश्चित है। केवल घड़ियों का अस्तित्व समय-पालन की गारण्टी नहीं करता। तुर्की और अफगानिस्तान दोनों देशों के लोग घड़िया रखते हैं। पर काबुली प्रायः समय के पाबन्द नही होते। यदि एक काबुली सुबह सात बजे का वायदा कर दुपहर के बारह बजे पहुंच जाय, तो खुदा का शुक्र समझिये। काबुली गपशप और मेहमान नेवाजी का बेहद शौकीन है। बगैर बात किये उसकी गुजर नहीं। और कुछ नही तो वह सिर्फ बातचीत करने के लिए अपनी चप्पल में कील ठुकवाने लगता है और फिर रास्ते में जो कोई वाकिफ मिल जाये, उससे दुआ-सलाम बात-चीत करने लगता है। अगर कोई कुछ खाने-पीने की दावत दे तो उसको मंजूर करना भी उसके लिए निहायत जरूरी है। संक्षेप में, एक काबुली के लिए गप-शप, मित्रता और आतिथ्य की तुलना में समय-पालन का कम महत्व है। इससे स्पष्ट है कि भौतिक आविष्कारों का व्यक्तित्व के ढालने मे पर्याप्त महत्व है, पर उसकी दिशा और तीव्रता समग्ररूप में सांस्कृतिक स्थिति पर निर्भर करती है। इसलिए संस्कृति और व्यक्तित्व के सम्बन्ध को समझने के लिए हमें संस्कृतिप्रतिमान को समझना भी आवश्यक है।

ग्राम्य संस्कृतिया और आतिथ्य. उदारता और कृपणता व्यक्तित्व-गुण हैं। शायद हम यह समझें कि यह गुण जन्मजात हैं, पर वास्तव में यह दर्शाया जा सकता है कि इनका श्रोत भी संस्कृति ही है। विद्यमान और विलीन कृषि संस्कृतियों में आतिथ्य गुण अपनी चरम सीमा पर पहुंचा। भारतवर्ष में अभी भी अनेक भाग, जहां औद्योगीकरण का प्रभाव कम पहुंचा है, अपने आतिथ्य के लिए प्रख्यात हैं। इसके निम्न प्रमुख कारण हैं। एक गांव से दूसरे गांव का फासला पर्याप्त है। रास्ते में रात को ठहरने के लिए किन्हीं सरायों और खाने के लिए भोजनालयों का अभाव है। इसलिए मुसाफिरों को रात्रि में विश्राम के लिए किसी परिवार में ही रुकना पड़ता है। गांवों में खाने-पीने की चीजों की कमी नहीं है, अतः प्रत्येक का स्वागत है। यहां रुपए का विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग कम है। इसके अतिरिक्त, संवादवहन की सुविधाओं के अभाव में मुसाफिर खबर भेजने के उत्तम साधन हैं। ऐसी सास्कृतिक परिस्थितियों में आतिथ्य गुण का विकास सर्वथा स्वाभाविक है।

आज के नगरों की अवस्था सर्वथा भिन्न है। यहां जगह की भीषण कमी है। खाने पीने की हर चीज की कीमत देनी पड़ती है, वह खेत या बगीचे से मुफ्त नहीं आ जाती। यहां पर भोजनालयों और विश्रामालयों की कमी नहीं है। यहां संवाद-वहन के सस्ते, सुलभ और द्रुत साधन हैं। इसके अतिरिक्त, लोगों के पास समय की भीषण कमी है। ऐसी परिस्थितियों में आतिथ्य का विकास नहीं हो पाता।

स्त्रियों में जीविकोपार्जन और आज्ञा-पालन. स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों का एक और उदाहरण देकर संस्कृति के व्यक्तित्व पर प्रभाव को अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता है। आज से बीस साल पहले अगर हम किसी शिक्षित भारतीय महिला से यह प्रश्न पूछते कि उसकी सम्मति में एक अच्छी स्त्री का क्या गुण है, तो उसका उत्तर प्राय: आज्ञा-पालन ही होता था। किन्तु आज शायद सौ में से पच्चीस भी शिक्षित स्त्रियां ऐसी नहीं मिलेंगी जो कि यह उत्तर दें। आजकल की पढ़ने वाली लड़कियों में सक्रियता और आत्म-अभिव्यक्ति को आज्ञा-पालन से अधिक महत्व दिया जाता है। आखिर इसका क्या कारण है? आज से बीस साल पहले स्त्रियों में शिक्षा का बहुत कम प्रसार था। उन्हें घर से बाहर काम करने और रोजगार पाने की सुविधाएं न थीं। आर्थिक दृष्टि से वह पूर्णत: पतियों या पिताओं पर निर्भर थीं। आज्ञापालन ऐसी परिस्थितियों का अवश्यंभावी परिणाम था। अब अवस्था बदल गई है। लड़कियों को लड़कों के समान शिक्षा की सुविधाएं मिल रही हैं। वह वोट दे सकती और नौकरी पा सकती है और समाज इसे बुरा नहीं मानता। ऐसी सांस्कृतिक परिस्थितियां स्वभावत: स्त्री स्वातन्त्र्य की भावना को प्रोत्साहित करती हैं।

इसका यह अर्थ नहीं कि आज से पच्चीस साल पहले सभी औरतें दब्बू या आज्ञा-पालिका थीं। वास्तव में व्यक्तिगत अपवाद सभी समय विद्यमान रहते हैं। इसके अतिरिक्त, सिद्धान्त और व्यवहार में सदैव ही कुछ अन्तर रहता है। जन-रीति द्वारा आज्ञा-पालन का आदेश होने के बावजूद, कुछ स्त्रियां अपने पतियों पर हुकूमत करती थीं। पर यह सत्य है कि आज की तुलना में पच्चीस साल पहले स्त्रियां बहुत आज्ञा-पालिका थीं।

सहकारी और प्रतियोगी संस्कृति प्रतिमान. व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कृति के महत्व को समझते हुए अनेक समाजशास्त्रियों और नृवंशशास्त्रियों ने संस्कृतियों के, जो कि व्यक्तियों को एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करती है, श्रेणी विभाजन का प्रयास किया है। रूथ बैनिडिक्ट ने जूनी कबीले की सँस्कृति को अपोलोनियन तथा क्वैक्युतुल कबीले की सँस्कृति को डायोनेशियन नाम दिया है। सहयोग, संयम और शान्ति अपोलोनियन संस्कृति के प्रमुख लक्षण है। इसके विपरीत, प्रतियोगिता, अति-भावुकता और संघर्ष डायोनेशियन संस्कृति की मुख्य विशेषताएं है। जूनी संस्कृति इस तरह संगठित की गई है कि जिससे समुदाय के सदस्यों में प्रतियोगिता न हो सके। यदि कोई व्यक्ति बहुत आगे बढ़ना चाहे तो, उसे बुरा समझा जाता है। क्वाक्युतुलों की अवस्था भिन्न हैं। यहां व्यक्ति का प्रमुख लक्ष्य दूसरे को नीचा दिखाना है। उनकी संस्कृतियों के अन्य पहलू समान है। दोनों संस्कृतियां दो पृथक् प्रकार के व्यक्तियों को जन्म देती है। एक जूनी की तुलना में, अन्य बातों के साथ,

क्वाक्युतुल अधिक महत्वाकांक्षी, स्वार्थी और अशान्त होते हैं ।

समाजीकरण प्रक्रिया (Socialisation Process)

वह प्रक्रिया जिसके द्वारा एक बच्चा धीरे-धीरे अपने समाज की धारणाएं और आदतें ग्रहण कर लेता है, समाजीकरण की प्रक्रिया पुकारी जाती है । इसकी कार्य प्रणाली अभिसंहित प्रत्युत्तर (Conditioning response) से मिलती है । विभिन्न प्रकार से व्यक्तियों का अभिसंहन (Conditioning) सम्पन्न होता है । इनमें प्रमुख प्रणाली टामस के शब्दों में 'आदेश और निषेध प्रणाली' है । छोटे बच्चे को बार-बार यह बताया जाता है कि वह क्या करे और क्या न करें । आदेश और निषेध प्रत्येक बालक के भावात्मक अनुभव में विशेष स्थान रखते है ।

एक बच्चे के समाजीकरण में प्रत्यक्ष और स्पष्ट आदेश का महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान उन बहुत से अप्रत्यक्ष और अज्ञात प्रभावों का है, जो कि उसकी इच्छाओं और प्रवृत्तियों को परिचालित करते हैं । ज्ञात और अज्ञात अनुकरण का भी इसमें हाथ होता है । बच्चे पर निरन्तर उसके सांस्कृतिक वर्ग के सुझावों की वर्षा होती रहती है ।

एक वैष्णव परिवार में पले बच्चे का उदाहरण देकर इस तथ्य को भली-भांति स्पष्ट किया जा सकता है । ऐसे परिवार में बचपन से बालक घर में राधा-कृष्ण के चित्र और प्रतिमाओं के दर्शन करता है, निरन्तर वह माता-पिता के मुंह से राधाकृष्ण की बाल-लीला, क्रीड़ा, पराक्रम और अनुकम्पा की कथाएं सुनाता है; गले में कंठी पहनता है; समय-समय पर घर में और बाहर राधाकृष्ण के उत्सवों में सम्मिलित होता है; उनकी स्तुति में भजन और गीत सुनता और गाता है; कीर्तन देखता और उनमें भाग लेता है; जयगोपाल या राधाकृष्ण कहकर परस्पर अभिवादन करता है । इन सब चीजों की अमिट छाप उसके मस्तिष्क और चेतना पर सदा के लिए पड़ जाती है, जो जीवन-पर्यन्त उसके व्यक्तित्व, विचार और व्यवहार पर गहरा असर डालती है ।

मानव प्रकृति की नमनीयता

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव प्रकृति में कितनी विभिन्नता पाई जाती है और इसमें संस्कृति का कितना जबर्दस्त हाथ है । यह तो एक प्रकट सत्य है कि बोर्नियो के खूंखार सिर-शिकारी और शान्तिप्रिय अहिंसक जैनी दोनों ही मानव हैं । उनमें विद्यमान अन्तर केवल मानव प्रकृति के लचकीलेपन की ओर संकेत करता है । गोल्डनवीजर ने ठीक ही लिखा है, "मनुष्य एक है, सभ्यताएं अनेक हैं ।" जैनियों में पला बोर्नियो का एक बच्चा शान्तिप्रिय होगा । इसके विपरीत यदि एक जैनी बच्चा बोर्नियों के सिर-शिकारियों द्वारा पाला जाय, तो वह किसी भी अर्थ में उनसे कम खूंखार न होगा । कभी-कभी तो संस्कृति का दबाव

किसी समुदाय की प्रकृति में आमूल-चूल परिवर्तन ला देता है। इस सम्बन्ध में फारिस के शब्द विचारणीय हैं :

"नृवंशशास्त्रीय अध्ययनों का इससे अधिक महत्त्वपूर्ण सबक कोई नहीं जितना कि मानव-पशु के अनन्त आनुकूल्य का सबक है। एक निर्विरोध सांस्कृतिक माध्यम द्वारा हम देखेंगे कि क्षुधा, काम-वासना, यहां तक कि जीने तक की इच्छा भी, यदि वह रूढ़ि के विरुद्ध हो, कुछ नहीं रह जाती। इस तथ्य की पुष्टि से हम सब परिचित हैं। स्वेच्छा से उपवास, स्वेच्छा से ब्रह्मचर्य, स्वेच्छा से अंग-भंग और शरीर को कष्ट, स्वेच्छा से आत्महत्या आदि उदाहरणों की कमी नहीं, जो कि सांस्कृतिक नमूने के प्रबल आकर्षण को दर्शाते हैं। व्यक्ति द्वारा अपने व्यक्तित्व का स्वतन्त्र संगठन वैसा ही है जैसा कि बिना माता के जन्म लेना।"

इससे वह पुरानी कहावत कि 'मानव-प्रकृति नहीं बदली जा सकती' भ्रान्त ठहरती है। ऐल्वुड ने सही ही कहा है कि "मानव-प्रकृति हमें ज्ञात एक अति परिवर्तनीय वस्तु है।" निःसन्देह इस परिवर्तन की सीमाएं हैं। इसी कारण "एक मनुष्य उन सबके कारण एक मनुष्य है।" उदाहरण के लिए, हर जगह ही मनुष्य क्रोध करते हैं। इस उद्वेग का पूर्णरूपेण दमन संदेहास्पद है। फिर भी विभिन्न संस्कृतियों मे मनुष्य के क्रोध का अवसर, अवधि और रूप बहुत भिन्न होता है। विस्तृत प्राणिक सीमाओं में मानव-प्रकृति पर्याप्त नमनीय है। यद्यपि मानव-प्रकृति में बहुत नमनीयता है, पर इसका यह अर्थ नही कि उसे जैसे चाहें वैसे बदला जा सकता है और उसका प्राणिक प्रकृति के साथ समान समीकरण सम्पन्न होता है। हम बारह घंटे सोने का अभ्यास डाल सकते है और चार घंटे सोकर भी गुजर कर सकते है। इस अर्थ में मानव प्रकृति नमनीय है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य बिना सोये भी काम चला सकता है, या कितना भी सोने से उसकी प्राणिक प्रकृति के साथ उसे एक-सा समीकरण (adjustment) प्राप्त होता है। हो सकता है, आठ घंटा ऐसी अवधि हो जो प्राणिक प्रकृति के लिए सबसे अधिक अनुकूल हो। इस तरह संस्कृति और आनुवंशिकता के समीकरण का प्रश्न समीकरण की सीमा और नमनीयता की सीमा से सम्बद्ध है।

एक संस्कृति में सांस्कृतिक विभिन्नता

निःसंदेह संस्कृति का व्यक्तित्व पर प्रबल प्रभाव पड़ता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि संस्कृति एक ऐसा सांचा या ठप्पा है जो किसी समुदाय के सदस्यों को एक रूप या रंग में ढाल देता है। वास्तव में एक संस्कृति में पले सब सदस्य अपनी धारणाओं, विचारों और व्यवहारों में समान नहीं होते। आरण्यक समुदायों तक पर यह बात लागू होती है। पुरुष औरों स्त्रियों, बालकों और वृद्धों, पुरोहितों और शमनों, नेताओं और अनुचरों—प्रत्येक के व्यक्तित्व में विस्तृत अन्तर पाया जाता

है । एक संस्कृति में व्यक्तित्वों की विभिन्नता का एक कारण उसके विभिन्न व्यक्तियों और समूहों से संस्कृति की विभिन्न मांगें हैं । लिण्टन ने इस तथ्य की ओर विशेष रूप से हमारा ध्यान आकर्षित किया है और साथ ही सांस्कृतिक प्रभावों का एक उपयोगी श्रेणी-विभाजन प्रस्तुत किया है । उसके अनुसार प्रत्येक संस्कृति मे कुछ ऐसे सांस्कृतिक गुण होते है जो समान रूप से सब सदस्यों पर दबाव डालते है । इन गुणों को हम सार्वभौम गुण कह सकते हैं । इन गुणों में भाषा, वेशभूषा, घरों और समूह-आदर्शों का समावेश है। इसके अतिरिक्त, संस्कृति के कुछ अन्य पहलू है जो कि जनसंख्या के एक विशिष्ट समूह पर ही लागू होते हैं । उदाहरण के लिए, प्रत्येक संस्कृति में स्त्री-पुरुषों के बीच एक श्रम-विभाजन विद्यमान रहता है और दोनों वर्गों के लिए आचार के विभिन्न मानदण्ड होते हैं । इसी प्रकार प्रत्येक पेशे के समूह का एक विशिष्ट सांस्कृतिक दृष्टिकोण होता हैं । विभिन्न पेशों के लिए विशिष्ट कार्यपद्धति, यहां तक कि एक विशिष्ट शब्दावली होती है, जो कि एक विशिष्ट 'पेशेगत दृष्टिकोण' का सृजन करती है । संस्कृति के इन पहलुओं को लिण्टन ने विशिष्टताएं कहा है । इसके अतिरिक्त, प्रत्येक संस्कृति में एक ही आवश्यकता की पूर्ति के विभिन्न मार्ग होते है, जिन्हें कि उसने विकल्पों का नाम दिया है । उदाहरण के लिए, प्रत्येक संस्कृति में मनोरंजन और दिल-बहलाव के विभिन्न सर्वस्वीकृत साधन हर एक व्यक्ति को उपलब्ध होते हैं; वह जिसे पसन्द करे उसका उपयोग कर सकता है ।

इससे स्पष्ट है कि संस्कृति के सार्वभौम तत्त्व ही व्यक्तित्व की समानता में सहयोग देते हैं । किन्तु आरण्यक समाजों में भी सार्वभौम की तुलना में विशिष्ट और विकल्प तत्त्व ही अधिक अनुपात में पाये जाते है, और यही संस्कृति में विभिन्नता और समानता, एकता और अनेकता के लिए उत्तरदायी होते है। आरण्यक और आधुनिक दोनों ही संस्कृतियों में एकता और विविधता के दर्शन होते हैं । भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध मे तो यह बात बहुत ही पूरी उतरती है । समस्त भारत में एक विचित्र मानसिक और धार्मिक समानता है, पर फिर भी इसके विभिन्न भागों और विभिन्न भागों के विभिन्न समूहों और वर्गों की भाषा, वेश-भूषा, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, पद-प्रतिष्ठा में विस्तृत अन्तर विद्यमान है । यदि यह कहें तो अच्छा होगा, कि भारतीय संस्कृति एक रंगी चादर नहीं, बल्कि बहुरंगी चुनरी है ।

उन देशों में भी, जहां कि संस्कृति अधिक एकतत्त्वीय है, पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है । आधुनिक संस्कृति इतनी अधिक विस्तृत है कि कोई व्यक्ति इसे पूर्णतः नहीं ढक सकता । बच्चे का अनुभव बहुत कुछ संस्कृति के उस अल्प अंश का परिणाम होता है जिसके कि वह सम्पर्क में आता है । समूह विशेष सामाजिक विरासत के एक अंश के संरक्षक होते हैं, और जो कुछ बच्चा सीखता है, वह इस पर निर्भर करता

है कि वह किस समूह से सम्बद्ध है। वह एक कुलीन या एक अछूत की संस्कृति ग्रहण कर सकता है। यदि वर्गों की दीवारें बहुत ऊंची और अनुल्लंघनीय नहीं है, तो वह बाद में एक वर्ग से दूसरे वर्ग में पहुंच सकता है, और इस तरह संस्कृति के विभिन्न प्रभावों को आत्मसात् कर सकता है।

और फिर, बच्चा किस खानदान या कुल से आता है, इस पर भी बहुत कुछ उसका व्यक्तित्व निर्भर करता है। कुल व्यक्तित्व पर अपनी छाप छोड़ता है। एक व्यापारी, कर्मचारी, श्रमिक या किसान बनने में बहुत अंश में यह एक निर्णयक तत्त्व है। बच्चे का क्रीड़ा-समूह भी बच्चे के व्यक्तित्व के ढालने मे अपना हाथ रखता है। वह एक बालचर या गलियों के छोकरों की संस्कृति ग्रहण कर सकता है। धार्मिक समूह भी उसको ढालने में अपना योग देता है। वह सुबह उठकर संध्या-हवन करता है, या मन्दिर जाता है, या कीर्तन करता है या उपवास रखता है, या कलमा पढ़ता है, यह उसके धार्मिक समूह द्वारा ही निर्णीत होता है। इसमें स्कूलों का भी दान है। वह विशिष्ट खेल खेलता है, संगीत और कला का अभ्यास करता है, यह उसके स्कूल की ही विशेषता है। तत्पश्चात् वह कौन-से कालिज या विश्वविद्यालय में प्रवेश लेता है, यह चीज भी उसके सांस्कृतिक प्रतिमान को विशेष रूप से प्रभावित करती है। शान्ति निकेतन, गुरुकुल कांगड़ी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, रुड़की इंजीनियरिंग कालिज, दिल्ली कामर्स कालिज में एक विशिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण होता है। अन्ततः, उस पर उस पेशे के समूह का प्रबल प्रभाव पड़ता है जिसे कि वह अपनाता है। एक सिपाही, एक इंजीनियर, एक डाक्टर, एक अध्यापक, एक व्यापारी, एक शासक या एक किसान बनकर जो आदतें और धारणाएं वह अर्जित करता है, उनमें पर्याप्त पार्थक्य है। यह तथ्य और उदाहरण इस बात की ओर संकेत करते है कि हमारे जैसी एक जटिल संस्कृति विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्वों का निर्माण करती है और कर सकती है।

ग्यारहवां अध्याय

संस्कृति का विकास

EVOLUTION OF CULTURE

आज एक आधुनिक शहर में जो यह ऊंची-ऊंची इमारतें, उम्दा सड़कें, रेल, बस, ट्राम, मोटर, स्कूल, स्टोर, हस्पताल, सिनेमागृह, टेलीफोन, रेडियो, तार, मन्दिर, मस्जिद, पुल और कारखाने देखने मे आते है, आखिर वह कहां से और कैसे आये ? इसका एक सीधा सहज उत्तर तो यह है कि वह मनुष्य कहे जाने वाले अभिमानी प्राणी के मस्तिष्क की उपज है, उसकी बुद्धि का चमत्कार हैं। परन्तु यह उत्तर बहुत भ्रात है, चूंकि इनमे से कोई भी वस्तु अकस्मात् और हठात् उत्पन्न नही हुई। इन सबके बनने मे कम-से-कम पाच लाख वर्ष लगे हैं। उन ढांचों के पेच और कड़ों का आविष्कार' जिन पर कि यह सारा शहर खड़ा है, हजारों साल पहले हिमयुग में या उससे भी पहले हुआ था।

संस्कृति का संचय

आधुनिक शहर का निर्माण हजारों सालों के सांस्कृतिक संचय का परिणाम है। प्रारम्भिक औजार बनाने वाले पत्थरों को एक दूसरे से टकराकर छीलते थे, बाद मे उन्होंने दबाव डालकर घिसने, खुरचने, और छेदने के साधन विकसित किए। अन्ततोगत्वा, हड्डियो, सीगो और हाथीदातों का औजारों के निर्माण में प्रयोग हुआ। बाद मे तांबे और सोने जैसी धातुओं को पीटकर चपटा करन और उनसे मिश्रित धातुएं बनाने का आविष्कार हुआ। इस तरह शनैः-शनैः संस्कृति में वृद्धि हुई।

गणित की भाषा मे वृद्धि के इस सिद्धान्त को इस भांति व्यक्त किया जा सकता है :

$$स = क + ख प$$

क एक मौलिक संस्कृति है, **प** उसके परिवर्तन को व्यक्त करता है, **ख** परिवर्तन के परिणाम को दर्शाता है, **स** परिणत संस्कृति है। इसी बात को हम भाषा मे ऐसे कह सकते है कि जल की बूंद-बूंद करके सागर भरता है, मिट्टी के कण-कण से मिलकर पृथ्वी बनती है।

योग (Addition) द्वारा वृद्धि. संस्कृति की वृद्धि का नियम वृद्धि के अन्य नियमों के ही समान है। यदि संस्कृति में नये जुड़े तत्त्वों की संख्या, विलीन

हुए तत्त्वों की संख्या से अधिक रहती है, तो हम उसे संस्कृति में वृद्धि कहते हैं, अन्यथा संस्कृति का ह्रास हुआ या वह स्थिर रही, ऐसा कहा जाता है। यह ठीक वैसे ही है, जैसे कि ज्यों-ज्यों एक बच्चा बढ़ता है, उसके पुराने जीव-कोष (Cells) मरते जाते है और उनका स्थान नये और अधिक जीवकोष ले लेते है। संस्कृति में यह नया तत्त्व आविष्कार (Invention) कहलाता है। सामान्यतः हम आविष्कार का अर्थ एक नई यान्त्रिक विधि या युक्ति समझते है, पर समाजशास्त्र में हम अभौतिक आविष्कारों का भी समावेश करते हैं। उदाहरण के लिए आर्थिक क्षेत्र में संयुक्त पूंजी की कम्पनी और आयोजन, राजनीतिक-क्षेत्र में मन्त्रि-परिषद् और मतदानपत्र, कला और साहित्य के क्षेत्र में रवीन्द्र संगीत, भरत नाट्य और एकांकी नाटक, यह सब अभौतिक सामाजिक आविष्कार हैं। पर यह भी सही है कि भौतिक आविष्कार प्रायः, जहां एक ओर उत्पादन की नई प्रणाली और प्रक्रिया को जन्म देते है, वहां दूसरी ओर यह अपने प्रति नये दृष्टिकोण तथा समूह में नये विश्वासों और धारणाओं को जन्म देते है।

सामाजिक विरासत में दो प्रकार से वृद्धि हो सकती है : विद्यमान तत्त्वों की अधिकाधिक वृद्धि से अथवा नये तत्त्वों के प्रवेश से। उदाहरण के लिए, यदि हमारे विदेशी व्यापार की मदों में कोई हेर-फेर नही होता, पर उनका परिमाण बढ़ जाता है, तो यह वृद्धि पहले प्रकार की वृद्धि है। पर यदि इसमें नई वस्तुओं के आविष्कार और उत्पादन से कोई नई मदें आकर उसे बढ़ा देती है, तो वह दूसरे प्रकार की वृद्धि कहलायेगी।

संस्कृति के अल्प अंश ही लुप्त होते हैं. सस्कृति के विकास और वृद्धि में एक यह बात स्मरणीय है कि किसी भी ऐसे आविष्कार का, जिसकी कि उपयोगिता प्रदर्शित हो चुकी हो, प्रायः लोप नहीं होता। भाषा संक्रमण द्वारा उसे जीवित रखती है। बावजूद इसके, संस्कृति में कुछ हानियां अवश्य घटती है। भारतवर्ष में ही धनुर्विद्या से सम्बन्धित शस्त्रों तथा ढाका की प्रसिद्ध मलमल के निर्माण की कला आज लुप्त हो चुकी है। मिस्र मे आज कोई ममियों की भांति मुर्दों को संरक्षित रखना नहीं जानता। पूर्वकाल की शिकारी संस्कृतियां आज शिकार पकड़ने, घेरने, फंसाने मारने, मारे हुए पशुओं की खाल उतारने, कमाने, रंगने और उससे विविध्र वस्तु तैयार करने की हजारों विधियों को भूल चुकी है। पर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि समस्त मानव-संस्कृति की सम्वृद्धि की तुलना में, यह हानियां नगण्य हैं। सांस्कृतिक गुणों के लोप का ठीक-ठीक निर्णय करना सुगम नहीं है। एक विलुप्त कला का केवल किसी पुस्तक में वर्णन हो सकता है, जब कि वास्तव में उसका कोई चिह्न नहीं मिलता। इसी तरह कोई कौशल बहुत थोड़े लोगों तक ही सीमित हो सकता है। किसी सांस्कृतिक क्षेत्र में लोप की यह प्रक्रिया बहुत धीमी और किसी

में पर्याप्त तेज होती है ।

प्रतिस्थापन (Substitution). अनेक बार संस्कृति प्रतिस्थापन होता है, अर्थात् एक विद्यमान वस्तु के लिए ही कोई अन्य वस्तु प्रस्तुत की जाती है । इस प्रक्रिया को संस्कृति वृद्धि के बजाय, संस्कृति परिवर्तन या प्रतिस्थापन कहना अधिक उपयुक्त होगा । संस्कृति के विकास के लिए, प्रतिस्थापन के अतिरिक्त, नूतन वृद्धि भी अपेक्षित है । मोटर और रेल-गाड़ी ने घोड़े और बैलगाड़ी को प्रतिस्थापित किया है, पर फिर भी यह अभी पूरी तरह घोड़े और बैलगाड़ियों को हटाने में समर्थ नहीं हुए हैं । मोटर, रेल, घोड़े, बैलगाड़ी सभी का प्रयोग हमारे देश में अभी हो रहा है । अतः प्रतिस्थापन के साथ हम यहां संचय भी देखते हैं । कभी-कभी एक या अनेक आविष्कारों को एक नया आविष्कार सर्वथा प्रतिस्थापित कर देता है । अनेक उद्योगों में बिजली ने कोयले को पूर्णतः प्रतिस्थापित कर दिया है ।

अभौतिक (Non-material) **संस्कृति में संचय.** संचय की प्रक्रिया केवल भौतिक संस्कृति तक ही सीमित नहीं है, वरन् अभौतिक संस्कृति पर भी वह पूर्णतः लागू होती है । रीति-रिवाजों, जनश्रुतियों, कला और साहित्य में निरन्तर वृद्धि होती रहती है । कभी इसकी वृद्धि का अनुपात प्रतिस्थापित तत्त्वों से कम और कभी अधिक होता है ।

संस्कृति-संचय का सिद्धान्त इस बात को स्पष्ट करता है कि हम आज जिस संस्कृति का उपभोग कर रहे हैं, उसके पीछे हजारों-लाखों सालों के हजारों-लाखों मनुष्यों का श्रम और शक्ति लगी हुई है । हमे अपने पूर्वजों की तुलना में कहीं अधिक समृद्ध विरासत प्राप्त हुई है । दो हजार ई० पूर्व के भारतीयों की तुलना में दो हजार ई० पश्चात् के भारतीय, कहीं अधिक समृद्ध संस्कृति का उपभोग कर रहे है, और आज से सौ साल बाद आने वाले उनके वंशज आज से कहीं समृद्धतर संस्कृति का उपभोग करेंगे ।

निरन्तरता (Continuity) का सिद्धान्त

किसी भी नये आविष्कार या सांस्कृतिक गुण के विकास को समझने के लिए विद्यमान वस्तुओं और परम्परा का ज्ञान आवश्यक है । वास्तव मे किसी भी नये आविष्कार, तथा सांस्कृतिक गुण का मूल, अब तक वर्तमान ज्ञान में निहित है, या दूसरे शब्दों में, वह विद्यमान का ही बढ़ा हुआ रूप है । विद्युत्, एक्सरे, हवाई-जहाज, इस्पात तथा विविध वस्तुओं के निर्माण के पीछे सदियों का इतिहास है । हजारों वर्षों के छोटे-छोटे आविष्कारों के संचय ने इनके वर्तमान और जटिल निर्माण को संभव बनाया है । इस प्रकार मानव संस्कृति में हमे सर्वत्र ही निरन्तरता का तत्त्व दृष्टिगोचर होता है ।

आज जटिलतम वस्तुओं का निर्माण करने के लिए हमें उस सुदीर्घ विकासवादी प्रक्रिया से नहीं गुजरना पड़ता, जिससे कि विभिन्न समयों में हमारे समुदाय के लोगों को गुजरना पड़ा है। जो बातें उन्होंने सदियों में सीखीं, वह हम ज्ञान के संक्रमण (Transmisson) और हस्तान्तरित होने की कृपा से कुछ ही वर्षों में सीख लेते हैं। हम ऐसा इसीलिए कर सकते हैं, क्योंकि निरन्तरता द्वारा संचित ज्ञान का भण्डार विद्यमान है और हम उसे प्राप्त कर सकते है। किन्तु वह ज्ञान जो आज एक निर्माता को आधुनिक वस्तुओं के निर्माण की क्षमता प्रदान करता है, शायद उतना ही पुराना है जितना की अधिजैविक (Super-organic) का विकास। वास्व मे बिना संस्कृति के मनुष्य के लिए यह ज्ञान प्राप्त करना सर्वथा असंभव था।

निरन्तरता का सिद्धान्त 'दुनिया मे कुछ भी नया नहीं है,' इस पुरानी कहावत को एक अर्थ प्रदान करता है। आगरे का ताजमहल या भाकरा का बांध देख हम दांतो तले उंगली दबा लेते है, उनके निर्माताओं की प्रतिभा की प्रशंसा करते नही थकते। पर यदि हम जरा शांति से सोचें, तो हमें पता चलेगा कि १७वी सदी के भारतीयों ने ताजमहल और २०वी सदी के भारतीयो ने भाकरा बांध का निर्माण शून्य से नही कर लिया। उसमें सदियों के ज्ञान संचय और विभिन्न विस्तृत संस्कृतियो का दान और सहयोग था। यही बात सामाजिक संस्थाओं और प्रथाओ के सम्बन्ध में भी सत्य है। उदाहरण के लिए, इंगलैण्ड में प्रजातन्त्र की स्थापना और स्थिरता कोई आकस्मिक घटना नहीं है। यह एक दीर्घ परम्परा का परिणाम है। इससे स्पष्ट है कि इतिहास के समुचित अध्ययन के बिना किसी सामाजिक समस्या को सही-सही नही समझा जा सकता। भूत से वर्तमान का और वर्तमान से भविष्य का निर्माण होता है।

आविष्कार विकासवादी प्रगति की सीढ़ियां हैं। यदि कोई आविष्कारक किसी श्रेष्ठ वस्तु या संगठन का आविष्कार करता है, या कोई यान्त्रिक या सामाजिक सुधार करता है, तो यह तभी सम्भव हुआ है जब कि उसे मानवजाति द्वारा तब तक अर्जित ज्ञान और अनुभव प्राप्त है। न्यूटन ने ठीक ही कहा है "यदि मैंने आगे तक देखा, तो इसीलिए, क्योंकि मैं विशालकाय कंधों पर खड़ा था।"

मिश्रित-फलीकरण (Cross-Fertilisation) का सिद्धान्त

विद्यमान ज्ञान से ही आविष्कारों का जन्म होता है, यह मिश्रित-फलीकरण के सिद्धान्त का मूल है, जिससे कि हम सांस्कृतिक विकास और संचय की प्रक्रिया को समझ सकते है। मान लीजिये कि एक सामाजिक विरासत के क, ख, ग, घ, ङ, यह पांच परस्पर अविभाज्य विभिन्न अंग है। यह क, ख, ग, आदि विभिन्न अंग पृथक्-पृथक् किसी एक विशेष विचार या तत्त्व का प्रतिनिधित्व करते है और

इनके कोई भी दो या अधिक अंग परस्पर मिलकर किसी नये आविष्कार को जन्म देते हैं।

उदाहरण के लिए, युद्धशास्त्रों के विकास में संस्कृति के एक विभाग, रसायन-शास्त्र से बारूद का विचार लेकर और संस्कृति के दूसरे विभाग यन्त्रशास्त्र (Mechanics) से वस्तु फेंकने की प्रणाली का विचार लेकर, दोनों के सम्मिश्रण से गोला फेंकने वाली तोप का आविष्कार हुआ है। माचिस के आविष्कार से पूर्व पत्थर और लोहा टकराकर तथा एक सींख बीच में लगाकर, जो कि आग पकड़ लेती थी, आग जलाई जाती थी। बाद में इस सीख को गंधक में डुबाया जाने लगा ताकि वह जल्दी आग पकड़ सके। अन्ततोगत्वा, उस पर एक अन्य रासायनिक पदार्थ लगा दिया गया जिसको रगड़ने से ही आग निकलने लगी, और इस तरह आधुनिक माचिस आविष्कृत हुई। इसी तरह डार्विन के विकासवाद का सिद्धान्त अर्थशास्त्र के माल्थस के जनसंख्या-सिद्धान्त और प्राणिशास्त्र के सिद्धान्तों के मिश्रण का परिणाम था।

मिश्रित-फलीकरण सदैव ही नये विचारों के उद्गम का स्रोत रहा है। नये विचार भौतिक और अभौतिक दोनों क्षेत्रों में हमारी संस्कृति को समृद्ध करते है, यह तथ्य विभिन्न विज्ञानों के निकट सम्पर्क और परस्पर आदान-प्रदान के महत्त्व के ऊपर भी प्रकाश डालता है।

प्रसार (Diffusion)

आविष्कारों के लिए एक सामाजिक विरासत के विभिन्न भागों से ही विचार नहीं आते, वरन् अनेक बार उनका आगमन दूसरी संस्कृतियों से होता है। संस्कृति-गुणों का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को जाना या स्थानान्तरण प्रसार कहा जाता है।

सभ्यता के विकास को सही-सही समझने के लिए यह समझना जरूरी है कि लोगों के समूह विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों मे रहते है। संस्कृति का विकास समग्र संसार में एक साथ और एक गति से न होकर, विभिन्न छोटे-छोटे क्षेत्रों में होता है। इसीलिए हमें बर्मी, चीनी और जापानी संस्कृतियां देखने को मिलती है। किसी सुदूर भविष्य में शायद समस्त विश्व एक संस्कृति बन सके, पर फिलहाल इसके कोई चिह्न नजर नहीं आते। फिर भी विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्र एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् नहीं है। उनके बीच घनिष्ठ और निरन्तर सम्पर्क है। यही कारण है कि एक स्थान के आविष्कार दूसरे स्थान में अपना लिए जाते हैं। रेल पहले-पहल इंगलैण्ड में बनी, पर धीरे-धीरे संसार के सभी देशों ने उसे अपना लिया। इन देशों में स्वतन्त्र रूप से उसका आविष्कार नही हुआ। विभिन्न देशों में रेल का प्रचार और प्रवेश प्रसार का ही परिणाम था।

संस्कृति में स्व-आविष्कृत तत्वों का अभाव. किसी भी क्षेत्र में वहां के स्व-आविष्कृत तत्त्वों का अनुपात कुल संस्कृति की तुलना में बहुत कम होता है। लिण्टन ने इस तथ्य को एक अमेरिकन की दिनचर्या देकर बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है :

"हमारा ठेठ अमेरिकन नागरिक उस चारपाई से सोकर उठता है जो उस नमूने की बनी है जिसका निकटपूर्व में जन्म हुआ और जिसका अमरीका में संक्रमण होने के पूर्व उत्तरी योरोप में संशोधन हुआ। वह उन पर्दों को हटाता है जो भारत में उगी कपास, या निकटपूर्व में उगी लिनन या वहीं उत्पन्न भेड़ों की ऊन, या उस सिल्क के बने होते हैं जिनकी कि खपत सर्वप्रथम चीन में हुई थी। यह सभी चीजें उन प्रक्रियाओं से काती या बुनी जाती हैं, जो कि निकटपूर्व में ही आविष्कृत हुईं। वह उन आराम जूतों में पैर डाल देता है जिनका आविष्कार पर्वी जंगलों के रेड इंडियनों ने किया, वह उस गुसलखाने में घुसता है जिसमें लगी चीजें योरोप और अमरीका के आधुनिक आविष्कारों का मिश्रण हैं। वह अपना पाजामा, वह पोशाक जिसका कि आविष्कार भारत में हुआ है, निकालता है और उस साबुन से धोता है जिसका आविष्कार गाल लोगों ने किया था। वह फिर हजामत बनाता है। इस आत्म-पीड़न रीति को उसने शायद सुमेर या प्राचीन मिस्र से लिया प्रतीत होता है।

"कमरे मे लौट कर वह दक्षिणी योरोपीय किस्म की कुर्सी से अपने कपड़े उतारकर उन्हें पहनने चलता है। वह ऐसी पोशाक पहनता है जो एशियन मैदानों के बनजारों से ली गई है, उन जूतों को पैर में डालता है जिनकी कि खाल प्राचीन मिस्र में आविष्कृत प्रक्रिया से कमाई गई है और जिसकी काट भूमध्यसागर की प्रसिद्ध सभ्यताओं से मिलती है; वह अपनी गर्दन में एक चमकीली रंगीन पट्टी बांधता है जो कि सत्रहवीं सदी के क्रोटियन लोगों द्वारा कन्धों पर डाले जाने वाले शालों का अवशेष है। नाश्ते पर जाने से पहले वह एक बार उस खिड़की से झाक कर देखता है जो कि मिस्र में आविष्कृत शीशे से बनी हुई है, और अगर वर्षा हो रही है तो वह केन्द्रीय अमरीका के आदिवासियों द्वारा खोज की गई रबड़ के बने जूते पहनता है और दक्षिण-पूर्व एशिया में बने छाते को लगाता है। अपने सिर पर एशिया के मैदानों में बने एक पदार्थ से बनी फैल्ट का हैट लगाता ह।

"नाश्ते पर जाते हुए रास्ते में वह एक अखबार खरीदता है और उसकी कीमत का भुगतान, सिक्कों से जो कि लीडिया का आविष्कार है, करता है। रेस्तरा में उसे दूसरों से उधार ली गई वस्तुओं की एक नई सूची का सामना करना पड़ता है। उसकी प्लेट चीन में आविष्कृत बर्तन के नमूने की बनी है।

उसका लोहे का चाकू, एक मिश्रित धातु से, जो सबसे पहले दक्षिणी भारत में आविष्कृत हुई, बना है, उसका कांटा मध्यकालीन इटली का आविष्कार है, और उसका चम्मच मूल रोम के नमूने का संशोधित रूप है। वह भूमध्यसागर के संतरे, फारस के खरबूजे या अफ्रीका के तरबूज के टुकड़े से अपना नाश्ता शुरू करता है। उसके साथ वह अबीसीनिया के एक पौधे से बनी काफी, क्रीम और चीनी डालकर पीता है। गौओं को पालने और उनका दूध दुहने, दोनों का विचार निकटपूर्व में उदित हुआ, जब कि चीनी सबसे पहले भारत में बनी। फल और काफी के बाद वह स्केण्डिनेवियन विधि से एशिया माइनर में उपजाई गेंहूं से बनी वैफिल केक की ओर हाथ बढाता हैं। उसके ऊपर वह मेपल का शर्बत, जिसका कि आविष्कार पूर्वी जंगलों के अमरीकी आदिवासियों ने किया है, डाल लेता है। साथ में वह हिन्दचीन में पाली जाने वाली एक चिड़िया की जाति का एक अण्डा ले लेता है, अथवा उस जानवर के गोश्त के टुकड़े ले लेता है, जो कि पूर्वी योरोप मे पाला गया है और जिसे उत्तरी योरोप मे विकसित प्रणाली द्वारा नमक और धुआं लगाया गया है।

"हमारा दोस्त खाना खत्म करने के बाद या तो वर्जीनिया के आदिवासियो से अपनाए पाइप या मेक्सिको से ली हुई सिगरेट, जिसमे कि ब्राजील में उत्पन्न एक पौधे की पत्तियां पड़ी हुई है, पीने बैठ जाता है। यदि वह काफी दिलेर है तो एक सिगार आजमाता है, जो हमारे पास स्पेन के रास्ते ऐण्टिल्स से आया है। पाइप, सिगरेट या सिगार पीते-पीते वह दिन की खबरों पर नजर दौड़ाता है जो कि जर्मनी में आविष्कृत अक्षरों से छपी हैं। जैसे ही वह विदेशी झंझटों के विवरण पढ़ता है, यदि वह एक अनुदारदली नागरिक है, एक यहूदी देवता को एक हिन्दी-आर्यन भाषा में धन्यवाद देता है कि वह एक शत-प्रतिशत अमेरिकन है।"

लिन्टन का यह उद्धरण जितना एक सामान्य अमेरिकन के सम्बन्ध में उपयुक्त है, एक पाश्चात्य सभ्यता से विशेष प्रभावित आधुनिक भारतीय के सम्बन्ध में भी उससे कम उपयुक्त नहीं है।

आधुनिक अमरीका की सामाजिक विरासत, वहां इंग्लैण्ड, स्पेन और अन्य योरोपीय देशों से ले जाई गई है। उस सामाजिक विरासत की कुछ वस्तुएं, जैसे कि आलू, मक्का, कई प्रकार के खाने और लड़ने के तरीके, अमेरिकन आदिवासियों से ग्रहण किए गए हैं। इंग्लैण्ड और फ्रांस ने इटली की संस्कृति से बहुत कुछ सीखा है। जब कि इटली ने स्वयं बहुत कुछ ग्रीस से ग्रहण किया है। ग्रीक लोगों ने बहुत कुछ क्रीट से और स्वयं क्रीट ने बहुत कुछ मिस्र से पाया है। मिश्र स्वयं दजला और फरात की घाटी की सभ्यता का बहुत ऋणी है और दजला

और फरात की सुमेरियन सभ्यता, भारतीय सभ्यता और चीनी सभ्यताओं में परस्पर घनिष्ट सम्पर्क था, ऐसा विद्वानों का मत है। इससे स्पष्ट है कि एक क्षेत्र ने अन्य क्षेत्रों से कितने ही सांस्कृतिक तत्वों को ग्रहण किया।

भारतीय सभ्यता में विभिन्न संस्कृतियों की देन

पृथक्करण (Isolation) प्रसार के मार्ग में बाधक. वास्तव में किसी क्षेत्र की संस्कृति अन्य क्षेत्रों की संस्कृति के अंशों के आयात (Import) से ही समृद्ध होती है। वह क्षेत्र जो कि किन्ही कारणों से दूसरी संस्कृतियों के सम्पर्क में नहीं आ पाते, सभ्यता की दौड़ मे बहुत पीछे रह जाते है। सम्पर्क, यातायात और संवाद-वहन की सुविधाओं के न होने के कारण, दूर स्थित द्वीपों या दुर्गम वन्य और पर्वतीय प्रदेशों में प्रायः ऐसा ही होता है। हमारे ही देश मे हिमालय पर्वतश्रेणी और आसाम के वनों के कुछ दुर्गम प्रदेशों की संस्कृति बहुत पिछड़ी हुई है। इसका प्रधान कारण उनका पृथक्करण ही है।

सांस्कृतिक वृद्धि की दर

प्राचीन युग की मंद गति

प्रसार और पृथक्करण संस्कृति-वृद्धि की तेज और धीमी गति पर अच्छा प्रकाश डालते है। प्रागैतिहासिक (Pre-historic) काल में संस्कृति के विकास की गति बहुत धीमी रही होगी। उस समय के प्राप्त पत्थर के हथियारों में संशोधन और परिवर्धन करने में हजारों, या दसों हजार साल लग गये। प्राचीनतम पाषाण-संस्कृति शैलन संस्कृति थी, जो कि शायद पचास हजार साल से अधिक समय तक कायम रही। इसकी प्रगति अत्यन्त धीमी थी। शैलन संस्कृति के प्रारम्भ में हमें एक साधारण नुकीली कुल्हाड़ी के दर्शन होते हैं, जिसकी लम्बाई मंझली, शक्ल दोनों हथेलियों को मिलाकर बादाम जैसी, धार टूटी थी। इस संस्कृति के अन्तिम दिनों में यह कुल्हाड़ी अधिक लम्बी और गोलाई लिए हुए बनने लगी, पर इसकी धार अभी भी टूटी ही रही। इस युग के मानव के अवशेष हमें नहीं मिलते। अतः हो सकता है कि मनुष्य का अपरिपक्व प्राणिक विकास प्रगति की इस मन्द गति के लिए उत्तरदायी रहा हो।

किन्तु अब से पन्द्रह-बीस हजार साल पहले परवर्ती हिमयुग का मनुष्य आधुनिक मानव के समान ही था। परवर्ती संस्कृति में भी भद्दे-खुरदरे औजार मिलते हैं। कहीं नवपाषाण युग (Neolithic Age) में जाकर, आज से लगभग पांच हजार साल पहले, चिकने पत्थरों के औजारों के दर्शन होते हैं। भोंड़े, खुरदरे औजारों से चिकने औजारों तक पहुंचने में दस हजार साल से ज्यादा लग गये। यद्यपि अन्य दिशाओं में तत्कालीन पाषाण संस्कृतियों ने, विशेष कर विभिन्न प्रकार के पत्थर, हड्डी और हाथी दांत के औजार और उपकरण बनाने में, बहुत

उन्नति की।

परवर्ती युग की तेज गति.

इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में संचय की गति बहुत ही धीमी था। नवपाषाण युग में वह कुछ तेज हुई। परवर्ती कालों में तांबे से कांसे और कांसे से लोहे के प्रयोग के साथ इसकी गति तीव्रतर होती चली गई। अन्ततः, ऐतिहासिक काल, विशेषकर उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में तो, इसकी गति में अनुपम वृद्धि हो गई। १८३० में रेल, १८८० में ट्राम, और १९०० ई० में बस का आगमन हुआ। आज दशकों वर्षों और कभी-कभी महीनों में बड़े-बड़े परिवर्तन घट जाते हैं। कम-से-कम भौतिक वस्तुओं के आविष्कारों की गति तो बहुत ही तीव्र हो चुकी है। प्रसिद्ध मानव-शास्त्री लोई ने इस परिवर्तन को निम्न रूपक द्वारा बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया है।

हम "मानवजाति की प्रगति की उस सौ साल के मनुष्य से तुलना कर सकते हैं, जो अपने जीवन के पचासी साल तक किण्डरगार्टन में भटकता रहता है, दस साल प्राइमरी पास करने मे लगा देता है, तत्पश्चात् बिजली की गति से मिडिल स्कूल, हाई स्कूल और कालिज पार करता चला जाता है।"

वृद्धि की दर में अन्तर के कारण

एक समय था जब कुछ लोग मनुष्य की मानसिक क्षमता की वृद्धि को सामाजिक विरासत की वृद्धि का कारण समझते थे। यदि मानसिक क्षमता में, प्राणिक विरासत और सीखे ज्ञान, दोनों का समावेश है, तो यह बात ठीक है। वस्तुतः जो चमत्कार आज का मानव सम्पन्न कर सकता है, वह क्रोमैग्न्यौन मानव द्वारा संभव नहीं था। इसका कारण आधुनिक मानव में जन्मजात योग्यता की अधिकता न होकर अर्जित ज्ञान की अधिकता है। वास्तव में पिछले बीस हजार सालों में मनुष्य की जन्मजात क्षमता में शायद कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा है। अतः हमें संस्कृति वृद्धि की दर के अन्तर के कारण प्राणिक (Biological) क्षेत्र से बाहर ढूंढने होंगे।

विद्यमान ज्ञान और आविष्कार की दर में सम्बन्ध. संस्कृति की वृद्धि का एक कारण विद्यमान ज्ञान और आविष्कार की दर का क्रियात्मक सम्बन्ध है। प्रत्येक अविष्कार अनेक विद्यमान तत्वों के सम्मिलन का परिणाम होता है। उदाहरण के लिए, हवाईजहाज का आविष्कार इण्टरनल कम्बशन ऐंजिन पर निर्भर था। कलन (Calculus) का आविष्कार विश्लेषणात्मक ज्यामिति पर आश्रित था।

आविष्कार ज्ञात तत्वों का नया सम्मिलन. एक आविष्कार ज्ञात तात्वों का एक नया सम्मिलन भी कहा जा सकता है। टेलीग्राफ बैटरी, इलैक्ट्रो-मैगनेट और तार का सम्मिलन है। मिट्टी के बर्तन, मिट्टी, पानी, गर्मी रंग और अन्य चीजों का

सम्मिलन हैं। इसी तरह, एक मोटरकार बनाने में पेट्रोल ऐंजिन, तरल ईधन के पात्र, रनिंग गीयर और उसके उपकरण, बीच का क्लच, चलाने के स्टीयरिंग और मोटर की बौडी, इन छः प्रधान आविष्कारों का हाथ था। और फिर, प्रत्येक पूर्व आविष्कार स्वयं पूर्व विद्यमान तत्त्वों के संयोग का परिणाम था। उदाहरण के लिए, इंटरनल कम्बशन ऐंजिन, स्वयं दबाव के सिद्धान्त, बिजली की चिनगारी और व्यवधान (Gap) तथा पानी की नली की शीतल व्यवस्था का संयोग था।

गुहावासी मानव पिछड़ा हुआ आविष्कारक था, इसका बड़ा कारण उसका अत्यल्प अर्जित ज्ञान था। आज का मानव महान् आविष्कारक है, इसका प्रधान कारण उसके पास सदियों से संक्रमित और उसके द्वारा अर्जित ज्ञान का होना है, यद्यपि उसकी जन्मजात योग्यता में एक गुहावासी मानव की तुलना में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा है।

संस्कृति का व्याख्यात्मक सिद्धान्त (Exponential Principale)

पुरानी भौतिक संस्कृति के वर्तमान संचय तथा यान्त्रिक आविष्कारों के बीच, एक निर्विवाद कार्य-कारण सम्बन्ध है। तथ्य इस बात की पुष्टि करते है। पुरापाषाण-काल (Paleolithic) में यह संचय बहुत अल्प था, परिणामतः, आविष्कार भी बहुत अल्प थे। पर जैसे-जैसे संचय बढ़ा, अधिकाधिक खोजे हुईं, विद्यमान ज्ञान का भंडार बढ़ता गया और आविष्कारों की गति भी अधिकाधिक बढ़ती गई।

इस तथ्य को हम चक्रवृद्धि ब्याज (Compound Interest) की वृद्धि की भांति एक व्याख्यात्मक वक्ररेखा (Curve) से दर्शा सकते है। मान लीजिये १०० रु० पर एक साल में ५ रुपया ब्याज मिलता है। हर साल ब्याज के जुड़ने से मूल राशि बढ़ती जाती है। एक साल के अन्त में वह १०५ रु०, दो साल के अन्त में ११० रु० ४ आने, तीसरे साल के अन्त में ११५ रु० १२ आ० हो जाती है। हर साल वृद्धि की दर ५ रु० से कुछ ज्यादा ही होती जाती है। किन्तु एक समय पश्चात् मूल के साथ-साथ ब्याज भी एक बड़ी रकम बन जाता है। और १०० साल के बाद जुड़ने वाले ब्याज की रकम ५ रु० के बजाय, लगभग १,००० रु० हो जाती है।

इस व्याख्यात्मक परिवर्तन को किसी के पूर्वजों के गुणन (Multiplication) के उदाहरण से भी समझाया जा सकता हैं। पूर्वज भी इसी नियम से पर अधिक तेजी से बनते हैं। इसके अनुसार एक व्यक्ति के चार बाबा, आठ दादा और सोलह पड़ दादा होंगे। यदि इसी सँख्या को १,००० ई० पू० तक ले जाया जाय तो शायद उसके पूर्वजों की संख्या दसियों लाख में पहुंच जायगी।

पूर्वजों के गुणन का सिद्धांत केवल एक अनुमान मात्र है। अन्तःप्रजनन के कारण किसी व्यक्ति के उतने पूर्वज नहीं होते जितना कि गणित हमें बताती है।

वास्तव में चक्रवृद्धि ब्याज के नियम की भांति व्याख्यात्मक वक्ररेखा भी एक प्रवृत्ति की ही परिचायक है, अक्षरशः सत्य नहीं है। किन्तु यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि योग द्वारा वृद्धि का विचार हमें संस्कृति के विकास को समझने में पर्याप्त सहायता प्रदान करता है।

व्याख्यात्मक वक्र रेखा (Exponential Curve) केवल एक अनुमान. संस्कृति की वृद्धि का स्वभाव एक अनुमानमात्र है। इसको लागू करते समय दो बातों का ध्यान रखना बहुत जरूरी है। पहली तो यह कि आधुनिक युग में रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में भौतिक आविष्कारों की तुलना में यह कम सही उतरता है, क्योंकि आधुनिक युग में जनरीति में परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत बहुत धीमी है। दूसरी बात यह है कि समग्र संसार की तुलना में व्याख्यात्मक सिद्धान्त का अनुमान किसी स्थानीय संस्कृति क्षेत्र पर कम लागू होता है। यदि भारत, दुनिया से बिल्कुल अलग एक भूखण्ड होता, तो यहां संस्कृति की वृद्धि संभवतः चक्रवृद्धि ब्याज की भांति होती। पर चूंकि यह सम्पर्क के साधनों द्वारा समस्त विश्व से जुड़ा हुआ है, इसलिए यहां पर वृद्धि की दर कई गुणा मिश्रित हो गई है। यातायात और संवादवहन के आविष्कार विशेष रूप से संस्कृति वृद्धि की गति को अत्यन्त बढ़ा देते हैं। १९ वीं सदी के मध्य में पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आने से जापान में संस्कृति वृद्धि की दर असाधारण रूप से बढ़ गई, और यही कारण है कि उससे पहले वहां पांच हजार सालों मे जितनी वृद्धि नहीं हुई थी, उससे कही अधिक उसके बाद के पचास सालों में हो गई।

सांस्कृतिक वृद्धि की दर में अन्तर के कारण

संस्कृति की वृद्धि का अनियमित स्वभाव. संस्कृति कभी मन्द, तो कभी तीव्र गति से बढ़ती है। यदि इसके विकास की गति व्याख्यात्मक सिद्धान्त के अनुसार हो तो, इसके विकास की गति निरन्तर तीव्रतर होती रहनी चाहिए थी। उसके धीमा होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रसार (Diffusion) एक बाधक कारण. प्रसार की प्रक्रिया सदैव समान गति से कार्य नहीं करती। कभी उसकी गति मन्द तो कभी तीव्र होती है और तदनुसार ही वह संस्कृति की वृद्धि की दर को प्रभावित करती है।

सब आविष्कारों का महत्त्व समान नहीं होता. परिवर्तन की गति के तेज से मन्द पड़ जाने का एक कारण यह है कि सभी यान्त्रिक या सामाजिक आविष्कारों का समान महत्त्व नहीं होता। उदाहरण के लिए, वाष्प-शक्ति और लोहे के आविष्कार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थे। इन्होंने विकास मी गति को बहुत तेज कर दिया। पर महत्वपूर्ण आविष्कार एक निश्चित अवधि के अन्तर से नहीं होते, अतः उनके आगमन की आनियमितता संस्कृति की वृद्धि की दर में पर्याप्त हेर-फेर उत्पन्न

कर देती है

किसी भी एक वस्तु के संशोधन क्रम को ले लें, चाहे वह बन्दूक हो या गाड़ी, यहीं अनियमितता दृष्टिगोचर होगी। पर जब एक संस्कृति का निर्माण करने वाले हजारों क्रमों को जोड़ा जाय, तो यह अनियमितताएं कुछ कम दृष्टिगोचर होंगी, क्योंकि व्यवहारत: इनमें से अनेक एक दूसरे की पूरक सिद्ध होंगी। अतएव समग्र रूप से संस्कृति की वृद्धि का क्रम निरन्तर बढ़ता ही रहता है, घटता नहीं।

संस्कृति वृद्धि की विभिन्न कल्पनाएं

चक्रीय (Cyclical) कल्पना. कुछ विद्वान् सांस्कृतिक परिवर्तन को एक चक्र के रूप में व्यक्त करते है। ओस्वाल्ड स्पेंगलर इनमें प्रमुख है। उन्होंने ग्रीस, रोम, स्पेन, हालैण्ड, भारत इत्यादि देशों के उदाहरण देकर संस्कृति के उत्थान-पतन को समझाने का प्रयत्न किया है। यह लेखक हमारी तरह सामाजिक विरासत के अर्थ में संस्कृति शब्द का प्रयोग नही करते। विभिन्न लेखकों की संस्कृति के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनाएं है। और इनमें से कोई भी संस्कृति में भौतिक संस्कृति का समावेश नही करता। वास्तव में संस्कृति के किसी एक विभाग मे परिवर्तन की गति पर्याप्त धीमी और तेज होती रहती है। नि:संदेह, कला, साहित्य और संगीत के विकास की गति में पर्याप्त अन्तर पड़ता रहता है, पर यही बात भौतिक आविष्कारों के विकास के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

साम्राज्यवादी कल्पना. कुछ विद्वान् संस्कृति के उत्थान-पतन को साम्राज्यों के उत्थान-पतन के साथ संयुक्त करने का प्रयत्न करते है। ऐल्फरेड जिमरन इनमे प्रमुख है। नि:संदेह, साम्राज्यों के पतन राजनीति, शिक्षा कला इत्यादि विभागों को बहुत प्रभावित करते है, किन्तु भौतिक संस्कृति के विभागों पर इसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ता।

आध्यात्मवादी कल्पना. कुछ अन्य विद्वान् आध्यामिकता के रूप को ही सांस्कृतिक परिवर्तन को कुजी मानते हैं। पित्रिम सोरोकिन इनमे प्रमुख हैं। इनके अनुसार कला और सामाजिक संगठन के आदर्शात्मक पहलुओं का संतुलित एकीकरण संस्कृति के सृजन के लिए आवश्यक है। यह भी संस्कृति में भौतिक संस्कृति का समावेश नही करते। इनमें अधिकांश वह लोग है, जो आधुनिक सभ्यता की भौतिकता से उकता चुके है और आध्यात्मिकता के उत्कर्ष में ही विश्व का कल्याण देखते हैं।

भौतिक संस्कृति की उपेक्षा की भूल. वास्तव में संस्कृति को कलाओं से मिला देना और अभौतिक संस्कृति की उपेक्षा करना बड़ी भूल है। कला और साहित्य की अवनति के युग में भी, प्राय: भौतिक संस्कृति में निरन्तर वृद्धि होती रही है।

बहुत बार हम संस्कृति के नेतृत्व के अपहरण को उसका सांस्कृतिक क्षय मान लेते हैं। पेरीक्लीज के समय के ग्रीस अथवा गुप्तकालीन भारत को हम कला, साहित्य, दर्शन की दृष्टि से अवश्य उन्नत कह सकते हैं परन्तु यदि हम समग्र संस्कृति पर ध्यान दें, तो हमें आज की ग्रीक और भारतीय संस्कृति उस समय से कहीं अधिक समृद्ध और उन्नत दिखाई देंगी।

संस्कृतियों की तुलना

विभिन्न क्षेत्रों की भौतिक और अभौतिक संस्कृति की तुलना कर हम यह जान सकते है कि उनमें से किस क्षेत्र की संस्कृति अधिक उन्नत है। निर्विवाद रूप से वह संस्कृति, जिसमें लेखन कला, जिसके द्वारा ज्ञान का संरक्षण सम्भव है, विद्यमान है; उस संस्कृति की तुलना में जहां लेखन कला का विकास नहीं हुआ है, अधिक विकसित है। संस्कृतियों की तुलना करते समय श्रेष्ठ और निकृष्ट शब्द का प्रयोग उचित नही है, क्योंकि इन शब्दों में नैतिक स्वीकृति या अस्वीकृति का भाव छिपा हुआ है, जिस पर एकमत होना बहुत कठिन है। पर संस्कृतियों की तुलना करते समय इस बात पर एकमत हुआ जा सकता है कि एक संस्कृति मे विद्यमान ज्ञान उसे अन्य संस्कृतियों के ज्ञान की तुलना में अधिक कार्य करने की क्षमता प्रदान करता है। उदाहरणार्थ, पत्थर के औजारों वाली संस्कृति की तुलना मे लोहे की औजारों वाली संस्कृति निःसंदेह अधिक कार्य सम्पन्न कर सकती है। इस अर्थ में एक संस्कृति को दूसरी संस्कृति से श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

इस बात को एक उपमा देकर भी समझाया जा सकता है। मान लीजिए समस्त संस्कृतियां एक दौड़ प्रतियोगिता में भाग ले रही हैं। यदि उनकी प्रगति चक्रवृद्धि ब्याज के नियम या व्याख्यात्मक सिद्धान्त (Exponential principle) के अनुसार हो, तो विकसित संस्कृतियां असाधारण गति से आगे बढ़ जायेंगी और पिछड़ी संस्कृतियों को बहुत पीछे छोड़ जायेंगी। यदि हम यह मान लें कि दोनों संस्कृतियों में वृद्धि और ह्रास की दर समान है, तो उन्नत और पिछड़ी संस्कृतियों के बीच का अन्तर निरन्तर अधिकाधिक होता जायेगा। इस भांति ऐस्किमो संस्कृति की तुलना में योरोपियन संस्कृति कहीं आगे बढ़ गई है और यह उन्नति, बिना किसी वंशानुगत मानसिक योग्यता की वृद्धि के सम्पन्न हो सकती है।

पर व्यावहारिक जगत् में व्याख्यात्मक सिद्धान्त के अनुसार वृद्धि के मार्ग में कई बाधाएं हैं, जिनमें कि प्रसार प्रमुख है। उदाहरणार्थ, भारत में अंग्रेजों के तथा जापान में कमोडोर पेरी के आगमन से पूर्व, सांस्कृतिक वृद्धि की गति पर्याप्त मन्द थी, पर उनके प्रवेश ने इन देशों की सांस्कृतिक वृद्धि की दर में असाधारण

रूप से वृद्धि कर दी। इसी तरह एक समय तक ग्रीस सभ्यता का अग्रदूत रहा और अपेक्षया तीव्र गति से प्रगति करता रहा। पर जैसे ही उसने इटली के प्रायद्वीप पर अपने उपनिवेश स्थापित किए, वहां के लोगों को इस सम्पर्क से एक विशेष सुविधा प्राप्त हुई और वह शीघ्र ही ग्रीस के सांस्कृतिक तत्त्वों को ग्रहण कर उसके बराबर पहुंच गये। एक बार एक पिछड़ी संस्कृति का उन्नत संस्कृति से सम्बन्ध स्थापित होने पर, वह अन्य प्रभावों के कारण उन्नत संस्कृति से आगे निकल सकती है। रोम में ऐसा ही हुआ।

सांस्कृतिक दर को प्रभावित करने वाले कारण

सामाजिक संगठन. संस्कृति की वृद्धि और विशेषकर राज्य के विकास में सामाजिक संगठन का बड़ा हाथ होता है। यदि सरकार भली-भांति संगठित है, शांति और सुरक्षा विद्यमान है, तो ऐसी अवस्था शिल्प, कला, व्यापार और उद्योग की उन्नति के लिए अनुकूल है। इसका परिणाम आविष्कारों की वृद्धि होता है।

युद्ध का परिणाम दोहरा होता है। एक ओर युद्ध आविष्कारों को प्रोत्साहित करते हैं, दूसरी ओर विजित प्रदेशों के शासन के लिए कुशल और कार्य-क्षम सरकार की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, विजित प्रदेशों से प्राप्त हरजाने और लूट का विजेता देश अपने देश में उत्पादक पूंजी के रूप में प्रयोग कर सकते हैं। भारत मे अंग्रेजी राज्य की कहानी इस तथ्य पर अच्छा प्रकाश डालती है कि किस प्रकार शुरू मे भारत से हथियाई पूंजी ने अंग्रेजी उद्योगों की नीव रखने मे योगदान दिया। इसके विपरीत, युद्ध किसी समाज को अंशतः या पूर्णतः विश्रृंखल, विगठित, छिन्न-भिन्न एवं क्लान्त कर सकता है। इस तरह, युद्ध एक क्षेत्र मे संस्कृति के विकास में सहायता और दूसरे क्षेत्र में बाधा उपस्थित करते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी भी राष्ट्र का सामाजिक संगठन सभी दिशाओं में बहुत दूर तक उसके समाज की प्रगति को नियन्त्रित और निर्धारित करता है।

भौगोलिक स्थिति. संस्कृति की वृद्धि और विकास पर भौगोलिक स्थिति का भी प्रबल प्रभाव पड़ता है। भूमध्यसागर के पूर्वीय छोर के निकट के प्रदेशों, एशिया माइनर, सिंधु, गंगा, यमुना और यांगसीक्यांग के कांठे में सभ्यता के प्रारम्भिक विकास पर भौगोलिक स्थिति का प्रभाव स्पष्टतः अंकित है। नील, दजला, फरात, सिंधु, गंगा, यांगसीक्यांग नदियों में पर्याप्त दूरी तक नावें चलाई जा सकती थीं। ऐजियन सागर के द्वीपों का परस्पर अन्तर और थल से उनकी दूरी भी अधिक न थी। इसके अतिरिक्त, वहां की भूमि उर्वरा और जलवायु समशीतोष्ण था। ऐसी स्थिति में इन प्रदेशों में कृषि, पशुपालन और कुटीर-

शिल्प पर आधारित संस्कृति का द्रुत विकास और आविष्कारों को प्रोत्साहन स्वाभाविक था। स्वभावतः एशिया के घोड़े के पालन, उत्तरी ग्रीस के पहिये के आविष्कार, अफ्रीका के तांबे और लोहे के आविष्कार तथा एशिया-माइनर की वर्णमाला ने भूमध्यसागर के पूर्वीय छोर पर समृद्ध संस्कृति की स्थापना की।

भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि इसकी अनुकूलता या प्रतिकूलता भी विद्यमान सांस्कृतिक अवस्था के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। उदाहरण के लिएं, बड़ी नौकाओं और जहाजों के आविष्कार के पश्चात् भारतीय प्रायद्वीप संस्कृति के विकास के अधिक अनुकूल होगया और एशिया की संस्कृति का केन्द्रस्थल और व्यापार का प्रमुख संस्थान बन गया।

वाष्पशक्ति और बृहत् मशीनों के आविष्कार के पूर्व उपजाऊ मैदान संस्कृति के विकास के अधिक अनुकूल थे। पर इनके आविष्कार ने वेल्स, स्काटलैण्ड और उत्तरी इंगलैण्ड के कोयले और लोहे की खानों के उजड़े हुए प्रदेश को औद्योगिक विकास का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र बना दिया। अमरीका में योरोपियन प्रवासियों के आगमन से पूर्व वहां के रैड इंडियन धातुओं और यान्त्रिक शक्ति के ज्ञान के अभाव में प्रकृति द्वारा प्रदत्त अमूल्य और प्रचुर खनिज पदार्थों का उपयोग करने में सर्वथा असमर्थ थे और आर्थिक दृष्टि से बहुत ही पिछड़े हुए थे। प्रवासियों ने आकर उनका उपभोग किया और एक समृद्ध अमेरिकन संस्कृति का निर्माण किया।

नस्ल और संस्कृति. एक समय कुछ विद्वानों ने नस्ल के आधार पर संस्कृति की प्रगति को समझाने का प्रयत्न किया था। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि इतिहास में कभी किसी तो कभी किसी क्षेत्र ने, संस्कृति की दौड़ में नेतृत्व किया है। नेतृत्व के इस परिवर्तन में स्थिति, प्राकृतिक साधन, प्रसार की संभावनाएं, यातायात की अवस्था, भौतिक संस्कृति का प्रभाव प्रमुख कारण हैं। अतः हम निश्चयपूर्वक कह सकते है कि संस्कृतियों की प्रगति के अन्तर मे नस्ल कारण नही है।

आधुनिक सभ्यता में परिवर्तन की दर

भविष्य में परिवर्तन की क्या संभावित दर होगी? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कुछ लोग आज के युग को परिवर्तन का युग मानते हैं। उनके वक्तव्य से कुछ ऐसा भाव झलकता है कि आज से पूर्व की संस्कृति शायद अगतिशील थी। इस सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त है कि किसी भी काल और किसी भी समाज की संस्कृति कभी भी अगतिशील नहीं रही है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्राचीन काल की तुलना में आधुनिक युग में संस्कृति के परिवर्तन की गति बहुत ही तीव्र हो गई है। वास्तव मे पिछले कई हजार वर्षों में कभी भी कोई

अगतिशील समाज नहीं रहा है। यदि अगतिशीलता का अर्थ मनुष्य के जीवन-काल में परिवर्तन का न होना मान लिया जाय, तो जब तक लेखनकला का उदय नहीं हुआ था और मनुष्य की स्मृति ही ज्ञान के संरक्षण का एकमात्र साधन थी, ऐतिहासिक प्रयोजन की दृष्टि से समाज को अगतिशील ही कहा जा सकता था। किन्तु आज तो मनुष्य के जीवन-काल में ही विपुल यान्त्रिक और सामाजिक परिवर्तन घटित हो जाते हैं। यहां तक कहा जाता है कि अनेक बार तो पिता और पुत्र ही एक-दूसरे की भाषा और विचार नहीं समझ पाते।

भौतिक आविष्कार द्रुत-परिवर्तन का एक कारण. संस्कृति के परिवर्तन में यान्त्रिक या अन्य आविष्कारों तथा पूर्व विद्यमान आविष्कारों का प्रसार प्रधान कारण है। आज के किसी भी देश में यान्त्रिक आविष्कार की प्रगति मन्द होती दिखाई नहीं देती। इसका अनुमान पेटेण्टों तथा नई-नई वस्तुओं के निर्माण की बढ़ती संख्या से लगाया जा सकता है। यद्यपि प्रत्येक पेटेण्ट नया आविष्कार नहीं कहा जा सकता, फिर भी उसे हम गौण आविष्कार कह सकते हैं। यह ठीक है कि महत्त्वपूर्ण आविष्कारों की प्रगति की दर में परिवर्तन हो सकते हैं, पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि विद्यमान नये आविष्कार स्वयं ही सामाजिक परिवर्तनों को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है।

जहां तक अभौतिक संस्कृति के परिवर्तनों को मापने का सम्बन्ध है, हमारे पास पेटेण्ट जैसा कोई मापदण्ड नहीं है। अतः अभौतिक संस्कृति के परिवर्तनों की भविष्योक्ति एक कठिन कार्य है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि अनेक भौतिक आविष्कार ही स्वयं सामाजिक आविष्कारों के लिए उत्तरदायी हैं। उदाहरणार्थ, बड़ी मशीनों ने मजदूरों के मुआवजे के कानून को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त, एक सामाजिक आविष्कार, जो कि स्वयं यान्त्रिक आविष्कार का परिणाम नहीं है, अन्य सामाजिक आविष्कारों के लिए उत्तरदायी होता है, जैसे संयुक्त-पूंजी की कम्पनियों ने सीमित दायित्व को जन्म दिया है।

प्रसार (Diffusion) और परिवर्तन की दर. यातायात और संवाद-वहन के साधनों द्वारा आविष्कार एक स्थान से दूसरे स्थान को संक्रमित (Transmit) होते हैं। एक देश से दूसरे देश में प्रसार, वहां पर प्रगति की दर को बढ़ाता है। पर अधिक प्रसार का एक दूसरा परिणाम भी हो सकता है, वह यह कि विभिन्न क्षेत्रों में सांस्कृतिक विभेद बहुत कुछ मिट जायं और इस भांति एक सामान्य सार्वभौम संस्कृति का निर्माण हो सके। जहां तक संस्कृति एक-दूसरे के समान होंगी, उनसे उद्भूत आविष्कार भी प्रायः समान ही होंगे। ऐसी स्थिति में आविष्कारों की तेज दर की संभावना की जा सकती है।

इसके अतिरिक्त, कुछ अन्य बातें भी कुछ अंशों में आविष्कारों को प्रभावित

करती हैं । विशाल प्रयोगशालाएं, विशेषज्ञ वैज्ञानिक, सरकारी सहायता और प्रोत्साहन भी आविष्कार की दर को प्रभावित करते हैं ।

निरन्तर द्रुत परिवर्तन की सम्भावना. क्या मानव की आविष्कारों की क्षुधा कभी शान्त न होगी ? यह एक मनोरंजक पहेली है । कुछ व्यक्तियों का कहना है कि मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए लगभग समस्त ही अपेक्षित वस्तुएं प्राप्त कर चुका है । कुछ लोग यही बात शायद अशोक के भारत में भी कह सकते थे । सत्य यह है कि मनुष्य की आवश्यकताएं निःसीम हैं, उनका वैचित्र्य और परिमाण आंका नहीं जा सकता । एक आवश्यकता के पूर्ण होते ही एक अन्य नई आवश्यकता आ जन्मती है । एक लेखक का तो यहां तक कहना है कि अभी भी मानवता को कम-से-कम १,५०० आविष्कारों की तो बहुत ही जरूरत है । हम इतना ही कह सकते हैं कि विद्यमान संस्कृति के रुकने के कोई चिह्न नजर नहीं आ रहे हैं । इसके विपरीत, भविष्य में उसके तीव्रतर होने की ही अधिक सम्भावना है ।

बारहवं अध्याय

सांस्कृतिक परिवर्तन में बाधाएं

OBSTACLES TO CULTURE CHANGE

संस्कृति में अपरिवर्तन के कारण. सांस्कृतिक विकास के कारणों को समझना जितना आवश्यक है, उसके अपरिवर्तन या अल्प और मन्द परिवर्तन के कारणों का अध्ययन भी उससे कम महत्वपूर्ण नहीं है। वैसे तो प्रत्येक संस्कृति में अल्पाधिक परिवर्तन होते ही रहते हैं। मुख्य प्रश्न उनकी गति का है।

आज के युग में तेजी से परिवर्तन घट रहे हैं। यहां तक कि उन्हें लेकर ही विभिन्न देशों में अनुदार, पुराणपंथी सुधारक और क्रान्तिकारी राजनीतिज्ञ बन गए हैं। इनमें से एक वर्ग तो सामाजिक परिवर्तन की गति को रोक कर रखना चाहता है और दूसरा वर्ग उसकी तीव्रता का समर्थक है। प्रगति के इस प्रतिरोध की प्रक्रिया का अध्ययन समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए विशेष महत्व रखता है।

सांस्कृतिक विकास के मार्ग में दो प्रधान बाधाएं हैं : सापेक्षतया आविष्कारों का अभाव और समूह द्वारा उन्हें अपनाने की अनिच्छा। इन दोनों कारणों पर हम क्रमश: विचार करेंगे।

आविष्कारों (Inventions) का अभाव

आज भी आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से दूर कुछ ऐसे द्वीप और दुर्गम पर्वत प्रदेश हैं जहां के निवासी आज भीउसी भाँति रहते हैं, जिस भांति वह आज से तीन सौ या चार सौ साल पहले रहते थे। आखिर इसका क्या कारण है ? आविष्कारों की कमी ही इसका उचित उत्तर है। अन्य संस्कृतियों के आविष्कार भी प्रसार द्वारा वहां नहीं पहुंच सके।

आविष्कारों के लिए आवश्यक चीजें. आविष्कार एक कठिन कार्य है। किसी भी आविष्कार के लिए तीन चीजों का विद्यमान होना परम आवश्यक है। पहला, आविष्कार के लिए आवश्यक तत्त्वों का ज्ञान और उपस्थिति; दूसरा, आविष्कार की मांग और तीसरा, आविष्कार करने की मानसिक क्षमता।

१. आविष्कार के लिए आवश्यक तत्वों का ज्ञान और उपस्थिति. एक आविष्कार विद्यमान सांस्कृतिक ज्ञान का एक नया संयोग है। उदाहरणार्थ, विद्यमान मैगनट, तार, ढकनियों और विद्युत् धारा के ज्ञान के नये संयोग से ही टेलीफोन का आविष्कार संभव हो सका। प्राय: नए आविष्कार का श्रेय किसी एक व्यक्ति को दिया जाता है, पर वास्तव में एक आविष्कार के पीछे अनेक आविष्कारों का योग-

दान छिपा रहता है। आज जापान मे एक आरण्यक कबीले की तुलना में अत्यधिक आविष्कार होते है। इसका प्रधान कारण जापानी संस्कृति की विपुल सांस्कृतिक तैयारी है, जब कि आरण्यक संस्कृतियों में उसका अत्यन्त अभाव है। इसीलिए आरण्यक संस्कृतियों में बहुत कम आविष्कार होते हैं। सांस्कृतिक तैयारी की कमी सांस्कृतिक विकास के कार्ग में एक बड़ी बाधा है।

मध्य युग की तुलना मे आज आविष्कारों का अनुपात असाधारण रूप से बढ़ गया है। कुछ लोग इसका कारण मानसिक क्षमता की वृद्धि मानते है। जहा तक आनुवंशिक मानसिक योग्यता का प्रश्न है, वह तो मध्य युग की तुलना में आज भी ज्यों की त्यों ही है। हां, यदि हम उसम शिक्षा द्वारा अर्जित योग्यता को भी सम्मिलित करें तो यह दूसरी बात है। शिक्षा द्वारा अर्जित योग्यता तो स्वयं सांस्कृतिक वृद्धि का परिणाम है। अतः आज अधिक आविष्कारों का कारण, न तो मनुष्य की अधिक मानसिक योग्यता ही है और न ही उसकी अधिक आवश्यकताएं वरन् उसकी अधिक सांस्कृतिक तैयारी है।

२. **आविष्कारों की मांग.** मानवीय आवश्यकताएं ही आविष्कारों के विकास को प्रभावित नहीं करतीं, बल्कि उनमें संस्कृति विशेष के सामाजिक मूल्यांकन, धारणाओं और रुचियों का भी बड़ा हाथ होता ह। उदाहरणार्थ, मनीपुर के आदिवासियों में नृत्य का बहुत महत्त्व है, परिणामतः, वहां विविध प्रकार के नृत्यों का आविष्कार हुआ। गृह्य सूत्रकालीन भारतवासियों को कर्मकाण्ड बहुत प्रिय था, अतः उन्होंने अनेक प्रकार के याज्ञिक क्रिया-कलापों को जन्म दिया। स्पार्टावासी बहुत युद्धप्रिय थे, अतः वहां युद्ध के शस्त्रों के आविष्कार को विशेष प्रोत्साहन मिला। यह तथ्य केवल आविष्कारों पर ही नहीं, प्रत्युत शिक्षा पर भी लागू होता है। मध्य काल में शिक्षा का उद्देश्य प्रायः पुरोहित बनना होता था। धर्म का प्रभाव उसके लिए उत्तरदायी था। आज हमारे आकर्षण का केन्द्र भौतिक और सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन हो गया है। सामाजिक मूल्यांकन में परिवर्तन ही इसका प्रधान कारण है।

किसी वस्तु की केवल मांग होने से ही वह निर्मित नहीं हो जाती। प्राचीन काल में रोगों और प्राकृतिक विपदाओं से सुरक्षा की मांग आज से कहीं अधिक प्रबल थी, फिर भी प्राचीन लोग इनके उपचार की दिशा में अधिक कुछ न कर सके। अपर्याप्त सांस्कृतिक तैयारी इसका मुख्य कारण थी। आज यद्यपि रोगों और प्राकृतिक विपदाओं का भय कम हो गया है, फिर भी इस दिशा निरन्तर आविष्कार होते जा रहे है। इसका श्रेय आज की असाधारण सांस्कृतिक तैयारी को ही है।

इसके विपरीत, जहां सांस्कृतिक तत्त्वों की अधिकता हो, वहां आविष्कारों

के उदय में मांग प्रमुख कारण है। उदाहरणार्थ, हवाईजहाज के आगमन ने कोहरे के संकट से सुरक्षा की मांग की। परिणामस्वरूप, इस दिशा में पच्चीस नये आविष्कार प्रस्तुत किए गए। आज हमारे पास इतना अधिक वैज्ञानिक ज्ञान है कि विभिन्न संस्कृति-विभागों में मांग का परिवर्तन, विभाग-विशेष में विपुल परिवर्तन ला सकता है। अतः किसी एक विभाग में आविष्कारों का अभाव, अंशतः उस विभाग के प्रति उपेक्षापूर्ण सामाजिक मूल्यांकन के कारण होता है।

३. **मानसिक योग्यता.** निःसन्देह आविष्कार के लिए पर्याप्त मानसिक योग्यता की आवश्यकता है। पर ऐडिसन कहा करता था कि आविष्कारों में प्रतिभा से अधिक कठोर श्रम की आवश्यकता पड़ती है। यह भी दृष्टव्य है कि हमारे अनेक आविष्कार, जैसे कि दो पत्थरों से टकराकर आग निकालना, केवल आकस्मिक घटना के परिणाम हैं। यही नहीं, आज भी प्रयोगशालाओं में बहुत से अप्रत्याशित आविष्कार अकस्मात् हो जाते हैं।

साधारण जनता की यह धारणा है कि आवश्यक मानसिक क्षमता होने से किसी भी समय किसी भी वस्तु का आविष्कार किया जा सकता है। यह बात सच हो सकती थी, यदि मानसिक योग्यता कोई अपरिमित पदार्थ होती। किन्तु मानसिक योग्यता की यह धारणा, विशेषतः निश्चित सांस्कृतिक अवस्थाओं में, सही नहीं है। वास्तव में आविष्कारों के उद्गम में मानसिक योग्यता को अनुचित महत्त्व दे दिया गया है।

इस सम्बन्ध में जन्मजात मानसिक योग्यता और अर्जित योग्यता में भेद करना आवश्यक है। ऐसा माना जाता है कि कुछ व्यक्तियों में अन्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक मानसिक योग्यता होती है। व्यक्तियों की जन्मजात आविष्कार करने की क्षमता को हम एक वक्ररेखा (Curve) द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं, जो कि घंटीनुमा (Bell-Shaped) बनेगी। यदि ऊपर के आधे भाग के लोगों को आविष्कार करने योग्य माना जाय, तो आज भारतवर्ष में लगभग १३ करोड़ व्यक्ति आविष्कार करने की क्षमता रखते हैं। यदि एक प्रतिशत लोगों को भी आविष्कार करने की सामर्थ्य से युक्त मान लिया जाय, तब भी भावी आविष्कारों की संख्या ३ लाख ६० हजार बैठती है। बावजूद इसके, हमारे यहां कुछ सौ ही व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्हें आविष्कारक कहा जा सकता है।

इसका एक प्रधान कारण यह है कि समाज उन समस्त व्यक्तियों को, जिनमें आविष्कार करने की क्षमता है, आवश्यक शिक्षा और सुविधाएं प्रदान नहीं करता, अथवा यदि उन्हें शिक्षा भी प्राप्त है, वह उन्हें आविष्कार करने के लिए प्रोत्साहन नहीं देता। अतः किसी भी समाज में आविष्कारों के अभाव का कारण जन्मजात मानसिक योग्यता की कमी न होकर, आविष्कारों के प्रति उपेक्षा है। जब कि

जन्मजात योग्यता हमें प्राप्त है, उसे उचित शिक्षा और अभ्यास द्वारा उन्नत किया जा सकता है।

भारत और स्विट्जरलैंड के लोग एक ही नस्ल के हैं, उनकी जन्मजात मानसिक योग्यता समान है। फिर भी दोनों देशों में प्रति व्यक्ति आविष्कार की दर में अपार अन्तर है। उसका कारण भारत में आविष्कार करने की योग्यता रखने वाले व्यक्तियों की आवश्यक शिक्षा के प्रति उपेक्षा, अथवा आविष्कार के लिए अन्य आवश्यक सहायक तत्वों का अभाव ही कहा जा सकता है।

स्वीकार्य (Acceptable) आविष्कार करने में कठिनाई

आविष्कार निर्माण की अवस्थाएं. किसी वस्तु का आविष्कार एक दीर्घ प्रक्रिया है। ऑग्बर्न और गिलफिलैन ने एक आविष्कार के निर्माण में छः अवस्थाएं गिनाई है। पहली, आविष्कार का विचार अस्पष्ट या स्पष्ट रूप में आविष्कर्ता के मन में उठता है। दूसरी, उस विचार को विकसित किया जाता है। तीसरी, उसके सिद्धांत को समझाने के लिए एक रेखाचित्र या माडल बनाया जाता है। बहुत-से आविष्कार इस अवस्था से आगे नहीं बढ़ पाते। मैसूर राज्य में एक पुराना हस्त-लिखित ग्रंथ प्राप्त हुआ है जो सम्भवत: सत्रहवीं शती का है। इसमें वायुयान के रेखाचित्र बने हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि उसका लेखक आविष्कार की तीसरी अवस्था तक तो पहुंच गया पर अन्य आवश्यक ज्ञान के अभाव में वह अपने विचार को कार्यान्वित न कर सका। चौथी, आविष्कार को प्रयोगशाला में कार्य करने योग्य बना दिया जाता है। पांचवीं, उसमें और सुधार किए जाते हैं, ताकि कोई उसे खरीद सके। उपभोक्ता द्वारा अपनाए जाने के लिए यान्त्रिक आविष्कार के टिकाऊपन, सरलता, सुरक्षा, मितव्ययिता और मरम्मत होने की सुविधाएं आवश्यक हैं। छठी, एक बार उपभोक्ता द्वारा आविष्कार के स्वीकार किए जाने पर भी, उसको अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने के लिए उसमें कुछ समय तक निरन्तर सुधार होते रहते हैं।

बहुत से आविष्कारों को उपर्युक्त समस्त अवस्थाओं में से गुजरने की जरूरत नहीं पड़ती। फिर भी व्यवहारत: सभी आविष्कारों में उनके उपयोग द्वारा निरन्तर कुछ-न-कुछ सुधार होते रहते हैं। सामाजिक आविष्कारों को भी इस क्रम की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उनकी उपयोगिता के प्रदर्शन के लिए सामाजिक स्वीकृति की आवश्यकता पड़ती है। बालिग मताधिकार अपनाने के बाद ही एक सामाजिक आविष्कार बन सका।

किसी भी यान्त्रिक आविष्कार की स्वीकृति के लिए उनकी उपयोगिता का प्रदर्शन जरूरी हो जाता है। उन देशों में, जहां कि अविकसित आविष्कारों के पेटेंट कराने की सुविधा है, सैकड़ों ऐसे विचार पेटेंट किए जाते हैं जो कि कभी कार्यान्वित

नहीं हो पाते। १९२७ में लकड़ी के बुरादे से चीनी बनाने का आविष्कार हुआ। आज उसका नाम भी सुनने में नहीं आता। आविष्कारों की तेज मृत्यु-दर का कारण उनकी प्रारम्भिक कमियां ही नहीं, वरन् उनके श्रेष्ठ और सस्ते स्थानापन्न भी होते ह।

आविष्कारों की स्वीकृति में बाधाएं

भौतिक, अभौतिक दोनों आविष्कारों का विरोध

आविष्कार हो जाने के बाद भी लोग उन्हें सदैव एकदम नहीं अपना लेते। पास्तुर ने जब सर्वप्रथम कीटाणुओं से रोगों के फैलने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो लोगों ने उसे पागल कहा। हार्वी ने जब रक्त संचार का विचार अपने समकालीन चिकित्सकों के सम्मुख रखा तो चिकित्सक वर्ग ने उसका प्रबल विरोध किया। एडवर्ड प्रथम के राज्य में कोयले का जलाना निषिद्ध कर दिया गया और एक नागरिक को इस आज्ञा के उल्लंघन के अपराध में फांसी दे दी गयी। रेल, मोटर और टैलीग्राफ जैसी उपयोगी वस्तुओं तक का प्रारम्भ में प्रबल विरोध हुआ।

सामाजिक आविष्कारों का विरोध सर्वज्ञात है। हमारे यहां सत्याग्रह के सामाजिक आविष्कार का पहले-पहल लोगों ने पर्याप्त विरोध किया। जमीदारी-उन्मूलन व हिंदू कोड के विरुद्ध किए जाने वाले आन्दोलन भी इसी कोटि में आते हैं। इंगलैंड में स्त्रियों के मताधिकार के विरुद्ध सौ साल से अधिक आन्दोलन चला। कारखानों में मजदूरों के काम करने के घंटे और उन पर नियन्त्रण करने के कानून बनाने में पचास वर्ष से अधिक लग गए।

यह एक विचित्र विडम्बना है कि मानव के लिए वरदान कुछ यान्त्रिक और सामाजिक आविष्कारों का प्रारम्भ में प्रबलतम विरोध हुआ है। यहां तक कि उनको लेकर भीषणतम रक्तपात तक हुआ है। रोग के कीटाणुओं का सिद्धान्त, श्रम बचाने वाली मशीनें, रेलें, आय-कर, स्त्री-मताधिकार, बालयश्रम का निषेध, दासता और जमींदारी का उन्मूलन, प्रतिनिध्यात्मक-शासन और प्रजातन्त्र—यह सब ऐसे ही आविष्कार थे।

परिवर्तन के प्रतिरोध की प्रवृत्ति का अध्ययन हमें विशिष्ट सामाजिक समस्याओं को भली भांति समझने में पर्याप्त सहायता प्रदान कर सकता है। अतः उन प्रतिरोधों का संक्षिप्त विवेचन उपयोगी होगा।

प्रारम्भिक कमियों के प्रति असहिष्णुता. अधिकांश आविष्कारों में प्रारम्भ में पर्याप्त कमियां होती हैं। बहुत बार वह बार-बार बिगड़ जाते हैं, अथवा उनकी सरलता से मरम्मत नहीं हो सकती अथवा वह अपना कार्य बहुत सुचारु रूप से सम्पन्न नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ, आधुनिक सिनेमा-चित्र शुरू-शुरू में बहुत ही भोंडे और भद्दे थे। अधिकांश कमियों को शीघ्र ही दूर किया जा सकता है, यदि

जनता का रुख उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण हो, वह थोड़ा सब्र करें और उचित आर्थिक सहायता प्रदान करने को उद्यत हो। दूसरे शब्दों में, सांस्कृतिक आविष्कारों के प्रति यदि लोग अधिक सहिष्णु हों तो परिवर्तन की गति को, अधिक तीव्र किया जा सकता है।

समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले आविष्कारों का विरोध. संस्कृति के कुछ अंश एक या दूसरे से इतने घनिष्ठतया सम्बन्धित होते है कि एक आविष्कार यदि उसके एक भाग को प्रभावित करता है, तो अन्य भाग भी अनिवार्यतः उससे प्रभावित होते है। यह बात यान्त्रिक और सामाजिक दोनों ही आविष्कारो पर समान रूप से लागू होती है। यदि आज रेलों की रफ्तार मे असाधारण वृद्धि कर दी जाय तो, उसके लिए सिग्नलों के बीच के अन्तर, ब्रेकों की शक्ति, घुमावों की परिधि, ऊंचाई, मोड़ों के कोणों, पुलों के खम्भ आदि सभी मे आमूल-चूल परिवर्तन करना होगा। इसी भांति स्त्रियों के कारखानों खानों, दुकानों और दफ्तरों में कार्य करने का प्रभाव बच्चों, नौकरों, स्कूलों, पति-पत्नी के सम्बन्धों, रीति-रिवाजों, सामाजिक जीवन, मनोरंजन, स्त्री-शिक्षा, विवाह और स्त्री-शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण आदि अनेक बातों पर पड़ेगा। एक रिवाज और सामाजिक संगठन का बदलना रेल की रफ्तार बढ़ाने से आसान काम नहीं है। आधुनिक तुर्की के निर्माता कमाल अतातुर्क का वहां रीति-रिवाजों, लिपि और विवाह-संस्था को बदलने का कार्य किसी उत्पादन के साधनों के विराट् परिवर्तन से कम महत्त्वपूर्ण न था।

यह उदाहरण दूसरे सांस्कृतिक क्षेत्र से किसी आविष्कार को अपनाने की कठिनाइयों की ओर भी संकेत करता है। एक पिछड़ी हुई संस्कृति में किसी उन्नत संस्कृति के एक आविष्कार का आयात अनेक कठिनाइयों को जन्म देता है, जब कि मिलती-जुलती संस्कृतियों से कुछ ग्रहण करने मे यह कठिनाई उपस्थित नही होती इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आविष्कार की सहज स्वीकृति के लिए आवश्यक है कि वह विद्यमान सामाजिक व्यवस्था में कम-से-कम असंतुलन या व्याघात उत्पन्न करे।

स्थानापन्न (Substitutes) अपनाने की कठिनाई

नई रीतियों की तुलना में पुरानी रीतियों का पालन अधिक सुगम होता है। इसीलिए प्रत्येक संस्कृति में पुरानी रीतियों के जीवित रहने की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। यह अवशिष्टता (Survival) प्रायः हमारी सांस्कृतिक जड़ता की सूचक है। किंतु यह ध्यान देने योग्य है कि सभी अवशिष्टताएं बिल्कुल निरर्थक नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, आधुनिक युग में भले ही अधिकांश पढ़े-लिखे हिंदुओं के लिए धार्मिक दृष्टि से होली और दिवाली के त्यौहार का कोई महत्त्व न रहा हो, पर आज भी

यह त्योहार ऋतुओं के परिवर्तन के पश्चात् आनन्द, मनोरंजन, मेल-मिलाप, सम्मिलित खान-पान की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। और यही कारण है कि वह अब तक हमारे साथ है। इसके अतिरिक्त, सांस्कृतिक आविष्कार केवल एक ही नहीं अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

आर्थिक लागत (Economic Cost)

किसी भी आविष्कार को सफल और लोकप्रिय बनाने के लिए उसके प्रति विद्यमान अन्धविश्वास या अज्ञान को दूर करने में धन की आवश्यकता पड़ती है। यदि किसी आविष्कार के प्रयोग की प्रति इकाई लागत इतनी है कि उसे उपभोक्ता से वसूल किया जा सके और उस पर कुछ लाभ उठाया जा सके, तो उसको अपनाना सुगम हो जाता है। बहुत-से उपयोगी और आवश्यक आविष्कार इसीलिए उपयोग में नही लाये जा सकते कि उनकी लागत नहीं निकल पाती। इसके विपरीत , वह आविष्कार जिनसे शीघ्र ही अधिक लाभ की आशा होती है, शीघ्र अपना लिए जाते हैं। यहां यह तथ्य स्मरणीय है कि लागत कोई स्थिर चीज नहीं है। अनेक अवस्थाओं में आविष्कार का अधिकाधिक प्रयोग ही लागत को घटा सकता है।

अज्ञान

अज्ञान प्रगति और परिवर्तन का सबसे बड़ा शत्रु है । प्रारम्भ में लोग लोहे के हल को अपनाने में हिचकते थे। उनकी धारणा थी कि लोहा भूमि और बीज को हानि पहुँचायेगा। यान्त्रिक आविष्कारों के प्रति संदेह का सीधा सरल उत्तर परीक्षण है। किन्तु सामाजिक आविष्कारो के सम्बन्ध में प्रयोगशाला का परीक्षण संभव नही है। प्रादेशिक या पेशेवर प्रतिनिधित्व, अथवा कौन प्रणाली प्रजातन्त्र के विकास और स्थिर शासन के लिए अधिक उत्तम है, यह ऐसे प्रश्न हैं, जिनका कोई निर्विवाद उत्तर नहीं दिया जा सकता। किन्तु जब व्यक्तिगत बस-सर्विसों के स्वामी यह कहते हैं कि सरकारी बस-सर्विस उनकी तुलना में अक्षम और अमितव्ययी सिद्ध होगी, तो उसमें उनका वर्गीय स्वार्थ निहित होने के कारण, उनके वक्तव्य पर सरलता से विश्वास नही किया जा सकता।

सामाजिक परिवर्तन का प्रतिरोध और मानव स्वभाव

एक देश के लोग जब दूसरे देशो मे जाकर स्थायी रूप से बस जाते हैं, वह अपने मूल देश के खान-पान और वेश-भूषा को त्याग उपनिवेश के रीति रिवाज ग्रहण नही कर पाते। पुरानी पड़ी आदतों या स्वभाव से ही इस तथ्य को समझाया जा सकता है। इस तरह आदत से ही किसी आदत की कैफियत दी जा सकती है।

बूढ़ों की अनुदारता. बच्चों और वयस्कों की तुलना में बूढ़े सदैव ही अधिक अनुदार होते हैं। बच्चे बहुत शीघ्रता और सुगमता से नई आदतें, और नई

रीतियां सीख जाते हैं, क्योंकि उनकी कोई पुरानी पकी आदतें नहीं होतीं, जिन्हें बदलने में उन्हें विशेष कष्ट या कठिनाई अनुभव हो। यही कारण है कि अनुदार रूसी किसानों के वह बच्चे, जिन्हें सोवियत सरकार ने अपनी शिशु-शालाओं और स्कूलों में पाला और शिक्षा दी, अपने पूर्वजों की आदतों से प्रायः मुक्त होगये।

मानव का स्वभाव. पूर्व अनुभव के आधार पर एक व्यक्ति अपने जीवन-दर्शन का निर्माण करता है, जिसे वह परिवर्तित परिस्थितियों में शीघ्र ही नहीं बदलता। सामाजिक दर्शन एक मानसिक जीवन-काल की आदतें हैं। बूढ़ों के विचार प्रायः अनेक वर्ष पूर्व निर्मित धारणाएं होती हैं, जो कि समाज में परिवर्तन होने के बावजूद, परिर्वातत नहीं हुई होती। विभिन्न सामाजिक प्रश्नों पर युवकों और बूढ़ों द्वारा लिए गये मत इस तथ्य की पुष्टि करते है। बूढ़ों के राजनैतिक दलों के चुनाव में भी यही अनुदारता दिखाई देती है। यही नही, दल विशेष के साथ बंधे रहने में भी बूढ़े व्यक्ति अधिक अनुदार होते हैं, जब कि युवक राजनैतिक दलों को बदलने में विशेष झिझक नहीं दिखाते। आयु बढ़ने के साथ-साथ व्यक्तियों की धारणाएं अधिकाधिक जड़ होती है। स्ट्रांग ने मनुष्यों के मानसिक अध्ययन से यह परिणाम निकाला कि १५ से २५ वर्ष की आयु की तुलना में २५ से ६५ की आयु में पसन्द, नापसन्द, रुचियां और आकांक्षाएं बहुत कम बदलती है।

परिवर्तन विरुद्ध धारणाएं

कुछ व्यक्ति परिवर्तन और क्रांति के पक्ष में हो सकते है जब कि कुछ अपरिवर्तन और विद्यमान व्यवस्था के। फिर भी सैद्धान्तिक रूप से यह कहा जा सकता है कि सामान्य मनुष्य में परिवर्तन की तुलना में सुरक्षा की चाह अधिक प्रबल है। कुछ ऐसी भावनात्मक धारणाएं है, जो कि परिवर्तन के विरुद्ध है, जिनमें से निम्न प्रमुख हैं।

नवीनता का भय. किसी नये यान्त्रिक आविष्कार या सामाजिक नीति के पारिणाम के बारे में आशंका व भय, नये साधनों और नीतियों के अपनाने में बहुत बाधक होते हैं। पर परिवर्तन के प्रति व्यक्तियों की यह धारणा संस्कृति के समस्त विभागों के लिए एक समान नहीं होती। उदाहरणार्थ, हमारे यहां लोग धर्म की तुलना में शिक्षा के क्षेत्र में नये परीक्षण के लिए अधिक तैयार हैं। फैशन के सम्बन्ध में तो, यह तैयारी, उत्साह और लत का रूप धारण कर चुकी है।

अतीत की पूजा. अतीत के प्रति श्रद्धा का भाव सामाजिक प्रगति के मार्ग में एक अन्य बाधा है। पुरानी परम्पराओं और संस्थाओं के प्रति हम सम्मान की भावनाओं के सूत्रों से बंधे रहते हैं, जिन्हें हम सरलता से छिन्न-भिन्न करना पसंद नहीं करते। हमारे जीवन और विचारों पर स्पष्टतः अतीत की छाप रहती है। युद्ध, मन्दी अथवा क्रान्ति के समय में अतीत के यह बन्धन अवश्य ढीले हो जाते

हैं, अन्यथा यह प्रतिरोध पर्याप्त प्रबल होता है ।

निहित स्वार्थ (Vested Interest). आज के सामाजिक परिवर्तनों के प्रतिरोध में सबसे अधिक हाथ शायद उन वर्गों का रहा है, जिनके लिए विद्यमान व्यवस्था ही सबसे अधिक लाभकारी है । इसीलिए इन्हें निहित स्वार्थ कहा गया है, क्योंकि इन वर्गों का विरोध केवल संकीर्ण स्वार्थ पर आधारित है । परिवर्तन के प्रति इनका प्रतिरोध इनकी स्वार्थपरता में निहित है ।

इस सम्बन्ध में एक बात दृष्टव्य है कि निहित स्वार्थ सदैव आर्थिक लाभ की भावना से ही प्रेरित नहीं होते । शक्ति और सम्मान भी इसके प्रबल प्रेरक हैं । उदाहरणार्थ, आज अधिकांश उच्च-शिक्षण-संस्थाओं के अध्यापक यह नहीं चाहते कि हिन्दी को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाय । अंग्रेजी माध्यम के रखने में उनका निहित स्वार्थ है ।

इसके विपरीत, परिवर्तन के लिए आन्दोलन भी सदैव निःस्वार्थता से प्रेरित नहीं होता । वह व्यक्ति जो परिवर्तन से सम्मान, शक्ति या सम्पत्ति प्राप्त करने की प्रत्याशा करते है, प्रायः परिवर्तन के पक्ष मे हो जाते हैं । यह वह व्यक्ति है, जो प्रायः क्रान्तिकारी बनते हैं ।

यह ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक समाज में पर्याप्त संख्या में निहित स्वार्थ पाये जाते है । एक प्रजातन्त्र में मताधिकार द्वारा नागरिकों को सत्ताधारी दल को पदारूढ़ रखने या न रखने, अथवा विभिन्न प्रस्तावों पर अपना मत व्यक्त करने का अधिकार होता है । पर ऐसी स्थिति में भी निहित स्वार्थों के पास प्रचार और दबाव के अधिक साधन होने के कारण, सामान्य जनता की तुलना मे उन्हें एक विशिष्ट बल प्राप्त होता है । किसी प्रस्ताव का विरोध करते समय यह निहित स्वार्थ अपने सम्मान, सम्पत्ति और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए, शायद कभी ही असल कारण बताते हैं । उनका विरोध प्रायः ही प्रवंचनापूर्ण होता है । निहित स्वार्थ सामाजिक परिवर्तन के प्रबलतम शत्रु सिद्ध हुए है ।

तेरहवां अध्याय

परिवार

FAMILIY

परिवार क्या है ?

परिवार एक छोटा सामाजिक समूह (Group) है, जो पिता, माता और एक अथवा अधिक बच्चों से मिलकर बना होता है, जिसमें स्नेह और उत्तर-दायित्व आपस में बंटा होता है और जिसमें बच्चों को एक सामाजिक और संयमी व्यक्ति होने की शिक्षा दी जाती है। परिवार के सदस्यों में आपस में मतभेद, कहा-सुनी और नाराजगी भी होती है, पुनः मेल-जोल, सलाह-मशविरा और समझौते भी होते हैं। परिवार का मूलभूत मानसिक-सामाजिक तत्व आत्मीयता है, जो कि माता-पिता मे एक-साथ समस्याओं को सुलझाने से तथा उनमे और बच्चों में प्रेम और सम्मान से उत्पन्न होती है।

परिवर्तनशील परिवार. परिवार को हम बुनियादी सामाजिक संस्था कह सकते है। प्राचीन काल से इसमे बराबर परिवर्तन होते आ रहे हैं। बरजस और लॉक के अनुसार ऐतिहासिक युग के परिवर्तन काल में परिवार संस्था का व्यवहार, रूढ़ि, जनमत और कानून से नियन्त्रित होकर अपने सदस्यों द्वारा परस्पर स्नेह और सहमति की ओर अग्रसर हो रहा है।

इस व्याख्या के अनुसार परिवार एक कठोर सामाजिक ढांचे से निकल एक नमनीय मानवीय सम्बन्ध बनता जा रहा है। निस्संदेह यह आशा की जा सकती है कि नवीन उदीयमान सम्बन्ध कुछ समय बाद नया रूप धारण कर लें।

परिवार की दो परिभाषाएं

बरजस और लॉक ने परिवार की परिभाषा संक्षेप में इस प्रकार दी है—"परिवार व्यक्तियों का वह समूह है जो कि विवाह, रक्त, या गोद लेना आदि सूत्रों से बंधा हुआ है, जो एक घर बना, पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन की अपनी-अपनी सामाजिक भूमिकाओं में एक-दूसरे को अन्तःप्रभावित करते हुए अन्तःसंगठित हो, एक साझी संस्कृति का निर्माण करते हैं।" इस वक्तव्य के कई पहलू हैं। परन्तु इसका सबसे मुख्य पहलू उन व्यक्तियों की, जो कि प्रारम्भिक वर्ग सम्बन्ध में विभिन्न सामाजिक भूमिकाओं में कार्य कर रहे हैं, अन्तःक्रियाएं

है। और प्रत्येक नया परिवार जो एक सांस्कृतिक वातावरण पैदा करता है, किसी प्रकार कम महत्त्व नही रखता। निमकौफ के अनुसार "परिवार ससंतान या निःसंतान, या अकेले पति-पत्नी की एक अल्पाधिक स्थायी समिति है।"

परिवार का महत्त्व. समस्त मानव-वर्गों में परिवार-वर्ग अनेक अर्थों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अपनी प्रारम्भिक इकाई पिता-माता से, बच्चा अपनी शारीरिक विरासत प्राप्त करता है, अर्थात् दुर्बल या स्वस्थ मानसिक और भौतिक शरीर प्राप्त करता है। स्वस्थ शरीर और मन के साथ जन्मना सबसे बड़ा वरदान है। अस्वस्थ जन्मना एक बड़ा अभिशाप है।

परिवार एक शिक्षण संस्था. परिवार में बच्चा सामाजिक उत्तरदायित्व का अर्थ, क्षमा का महत्त्व और सहयोग की आवश्यकता को सीखता है। परिवार एक विशिष्ट प्रारम्भिक संस्था है, इसमें बच्चा अपने जीवन की मौलिक धारणाएं, नमूने, आदर्श, शैली और सांचे बनाता है।

नये परिवार का निर्माण

जब बच्चा प्रौढ़ हो जाता है वह अपने परिवार-वर्ग को छोड एक दूसरे परिवार की बुनियाद रखता है। अपने माता-पिता की इच्छा या अपनी मर्जी से, समझदारी से या बेवकूफी या जल्दबाजी से, वह अपनी भावी संतान के लिए एक भावी मां का चुनाव करता है। इसी प्रकार एक तरुण युवती अपने भावी बच्चों के लिए जिन्हें कि वह जन सकती है, पिता के रूप में एक नवयुवक का चुनाव करती है।

विवाह सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने का साधन. सामान्यत: लोग सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के रूप में विवाह का महत्त्व नही समझते। बौसार्ड ने उन विभिन्न तरीकों का जिक्र किया है जिनके द्वारा ऐसा होता है। उदाहरण के लिए (१) विवाह व्यक्ति को अपने पितृ-परिवार में उच्च पद प्रदान करता है, (२) यह उसके पेशे और काम में उसके पद को उन्नत करता है, (३) यह समाज में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाता है, (४) यह उसे अपनी मित्र-मंडली में प्रतिष्ठा प्रदान करता है, (५) यह उसे जीवन की समस्याओं के सम्बन्ध में नई रोशनी देता है।

परिवार में व्यक्तिगत विकास—समूह परिवर्तन की प्रक्रिया

दो विभिन्न पारिवारिक वर्गों की कृति दो युवा-युवति विवाह की सामाजिक रीति द्वारा अपने पारिवारिक समूह की स्थापना करते है। उनकी धारणाएं बदलती हैं, क्योंकि अब वह एक गैरजिम्मेदार बेटा या बेटी जिन्होंने कभी माता-पिता के शासन के प्रति बगावत की थी, एक जिम्मेदार माता-पिता का, जिन्हें अपने बच्चों को शिक्षित और अनुशासित करना है, कार्य करते है। इस भांति पारिवारिक समूह टूटते है, नये स्थापित होते है और व्यक्तिगत विकास और समूह परिवर्तन की

प्रक्रिया जारी रहती है।

गिलक का पारिवारिक चक्र

गिलक तथा अन्य विद्वानों ने पाश्चात्य देशों में पारिवारिक परिवर्तन की प्रक्रिया को तीन भागों मे विभक्त किया है। सबसे पहले विवाह और पहला बच्चा पैदा होने के बीच की अवधि आती है। यह आधारभूत समीकरण (Adjustment) की अवधि है, जिसमें कि प्रत्येक साथी एक दूसरे से अत्यधिक प्रेम करता है। दूसरी अवस्था बच्चा जनने और पालने की है जब कि मां घर के कामो में फंस जाती है और पति के ऊपर अतिरिक्त आर्थिक भार आ पड़ता है। पति-पत्नी का प्रेम, माता और पिता के प्रेम में परिवर्तित हो जाता है, तथा दोनों का बच्चों के प्रति प्रेम बढ़ जाता है ; यद्यपि पहला पति-पत्नी प्रेम भी जारी रहता है। तीसरी अवस्था तब आती है जब बच्चे बड़े हो जाते हैं, विवाहित हो जाते है, और घर छोड़ देते है। पति-पत्नी के पास एक दूसरे का कार्य करने के लिए पर्याप्त समय रहता है। स्नेह परिपक्व हो जाता है। पूर्ववर्णित विश्लेषण में हमने संतुलित प्रकार के विवाह की विवेचना की है।

बोसाड का पारिवारिक अंतःक्रिया का नियम

यह देखने में आता है कि परिवार में प्रत्येक व्यक्ति की वृद्धि से "व्यक्तियों की संख्या समानान्तर वृद्धिक्रम (Arithmetical Progression) में बढ़ती है, जब कि व्यक्तिगत अन्तःसम्बन्धों की संख्या त्रिकोणात्मक संख्याओं के क्रम (Triangular Progression) में बढ़ती है।" इस बात को हम ऐसे भी कह सकते है कि परिवार में एक सदस्य की वृद्धि होने से, व्यक्तिगत अन्तःसम्बन्ध पूर्वस्थित अन्तःसम्बन्धों से संख्या में उतने ही अधिक हो जाते है जितना कि वृद्धि से पहले परिवार में सदस्यों की संख्या थी। यह तो स्पष्ट है कि दो सदस्यों में व्यक्तिगत सम्बन्ध का केवल एक ही सैट होगा। अब यदि सदस्यों की संख्या दो से तीन हो जाय, तो उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार, उनके व्यक्तिगत सम्बन्धों के सैट की संख्या तीन हो जायगी। यदि सदस्य संख्या चार हो जाय, तो हम देखेंगे कि व्यक्तिगत अन्तःसम्बन्धों के सैट की संख्या छः हो जायगी और आगे चलें, तो पांच सदस्यों के हो जाने पर इस तरह के सम्बन्धों के दस सैट हो जायेंगे।

इस नियम की समाजशास्त्रीय महत्ता को अभी तक पूरी तरह नहीं समझा गया है। किन्तु इसके विभिन्न पहलू है। इनमे सबसे मुख्य यह है कि परिवार के सदस्यों की संख्या में वृद्धि अन्तःक्रियाओं में असाधारण वृद्धि कर देती है। इसके विपरीत, परिवार समूह से एक के बाद एक सदस्य का हटना अन्तःक्रियाओं की प्रक्रिया को बहुत कम कर देता है।

परिवार का उद्गम उद्देश्य और विकास

पशु जगत में परिवार

परिवार की संस्था, उसकी समस्याओं और महत्व को समझने के लिए उसके पूर्व इतिहास पर दृष्टि डालना जरूरी है। उच्च प्रकार के पृष्ठवंशी पशुओं (Vertebrates) में हमें परिवार के मौलिक रूप के दर्शन होते हैं। अपृष्ठ-वंशियों (Invertebrates) में—अधिकांश मछलियों और रेंगनेवाले जानवरों में वात्सल्य का कोई चिन्ह नहीं पाया जाता। पृष्ठवंशियों में माता-पिता द्वारा बच्चे के पालन-पोषण के कुछ उदाहरण अवश्य मिलते हैं। पशु जगत् में कछुओं ने पारिवारिक जीवन की शुरूआत की। चिड़ियों में वात्सल्य पर्याप्त विकसित हुआ है। यहां नर-मादा मिलकर घोंसला बनाते हैं। जब नर भोजन लाता है, मादा अंडा सेती है। बच्चा पैदा होने पर दोनों उसकी रक्षा करते हैं। वे उसे उड़ना सिखाते हैं और जब तक बच्चा अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो जाता, वह अपनी जिम्मेदारी से छुटकारा नहीं पाते। कुछ चिड़ियों के जोड़े जीवन भर एक साथ रहते पाये गये हैं। स्तनधारियों (Mammals) में बच्चे अपनी माता पर अत्यधिक आश्रित हैं। पशुओं में नर-मादा का सम्बन्ध अधिकांशतः गर्भाधान ऋतु तक सीमित रहता है। शिपान्जी और गौरिल्ला परिवारों मे रहते है। उसमे से बहुत से मिलकर एक बलिष्ठ नर के नेतृत्व मे एक झुंड बना लेते हैं। बन्दरों और बैबूनों के रेवड़ परिवारों से मिलकर बने होते हैं।

परिवार के उद्गम के कारण

कामचार (Promiscuity) से परिवार की उत्पत्ति. पिछली सदी के समाजशास्त्रियों की कल्पना थी कि मानव समाज में पहले स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों के कोई नियम न थे। पुरुष और स्त्रियां इच्छानुसार, जिससे चाहें उसके साथ, समागम कर सकते थे। स्त्रियां सारे पुरुष समाज की सामूहिक उपभोग की वस्तु थी। इस अवस्था को उन्होंने कामचार, स्वच्छन्द उपभोग (Hetairism), यूथ विवाह या सामूहिक विवाह का नाम दिया है।

मैकलीनान, बैखोफन और मॉर्गन इस कल्पना के मुख्य समर्थक थे। कामचार के विषय में एकमत होते हुए भी, उससे विवाह की उत्पत्ति कैसे हुई इस पर इनमें तीव्र मतभेद था। मैकलीनान के मत में पुरुष के मन में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि वह अपनी वैयक्तिक स्त्री रखे। अपने समाज में यह सम्भव न देख वह दूसरी जातियों से जबर्दस्ती स्त्रियां भगाकर लाने लगा। बैखोफन के अनुसार स्त्रियां पुरुषों की इस स्वच्छन्दता से ऊब उठीं और उनकी बगावत स्वरूप परिवार की स्थापना हुई।

उक्त तीनों ही विद्वान् प्रारम्भिक अवस्था में स्त्रियों की प्रभुता या मातृसत्ता

(Matriarchy) मानते थे। उनका कहना था कि कामचार की अवस्था में बच्चे के पिता का ठीक-ठीक बता सकना सम्भव नहीं था, अतः उस समय परिवार का केन्द्र मा होती थी और वही परिवार की मुखिया और शासक थी। इस मातृसत्ता का प्रबल प्रमाण यह था कि अनेक जातियों और वंशों मे कुल-क्रम और सम्पत्ति का बंटवारा पुरुषों द्वारा न होकर स्त्रियों द्वारा होता था। उदाहरणार्थ, मालाबार में आज भी अनेक जातियों में पिता के मरने पर उसका लड़का सम्पत्ति का उत्तराधिकारी न होकर उसकी बहिन या लड़की होती है। त्रावणकोर के राजघराने में भी यही परिपाटी प्रचलित है।

मातृ-क्रम (Matrilineal Descent) **कामचार का प्रमाण नहीं.** प्राचीन काल में कामचार सिद्ध करने के लिए जो प्रमाण दिये जाते है, वे सब जांच कसौटी पर खरे नही उतरते। वह अधिकांश में गलत तथ्यों और भ्रान्त सूचनाओ पर आधारित हैं। कामचार समर्थकों का सबसे प्रबल प्रमाण मातृवंशानुक्रम (Mother Right) है। उनका कहना है कि यह व्यवस्था तभी प्रचलित हो सकती है जब बच्चों के पिता का निश्चित ज्ञान न हो। बच्चों के पिता का निश्चित ज्ञान न होने का अर्थ हुआ कि वहां कोई परिवार नहीं है। किन्तु डा० हार्टलैण्ड ने ऐसी बहुत-सी जातियों के उदाहरण दिए है जहा पितृत्व (Paterntiy के बिल्कुल निश्चित होने पर भी मातृवंशानुक्रम चलता है। इसके अतिरिक्त, हम यह देखते है कि जिन जातियों में कन्या के साथ शादी कर उसे अपने घर नहीं लाया जाता बल्कि पति उसके घर में बस जाता है, वहां सर्वत्र मातृवंशानुक्रम की प्रथा प्रचलित है। मालाबार की कई जातियो मे शादी के बाद पत्नी अपने पिता के यहां रहती है, अतः वहां बहन के लड़के से ही वंश का चलना स्वाभाविक है।

बच्चों के दीर्घ संरक्षण की आवश्यकता से परिवार का उद्गम. कामचार का प्रबल खण्डन डार्विन आदि वैज्ञानिकों ने प्राणि शास्त्र की दृष्टि से किया है। प्राणि वर्ग में अधिक विकास के साथ सन्तानों की संख्या घटती जाती है और उनके पूर्ण विकास की अवधि बहुत बढ़ जाती है। मछली लाखों अण्डे देती है। सूर्य की गर्मी से वे पक जाते है और मछली के बच्चे एकदम तैरने और अपना भोजन ढूंढ़ने लगते हैं। बन्दर या मनुष्य के बच्चे बहुत थोड़ी संख्या में पैदा होते है और उनके पूर्ण-विकास में बहुत साल लग जाते हैं। यदि उस समय तक उहें माता-पिता का संरक्षण न मिले तो वह नष्ट हो जायं। इस पालन-पोषण की आवश्यकता, सन्तान-रक्षा और वात्सल्य की भावना में ही परिवार का उद्गम छिपा हुआ है। संन्तानोत्पत्ति की इच्छा और गर्भिणी माता और उसकी संतान की रक्षा की भावना ने परिवार की आवश्यकता को जन्म दिया। इसके वशीभूत स्त्री-पुरुष परिवार बना कर रहने लगे। यद्यपि इन परिवारों का उद्देश्य मूलतः एक ही था पर परिस्थिति, रुचि और

विश्वास भेद से इसके विभिन्न स्वरूप हुए; इसके निर्माण के विभिन्न कायदे और कानून गढ़े गये ।

मातृनामी और पितृनामी परिवार

जिन स्थानों में पति पत्नी के घर जाकर रहने लगा वहां पर बच्चे माता के कुल का नाम ग्रहण करने लगे । दक्षिण मालाबार की कुछ जातियों, उत्तरी अमरीका के रैड इण्डियनों तथा अन्य कई आदिम जातियों में हमे मातृनामी प्रथा के उदाहरण मिलते हैं । जिन परिवारों में पत्नी पति के घर जाकर रहती है वहां प्रायः बच्चे पिता के कुल का नाम ग्रहण करते हैं । पिता को ही सम्पत्ति विभाजन का अधिकार प्राप्त होता है । संसार की अधिकांश जातियों में पितृनामी परिवार प्रथा ही प्रचलित है ।

पितृनामी और मातृनामी परिवार तथा पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक परिवार में भेद करना आवश्यक है । जब कि पितृनामी और मातृनामी शब्द में कुल के नाम का प्रयोजन मुख्य है पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक शब्द पिता-माता की पारस्परिक नियन्त्रण शक्ति या प्रभुता के द्योतक है ।

विवाहों के भेद

परिवार बसाने की भावना ने विवाह—स्त्री-पुरुष के लम्बे समय तक साथ-साथ रहने की आवश्यकता को जन्म दिया । पर इस साथ-साथ रहने ने विभिन्न रूप धारण किए । किन्ही समाजों में एक पुरुष एक स्त्री से ही संतुष्ट हो गया; कहीं पर एक पुरुष ने एक से अधिक स्त्रियां रख परिवार का निर्माण किया; कहीं पर कई पुरुषों ने मिलकर एक साझी स्त्री रख ली । इन विभिन्न रीतियों को क्रमशः एक विवाह (Monogamy), बहुभार्यता (Polygyny) और बहुभर्तृता (Polyandry) कहते हैं ।

संसार के कुछ भागों में बहुभर्तृता चिर काल से प्रचलित है । बहुभर्तृता विवाह का वह रूप है जिसमें एक स्त्री के एक समय मे एक से अधिक पति होते हैं । बहुभर्तृता के भी दो प्रकार है । जब एक स्त्री के विभिन्न पति आपस में भाई-भाई होते हैं तब उसे भ्रातृक-बहुभर्तृता (Fraternal Polyandry) कहते है; जब विभिन्न पतियों में ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं होता तब उसे मातृसत्ताक बहुभर्तृता कहते है । तिब्बत और भारत के कुछ भागों में यह प्रथा प्रचलित है । सामान्यतः यह प्रथा बहुत विरल है और विशिष्ट और कठोर परिस्थितियों में ही पाई जाती हैं ।

भारतवर्ष में इस प्रथा के कुछ प्राचीन एवं अर्वाचीन उदाहरण मिलते हैं । किन्तु इसका प्रचलन बहुत कम है । हमारे समाज में इस प्रथा को निन्दनीय एवं

बुरा समझा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में इसका निषेध किया गया है। प्राचीन काल में इसका सबसे बड़ा उदाहरण द्रौपदी का है। महाभारत के अध्ययन से स्पष्ट है कि उस समय के सभी लोगों ने इसे पाप और पांडवों के चरित्र पर एक बड़ा धब्बा समझा था। वास्तव में हमारे यहां, कुछ अपवादों को छोड़कर, बहुभर्तृता शायद कभी भी प्रचलित नहीं रही। वर्तमान काल में दक्षिण भारत में मालाबार के नायरो, नीलगिरि के टोड़ों तथा कुरुम्बों में यह प्रथा प्रचलित है। उत्तर भारत में बहुभर्तृता अधिकतर हिमालय के प्रदेशों में है। उत्तरप्रदेश में देहरादून जिले के जौनसार बावर में इस प्रथा का खूब प्रचलन है। बहुत-से भाइयों की एक पत्नी होती है। कई बार एक परिवार में कई साझी स्त्रियां होती हैं। पंजाब के पहाड़ी हिस्सों, कांगड़ा जिले के स्पीली, लाहौर परगनों, चम्बा, कुल तथा मण्डी के ऊंचे प्रदेशों में कानेतो और नीची जातियों में यह प्रथा विद्यमान है। मार्टिन ने मध्य भारत के ओरावों में इस प्रथा के कुछ चिन्ह पाये हैं।

बहुभर्तृता प्रचलित होने के कारण. जनसंख्या में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की कमी और निर्धनता बहुभर्तृता के मुख्य कारण हैं। इसमें आर्थिक कारण हा प्रबल हैं। पहाड़ों में कृषि के योग्य भूमि बहुत कम है, आजीविका के अन्य कुछ साधन भी नहीं हैं। एक पुरुष के लिए एक स्त्री का भार उठाना और उसकी संतान का पालन-पोषण संभव नहीं होता। इसलिए कई व्यक्ति मिलकर एक साझी पत्नी कर लेते हैं। इससे एक और भी लाभ होता है कि भाइयों में सम्पत्ति विभक्त नहीं हो पाती।

बहुभार्यता (Polygyny)

वह विवाह-प्रथा जिसमें एक पुरुष की एक से अधिक पत्नियां होती हैं बहुभार्यता कहलाती है। बहुभार्यता दासता की संस्था से घनिष्टतया सम्बन्धित है। युद्ध में पकड़ी गई स्त्रियां विजेता की स्त्रियां और रखेलियां बना ली जाती हैं। रखेली एक दूसरे दर्जे की पत्नी है। बहुभार्यता के अन्दर पत्नी की खरीद भी प्रायः प्रचलित है। उदाहरण के लिए, एक मुखिया उसी भांति एक दर्जन औरतें खरीदता है जिस भांति वह अन्य कोई व्यक्तिगत सामान खरीदेगा। किन्हीं-किन्ही अवस्थाओं में एक पुरुष की स्त्रियों की संख्या सैकड़ों तक पहुंच जाती है।

बहुभार्यता तब तक विकसित नहीं हुई जब तक मनुष्य ने पर्याप्त सम्पत्ति संग्रह नहीं कर ली। अतः उन देशों में भी जहां कि बहुभार्यता कानून-सम्मत है बहुत थोड़े धनी लोग ही इसे व्यवहार में लाते हैं।

बहुभार्यता प्रचलित होने के कारण. (१) स्त्री पुरुषों की संख्या में विषमता, (२) पुरुषों की विषयासक्ति, (३) आर्थिक कारण व सामाजिक प्रतिष्ठा तथा (४) पुत्र की कामना, बहुपत्नीत्व के मुख्य कारण हैं।

१. जिन समाजों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक हो वहां बहुभार्यता स्वाभाविक प्रतीत होती है। युद्धों, जिनमें कि पुरुष पर्याप्त संख्या में मारे जाते है, के बाद प्राय: ऐसा होता है। किन्तु यह कारण अपने-आप में पर्याप्त नही है। बहुभार्यता अनेक ऐसे समाजों में भी दृष्टिगोचर होती है जहां पुरुषो की संख्या अधिक है। अत: वहां अन्य कारण विशेष महत्त्व रखते है।

२. एकविवाह में पुरुष को आवश्यक रूप से कुछ समय तक पत्नी के रजस्वला, गर्भवती व प्रसूता होने पर संयम करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, कुछ पुरुष मधुकर की तरह विभिन्न पुष्पों का पराग ग्रहण करना चाहते है। अत: नवीनता की लालसा और पुरुष की कामवासना अनुकूल परिस्थिति में बहुभार्यता को जन्म देती है।

३. बहुभार्यता का एक प्रमुख कारण आर्थिक है। यह उसे बढ़ाता भी है और कम भी करता है। जिन समाजों में स्त्री आर्थिक दृष्टि से लाभकर नहीं होती, कुछ कमाती नहीं, वहां यह कारण बहुभार्यता को रोकता है। गरीब लोग इसीलिए कई विवाहों की छूट रहते भी एक ही विवाह करते है। कई समाजों में आर्थिक रूप से सहायक होने के अतिरिक्त, बहुभार्यता समाज मे व्यक्ति की प्रतिष्ठा को बढ़ाती है। थोंगा (पुर्तगाली पूर्वी अफ्रीका) के धनी लोग अपना रुपया स्त्रियों में लगाते हैं।

४. बहुभार्यता का चौथा कारण पुत्र की कामना है। पहली स्त्री के बन्ध्या होने पर, पुरुष स्वयं अथवा कई बार स्त्री की प्रेरणा से संतान के लिए दूसरा विवाह करता है।

बहुभार्यता के दुष्परिणाम. बहुभार्यता ने प्राय: स्त्रियों की स्थिति को गिराने, मानव-प्रेम को वासना की बलि-वेदी पर चढ़ाने, पारिवारिक कलह को बढ़ाने तथा बच्चों के पालन-पोषण में लापरवाही, माता-पिता और संतान मे स्नेह को समाप्त करने में योगदान दिया है। मुस्लिम-कानून में अभी भी बहुभार्यता जायज है। इसमें अवश्य उसकी संख्या चार तक सीमित करदी गई है। १९५५ के हिन्दू विवाह कानून के अनुसार हिन्दू समाज में अब बहुभार्यता गैर कानूनी हो गई है।

एक विवाह (Monogamy)

एक पुरुष से एक स्त्री का विवाह पूर्वकाल से अब तक विवाह का मुख्य स्वरूप रहा है। अधिकांश समाजों ने एकपत्नीव्रत के आदर्श और लाभों को स्वीकार किया है। विभिन्न लेखकों और वैज्ञानिक पर्यवेक्षकों ने उसका समर्थन किया है।

एक विवाह के लाभ

१. बच्चों की बेहतर देख-रेख. अन्य किसी विवाह प्रथा की तुलना में एक विवाह के अन्तर्गत पति-पत्नी दोनों बच्चे के पालन-पोषण में एकाग्रचित्त हो योग

देते हैं। वह दोनों बच्चों पर अधिक ध्यान दे पाते हैं।

२. **उच्चतम प्रेम का जन्मदाता.** एकविवाही परिवार ही उच्चतम प्रेम और भक्ति की सृष्टि करता है। बहुभार्यता के अन्तर्गत पति अनेक पत्नियों और अनेक बच्चों के होने के कारण न तो विभिन्न पत्नियों से ही समान रूप से प्रेम कर पाता है और न ही बच्चों को समुचित प्यार दे पाता है। पत्नियों के बीच ईर्ष्या फलती-फूलती है और बच्चे एक दूसरे से पृथक् रखे जाते है। एक-विवाह के अन्तर्गत ऐसा नहीं होता।

३. **दृढ़ता और निश्चिततर पारिवारिक बन्धन.** एक विवाह के अन्तर्गत माता-पिता और बच्चों के बीच प्रेम अधिक सुखकर और दृढ़तर होता है। कानूनी और रक्त-सम्बन्ध कहीं सरल और कम उलझे, और कम झगड़ों और कलह का कारण होते हैं। परिणामतः, यह कहना सम्भव है कि एकविवाही परिवार प्रायः समाज की एकता और सुदृढता में वृद्धि करते है।

४. **बच्चों और माता-पिता दोनों के जीवनों का संरक्षण.** एक विवाह केवल बच्चों को ही अधिक सुरक्षित नहीं करता, अपितु माता-पिताओं के जीवन को भी अधिक सुरक्षित करता है। एक विवाह के अन्तर्गत बड़े होने पर बच्चों से मा-बाप की अधिक सेवा की आशा की जा सकती है। बहुभार्या परिवार पिता और बच्चों में स्नेह-वृद्धि का अवसर नहीं देता। बुढ़ापे में बच्चों द्वारा पिता की उपेक्षा होती है।

इस भांति एकविवाह के अनेक और महत्त्वपूर्ण लाभ है। एकविवाह सामाजिक अन्तःक्रियाओं के लिये श्रेष्ठ सुविधाएं प्रदान करता है, और अन्य विवाहों की तुलना में स्वस्थ सामाजिक जीवन की स्थापना के लिए अधिक उपयोगी प्रतीत होता है।

वैवाहिक प्रतिबन्ध

जहां विभिन्न समाजों मे पति-पत्नी की समस्याओं के सम्बन्ध में कुछ नियम और प्रतिबन्ध है, वहां पति-पत्नी के चुनाव के सम्बन्ध में भी कुछ नियम और प्रतिबन्ध है, जिनका अध्ययन जरूरी है। जब दो व्यक्ति किन्हीं ऐसे दो वर्गों के होते है जिनमें आपस में विवाह नही हो सकता तो उसे बहिर्विवाही (Exogamous) समूह कहते हैं। जब दो व्यक्ति किसी ऐसे वर्ग के होते है जिनमें आपस में विवाह हो सकता है तो उसे अन्तर्विवाही (Endogamous) समूह कहते है। प्रत्येक समाज में कुछ समूहों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना निषिद्ध तथा कुछ समूहों में ही वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना स्वीकृत होता है।

हिन्दुओं में वैवाहिक प्रतिबन्ध

उदाहरण के लिए अन्य समाजों की भांति हिन्दुओं ने विवाह को नियन्त्रित

करने के लिए कुछ नियम बनाये हैं। कोई भी विवाह करते समय इन नियमों का पालन करना पड़ता है। इन नियमों को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है :

(१) **बहिर्विवाही नियम** (Exogamous Rules). हिन्दुओं में एक गोत्र और प्रवर वालों में विवाह नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त पिता की सात और माता की पाँच पीढ़ियों से बाहर विवाह करना चाहिये। इस प्रकार हिन्दुओं में अपने गोत्र, प्रवर और पिण्ड से बाहर विवाह करने की प्रथा प्रचलित है।

(२) **अन्तर्विवाही नियम** (Endogamous Rules) हिन्दुओं में यह नियम है कि वर-वधू का वर्ण (जाति) एक होना चाहिए। यदि कोई ब्राह्मण विवाह करना चाहे तो यह आवश्यक है कि एक ब्राह्मण वर्ण की कन्या का ही ही पाणिग्रहण करे। अपने वर्ण जाति या वर्ग में विवाह करने का नियम अन्तर्विवाह का नियम कहलाता है।

बहिर्विवाह और अन्तर्विवाह के नियमों के पारस्परिक सम्बन्ध को वृत्तों के उदाहरण से समझाया जा सकता है। ब्राह्मण जाति एक बहुत बड़ा वृत्त है। इसमें विश्वामित्र, वशिष्ठ आदि अनेक छोटे-छोटे गोत्रों के वृत्त हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने गोत्र के छोटे वृत्त से बाहर किसी दूसरे गोत्र में शादी करनी पड़ती है, किन्तु ऐसा करते हुए, वह ब्राह्मण जाति के विशाल वृत्त की परिधि से बाहर नहीं जा सकता। यही नहीं एक ब्राह्मण हर एक ब्राह्मण से भी विवाह-सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। ब्राह्मणों की एक अपनी उपजाति तक ही उसका चुनाव सीमित रहता है।

भिन्नगोत्रता के नियम

हिन्दुओं में जब विवाह की बात होनी शुरू होती है तो सबसे पहले जाति और गोत्र का प्रश्न होता है। अनेक विवाह अन्य सब दृष्टियों से ठीक होते हुए भी गोत्र मिल जाने के कारण नही हो पाते। कही भिन्न गोत्र होने पर भी विवाह नही हो पाता। इसका कारण यह कहा जाता है कि अमुक गोत्रों में परस्पर पटती नहीं। हजारों वर्षों के बाद भी वशिष्ठ और विश्वामित्र के गोत्रों में पुरानी दुश्मनी चली आ रही है। वैर भाव के साथ भिन्नगोत्र वालों का झगड़ा समाप्त नहीं हो जाना। कुछ गोत्रों मे परस्पर भाईचारा समझा जाता है। कश्यप और शाण्डिल्य गोत्रों का असित नाम समान होने से दोनों में परस्पर अनुकूलता समझी जाती है। एसी स्थिति में इन दोनों में भी विवाह नहीं हो सकता।

गोत्र द्वारा वंशपरम्परा द्योतन का प्रचलित मत और स्वरूप. गोत्र और प्रवर के सम्बन्ध में यह विश्वास प्रचलित है कि गोत्र और प्रवर वंशपरम्परा और रक्त-सम्बन्ध को सूचित करते हैं। प्रो० हरिदत्त के अनुसार यह कल्पना अत्यधिक विरोधों और असंगतियों से भरी हुई है। वास्तव में गोत्र की उत्पति प्रवर से हुई है। प्रवर प्रारम्भिक काल की याज्ञिक क्रियाओं में पुराने ऋषियों को वरण करने को कहते

है। प्रत्येक यजमान अपनी सफलता के लिए किसी विशेष ऋषि का आवाहन आवश्यक समझता था। कालान्तर में याज्ञिक कर्मकाण्ड के नियम निश्चित हो जाने पर कौन-सा याज्ञिक सम्प्रदाय किन ऋषियों का नाम पढ़े, यह निश्चित कर दिया गया। इससे स्पष्ट है कि गोत्र का रक्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में ८वीं ७ वीं ईस्वी पूर्व ही पहली बार सगोत्र विवाहों के निषेध का नियम प्रचलित हुआ। इससे सगोत्र विवाहों को समरक्त मान उनके निषेध की निरर्थकता भली-भांति स्पष्ट है एक गोत्र वालों की संख्या अत्यधिक होने पर गोत्र का नियम अपने आप शिथिल हो जाता है।

सपिण्डता. रक्त सम्बन्ध से संयुक्त सम्बन्धियों लिए सपिण्ड शब्द का व्यवहार होता है। पिता की सात और माता की पांच पीढ़ियां सपिण्ड कहलाती हैं। मध्यकाल में सपिण्डता बहुत त्रिस्तृत हो गई। इसके अनुसार २१२१ कन्याएं अविवाहित होजाती है। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि आखिर सपिण्ड विवाहों के निषेध का नियम क्यों प्रचलित हुआ ? सर्वसाधारण में यह समझा जाता है कि सपिण्ड विवाहों को रोका जामा चाहिए.। भारतीय आयुर्वेद के ही किसी प्राचीन ग्रन्थ में ऐसा प्रमाण नहीं है जिसमें सपिण्ड विवहों की हानि बताई गयी हो। धर्मशास्त्र भी सपिण्ड विवाह के निषेध में इस कारण का उल्लेख नहीं करते, और न ही आधुनिक सुप्रजननशास्त्री इसे सदैव हानिकर बताते हैं।

वैस्टरमार्क ने सपिण्ड विवाहों के निषेध का यह यह कारण माना है कि निकट सम्बन्धियों में परस्पर इकट्ठा रहने के कारण यौन दृष्टि से एक उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। यही उदासीनता सपिण्ड विवाहों के निषेध के रूप में प्रचलित हुई। यदि वैस्टरमार्क की कल्पना मान ली जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि पति-पत्नी के इकठ्ठा रहने पर, उनकी काम भावना बिल्कुल शान्त हो जाती है। ब्रिफाल्ट और फ्रायड ने उपयुक्त धारणा को गलत बताया है। वास्तव में सपिंड विवाहों के निषेध का मूल कारण प्राचीनकाल के विशाल संयुक्त परिवार में नैतिकता को सुरक्षित बनाये रखने की चिन्ता हो सकती है। प्रो० मेल्नोवस्की का मत भी इससे मिलता है।

अन्तर्विवाह (Endogamy)

विभिन्न जातियों में बहिर्विवाह की भांति अन्तर्विवाह के विभिन्न नियम हैं। इनका मूल कारण विभिन्न नस्ल, राष्ट्र, वर्ग या धर्म के प्रति श्रेष्ठता व उच्चता की भावना ही कही जा सकती है। उदाहरण के लिए, हिन्दुओं में अपनी जाति, उपजाति और उपवर्ग में ही विवाह किया जाता है और सर्वसाधाहरण का यह विश्वास है कि यह व्यवस्था अनादि काल से चली आ रही है। वास्तव में यह व्यवस्था भारत में लगभग १३वीं सदी से ही शुरू हुई है। प्राचीन युग में चारों वर्णों में परस्पर विवाह होते थे अनुलोम और प्रतिलोम उनके दो रूप थे। बाद में अपने वर्ण

में ही विवाह प्रशस्त माना जाने लगा, किन्तु फिर भी उच्च वर्ण के लोग निम्न वर्ण की स्त्रियां ले लेते थे। इस प्रकार के विवाह अनुलोम (Hypergamy) कहलाते थे। १३वीं शती में यह बिल्कुल बन्द हो गये। इस पाबन्दी ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया। कुछ तथाकथित कुलीन जातियों में योग्य वर न मिलने के कारण उस जाति की कन्यायें अयोग्य वर के मत्थे मढ़ी जाने लगी। बंगाल के कुलीन विवाह का इतिहास स्त्रियों के दासत्व की दर्दनाक कहानी है।

अधिकांश हिन्दुओं मे आजकल भिन्नजाति या अन्तर्जातीय विवाहों को बड़ी निन्दा की दृष्टि से देखा जाता है। जब स्व० विट्ठलभाई पटेल और डा० भगवानदास ने अन्तर्जातीय विवाहों को वैध ठहराने का प्रस्ताव व्यवस्थापिका सभा के सम्मुख रखा, उसका भारी विरोध किया गया। वास्तव मे हिन्दुओ का यह दुराग्रह एक अर्थ में स्वाभाविक था। वर्तमान हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी विशेषता जातिभेद है यह दो बुनियादों पर खडा है—खान-पान और विवाह। रोटी-बेटी का सम्बन्ध इसका मुख्य उद्देश्य है। इन्हें हिला देने पर उसकी नीव ही हिल जायेगी। १९५५ के हिन्दू विवाह कानून ने अन्तर्जातीय विवाह को जायज करार दिया है।

अन्वेषकों का कहना है कि अपनी ही जाति या वर्ण में ही विवाह करने का नियम न तो पुराने जमाने मे प्रचलित था और न ही धर्मशास्त्रो ने उसे विवाह की अनिवार्य शर्त बताया है। वैदिक और पौराणिक साहित्य मे वर्णान्तर विवाहों के बीसियों उदाहरण मिलते है। वैदिक काल में चार ही जातियां (वर्ण) थी, किन्तु कालान्तर मे इनकी हजारों उपजातियां बन गयी। १९०१ की जनगणना रिपोर्ट में २,३७८ जातियों का उल्लेख है। निम्न वर्गो की जातियां अपने को निरन्तर ऊंचा उठाने का प्रयत्न कर रही हैं। इन विभिन्न जातियों के वैवाहिक नियमों की कठोरता में कोई कमी नही हुई है। लोकाचार मे शास्त्र के सवर्ण नियम को उपवर्ण, उपजाति और उपजाति के बहुत छोटे-छोटे वर्गों तक विस्तीर्ण कर दिया है। उदाहरणार्थ, महाराष्ट्र के ब्राह्मणों में देशस्थ, कोंकणस्थ और करहाद तीन भेद, देशस्थों के फिर चार उपभेद है। इन चारों में परस्पर विवाह नही हो सकता। टाड ने वैश्यो के ८४ कुल गिनाए है। इन सबमे परस्पर विवाह नही हो सकता। कायस्थ १२ भागों मे बंटे है और इनमें शादी-ब्याह नही होते। जाति-भेद का रोग केवल उच्च जातियों तक ही सीमित नही। उत्तर भारत के भंगियो मे १,३५९ वर्ग है जो परस्परह शादी-ब्याह नही करते।

अन्तर्विवाहों के दुष्परिणाम

सजातीय विवाह के प्रतिबन्ध से वर-वधू के चुनाव का दायरा बहुत संकुचित हो गया है। कुछ जातियों मे पुरुषों की संख्या इतनी कम है कि कन्याओं का विवाह एक समस्या बन गई है। इन लड़कों के माता-पिता लड़की वाले की असमर्थता का

पूरा फायदा उठाते हैं। दहेज के लिए बड़ी-बडी रकमें मांगते हैं। उस समय कन्या के माता-पिता को भारी कर्ज लेना पड़ता है या ऐसे धनी खूसट वृद्ध के साथ अपनी लड़की को ब्याहना पडता है, जो दहेज न मांगता हो। इस तरह हर साल लाखों लड़किया लोभी, निर्दय और कामुक व्यक्तियों के हाथ सौप दी जाती है। सुकुमार कन्या के गले में वृद्ध पति की फांसी डाल दी जाती है और उसे जीवन भर अपने भाग्य पर रोने के लिए छोड दिया जाता है। जो कन्याएं कुछ साहस रखती है वह स्नेहलता की तरह आत्महत्या कर अपने और अपने माता-पिता के कष्टों का अन्त करती है।

अन्तर्विवाहों से बाल-विवाह की बुराई को भी प्रोत्साहन मिलता है। जाति मे लडकियों की कमी के कारण, कई बार युवकों को जबर्दस्ती कुंवारा रहना पड़ता है। उस दशा में युवक दूसरी स्त्रियों से अनुचित सम्बन्ध रखते है। इन युवकों के लिए स्त्रियां भगा कर लाई जाती है और इस तरह समाज में अनाचार की वृद्धि होती है।

जब कन्याओं के विवाह करने में इतना कष्ट हो, ता उनका वध और उनकी उपेक्षा स्वाभाविक है। हिन्दुओं में कन्याओं की जो दुर्दशा है, उसका प्रधान कारण वर ढूंढने और उसे सन्तुष्ट करने की कठिनाइयां है। कन्या होते ही घर मे जो शोक की लहर दौड़ जाती है, उसका कारण कन्या के विवाह की चिंता है। इसके अतिरिक्त, विवाह के क्षेत्र में जातिभेद, राष्ट्रीय एकता, संगठन और मेल का सबसे बड़ा दुश्मन है।

अन्तर्जातीय (Inter-caste) विवाहों की उपादेयता. भारत की विभिन्न जातियों में एकता और सौहार्द स्थापित करने का अन्तर्जातीय बहिर्विवाह ही एक-मात्र प्रभावशाली साधन है। केवल मौखिक सहानुभूति, मन्दिर उद्घाटन और सहिष्णुता के प्रचार से भारत में एकता नहीं हो सकती। उस एकता को लाने के लिए उसे रक्त के अविच्छिन्न और दृढ़ सूत्र से बांधना होगा।

सन् १९१८ में श्री विठ्ठलभाई पटेल ने हिंदुओं में अन्तर्जातीय विवाहों को वैध बनाने का एक प्रस्ताव विधानसभा के सम्मुख रखा था। कट्टरपंथियों ने उसका घोर विरोध किया। १९३७ में पुनः डा० भगवानदास ने इस सम्बन्ध में प्रयत्न किया, वह भी निष्फल सिद्ध हुआ। १९५५ के हिन्दू विवाह कानून के अनुसार अब यह जायज हो गए हैं।

विवाह के प्राचीन और अर्वाचीन रूप

विवाह की विधि के अनुसार विवाहों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, हिन्दुओं में प्राचीन काल से विवाह के अनेक रूप प्रचलित रहे हैं। उनमें से अनेक तो विदेशों में प्रचलित विवाहों से खूब मिलते-

जुलते हैं। सामान्यतः, भारतीय शास्त्रकारों ने विवाहों को ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच नामक आठ श्रेणियों मे विभक्त किया है। सुविधा के लिए इन्हें चार मुख्य भेदों में बांटा जा सकता है।

(१) **ब्राह्म-विवाह**. जब कन्या का पिता विद्वान् और आचारवान् वर को स्वयं बुलाकर अपनी कन्या को वस्त्र तथा आभूषणो से अलंकृत कर उसे दान देता है, उसे ब्राह्म-विवाह कहते हैं। दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाहो में इससे कोई मौलिक भेद नही है।

(२) **आसुर-विवाह**. यह विभिन्न देशों में 'खरीदकर विवाह' (Marraiage by Purchase) से बहुत मिलता-जुलता है। जब कोई वर कन्या के लिए उसके माता-पिता को यथाशक्ति धन देने पर इच्छापूर्वक कन्या को ग्रहण करता है तो उसे असुर विवाह कहते है।

(३) **गान्धर्व-विवाह**. आधुनिक पाश्चात्य देशों में यह अत्यन्त लोकप्रिय है। भारतवर्ष में भी एक जमाने में यह बहुत प्रचलित रहा है, यद्यपि बहुत लोग आज शायद इस पर विश्वास नहीं करेंगे। गान्धर्व-विवाह में कन्या और वर का इच्छापूर्वक संयोग होता है।

(४) **राक्षस**. इस विवाह की विभिन्न असभ्य जातियों में प्रचलित 'बलपूर्वक विवाह' (Marriage by Capture) से तुलना की जा सकती है। जब कन्या-पक्ष के लोगों का हनन करके कन्या के घर की रक्षक दीवार आदि भेद करके, रोती और चिल्लाती कन्या को जबर्दस्ती घर से भगा लिया जाय तो उसे राक्षस-विवाह कहते है। राक्षस और पैशाच विवाह में कोई मौलिक भेद नही है।

उपर्युक्त सभी प्रकार के विवाह विस्तृत अर्थों में समस्त देशों में प्रचलित रहे है। हमारे यहां अत्यन्त पूज्य एवं महात्मा समझे व कहे जाने वाले भीष्म पितामह और श्रीकृष्ण आदि महापुरुषों ने स्वयं इन्हें किया है या करने में सहायता दी है। वास्तव में इनके नाम शास्त्रकारों की पसन्दगी और नापसन्दगी को जाहिर करते हैं। उन्होंने जिन विवाहों को उत्तम समझा उन्हें अच्छा नाम दिया और दूसरों को बुरा। भारतीय विवाह के इतिहासज्ञों का कहना है कि वैदिक युग से लेकर वात्स्यायन के समय तक भारत में आज के पाश्चात्य देशों की तरह युवक-युवती एक-दूसरे का अनुरंजन (Courtship) कर विवाह किया करते थे। किन्तु ८ वी शती से बाल-विवाह प्रचलित होने और स्त्रियों मे शिक्षा का लोप होने के साथ-साथ यह समाप्त हो गया और बाद मे केवल ब्रह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाह ही बच रहे, जिनमें कन्यादान आवश्यक अंश है।

कन्यादान. यह प्रथा स्त्री के गिरते दर्जे की सूचक है। पिता की प्रभुता और नारियों की स्वतन्त्रता का अपहरण कन्यादान के प्रचलित होने के प्रमुख

कारण थे ।

कन्यादान विरोधी आधुनिक प्रवृत्तियां. आजकल उसी विवाह को श्रेष्ठ माना जाता है जिसमें वर-वधू की सम्मति हो। कन्या कोई गौ, बैल या अन्य जड़-पदार्थ नहीं है, जिसका जड़-वस्तुओं की भांति दान किया जा सके। १८ वीं शती में योरोप में औद्योगिक क्रांति हुई। मशीनों और उद्योग-धन्धों से समाज की बनावट बदलने लगी। संयुक्त परिवार प्रथा टूटने लगी। व्यक्तिवाद (Individualism) का जन्म हुआ। लड़के माता-पिता से पृथक् हो, आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो गए। पिता की प्रभुता घटने लगी। विवाह की आयु ऊंची होने लगी। इसलिए योरोप के सभी देशों मे वर-वधू की सहमति से होने वाले विवाह अच्छे समझे जाने लगे। भारत में भी वही युग आ रहा है। परिवार का पुराना महत्त्व कम हो रहा है। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से, व्यक्तिवाद, स्वाधीनता और लोकतन्त्र के विचारों के प्रसार से, पिता का महत्त्व कम होता जा रहा है। इस प्रकार पिता का अधिकार कम होने तथा बाल-विवाह की प्रवृत्ति कम होने से भविष्य में भारतीय समाज में माता-पिता की स्वीकृति के बिना प्रणय-विवाहों के अधिक बढ़ने की पूरी सम्भावनाएं है। नए विवाह कानूनों मे इन विवाहों की वैधता को स्वीकार किया गया है।

दाम्पत्य अधिकार और कर्तव्य

विवाह द्वारा पति-पत्नी एक सूत्र में आबद्ध हो जाते है और एक साथ मिलकर गृहकार्यों का संचालन करने लगते है। इस अवस्था में दोनों के ही एक-दूसरे के प्रति कुछ कर्त्तव्य और अधिकार उत्पन्न हो जाते हैं। प्राचीन काल में कर्त्तव्यों पर अधिक बल दिया गया है; आजकल अधिकारों की जोरदार मांग की जाती है। विभिन्न देशों और कालों में धार्मिक विश्वासों और आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों ने स्त्री-पुरुषों के अधिकारों में परिवर्तन पैदा किया है। कई जातियों मे किसी एक को विशेष अधिकार प्राप्त है तो कई देशों में समान अधिकारों का बोल-बाला है।

भारत में दाम्पत्य अधिकार. भारतवर्ष में वैदिक युग में पति-पत्नी के अधिकार पर्याप्त समान थे। नव-वधू घर की रानी समझी जाती थी। किन्तु ५ वी सदी तक उसे नौकरानी का दर्जा दिया जाने लगा। यह पतन गुप्तयुग तक पूर्ण हो चुका था। इस पतन के कई कारण थे।

यज्ञीय कर्मकाण्डों में अत्यधिक शुद्धि के विचार से स्त्रियों का शनैः-शनैः यज्ञीय कार्यों से पृथक् किया जाना, युद्धों के कारण पुत्रों की कीमत का बढ़ जाना, स्त्री-शिक्षा का अभाव और बाल-विवाह स्त्रियों की गिरती अवस्था के लिए मुख्यतः उत्तरदायी थे।

दाम्पत्य अधिकारों के सम्बन्ध में निम्न प्रश्न विशेषतः विचारणीय हैं :

(१) पति का पत्नी को दण्ड देने का अधिकार, (२) दाम्पत्य अधिकारों

की पुन: प्राप्ति, (३) व्यभिचार-विषयक नियम, (४) सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार।

१. दण्ड देने का अधिकार. पति अपनी पत्नी को दो प्रकार से दण्ड दे सकता है—पीटकर या जुर्माना करके। पुराने जमाने मे प्रायः सभी पितृसत्ताक देशों में पतियों को यह अधिकार प्राप्त था। लोकतन्त्री इंगलैंड में १८९१ तक पति पत्नी को पीट सकता था। १५वी सदी में जर्मनी में एक कहावत थी "औरत और गधा दोनों पीटने लिए होते है।" मध्य युग के रूस मे वधू का पिता दामाद को एक कोड़ा देता था जो वधू के बिस्तर पर टांगा जाता था। पत्नी को कितना पीटा जाय यह पति की इच्छा पर निर्भर था। हमारे यहां भी कौटिल्य और मनु ने स्त्रियो को दण्ड देने का विधान किया है।

२. दाम्पत्य अधिकारों की पुनः प्राप्ति. (Restitution of Conjugal Rights). विवाह हो जाने पर पति-पत्नी का यह अधिकार है कि वे परस्पर सहवास के सुख का उपभोग करें। उनमे से कोई एक-दूसरे को इस अधिकार से वंचित करता है तो वह अधिकार का हनन है। आजकल इस अधिकार की प्राप्ति के लिए स्त्री-पुरुष अदालत मे दावा दायर कर सकते हें। यदि कोई पति अपनी पत्नी के विरुद्ध दावा दायर करता है तो स्त्री क्रूरता, भयंकर बीमारी और नपुंसकता के कारणों के आधार पर उसके साथ रहने से इन्कार कर सकती है और अदालत द्वारा पति से कानूनी त्याग भी पा सकती है।

३. व्यभिचार विषयक नियम. अधिकांश जातियों मे विवाहित पति-पत्नी का एक दूसरे को छोड़ पर-स्त्री या पर-पुरुष से सम्भोग अवैध माना गया है और उसके लिए कठोर दण्डों का विधान किया गया है। इस मामले में भारतीय शास्त्रकारों ने स्त्रियों के प्रति कुछ नरमाई से काम लिया है। इसका मुख्य कारण उनका अबला समझा जाना है। जहां तक दाम्पत्य अधिकारों का सवाल है, भारतवर्ष मे स्त्रियों के अधिकार पुरुषों के तुल्य है, कुछ मामलों में उनके साथ विशेषता भी दिखाई गई है। व्यभिचारिणी होने पर उन्हें दण्ड नहीं दिया गया है, और इस दशा में भी पति को आवश्यक रूप से उसका भरण-पोषण करना पड़ता है।

४. सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार. दाम्पत्य अधिकारों में साम्पत्तिक अधिकार का विशेष महत्व है। वास्तव में किसी परिवार मे स्त्री-पुरुष के पद निर्धारण में इस बात का बड़ा हाथ है कि उन्हें सम्पत्ति में क्या और कितने अधिकार प्राप्त है। भारतवर्ष में पिता या पति की सम्पत्ति में स्त्री का कोई अधिकार नहीं हें। हमारे देश में स्त्रियों की गिरी अवस्था का यह एक बड़ा कारण है। आर्थिक दृष्टि से स्त्रियां पूरी तरह परतन्त्र हैं। यह कारण भी एक अंश में पिता या पति से असन्तुष्ट स्त्री को उनसे पृथक् होने से रोकता है। प्रस्तावित हिन्दू उत्तराधिकार

बिल में लड़कियों को लड़कों की भांति तुल्य सम्पत्ति का अधिकार प्रदान किया गया है। जहां एक अर्थ में स्त्री-पुरुषों के साम्पत्तिक अधिकार देश के कानून से निर्धारित होते है, वहां देश के कानून निर्माण में समाज की विद्यमान अवस्था का प्रबल प्रभाव होता है।

तलाक (Divorce)

पारिवारिक सुख दाम्पत्य जीवन का प्रधान उद्देश्य है। यदि दम्पति किन्हीं कारणों से उस सुख को प्राप्त नहीं कर सकते तो तलाक की अनुमति देकर उन्हें दुःखमय जीवन से छुटकारा दिया जा सकता है। अतः तलाक वैवाहिक असफलता की घोषणा और नया परिवार बनाने की अनुमति है। अधिकांश समाज और जातियों ने पति-पत्नी को तलाक का अधिकार दिया है, यद्यपि उनमें तलाक देने के कारणों में बहुत भिन्नता है। मध्य युग के योरोप में ईसाई मत के प्रभाव के प्रबल होने पर तलाक बन्द हो गया और वहां भी विवाह एक अविच्छेद्य सम्बन्ध समझा जाने लगा। १६वी सदी की धार्मिक सुधारणा और १८वीं सदी की फ्रेंच राज्य क्रान्ति के बाद योरोपियन देशों में तलाक की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इंग्लैण्ड इस विषय में अनुदार था और १८५७ तक वहां पार्लियामेण्ट के कानून द्वारा ही तलाक प्राप्त किया जा सकता था। इस बिल को पास कराने की प्रक्रिया बड़ी लम्बी और खर्चीली थी। इसलिए १७१५ से १८५५ तक के १४० वर्षों में केवल १७० व्यक्ति ही पूर्ण विच्छेद की अनुमति प्राप्त करने में सफल हो सके। इस्लाम में विवाह को एक ठेका (Contract) माना गया है और उसमें तलाक की इजाजत है।

हिन्दुओं में तलाक. हिन्दुओं में यह आम विश्वास है कि विवाह एक अविच्छेद्य सम्बन्ध है। मृत्यु भी इसे भंग नहीं कर सकती। पर ऐतिहासिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह धारणा सही नही है। दूसरी सदी तक यहां पुनर्विवाह हो सकता था। किन्तु बाद मे हिन्दू समाज में स्त्रियों की दशा गिरती गई और उनसे यह अधिकार छिन गया। वैदिक युग में पति के मर जाने पर पत्नी को दूसरा विवाह करने का अधिकार निश्चित रूप से प्राप्त था। यदि पति-पत्नी का सम्बन्ध अविच्छेद्य है तो पत्नी को यह अधिकार प्राप्त नही होना चाहिए।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में तलाक की विस्तृत चर्चा है। प्रवासजनित परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में कौटिल्य ने एक न्यायपूर्ण विधान बनाया है। कौटिल्य यह अच्छी तरह समझता था कि यदि स्त्रियों को कुछ विशेष अवस्थाओं में, जब कि वे अपने पति से वियुक्त हो जाती है, पुनर्विवाह का अधिकार न दिया गया तो समाज में अधर्म और व्यभिचार बहुत बढ़ जायगा। कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि नीच, प्रवासी, राजद्रोही, घातक, पतित और नपुंसक पति स्त्री के लिए त्याज्य है। यह नियम धर्म-विवाहों—अर्थात् ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष

और दैव के ही लिए हैं। अन्य विवाहों के लिए यह अधिक उदार है। इन विवाहों में परस्पर द्वेष से ही कौटिल्य मोक्ष, अर्थात् तलाक का अधिकार देता है। कौटिल्य विवाह को एक ठेका मानता है, जैसा कि आजकल पाश्चात्य देशों में माना जाता है।

मध्य काल में स्त्री की अवस्था साथी के उच्च आदर्श से गिरकर दासी तक पहुंच गई। मनु ने तो पत्नी को यहां तक आदेश दिया कि चाहे उसका पति दु:शील, पर-स्त्रीगामी व गुणहीन ही क्यों न हो, पत्नी को उसकी देवता के समान पूजा करनी चाहिए। इस तरह धीरे-धीरे उच्च वर्गों में तलाक का चलन समाप्त हो गया।

हिन्दू-समाज के उच्च वर्ग में शास्त्रों द्वारा तलाक प्रथा का सर्वथा निषेध होने पर भी नीची जातियों में रिवाज के तौर पर तलाक पुराने जमाने से अब तक चला आ रहा है। बड़ौदा में सभी जातियों में तलाक की अनुमति है, किन्तु इसका प्रचलन प्राय: नीच जातियों में ही है। आसाम के खासियों में तलाक बहुत आम बात है। नेपाल में एक नेबार औरत अपने पति से असन्तुष्ट होने पर उसे किसी भी समय तलाक दे सकती है। अपने प्रस्थान की सूचना के चिन्ह के रूप में वह अपने बिस्तर पर दो सुराहियां छोड़ जाती है। जहां तलाक आसानी से प्राप्त हो जाता है वहां स्त्रियों को पुनर्विवाह से प्राय: नहीं रोका जाता।

आधुनिक परिवार में व्यक्तित्व का विकास

यौन सुख और संतानोत्पत्ति के अतिरिक्त, व्यक्तित्व का विकास भी परिवार का मुख्य कार्य है। यह कार्य दोहरा है, एक का सम्बन्ध पति-पत्नी से है और दूसरे का माता-पिता और बच्चों से। पति-पत्नी किस भांति आपस में निभाते और माता-पिता किस भांति अपने बच्चों के व्यक्तित्व को विकसित करते हैं, इस सम्बन्ध में आजकल बहुत दिलचस्पी बढ़ रही है। इस बात को इस तरह भी व्यक्त किया जा सकता है कि पति-पत्नी का परस्पर सम्बन्ध सुख का सम्बन्ध है जबकि माता-पिता और बच्चों का विस्तृततम अर्थों में शिक्षा का। यह वक्तव्य किसी अंश तक अवश्य अधूरा है, क्योंकि परिवार, इसके अतिरिक्त कुछ आर्थिक, सुरक्षा और मनोरंजन के कार्यों को भी सम्पादित करता है। किन्तु यह नि:संदेह उस प्रवृत्ति का परिचायक है जिस ओर हम बढ़ रहे हैं। आज विवाह की समस्याएं हैं: (१) पति-पत्नी को सुखी बनाना, (२) बुद्धिमान् माता-पिताओं का निर्माण करना जो कि बच्चों को सुखी और स्वास्थ्यकर बचपन प्रदान कर सकें।

सुखी विवाहों की संख्या

किसी भी समाज के लिए यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि उसके कितने

परिवार सुखी हैं। भारतवर्ष में इस सम्बन्ध में कुछ आकड़े संग्रह करने का अभी तक कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। विदेशों में अवश्य दाम्पत्य सुख को मापने के प्रयत्न किये गये हैं। इनसे कुछ मनोरंजक तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। बरजस कार्टल ने अमरीका के दाम्पत्य जीवन का अध्ययन कर यह बताया कि वहां विवाहितों का पांचवां भाग अत्यन्त दुःखी है, जब कि दो तहाई अति सुखी या सुखी है। दूसरा अन्वेषक टरमेन भी लगभग इसी नतीजे पर पहुंचा है। उसने अपने अध्ययन मे दो अधिक विशेषण—असाधारण सुखी और असाधारण दुःखी—प्रयुक्त किये हैं। यह दृष्टव्य है कि ३० प्रतिशत दम्पति असाधारण सुखी और १ प्रतिशत असाधारण दुःखी हैं। उपर्युक्त तथ्य क्या इस बात की ओर संकेत नहीं करता कि सामान्य स्त्री-पुरुषों के लिए अपने जीवन को सुखी बनाने का विवाह एक उत्तम साधन है ?

वैवाहिक जीवन में विषाद के कारण

सुखी परिवार किसी भी स्वस्थ समाज का आदर्श है। परिवारों को कैसे सुखी बनाया जाय यह एक बड़ी सामाजिक समस्या है। उसका हल ढूंढ़ने से पहले यह बेहतर है कि हम उन कारणों की खोज करें जो कि वैवाहिक जीवन में कड़वाहट और दुःख की सृष्टि करते है। अमरीका में इस सम्बन्ध में मनोरंजक खोज हुई है। टरमेन ने अपने अध्ययन में उन पेंतीस आम कारणों की एक फहरिस्त तैयार की है जिसकी कि प्रायः पति-पत्नी शिकायत करते हैं। इन शिकायतों का पति-पत्नियों के लिए कितना महत्व और गम्भीरता है, यह उनके क्रम द्वारा व्यक्त किया गया है।

पत्नियों के प्रति पतियों की शिकायतों का साधारण क्रम यह है—स्नेहशील नही, स्वार्थी और लापरवाह, बहुत शिकायत करने वाली, तेज मिजाज, घमण्डी, अविश्वसनीय, आलोचक, संकीर्ण हृदय, तर्क-वितर्क करने वाली, बच्चों को बिगाड़ने वाली, आय का नियन्त्रण नही करती, सास-श्वसुर-साले-सालियां, अपर्याप्त आय, नर्वस और भावुक, दूसरों से प्रभावित, ईर्ष्यालु, आलसी, मनोरंजनरत, बहुत बातून, दोस्तों का चुनाव, दूसरे आदमियों में अभिरुचि, स्वतन्त्रता की कमी, परम्पराओं का आदर, बौद्धिक शौक, मदपान के प्रति धारणा, परपुरुषगामी, वफादार नही, धार्मिक विश्वास, शिक्षा, कसमें खाना, खाने-पीने का स्वाद स्त्री की अधिक उम्र, धूम्रपान, मदपान, कम उम्र।

पतियों के प्रति पत्नियों की शिकायतों का साधारण क्रम है—स्वार्थी और लापरवाह, झूठा, तर्क-वितर्क करने वाला, बहुत शिकायत करने वाला, स्नेहशील नही, नर्वस और बेसब्र, अविश्वसनीय, आय का प्रबन्ध न करने वाला, आलोचक, वफादार नहीं, आलसी, सास-श्वसुर-साले-सालियां, दूसरों से प्रभावित, संकीर्ण हृदय,

अपर्याप्त आय, दूसरी औरतों में अभिरुचि, मनोरंजन और दिल बहलाव, तेज मिजाज, मदपान के प्रति धारणा, बौद्धिक शौक, परम्पराओं के प्रति आदर, घमंडी, दोस्तों का चुनाव, बच्चों को बिगाड़ने वाला, स्वतन्त्रता की कमी, बहुत बातूनी, धार्मिक विश्वास, ईर्ष्यालु, कसम खाता है, मद्यप, शिक्षा, पति की उम्र अधिक, खाने-पीने के स्वाद, धूम्रपान, उम्र में कम।

उपर्युक्त उत्तर बुनियादी कारणों, जैसे कि व्यक्तित्व की कमी अथवा यौन-अतृप्ति के बजाय, अन्तर्हित समस्याओं के अंशतः लक्षण और अंशतः व्यक्तियों के बौद्धिक उत्तर हैं। इन शिकायतों की सूची और क्रम देश, काल, सामाजिक वर्ग, पेशे और परम्परा के अनुसार बदलता रहेगा। इसमें-से बहुत सी शिकायतें किन्हीं भी दो साथ में रहने वाले व्यक्तियों के सम्मुख उपस्थित हो सकती है, चाहे वह समलिंगी क्यों न हों। लेकिन विवाह तो नर-नारी की एक साहचर्य-समिति है। अतः विवाह-सम्बन्ध में काम-प्रवृत्ति का भी मुख्य स्थान होना चाहिए। जिन लोगों ने तलाक दिये पति-पत्नियों का अध्ययन किया है उनका कहना है कि उनके विच्छेद में काम-सम्बन्धी कठिनाइयां सर्वदा या प्रायः सर्वदा ही कायम रहती है।

पशुओं के समान मानव प्राणियों में काम या यौन सम्बन्ध केवल एक शारीरिक प्रतिक्रिया-मात्र नहीं जिस पर कि शिक्षा का कोई प्रभाव न हो, प्रत्युत यह काम अनुभव विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक कारणों से नियंत्रित होता है। यदि विवाह में काम-पहलू असफल है; यह असफलता मानसिक और सांस्कृतिक कारणों से हो सकती है जो कि काम-प्रवृत्ति की तृप्ति के मार्ग में बाधा पहुंचाते हैं शारीरिक प्रकार के कामविरोध प्रायः विरल ही होते है। बरजस और कार्टल का कहना है कि "अधिकांश दम्पतियों में, काम-तृप्ति प्राणिक तथ्यों का उतना परिणाम नहीं होता जितना कि मनः-प्राणिक (Psychogenetic) विकास और काम के प्रति उनकी धारणाओं के सांस्कृतिक नियंत्रण का परिणाम होती है।" बहुत कुछ ऐसा ही मत लेबी और हैरियट मौरियर का है जो कि विवाह के काम-पहलू को दो व्यक्तियों के व्यक्तित्व के समीकरण का परिणाम मानते है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, दाम्पत्य सुख में एकमात्र व्यक्तित्व प्रायः सबसे अधिक जटिल पहलू माना जाता है। व्यक्तित्व वास्तव में आदतों का एक जटिल मिश्रण है, जो कि हमें स्वस्थ या सनकी, सतुलित या विकृत बनाता है।

स्त्री दम्पतियों का व्यक्तित्व

व्यक्तित्व एक बहुत विस्तृत और जटिल वस्तु है। फिर भी टरमेन ने व्यक्तित्व की उन विशेषताओं को बताने की चेष्टा की है जो वैवाहिक सुख को प्रभावित करती हैं। उन्होंने अपनी खोजों को संक्षेप में चलती भाषा में व्यक्त किया

है। यद्यपि यह भाषा वैज्ञानिक नहीं, फिर भी उससे हमें सुखी और दुःखी दम्पतियों के व्यक्तित्व का अच्छा परिचय मिलता है।

''**सुखी विवाहित स्त्रियां.** वर्गरूप में, दूसरों के प्रति दयामय व्यवहार और बदले में दूसरों से दयामय व्यवहार की आशा से पहचानी जाती है। वह आसानी से नाराज नहीं होतीं, और इस बात की व्यर्थ चिन्ता नहीं करती कि वह दूसरों पर कैसा प्रभाव डालती है। वह सामाजिक सम्बन्धों को प्रतिद्वन्द्वी परिस्थितियां नहीं समझतीं। वह सहयोगी होती है, गौण काम करने में आपत्ति नहीं करती, दूसरों की सलाह से खिज नही उठतीं। लगन और सेवा-प्रवृत्तियां प्रायः उनके व्यवहार में व्यक्त होती हैं। वह उन कार्यों में आनन्द लेती हैं जिनसे कि दूसरों को शिक्षा और मनोरंजन का अवसर मिलता है, तथा पराश्रित और उपेक्षितों के लिए कुछ करना चाहती है। वह अपने काम में नियमबद्ध और मेहनती होती है, छोटी-छोटी बातों का ध्यान रखती हैं, और रुपए-पैसे के मामले में सावधान होती है। धर्म, नैतिकता, और राजनीति मे वह अपरिवर्तनवादी और परम्पराप्रिय होती है। उनकी व्यक्तिगत धारणाओं मे आत्म-विश्वास और जीवन के प्रति एक निश्चित आशावादी दृष्टिकोण अन्तर्हित होता है।

''**दुखी विवाहित स्त्रियां.** इसके विपरीत, भावनाओं के तनाव और मिजाज के उतार-चढ़ाव से पहचानी जाती है। वह गहरी हीन भावनाओं की साक्षी देती है जिनके प्रति उनकी प्रतिक्रिया भीति की न होकर आक्रमणात्मक धारणाओं में होती है। उनकी चिढ़ने और हुक्म देने की प्रवृत्ति होती है। अथक परिश्रम ग परिणत क्षतिपूरक प्रक्रिया उनमें आम है। यह चीज दुःखी पत्नियों के व्यवहार म आक्रमणात्मक और सामाजिक जीवन में अतिव्यग्रता की प्रवृत्ति में दिखाई देती है। वह अपनी परिचिति के क्षेत्र को बढ़ाने में प्रयत्नशील होती हैं, किन्तु वह पसन्द होने के बजाय मशहूर होने के लिए अधिक चिंतित होती है। वह स्वकेन्द्रित होती है और परोपकारी और कल्याणकारी कार्यों में, सिर्फ उस स्थिति को छोड़कर जब कि उन्हें व्यक्तिगत प्रशंसा का अवसर मिले, अधिक अभिरुचि नहीं रखती। वह ऐसे कार्यों को पसन्द करती हैं जिनमें प्रेम में पड़ने के अवसर मिलते हों। उनका व्यवहार स्त्रियों के प्रति पुरुषों की अपेक्षा अधिक नरम होता है और उनमें वह काम-विरोध बहुत कम दिखाई देता है जैसा कि दुःखी विवाहित पुरुषों में प्रदर्शित होता है। वह बेसब्र होती है, मनमौजी काम करती हैं, सावधान और बाततरतीब लोगों को नापसन्द करती हैं और उस तरह के कामों को नापसन्द करती हैं जिनमें तरतीब और मेहनत का जरूरत पड़ती है। राजनीति, धर्म, और सामाजिक आचार में वह सुखी विवाहित स्त्रियों की तुलना में अधिक क्रान्तिकारी होती हैं।''

सुखी और दुःखी पत्नियों की टरमेन ने उपर्युक्त तसवीर खींची है। उसने सुखी और दुःखी पतियों के व्यक्तित्व का निम्न वर्णन किया है :

"**सुखी विवाहित पुरुष.** सम और संतुलित स्वभाव का परिचय देते हैं। दूसरों के प्रति उनकी विशेष प्रतिक्रिया सहयोगी की होती है। यह बात उनके अपने व्यापारिक अधिकारियों के प्रति जिनके साथ कि वह अच्छी तरह कार्य करते हैं, उनके व्यवहार में, स्त्रियों के प्रति उनकी धारणाओं में, जो कि समानतावादी आदर्शों को व्यक्त करती हैं, तथा अपने से नीचे और उपेक्षितों के प्रति उनके दयामय व्यवहार में प्रतिबिम्बित होती है। लोगों की सभा में वह अनात्म-विस्मृत और कुछ बहिर्मुखी से नजर आते हैं। दुःखी पतियों की तुलना में वह श्रेष्ठ कार्यप्रवृत्ति, उत्तरदायित्व की अधिक भावना तथा अपने दैनिक कार्य की तफसीलों में अधिक ध्यान देने की लगन दिखाते हैं। वह क्रमबद्ध कार्यविधि और बातरतीब लोगों को पसन्द करते है। रुपए-पैसे के मामलों में वह किफायतशार और सावधान होते हैं। अक्रान्तिकारी धारणाएं उनकी खास विशेषताएं है। धर्म के प्रति प्रायः उनका रुख अच्छा होता है तथा वह यौन नैतिकता और अन्य सामाजिक परम्पराओं का दृढ़ता से समर्थन करते है।

"**दुःखी पति.** इसके विपरीत सनकी ओर नर्वस होते हैं। वह सामाजिक हीनता की भावनाओं से ग्रस्त होते हैं, जनता में प्रमुख होना नापसन्द करते हैं, तथा सामाजिक मत से बहुत प्रभावित होते हैं। सामाजिक असुरक्षा की इस भावना की क्षतिपूर्ति वह उन सम्बन्धों में जहां वह अपने को श्रेष्ठ अनुभव करते हैं, प्रभुत्व के प्रदर्शन से करते है। वह अपने व्यापारिक आश्रितों और स्त्रियों पर हुक्म चलाने में आनन्द लेते हैं, और ऐसी परिस्थिति से हट जाते है जहां उन्हें गौण काम करना पड़े अथवा श्रेष्ठों से प्रतियोगिता करनी पड़े। वह इस हटने की क्षतिपूर्ति दिन के सपनों और शक्ति के हवाई किलों से करते है। सुखी पति की तुलना में वह अपने कार्य करने की आदतों मे प्रायः अस्त-व्यस्त और अव्यवस्थित होते हैं, व्यवस्थित प्रवृत्ति और तफसील को नापसन्द करतें हैं, रुपया बचाना नापसन्द करते हैं, और बाजी लगाना पसन्द करते हैं। वह प्रायः अधार्मिक प्रवृत्तियां व्यक्त करते है और यौन सम्बन्धों और राजनीति में क्रान्तिवाद की ओर झुके होते हैं।"

टरमेन का वैवाहिक सुख का सिद्धांत

टरमेन ने अपना वैवाहिक सुख का सिद्धान्त इन शब्दों में व्यक्त किया है : "हमारा सिद्धान्त है कि विवाह से जो कुछ आता है वह इस पर निर्भर करता है कि उसमें क्या जाता है, और जीने वाली चीजों में सबसे महत्वपूर्ण चीजें, वह धारणाएं, पसंदगियां, नापसंदगियां, आदतें और भावात्मक प्रतिक्रियायें है जो कि किसी को अनुकूलता प्रदान करती हैं या उससे वंचित करती हैं। दूसरे शब्दों में

हम विश्वास करते हैं कि बेमेल विवाहों का अधिक अनुपात पति या पत्नी या दोनों में, दुख के प्रति उनकी पूर्वधारणा के कारण है। चाहे प्रवृत्ति से, चाहे पोषण से, ऐसे व्यक्ति पाए जाते हैं जिनमें कि अनुकूलता स्थापित करने के गुण की कमी होती है। ऐसे व्यक्ति विवाह में सुख पाने में असमर्थ हैं। ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो कम विरोधी हैं, जो कि अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियों में इसे प्राप्त कर सकते हैं, और कुछ अन्य व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें, जीवन के प्रति उनकी धारणा और दृष्टिकोण, चाहे वह कितने ही प्रतिकूल विवाहित क्यों न हों, उन्हें अत्यन्त दुःख से संरक्षित रखेगा।"

वैवाहिक सफलता या असफलता की पूर्वोक्ति (Prediction)

क्या किसी दम्पति के वैवाहिक भविष्य की पूर्वोक्ति की जा सकती है, यह एक महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक प्रश्न है। विदेशों में इसके सम्बन्ध में कुछ गवेषणा हुई। बरजस और लॉक ने "विवाह पूर्वोक्ति अनुसूची" का निर्माण किया है। इसमें तीन भागों में विभक्त सत्तावन मदें हैं और स्वास्थ्य, शिक्षा पेशे, धार्मिक विश्वास और कार्य, अवकाश के कार्य, विवाह में माता-पिता के सुख, वह वर्ग जिसमें विवाह के इच्छुक व्यक्ति निवास करते हैं, बच्चे होने के प्रति उनकी धारणा, यौन प्रवृत्ति के सम्बन्ध में सूचनाएं, रुपये-पैसे के मामले में दोनों के विचार, प्रीति का प्रदर्शन, मित्र, जीवन-दर्शन, तथा अन्य इक्कीस व्यक्तित्व के गुणों का समावेश है। इस अनुसूची के साथ अंक प्राप्ति के लिए हिदायतें दी हुई होती है। इसी भांति बरजस और लॉक ने एक "विवाह व्यवस्थापन फार्म" भी दिया है।

विद्वानों का विचार है कि विवाह को सफल बनाने और बिगाड़ने वाले गुण बहुत अंशों में व्यक्तियों में विवाह से पहले ही विद्यमान होते हैं। जहां सास-श्वसुर, साले-साली और जायदाद के झगड़े होते हैं वहां कुछ प्रकार के व्यक्तियों के लिये तो वह बहुत ही विनाशात्मक सिद्ध होते हैं। अधिकांश अवस्थाओं में तो विवाह से पहले ही बहुत अंशों में व्यक्तित्व का निर्माण हो जाता है।

विभिन्न खोजों का विशेष महत्वपूर्ण परिणाम तो यह है कि सुखी परिवार में सुखी बचपन, सुखी विवाह के लिए बहुत सहायक है। अधिकांश अन्वेषकों का यह भी मत है कि उच्च शिक्षा विवाह को सुखी बनाने में मदद पहुंचाती है। बरजस और कार्टल के कथनानुसार सुखी विवाह उन व्यक्तियों में अधिक पाये जाते हैं जो तरुणावस्था में अधिक सामाजिक रहे हों, जिन्होंने संस्थाओं, क्लबों और स्कूलों के कार्यों में हिस्सा लिया हो, और जिनके बहुत दोस्त हों। माता-पिताओं से स्नेह भी अच्छा चिन्ह माना गया है।

बच्चों का व्यक्तित्व

पति-पत्नी को सुख पहुंचाने के अतिरिक्त बच्चों का उत्तम पालन-पोषण भी परिवार का मुख्य उद्देश्य है। कुछ विचारकों की राय में तो दूसरा कार्य अधिक महत्वपूर्ण है। वस्तव में यह दोनों कार्य एक दूसरे से घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं। एक सुखी पति-पत्नी ही बच्चों के पालन-पोषण के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर सकते हैं। इस पर सब एकमत हैं कि बचपन के प्रारम्भिक वर्षों का व्यक्तित्व के निर्माण में जबर्दस्त हाथ होता है। बच्चे के यह प्रारम्भिक वर्ष अधिकतर माता-पिता, धाय, भाइयों, बहनों और परिवार से सम्बद्ध खेल के साथियों के सम्पर्क में गुजरते हैं। अतः पारिवारिक वातावरण एक युवक-युवती के व्यक्तितत्व के निर्माण में सबसे अधिक महत्त्व रखता है।

अच्छा पारिवारिक वातावरण क्या है ?

हम कैसे जान सकते है कि अच्छा पारिवारिक वातावरण कैसा है ? इसका एक सुगम तरीका यह है कि हम सुखी और दुःखी बच्चों की पारिवारिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करें। निःसंदेह सुखी परिवार वही है जो कि सुखी बच्चे तैयार करता है न कि दूसरा। टरमेन ने अपने अध्ययन में भी यह बात देखी कि सुखी बच्चे प्रायः सुखी पति-पत्नी सिद्ध होते हैं। वैवाहिक सुख के लिए माता-पिता और बच्चों में परस्पर स्नेह सम्बन्ध भी एक अनुकूल कारण है। यह दो तरह से व्यक्त होता है। एक तो माता-पिता और बच्चों के बीच में कोई मौलिक विरोध नहीं है। दूसरे बच्चे और माता-पिता एक दूसरे के सामने अपना दिल खोलकर रख देते है। एक अन्य अध्ययन के अनुसार बच्चों के लिए एक अच्छा पारिवारिक वातावरण वह है जो कि उन्हें माता-पिता के स्नेह और संरक्षण पर आधारित उनकी भावुकता को संतुष्ट करने वाला सम्बन्ध प्रदान करता है। अल्प-संरक्षण और अल्प-स्नेह बच्चे के अन्दर असुरक्षा और हीनता की भावना को जन्म देते हैं, और इस तरह कई बार क्षतिपूर्ति के लिए बच्चे को समाज-विरोधी कार्यों में प्रवृत्त होने को बाध्य करते है। उदाहरण के लिए, एक ही परिवार के दो अपराधी और निरपराधी बच्चों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चला कि उनमें से पहला किसी भी कारण से माता-पिता के साथ भावात्मक रीति से संतोषजनक सम्बन्ध स्थापित करने में असफल रहा।

जहां कि माता-पिता और बच्चों के बीच स्नेहपूर्ण सम्बन्ध सर्वथा आकांक्षित है, वहां उसकी अतिमात्रा बच्चों के लिए अनिष्टकर भी हो सकती है। अति-संरक्षण और अति-लाड़ "बिगड़े बच्चे" पैदा करता है, विशेषतः जब कि उन्हें अन्य बच्चों से नहीं मिलने दिया जाता जो कि उन्हें सुधार सकते हैं। अति-संरक्षिका और अति लाड़ करने वाली माताओं के अध्ययन से पता चलता है कि उनमें से अधिकांश

अपने बचपन में अल्प-संरक्षित और अल्प-स्नेह प्राप्त थीं। उनका विद्यमान व्यवहार अपने अभाव की क्षतिपूरक प्रक्रिया थी। वास्तव में एक बार व्यक्तित्व का पलड़ा हिल जाने पर मनोवैज्ञानिक संतुलन प्राप्त करना बड़ा कठिन हो जाता है।

सामान्य अनुशासन. निन्दा और स्तुति, स्नेह की भाति व्यक्तित्व के निर्माण के शक्तिशाली हथियार है। अनेक अन्वेषणों से यह प्रकट हुआ है कि कठोर अनुशासन और अनुशासनहीनता, इन दो अतियों के स्थान पर एक अच्छा पारिवारिक वातावरण एक संतुलित अनुशासन प्रदान करता है। टरमेन ने देखा कि अधिकांश सुखी परिवारों से सम्बद्ध अनुशासन वह है जो 'कठोर' नही है पर 'दृढ़' है। कठोर किस्म का अनुशासन अधिनायकतन्त्रीय परिवार और दृढ प्रकार का अनुशासन लोकतन्त्रीय परिवार से संयुक्त होता है। बरजस के अन्वेषण बताते हैं कि हीन पारिवारिक अनुशासन जो कि विस्तृत नुक्ताचीनी का रूप धारण करता हैं, तरुण वयस के हीन संतुलन से सम्बद्ध हैं। उसके अनुसार, माता-पिता की अल्प आलोचना, माता-पिताओं में नर्वसपन की कमी, माता-पिता और बच्चों के प्रायः हृदय उद्घाटन, स्नेह का किसी प्रकार शारीरिक प्रदर्शन और सम्मिलित पारिवारिक कार्य अच्छे पारिवारिक वातावरण के मापदण्ड है।

परिवार का भविष्य

भावी परिवार के बारे मे समाजशास्त्रियों, वैज्ञानिकों और उपन्यास-लेखकों ने अनेक मनोरंजन कल्पनाएं की है। इन कल्पनाओं के अनुसार सुदूर भविष्य में एक ऐसा युग आने वाला है जब परिवार प्रथा पूर्ण रूप से समाप्त हो जायगी। स्त्री-पुरुष इच्छानुसार कामोपभोग करेगे। गर्भनिरोध (Birth Control) के साधनों के पूर्ण हो जाने से उपभोग मे बच्चे उत्पन्न होने की कोई संभावना नहीं रहेगी और राज्य द्वारा संचालित शिशुशालाओं में शिशु-पालन का कार्य अनुभवी धायों द्वारा सम्पन्न होगा। प्रसिद्ध लेखक आल्डस हक्सले ने अपने एक उपन्यास "साहसिक जगत्" में यहां तक उड़ान ली हैं कि भविष्य मे विज्ञान इतनी उन्नति कर लेगा कि परीक्षण-नलिकाओं मे वीर्य और रज को मिलाकर, प्रयोगशालाओं में बच्चे उत्पन्न किए जा सकेंगे। स्त्रियों को प्रसव का कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा।

संक्षेप में, इन कल्पनाओं की अपेक्षा उन ठोस तथ्यों की समीक्षा करना आवश्यक है जिनके आधार पर ऐसी कल्पनाएं की जा रही है। पश्चिमी जगत् में बड़े परिवार की संस्था बहुत कुछ टूट गई है, वैवाहिक आचार के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे है, राज्य के हस्तक्षेप से माता-पिता का कार्य और महत्त्व कम होता जा रहा है, मुक्त प्रेम (Free Love) के विचार जोर पकड़ रहे हैं। जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि परिवार संस्था का भविष्य संकट में है।

१८वीं शती की औद्योगिक क्रान्ति ने जिसका कि इंग्लैण्ड में सूत्रपात हुआ और जो वहां से अन्य देशों में फैली, जहां आर्थिक जीवन में एक क्रान्ति उत्पन्न की वहां हमारी पारिवारिक संस्था को भी बुरी तरह प्रभावित किया। निम्न प्रवृत्तियां इसका मुख्य परिणाम थीं।

परिवार का विघटन

१. **औद्योगिक क्रान्ति के कारण परिवार के आर्थिक कृत्यों का ह्रास.** औद्योगिक क्रान्ति से पहले परिवार उत्पादन का मुख्य केन्द्र था। मशीनों के प्रसार ने परिवारों को रोजगार की तलाश में गांवों से निकल शहरी कारखानों में जाने को बाध्य किया। घर से दूर शहरों में रहकर मजदूरों में व्यक्तिवाद की भावनाएं प्रबल हुईं। माता-पिता का अनुशासन समाप्त हो गया, विवाह की पुरानी परम्पराओं पर भी धीरे-धीरे कुठाराघात होने लगा। उत्पादन के व्यापारीकरण से घर में स्त्री-पुरुष के आर्थिक बन्धन ढीले हो गये। घर में उनकी उपयोगिता घटने लगी।

२. **राज्य का हस्तक्षेप और परिवार के शिक्षण कृत्यों का ह्रास.** औद्योगिक कान्ति के फलस्वरूप राज्य के शासन में अधिक केन्द्रीकरण होने तथा उसके राजस्व के साधन बढ़ जाने और राज्य की जन-कल्याणपरक कल्पना ने शिक्षा को राज्य का दायित्व बना दिया। माता-पिता के अपनी जीविका के लिए बाहर रहने और बच्चों के स्कूलों में जाने से माता-पिता और बच्चे बहुत थोड़े समय ही एक-दूसरे के सम्पर्क में आने लगे। बच्चों के शिक्षण केन्द्र अब परिवार न रहकर स्कूल, कालिज, क्लब, सिनेमा और राजनैतिक दल हो गये। अतः अब बच्चों के आचार-विचार को गढ़ने में माता-पिता का उतना हाथ नहीं रहता जितना कि इन बाह्य संस्थाओं का। पर इसका अर्थ यह नहीं कि बच्चों के व्यक्तित्व के निर्माण में माता-पिताओं का बिल्कुल हाथ नहीं रह गया है या नहीं रहेगा। माता-पिता का स्नेह बच्चों के पालन-पोषण में एक अमूल्य और अनिवार्य वस्तु है। परिवार में पले और शिशुशालाओं में पले बच्चों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि शिशुशालाओं में पले बच्चों के व्यक्तित्व के विकास में कुछ कमियां रह जाती हैं। माता-पिता का स्नेह बाल्यकाल में बच्चों के व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए सदा आवश्यक रहेगा।

संयुक्त परिवार का ह्रास. आधुनिक प्रवृत्तियों ने निःसंदेह संयुक्त परिवार प्रथा को जबर्दस्त धक्का पहुंचाया है। पुराने समय में आर्थिक स्वार्थ, प्रव्रजन की सुविधाओं का अभाव और धार्मिक भाई-चारे की भावना और विश्वास माता-पिता और समस्त भाइयों के परिवारों को एक साथ सम्मिलित रहने में सहयोग देते थे, किन्तु उत्पादन के रूप में घर के विघटन, प्रव्रजन की सुविधाओं और व्यक्तिवादी भावनाओं ने संयुक्त परिवार-संस्था को नष्ट कर दिया और छोटे एकाकी परिवारों

की उपादेयता को हमारे सम्मुख रखा। कृषि के क्षेत्र में अवश्य संयुक्त परिवार सारे परिवार की जमीन को संयुक्त रखने में सहायता प्रदान कर रहे थे। संयुक्त परिवार के विघटन ने जमीन के विभाजन और उपविभाजन को बढ़ा दिया। आधुनिक प्रवृत्तियां संयुक्त परिवार को समाप्त करती जा रही हैं और हम कह सकते हैं कि भविष्य के परिवार एकाकी परिवार होंगे।

४. आयोजित मातृत्व, संतति-निरोध का प्रसार और छोटे परिवार. व्यक्तिवादी विचारधारा के प्रसार ने तथा बच्चों की दीर्घकालीन शिक्षा तथा पितृ-भक्ति की परम्परा के ह्रास ने बच्चों के उत्पादन की आर्थिक उपादेयता को समाप्त कर दिया है। अब बुढ़ापे में लड़कों से सेवा की आशा में उन पर रुपया लगाने से बेहतर, बीमा की पालिसियां खरीदना हो गया है। स्त्रियों के लिए बच्चा जनना एक जहमत और पुरुषों के लिए एक व्यर्थ का बोझा है। गर्भ-निरोध के उत्तम साधनों ने यौन-सुख भोगकर भी संतति से बचने में सहायता प्रदान की है। संतानों की दृष्टि से भावी परिवारों का झुकाव अवश्य छोटे होने की ओर है। परन्तु इससे हम इस परिणाम पर नहीं पहुंच सकते कि भविष्य में पति-पत्नी संतानोत्पत्ति बिल्कुल ही बन्द कर देंगे। संतान-प्राप्ति की इच्छा विशेषतः स्त्रियों में इतनी प्रबल है कि उसे आसानी से नहीं रोका जा सकता। अधिकांश पति-पत्नी बिना दो-एक सन्तानों के सुखी नहीं हो सकते। अतः हम कह सकते हैं कि भविष्य में स्त्री-पुरुष अनिच्छित बच्चों का उत्पादन नहीं करेंगे। पितृत्व और मातृत्व आयोजित होगा। इसमें सन्देह नहीं कि राज्य की नीति संतान उत्पादन के सम्बन्ध में विशेष प्रभाव डालेगी। जाति-सुरक्षा की भावना और युद्धों का संकट राज्यों को पति-पत्नियों द्वारा अधिकाधिक संतान उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित करेगा। इसके लिए राज्य राष्ट्रप्रेम और आर्थिक सहायता दोनों का सहारा लेंगे, जैसा कि आधुनिक जर्मनी और रूस में हुआ है।

५. सुप्रजनित परिवार. उपर्युक्त विवेचना से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि मानव जाति में परिवार संस्था के लोप की कोई सम्भावना नहीं, किंतु भावी परिवार वर्तमान परिवारों से कई बातों में भिन्न होंगे। स्नेह की भूख और बच्चों के पालन-पोषण की आवश्यकता परिवार को एक सर्वव्यापी और स्थायी संस्था बनाने में मौलिक कारण रहे हैं। जब तक परिवार एक वैयक्तिक और धार्मिक संगठन रहा उसमें राज्य का हस्तक्षेप नगण्य रहा, किन्तु भविष्य में राज्य माता-पिता के बहुत-से कर्तव्यों को अपने ऊपर ले लेगा। राज्य अपनी आवश्यकतानुसार स्वस्थ और सबल नागरिक उत्पन्न करने की दृष्टि से केवल उन्हीं लोगों को संतानोत्पत्ति का अधिकार देगा जो कुप्रसंगज रोगों (Veneral diseases) से मुक्त हों। राज्य उतने ही नागरिक पैदा करने दे सकता है, जितने नागरिक

राज्य द्वारा अच्छी तरह पाले जा सकें। भविष्य में नैतिक आचार में, बच्चा पैदा होने से पहले के स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को व्यभिचार नहीं समझा जायेगा।

विद्युत् का परिवार पर प्रभाव

वाष्प इंजन का आविष्कार परिवार में अनेक परिवर्तन लाने के लिए उत्तरदायी है। उसने फैक्टरियों की स्थापना कर घर को उद्योग के केन्द्र के रूप में नष्ट कर दिया। किंतु अब विद्युत् पुनः शक्ति को घरों में ले जा रही है। कुछ अंशों में यह सत्य होने पर भी अधिकांश उद्योगों को घर में नहीं लौटाया जा सकता। इसके विपरीत, विद्युत् मनोरंजन को व्यापारिक संस्थाओं के हाथों से निकालकर घर मे रख सकती है। रेडियो, ग्रामोफोन, टेलिविजन घर को मनोरंजन का केन्द्र बना सकते है।

गतिशील समाज में परिवार

अतीत में परिवार-संगठन प्रायः एक ही ढंग का हुआ करता था। किन्तु आजकल विभिन्न प्रकार के परिवार संगठन दिखाई देते है। पैतृक, मातृक, समानतावादी, परम्परावादी, अपरम्परावादी अनेक प्रकार के परिवार नजर आते हैं। ग्राम्य और शहरी परिवारों का अन्तर तो स्पष्ट ही है। विभक्त या संतानहीन परिवार, संयुक्त या असंतान परिवारों से बहुत भिन्न है। अतः शीघ्र परिवर्तनशील समाज में पारिवारिक जीवन के अधिकाधिक जटिल और विचित्र होने की आशा की जा सकती है।

चौदहवां अध्याय

धार्मिक संगठन

RELIGIOUS ORGANISATION

धर्म का मूल

आदिकाल में मनुष्य का जीवन कितना अनियमित, जोखिमपूर्ण और चिन्तापूर्ण रहा होगा, इसकी हम कल्पना ही कर सकते हैं। जंगली जानवर, तूफान, आंधी, उल्कापात, भूचाल, बाढ़, रोग, जन्म, यौवन, जरा, मृत्यु, स्वप्न, सूर्योदय, सूर्यास्त, ग्रहण, इन्द्र-धनुष, सरदी, गर्मी, उसके लिए एक विचित्र महान् आश्चर्य और रहस्य का कारण थे। मनुष्य उनका कारण जानना चाहता था। इसी जिज्ञासा ने धर्म को जन्म दिया। मनुष्य अपने प्रश्नों का उत्तर खोजने निकला ताकि वह अपने चिन्तित मन को ढाढ़स बंधा सके। धार्मिक कल्पनाओं ने उनकी इस मांग को पूरा किया। यह बात मनुष्य; जिसमें बुद्धि है, कल्पना की शक्ति है और जिज्ञासा की भावना है; द्वारा ही सम्भव थी।

मानव ज्ञान के विकास के साथ-साथ मनुष्य के बहुत-से प्रश्नों के उत्तर बदल गए, उन्होंने पुराने उत्तरों की कल्पनिकता की ओर संकेत किया। फिर भी मानव-विज्ञान जीवन की समस्त भौतिक और मानसिक गुत्थियों को न सुलझा सका, मानव जाति को पूर्णतया भय और जोखिम से मुक्त न कर सका।

धार्मिक संगठन का प्रारम्भ

आदिकालीन मनुष्य के ज्ञान का प्रभाव

मानव-जगत् की बुनियादी समस्याओं का जो उत्तर मनुष्य देता है वह बहुत कुछ उसके वस्तुओं के ज्ञान पर निर्भर करता है। आज हम सूर्यग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, भूकम्प, दिन-रात या जुड़वां बच्चे पैदा होने के कारणों को भली-भांति जानते हैं। आदिकालीन मनुष्य को इनका ज्ञान न था। वह इन्हें किसी देवता का कोप या कृपा समझता था। उसकी दृष्टि में यह घटनाएं प्राकृतिक नियम का उल्लंघन थी, अतः वह इन्हें विशेष महत्त्व की समझता था। वह इन्हें कभी शुभ और कभी अशुभ लक्षण मानता था। उदाहरण के लिए, कुछ जातियों में जुड़वां बच्चों का पैदा होना शुभ तथा कुछ में अशुभ लक्षण माना जाता है। असल बात यह है कि जब मनुष्य को किसी बात का सही कारण ज्ञात नहीं होता, तो वह किसी कारण का आविष्कार करता है। इस वृत्ति को मनुष्य की निश्चितता की खोज की प्रवृत्ति कहा जाता है।

अलौकिक (Supernatural) में विश्वास. चूंकि आदिकालीन मनुष्य को भौतिक तथ्यों और अन्य जीवन की समस्याओं का बहुत अल्प ज्ञान था, इसीलिए वह अपनी कल्पना का सहारा लेता था, और जिस तथ्य को वह सिद्ध नही कर सकता था उसे दैवीय व अलौकिक शक्तियों का प्रभाव मानता था। अलौकिक में विश्वास ही धर्म की बुनियाद है।

वस्तु और कल्पना. आदिकालीन मनुष्य के विचार-जगत् को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—वस्तु-जगत् और कल्पना-जगत्। प्रथम श्रेणी में उसका भौतिक वस्तुओं का ज्ञान—आग कैसे जलती है, हथियार कैसे बनाए जाते है, शिकार कैसे खेला जाता है, मौसम कब और किस क्रम से आते है, विभिन्न परिस्थितियों में मानव या पशु कैसा व्यवहार करते हैं, इत्यादि तथ्यों का समावेश है। शिकार खेलना, जाल बनाना, भोजन पकाना, झगड़ों को निपटाना इत्यादि कर्मों को आरण्यक मनुष्य अपने इस ज्ञान से ही सम्पन्न करता है। इन्द्रियों की साक्षी इस ज्ञान का आधार है।

आदिकालीन मनुष्य का दूसरा जगत्, विचार या कल्पना-जगत् है। यह इन्द्रियातीत ज्ञान का क्षेत्र है। अन्तर्दर्शन, इल्हाम, प्रेत या जिन इसी के अन्तर्गत हैं। बालू को देख पानी का भान इसी कल्पना से सम्बन्धित चीज है। समाधि लगा अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति या परम पुरुष के साक्षात्कार में भी यही चीज निहित है। इस समस्त कल्पनाओं में मनुष्य की मधुर कामनाओं का तथ्य विद्यमान रहता है। मनुष्य की कुछ कल्पनाएं तो सीधी सरल हैं, पर कुछ बहुत ही जटिल है, जैसे कि आत्म-बलिदान या अपने को ही दण्ड देने की इच्छा। शायद भूत, प्रेत, शैतान और जिन के आविष्कार के लिए यह भावना ही जिम्मेदार है।

पर इससे हमें यह अनुमान नही करना चाहिए कि काल्पनिक सत्ताओं का आविष्कार कोई सरल चीज है। बालक प्रायः काल्पनिक साथियों से खेलते और बात करते पाए जाते है, किन्तु यह निश्चिततापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि बच्चा स्वयं उसका आविष्कार करता है। बच्चों के खेल के यह अभिनेता एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को जनश्रुति द्वारा पहुंचाए जाते है। वास्तव में एक प्रेत का आविष्कार किसी एक यान्त्रिक आविष्कार से सुगम कार्य न था। पौराणिक गाथाओं का आविष्कार उतना सरल नही है जितना कि हम समझते है।

इसलिए हम देखते है कि जगत् और मानव जाति की सृष्टि, सूरज, चांद, पानी या आग के जन्म के बारे में एक आरण्यक कबीले मे एक ही जनश्रुति चली आती है।

पृथ्वी की उत्पत्ति के बारे में मध्यभारत के आरण्यकों की जनश्रुति

मध्यभारत के बंगा के अनुसार "मध्यभारतमें जल, जल, जल के अतिरिक्त कुछ

नहीं था। कोई ईश्वर की आवाज, कोई भूत, कोई हवा, कोई रास्ता, कोई जंगल नहीं था। जैसे आज आकाश है, वैसे तब जल था। एक बड़े कमल के पत्ते पर, जो इधर-उधर तैरता था, ईश्वर आसीन थे। उनके पास कोई फल, फूल या जीव न था, वह अकेले थे।"

ऐसा मालूम होता है कि पृथ्वी कैसे बनी इस बारे में मध्यभारत के आरण्यकों में तीन मत हैं। पहले में यह मान लिया गया है कि पृथ्वी चुरा ली गई और सृष्टा उसे ढूंढ़ने के लिए दूत भेजता है; और जब वह उसे मिल जाती है वह उसे पानी की सतह पर फैला देता है। दूसरे में, जो कि प्राचीन वैदिक कल्पना से मिलती-जुलती है, पृथ्वी बलि का परिणाम है। तीसरे में, संसार अपने आप बन जाता है जैसे कि कूंडे में दही अपने आप जम जाता है।

अगरिया और गोंड श्रुति के अनुसार "भगवान् ने एक गाय बनाई और उसे पृथ्वी ढूंढ़ने भेज दिया। वह ककरामल क्षत्री, महान् कछुए की पीठ पर गिर पड़ी जो कि उसे समुद्र की तह में जहां गिद्धराज ने उसे निगल रखा था, निकलवाने के लिए ले गया। उन्होंने उसे उगलने के लिए मजबूर किया और उसके मुंह से बाईस विभिन्न प्रकार की पृथ्वियां निकलीं। कौवा उन्हें भगवान् के पास ले गया। तब भगवान् ने पृथ्वी को कौए की गर्दन से निकाला और अपनी गोद में रखा। तब उसने एक तरुण कुमारी को बुलाया। उसने पत्तों की एक हांडी बनाई और उसमें पृथ्वी को मथा। तब भगवान् ने उसे एक बड़ी पतली चपाती की तरह बेला और उसे पानी की सतह पर फैला दिया। वहां वह बढ़ने लगी और अन्ततः उसने सारा पानी ढक लिया।

कल्पनाओं का आधार

सृष्टि, आग, चांद, तारे, सूरज, विभिन्न पशुओं, जीवों और शरीर के विभिन्न अंगों के जन्म से सम्बन्धित कल्पनाओं का आधार अंशतः शक्ति भावना अर्थात् अपने को सर्वशक्तिमान् से मिला देने की भावना होती है। इन विभिन्न व्याख्याओं में कल्पनाशक्ति या जिज्ञासावृत्ति का भी बड़ा हाथ है। बैगा, अगरिया, गोंड, इत्यादि आदिवासियों का सृष्टि, आग, चांद, तारे, सूरज इत्यादि का ज्ञान उनके अपने हथियारों और औजारों के ज्ञान की तुलना में बहुत अपूर्ण है। इसका कारण भी स्पष्ट है। पहली चीजों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना उनके लिए बहुत कठिन है, इसीलिए उन्हें कल्पना का सहारा लेना पड़ता है।

आदिकालीन जीवन दर्शन और विश्वास

वैज्ञानिक ज्ञान की अल्पता तथा विश्वास और जीवन-दर्शन की एकता. आदिकालीन संस्कृति में मनुष्य का वैज्ञानिक ज्ञान हमारी तुलना में बहुत अल्प है।

ऐसे समाज में उन विचारों का रहना बहुत स्वाभाविक है जिनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। आदिकालीन मनुष्य के काल्पनिक विचार ही उसका विश्वास, उसका सिद्धान्त, घटनाओं की व्याख्या, सफल जीवन की कुंजी होते है। वह उनसे केवल जड़ जगत् की ही व्याख्या नहीं करता, वरन् अपने दैनिक व्यवहार को भी निर्धारित करता है।

विश्वास और जीवन-दर्शन का यह सम्बन्ध एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। उत्तरी अमरीका के विनेबागो कबीले का सदस्य अपने लड़के को उपवास करने की सलाह देता है और कहता है : "तुम्हारा पड़दादा अग्नि देवता सदा तुम्हारे घर के बीच में रहता है, वह तुम्हें आशीर्वाद देता है। उसका सदैव स्मरण करो। उसकी कृपा से तुम सही रास्ते को जान जाओगे, अपनी इच्छा का पुरस्कार और सम्मान प्राप्त करोगे। इसलिए श्रद्धापूर्वक तुम उपवास करो और अपने प्राणों की आहुति दे दो तभी यह युद्ध का आशीर्वाद तुम्हें मिलेगा। फिर भी बिना सतत प्रयत्न के यह आशीर्वाद नही मिलता।"

तथ्य और कल्पना का मिश्रण. 'सतत प्रयत्न करो, बाधाओं पर विजय पाओ, सफलता प्राप्ति से ही सम्मान, प्रतिष्ठा मिलेगी', यह एक विश्वस्त सलाह है। ऐसी ही विश्वस्त जैसी कि एक चिड़िया को तीर मारने से तुम्हे मास खाने को मिलेगा। पर बिना प्रयत्न के, केवल उपवास की सहायता से तुम जो चाहो मिल सकता है यह एक बहुत विश्वस्त ज्ञान नहीं कहा जा सकता, बल्कि यह एक मधुर कल्पना है। अच्छे जीवन और सफलता प्राप्ति के सम्बन्ध में, जहां तक विश्वस्तता का सम्बन्ध है, बहुत से विश्वास विनेबागो के विश्वास से मिलते है। और यहीं पर हमे पता चलता है कि आधुनिक मनुष्य के विचार भी आदिकालीन मनुष्य की भांति बिल्कुल दो विपरीत दिशाओं में चल रहे है, एक तो तथ्यों पर आधारित है, और एक कोरी कल्पना पर।

धार्मिक संगठन

यद्यपि अलौकिक (Supernatural) या अंतिम सत्ता में विश्वास ही धर्म का सार है, पर मनुष्य इस विश्वास को एक पद्धति का स्वरूप प्रदान करता है, अर्थात् वह अपनी धार्मिक भावना को धार्मिक संगठन में रूपान्तरित करता है। वास्तव में यह संगठन, न कि यह धर्मभावना, समाजशास्त्री के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है।

सामाजिक कार्यों पर प्रभाव. एक उच्च शक्ति में विश्वास के रूप में धर्म कई तत्त्वों का मिश्रण है। इसी तरह एक संगठन के रूप में वह अनेक कार्यों का मिश्रण है। समान आदतों और व्यवहार वाले धार्मिक लोग जब संगठित हो जाते है वह दूसरे सामाजिक कार्यों पर भी प्रभाव डालते हैं। उदाहरण के लिए, पुन-

जन्म मे विश्वास मनुष्य को इस जीवन में अच्छे कार्य करने की प्रेरणा दे सकता है, अथवा कर्मफल में विश्वास उसे इस जन्म में धैर्यपूर्वक कष्ट भोगने या अत्याचार सहने में समर्थ बनाता है और उनका प्रतिकार करने की प्रेरणा नहीं देता। इसी तरह संगठित धर्म हमारे आचार को अपने हाथ में ले सकता है।

सामाजिक कृत्यों को प्रोत्साहन. इसी तरह प्रार्थना की सार्थकता में विश्वास वर्षा, अन्न और धन की समृद्धि के लिए उसके उपयोग को प्रोत्साहित करता है। इस भांति धर्म हमारे आर्थिक जीवन में प्रवेश कर जाता है। धार्मिक कथाओं के चित्रण और वर्णन कला और साहित्य को स्फूर्ति देते हैं। मन्दिर या धार्मिक मेले और तीर्थ यात्राएं, मिलने-जुलने, क्रय-विक्रय और मनोरंजन के सामाजिक कार्यों को सम्पन्न करते है।

धर्म की ऐसी व्याख्या की जा सकती है कि वह अज्ञात के प्रति मनुष्य की भावात्मक प्रतिक्रिया या एक उच्च शक्ति में विश्वास है। किन्तु इस व्याख्या में यह जोडना बेहतर होगा कि संगठित धर्म में अनेक सामाजिक कार्यों का भी समावेश है।

धार्मिक संगठन का उद्गम

धर्म पहले-पहल कब उद्भूत हुआ ? क्या यह परिवार की भांति ही प्रारंभ से हमारे साथ चला आ रहा है ? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। धार्मिक विश्वास भौतिक संस्कृति की भांति अपने अस्तित्व के अवशेष नहीं छोड़ते। अतः इस सम्बन्ध में निश्चिततापूर्वक कुछ कहना कठिन है। बन्दरों में हमें पारिवारिक प्रथा के चिह्न मिलते हैं, पर उनमें धार्मिक अनुभूति का कोई चिह्न नजर नहीं आता। अतः हम कह सकते है कि धर्म बाद की उपज है। धर्म के उद्भव के लिए मन और कल्पना के अधिक विस्तार की आवश्यकता थी। बावजूद इसके, धर्म का विकास बहुत प्रारम्भिक अवस्था में हो सकता है। अतः यह सम्भव है कि धर्म संस्कृति जितना ही प्राचीन हो।

यह सब तर्क बहुत काल्पनिक है, पर यह निश्चित सत्य है कि धर्म अति प्राचीन संस्था है। २५,००० साल पहले रहने वाले नीनडरथल वासी के खुदाई में प्राप्त कंकाल इस बात का समर्थन करते हैं। ये कंकाल एक विशिष्ट प्रकार से दफनाए पाये गये हैं। इनके साथ पत्थर के औजार और हथियार भी मिले हैं, जिससे यह अनुमान होता है कि यह लोग पुनर्जन्म में भी विश्वास रखते थे। इसके अतिरिक्त, हमें आज जितनी भी प्रागक्षर संस्कृतिया मिलती हैं, उन सबमें ही हमें धार्मिक संगठन के दर्शन होते हैं। यह तो यह, सरलतम फलसंचक संस्कृतियों में भी यह विद्यमान है। इन संस्कृतियों में धर्म का अध्ययन धार्मिक संगठन के प्रारम्भ पर अच्छा प्रकाश डालता है।

अलौकिक शक्तियां. सरल संस्कृतियों के सभी लोग अलौकिक शक्तियों में विश्वास रखते हैं। यद्यपि उनके इस अलौकिक को ठीक-ठीक समझना बहुत कठिन है। उनकी अलौकिक की कल्पना हमसे बहुत अधिक जटिल है। फिर भी उन सब का समान आधार अलौकिक शक्ति में विश्वास ह। अलौकिक शक्ति वह निर्वैयक्तिक है जिसकी किसी वस्तु विशेष में उपस्थिति, उससे असंभव कार्य सम्भव करवा सकती है। विभिन्न सरल संस्कृतियों में उसे विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है। मध्य भारत के ही लोग उसे 'बोगान' और मैलीनेशिया और पोलिनेशिया के आदिवासी उसे 'मन' कहते हैं।

यद्यपि यह शक्ति निर्वैयक्तिक है, फिर भी इसका किसी व्यक्ति या वस्तु में प्रवेश सम्भव है। उसका प्रवेश उन्हे नूतन और अलौकिक गुण प्रदान करता है। पोलीनेशियनों के अनुसार उस व्यक्ति में अधिक 'मन' है जो अधिक जनश्रुति याद रख सकता है: वहां मुखिया के पास इतना अधिक 'मन' माना जाता है कि वह जिस वस्तु को छू दे वह उसकी हो जाती है। राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धात का भी यही मूल है कि वह अलौकिक गुणों से विभूषित होते है।

यहां यह बात स्मरण रखनी आवश्यक है कि अलौकिक शक्ति में विश्वास समस्त वस्तुओं को जीवित मानने के विश्वास से भिन्न है। अनेक आदिवासियों के अनुसार वस्तुओं के जीवित रहने का गुण उसमें विद्यमान प्रेतात्मा के कारण होता है। प्रेतात्मा एक छायामय आत्म-तत्त्व है, 'मन' की तरह अमूर्त नही है। इसके अतिरिक्त, कुछ प्रेतात्मायें अन्य प्रेतात्माओं की तुलना में अधिक शक्तिशाली होती हैं। अनेक आदिवासी पहाड़ों, नदियों, वृक्षों, पशुओं से सम्बद्ध प्रेतात्माओं को भी देवताओं में सम्मिलित करते हैं। इन सबके ऊपर मुख्य देवता वह होता है जिसका मानव प्राणियों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता।

अलौकिक में विश्वास होते हुए भी प्रागक्षर संस्कृतियों के विश्वासों में पर्याप्त भेद है। उनकी उच्च शक्तियां विशिष्ट या सामान्य है, वैयक्तिक या निर्वैयक्तिक हैं, पूर्वज या सार्वभौम हैं। कुछ का परम पूज्य पुरुष, तो कुछ का स्त्री है। आजकल परम सत्ता अधिकाधिक निर्वैयक्तिक होती जा रही है, पर हम देखते हैं कि अनेक आदिकालीन धर्म भी इस दिशा में इससे भिन्न न थे।

धार्मिक अनुभव. अलौकिक शक्तियों में विश्वास को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी अनेक विद्वान् धार्मिक अनुभव को धर्म का अनिवार्य अंग मानते हैं। इसे परम आनन्द कहा जाता है। इसका उन धारणाओं और भावनाओं से सम्बन्ध है जो कि उसे अलौकिक की ओर अग्रसर करती है। भारतीय योग और परमात्मा के साथ साक्षात्कार में यही तथ्य निहित है। किन्तु इस सम्बन्ध में भी विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न कालों में धर्म की बहुत भिन्नता पाई जाती है। भय, प्रेम, आनन्द,

शांति इत्यादि धर्म की अनेक प्रतिक्रियाएं हैं। आदिकालीन धर्मों में भय का तत्त्व अधिक है जबकि आधुनिक धर्मों में शांति तत्त्व पर अधिक जोर दिया जाता है। इस तरह परम सत्ता के प्रति विभिन्न प्रतिक्रियायें दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरण के लिए, उत्तर-पश्चिम अनाम और हिन्द-चीन के मोई और सेदांग आदिवासी अपने देवताओं से घृणा करते हैं।

जादू-टोना. (Magic) सरल संस्कृतियों मे धर्म का स्वरूप जादू-टोने से मिलता-जुलता है। जादू-टोने मे अलौकिक शक्तियों को नियन्त्रित और अनुशासित करने का प्रयास होता है। बीमारी हो जाने पर शरीर पर पत्थर घिस देना, कान में मन्त्र पढ़ देना, झाड़-फूंक, दरवाजे पर शुभचिन्ह का लटका देना, जादू-टोने से ही सम्बद्ध क्रियाएं हैं। कुछ विद्वान् इसे धर्म नही मानते, क्योंकि इसमें अलौकिक शक्ति को बांधने, उसे अपने स्वार्थ के लिए प्रयुक्त करने का उद्देश्य है। जबकि धर्म में एक विशिष्ट विनम्रता विद्यमान है। उदाहरण के लिए, प्रार्थना में पूजा, निवेदन की भावना है। परमशक्ति से साक्षात्कार इसका मुख्य लक्ष्य है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि धर्म और जादू-टोने के बीच विद्यमान भेद अंशतः सामाजिक है। जैसे-जैसे धर्म की गम्भीर कल्पना उदित होती है, जादू-टोने से उसका भेद स्पष्ट होने लगता है। बावजूद इसके, दोनों के बीच पर्याप्त समानताएं भी है। दोनों ही अलौकिक शक्ति को स्वीकार करते है और उससे किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

लेखकों ने जादू को विभिन्न प्रकारों में बांटने का प्रयास किया है। जादू-टोने पर प्राप्त सबसे उत्तम पुस्तक 'गोल्डन बाऊ' के प्रसिद्ध लेखक फ्रेजर ने जादू को अनुकरणीय और संक्रामक दो भागों में बांटा है।

अनुकरणीय जादू. में मनुष्य उस बात का अनुकरण करता है जिसे कि वह चाहता है और उसका परिणाम स्वतः ही मान लिया जाता है। शत्रु का हनन करने के लिए उसकी एक मोम की पुतली बनाकर छेद दिया जाता है। वर्षा कराने के लिए एक बर्तन में ऊपर तक पानी भर दिया जाता है।

संक्रामक जादू. में यह मान लिया जाता है कि जो कोई वस्तु अलौकिक सम्पर्क में आती है, उसमें अलौकिक प्रभाव आ जाता है। इसीलिए गण्डे, ताबीजों और कवचों का सहारा लिया जाता है।

विख्यात मानवशास्त्री लोई के अनुसार सम्मोहन (Spells) एक अन्य प्रकार का जादू है। इस तरह हम जादू को अनेक श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। जादू के मूल मे इच्छा तत्त्व सदैव विद्यमान रहता है, अर्थात् मनुष्य जो इच्छा करता है और जो होता है, उसमें निकट सम्बन्ध पाया जाता है।

धर्म का प्राचीन संगठन

प्राचीन धार्मिक विश्वास विस्तृत जादू की क्रियाओं में निहित था। जन्म, यौवन, प्रसूति, मासिक धर्म, वर्षा, अकाल, सूखा, प्रत्येक समय के लिए कोई न कोई जादुई विधि-विधान विद्यमान थे। रोगो की चिकित्सा जादू का मुख्य विषय थी तथा धर्म से घनिष्ठतया सम्बन्धित थी।

आर्थिक जीवन से सम्बन्ध. फलों के संचय या शिकार, उपयोगी औजारों या हथियारों का निर्माण तथा अन्य आर्थिक क्रियाओं में यद्यपि पुरुषार्थ का अधिक हाथ था और उनमें 'बोगान' का 'मन' की सहायता न ली जाती थी, फिर भी भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए, शिकार में सफलता पाने के लिए अनेक जादू क्रियाएं सम्पन्न की जाती थीं तथा गण्डे-ताबीज पहने जाते थे।

परिवार और शिक्षा से सम्बन्ध. विवाह, गर्भाधान, बच्चे के जन्म और संरक्षण में आदिकालीन मनुष्य पग-पग पर धार्मिक कृत्यों की सहायता लेता था। शिक्षा यद्यपि सामुदायिक जीवन का अंग थी, फिर भी उसमे धार्मिक पौराणिक जनश्रुति एक बड़ा भाग थी। तरुणावस्था शिक्षा के लिए सर्वोपयुक्त समय है। उस समय विभिन्न धार्मिक आदेशों का पालन, उपवास और साधना, विभिन्न धार्मिक उत्सवों का मनाना और पुराणों का अभिनय आदिकालीन संस्कृति की प्रमुख विशेषताएं हैं। इस तरह हम देखते है कि आरण्यकों के प्रत्येक कार्य पर धर्म की छाप है, वह सब जगह व्याप्त है।

ओझा (Shamans). आदिकालीन धर्म के परिचालक और नेता ओझा हैं, जिन्हें शमन भी कहा जाता है। शमन पुरोहित का पुराना प्रतिरूप है। आदिकालीन समाज मे उसकी स्थिति मुखिया या सरदार की भांति महत्त्वपूर्ण है। शमन अलौकिक साम्राज्य का शासक है; उसकी गुत्थियां सुलझाने की उसी में सामर्थ्य है। यह शमन प्रायः विक्षिप्त (Neurotic) होते हैं, उन्हें मिरगी की प्रवृत्ति होती है, समाधि और अन्तर्दर्शन (Visions) होते हैं। आस्ट्रेलिया के शमन इसका अपवाद है, वे मानसिक दृष्टि से सर्वथा स्वस्थ और बहुत बुद्धिमान् व्यक्ति होते हैं। यद्यपि शमन समाज के अन्य वर्गों से पृथक् होते हैं; तथापि उनकी विकृतियां (Abnormalities) सामाजिक होती हैं। उन्हें अस्वस्थ (Abnormal) नहीं माना जाता, बल्कि वह प्रतिभावान् और उपयोगी व्यक्ति समझे जाते हैं। संकट या रोग और विपत्ति के समय उनकी भेंट-पूजा की जाती है। उन्हें विशेष शक्तियों से विभूषित माना जाता है। उनकी कल्पनाशक्ति, चिन्तनशक्ति और अन्तर्दृष्टि सामान्य लोगों से ऊंची होती है। इसके अतिरिक्त, शमन किसी जाति के पुराणों (Myths), जनश्रुतियों, सृष्टि-कथाओं, इतिहास और परम्पराओं के संरक्षक होते हैं। जनश्रुति और पुराणों में वर्णित तथ्यों को सिलसिलेवार ढंग से

रखना उनका मुख्य कार्य है। संक्षेप में शमन अज्ञात जगत् के विशेषज्ञ है।

धार्मिक संस्थाओं का विकास

बढ़ती हुई सूक्ष्मता और विभेद. ओझा के नेतृत्व से शुरू हो धार्मिक विचारधारा और व्यवहार में बराबर सूक्ष्मता और वैचित्र्य आता जाता है। अलौकिक के सम्बन्ध में आदिकालीन मनुष्य के विचार बहुत अस्पष्ट थे। उन्हें स्पष्ट और सजीव करने का प्रयास होता है। इसी से जीववादी (Animist) दर्शन का प्रारम्भ होता है, अर्थात् जड़ वस्तुओं को जीवित माना जाने लगता है। सूर्य, पर्वत, नदी या किसी विशेष पेड़, पक्षी और पशु को दैवी शक्ति से युक्त माना जाता है। यद्यपि कुछ संस्कृतियों में परम सत्ता की कल्पना विकसित हो गई है, पर फिर भी वहा ऐसा माना जाता है कि प्रेतात्माएं पशु, परी, वीर, धूर्त या शासक इत्यादि का स्वरूप धारण कर अवतरित होती है। स्वप्न, साक्षात्कार, इल्हाम या अन्तर्दर्शन द्वारा शरीर के बाहर उसकी कल्पना की जाती है। इस तरह भूतों और उनके निवास की कल्पना का उदय होता है। शासक प्रेतात्माओं और सृष्टि के मूल को समझाया जाता है। इस प्रकार रहस्यमयी शक्ति की श्रेणी व्यवस्था में उनके कार्यो को सिलसिलेवार ढंग से रखा जाता है। साथ ही ओझाओं के तरीके भी बारीक और विभिन्न हो जाते है। प्रेतात्माओं को प्रसन्न करने के लिए वस्तुओ, भोजन, पशुओं, कभी-कभी जीवित मनुष्यों तक भी बलि की आवश्यकता होती है।

टैबू की कल्पना का जन्म. कुछ वस्तुएं अखाद्य, अकथ्य, अगन्तव्य या अछूत मान ली जाती है; उन्हें टैबू या निषिद्ध कहा जाता है। टैबू को भंग करने पर प्रेतात्मा या आत्मा का कोप होता है। इसी से पाप की कल्पना का उदय होता है, जिसका कि हमारे धर्म में बड़ा स्थान है।

धार्मिक उत्सवों का जन्म. धर्म के सूक्ष्म और विशिष्ट होने के साथ-साथ प्रेतात्माएं सशरीर हो जाती है; मानव प्राणियों और पशुओं की भांति व्यवहार करने लगती है। यद्यपि उनकी शक्ति और सामर्थ्य असाधारण रहती है, तब भी धार्मिक नेता उन्हें अभिनयात्मक ढंग से पेश करते है। बलि के समय विशिष्ट उत्सव का आयोजन, ऋतुपरिवर्तन के लिए सांपों का नृत्य अथवा भूमि को उर्वरा बनाने के लिए धान्य-नृत्य ऐसी ही चीजें है। इस तरह पुराणों को अभिनीत करने का उपक्रम होता है और शनैःशनैः नृत्यों, उत्सवों और त्योहारों में उनकी परिणति होती है।

धार्मिक संगठन में विकास की विभिन्नता

धर्म का अध्ययन करते समय यह स्मरण रखना आवश्यक है कि धर्म का विकास किसी निश्चित क्रम में नही हुआ है। हम देखते हैं कि अनेक उच्च धर्मों में जादू और अनेक जादुई धर्मों में परमसत्ता के लिए स्थान है। कुछ अरण्यको मे एकेश्वरवाद (Monotheism) और मिस्र, रोम और ग्रीस जैसी विकसित

सभ्यताओं में बहुईश्वरवाद (Polytheism) के चिन्ह् मिलते हैं। आस्ट्रेलिया के भौतिक दृष्टि से अति पिछड़े आदिवासियों के धार्मिक कृत्य अपनी सूक्ष्मता में अति-विकसित संस्कृतियों को मात करते हैं। इस सम्बन्ध में धर्म की स्थिति सरकार जैसी है। जिस भांति सरकार के विकास का कोई निश्चित क्रम नहीं है, वैसे ही धर्म-विकास का भी एक निश्चित क्रम नहीं है। हम केवल प्रमुख विकासवादी प्रवृत्तियों की ओर संकेत कर सकते हैं। वास्तव में किसी संस्कृति के भौतिक स्तर और उसके धार्मिक व्यवहार में कोई निश्चित कठोर सम्बन्ध नहीं है। धार्मिक जीवन का स्वरूप प्रधानतः धार्मिक नेताओं की बुद्धि और भावनाओं पर निर्भर होता है। यह सत्य है कि भौतिक संस्कृति उन्हें प्रभावित करती है।

आत्मिक जगत् के विशिष्ट और निश्चित होने से उसका असर वर्ग की भावात्मक प्रतिक्रियाओं पर भी पड़ा। जब तक जीवन में जोखिम प्रधान रहा, भय और आतंक की धारणा स्वाभाविक थी। यह धारणा अभी तक भी कुछ अंशों में कायम है। पर विशेषतः कृषि-संस्कृतियों में देवताओं के साथ कल्याणकारी भावनाओं का उदय हुआ। उदाहरण के लिए सूर्य देवता, जो फसल पकाता और वर्षा देता है, कल्याणकारी है। ऐसी स्थिति में भय का स्थान विनय और उदात्तता की भावना ने ले लिया।

धर्म का संगठन निरन्तर हमारे सामाजिक कृत्यों में प्रवेश करता रहा। परिवार, भोजन प्राप्ति, चिकित्सा, मनोरंजन यहां तक कि सरकार भी, इसके दायरे में आ गई। भूत-प्रेत की कल्पना ने धर्म को परिवार में केन्द्रित करने में योग दिया और पूर्वजपूजा (Ancestor Worship) को जन्म दिया। यदि बिरादरी को राज्य का प्रारम्भ मान लिया जाय, तो गणचिन्ह् (Totem) अर्थात् बिरादरी के धार्मिक प्रतीक का महत्व राज्य और धर्म के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध की पुष्टि करता है। इसके अतिरिक्त वर्ग संघर्ष के समय देवताओं का आवाहन किया जाता है और यह जाना जाता है कि देवता विजेता दल की ओर है।

कृषि समाज में धार्मिक संगठन

कृषि अवस्था तक पहुंचते-पहुंचते मनुष्य ने भौतिक दिशा में पर्याप्त उन्नति कर ली। उसके पास भोजन-सामग्री का पर्याप्त संचय, सम्पत्ति और वस्तुएं हो गई। समुदाय स्थिर निवास बनाकर रहने लगे और अब उनके लिए यह सम्भव हो गया कि वह धार्मिक नेताओं का भरण-पोषण कर सकें। इस तरह पुरोहित सम्प्रदाय का जन्म हुआ। प्राचीन आर्यों की वर्ण व्यवस्था जिसमें क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों के अतिरिक्त ब्राह्मण एक विशिष्ट वर्ग था, ऐसे ही वातावरण में उद्भूत हुई। इस पुरोहित वर्ग का मुख्य कार्य अमानवीयता का चिन्तन, अज्ञात जगत् का अन्वेषण तथा परम सत्ता के साक्षात्कार या ब्रह्म में विचरण था। इसी

समय स्थायी उपासना-गृहों का निर्माण हुआ और सामूहिक पूजा प्रोत्साहित हुई। धार्मिक नेताओं के भी कई वर्ग बन गये। उदाहरण के लिए बगान्दा कबीले में पुरोहितों, शमनों और ओझाओं की तीन श्रेणियां हैं। शमन एक प्रकार के माध्यम है जिन पर जिन या भूत चढ़े रहते हैं। पुरोहित इनकी समाधियों और इनके प्रलाप की व्याख्या करते है। ओझाओं का कार्य-क्षेत्र चिकित्सा और कवचों या ताबीजों का निर्माण है। इस तरह कृषि-समाज में धार्मिक ढंग पर समाज का श्रेणी-विभाजन शुरू हो जाता है।

सामाजिक और आर्थिक संगठन का अंत:सम्बन्ध

पुरोहितों का एक पृथक् वर्ग, जिसका कार्य विभिन्न क्रिया-कर्म और यज्ञ-याग कराना था, बन जाने के बावजूद, धर्म किसी भी संस्कृति में मनुष्य के प्रतिदिन के कार्य-कलापों से पृथक् नही रहा। उदीयमान धर्म-सामाजिक संस्थाएं धर्म से घनिष्ठतया सम्बन्धित रहीं। आर्थिक क्रियाओं में सफलता के लिए बराबर धर्म की सहायता ली जाती थी। चिकित्सा, शिक्षा, आचार भी धर्म का मुख्य विषय थे। संसार के समस्त धर्मो में हम इस अन्त:सम्बन्ध को पाते हैं। बड़े धर्म भाषा और जाति की सीमाओं को लांघकर किसी विशिष्ट संस्कृति से बंधे नहीं रह गये। भारत में सूफी, वैष्णव, ज्ञानमार्गी, तान्त्रिक शैव, शाक्त, सिख हिन्दू, बौद्ध, फारसी, इस्लाम, ईसाई इत्यादि अनेक धर्मों का संगम है। चीन में कन्फूशियस, टाओ और बौद्ध तीन धर्म है। यह समस्त धर्म ही हमारे सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप और योगदान करते है। भारत में जाति-भेद धर्म की ही देन है। यह जाति-व्यवस्था आदि खान-पान, शादी-ब्याह, शिक्षा-दीक्षा, पद-पेशा, आचार-व्यवहार, मान-प्रतिष्ठा हमारे सारे सामाजिक जीवन को प्रभावित करती है। सभी धर्म विशिष्ट आचार-व्यवहार की व्यवस्था करते है। आज को छोड़, सदा ही सरकार के साथ धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। मध्यकालीन योरोप में चर्च के हाथ में ही हकूमत की बागडोर थी। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में राजपुरोहितों और काजियों का शासन मे बड़ा हाथ था, इसके अतिरिक्त, पाठशाला और मकतब खोलने, पिंजरा-पोल और अनाथालय इत्यादि विभिन्न सामाजिक संस्थाओं को चलाने में धर्म का बड़ा सहयोग रहा है।

धर्म मे आधुनिक प्रवृत्तियां

संगठित धर्म के कृत्यों का ह्रास

आधुनिक युग में धर्म अन्य सामाजिक संगठनों तथा ज्ञान की शाखाओं से निरन्तर पृथक् होता जा रहा है। लगभग समस्त सभ्य और उन्नत उद्योग प्रधान राष्ट्रों में सरकार मे धर्म का हस्तक्षेप समाप्त हो चुका है। बौद्धिक और यान्त्रिक शिक्षा धार्मिक संगठनों के हाथ से निकल कर सार्वजनिक सरकारी स्कूलों के हाथ

में आ गई है। कला, संगीत, शिल्प साहित्य पर दिन-प्रति-दिन धर्म का प्रभाव घटता जा रहा है। आर्थिक जीवन में धर्म के बन्धन और विधान शेषप्राय हो चुके हैं पारिवारिक जीवन में धर्म की शक्ति क्षीण होती जा रही है। चिकित्सा-शास्त्र के विकास ने धार्मिक चिकित्सकों के महत्व को नष्ट कर दिया है।

यद्यपि सामाजिक कार्यों में अभी भी धार्मिक संगठन कुछ हाथ बटा रहे हैं, पर बेक़ारी, वृद्धावस्था, बीमा, दुर्घटना इत्यादि महत्वपूर्ण परिस्थितियों मे, राज्य ही नागरिकों की सहायता का भार ले रहा है। कर-संग्रहकर्त्ता होने के नाते सरकार द्वारा ही यह बड़े-बड़े कार्य सम्भव हैं। वह धार्मिक संगठनों के बूते के बाहर है। अन्य सामाजिक कार्यों में भी अन्य बौद्धिक समितियां, पेशेवर संगठन और क्लब धार्मिक संगठनों से प्रतियोगिता कर रहे हैं।

सामाजिक कृत्यों के धार्मिक संगठन के हाथों से निकल अन्य गैर-धार्मिक संस्थाओं के हाथों में चले जाने की प्रवृत्ति को ऐहिकीकरण (Secularisation) के आन्दोलन का नाम दिया जाता है। आधुनिक युग में धर्म का कार्यक्षेत्र बहुत संकुचित होता जा रहा है, या यों कहे तो बेहतर होगा कि धर्म पहले जो गैर-धार्मिक कार्य सम्पन्न करता था, वह अब नहीं कर रहा है। विशुद्ध धार्मिक कार्य अब उसके कार्य रह गये है।

धार्मिक विश्वास का परिवर्तित स्वरूप

धर्म का अध्ययन करते समय यह बात भी दर्शनीय है कि भौतिक संस्कृति के विकास और परिवर्तन के साथ-साथ धार्मिक विश्वासों का स्वरूप भी निरन्तर बदलता जाता है। विज्ञान की उन्नति इसका सबसे प्रमुख कारण है। विज्ञान ने अज्ञात जगत् के क्षेत्र को बहुत संकुचित कर दिया है, फिर भी यह मानना होगा कि धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन एक कठिन और धीमी प्रक्रिया है। तथापि आजकल यह मानना कठिन हो गया है कि पृथ्वी चपटी है; वह बैलों के सींगों पर टिकी हुई है और उसके हिलने से भूकम्प होता है; या सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है; या विभिन्न तारे देवताओं के दीपक है। विज्ञान ने हमे इनके सम्बन्ध मे सही-सही ज्ञान दे दिया है, जिससे कि पुराने विश्वासों से चिपटे रहना कठिन हो गया है।

फिर भी यह सत्य है कि विश्वासों को बदलने में पर्याप्त समय लगा है। प्रारम्भ में वैज्ञानिक सिद्धान्तों का घोर विरोध हुआ है, वैज्ञानिकों को उन्हें घोषित करने के लिए अनेक यातनाएं और उपहास सहने पड़े है। आज भी अधिकांश धार्मिक लोग यह मानने को तैयार नहीं है कि वह पशुओं की सन्तान है। तब भी समझदार लोग आधुनिक धार्मिक वैज्ञानिक गवेषणाओं को मानते हुए ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते है। उनके अनुसार दोनों में कोई विरोध नहीं है। भारतवर्ष में भी स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री अरविन्द जैसे

आध्यात्मिक विचारकों का यही मत था।

वास्तव में धार्मिक विश्वास बहुत कुछ ज्ञान की अवस्था पर आश्रित हैं। विश्वास और ज्ञान परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते है। ज्ञान के परिवर्तन से विश्वास नया स्वरूप धारण करता है। ज्ञान का विकास हमारे सम्मुख अज्ञात की नई-नई कल्पनाएं प्रस्तुत करता है। इलेक्ट्रोन सापेक्षवाद (Relativity), पदार्थ और गति के स्वभाव का ज्ञान हमें नई दृष्टि प्रदान करते है। विज्ञान विश्वास के स्वरूप को बदल देता है, पर विश्वास को नष्ट नही करता। यही कारण है कि आजकल अनेक प्रमुख ज्योतिषी, गृह नक्षत्रों के स्वरूप, गति, और दूरी से परिचित होते हुए भी और अनेक चिकित्सक रोगों के कारण, शरीर की कार्य-प्रणाली का सूक्ष्म ज्ञान रखते हुए भी, भगवान् मे विश्वास रखते है। आज के प्रमुख आध्यात्मिक विचारकों के मत मे विश्वास से धार्मिक अनुभूति अधिक महत्त्व रखती है, वही धर्म का सार है।

धार्मिक अनुभूति की आवश्यकता

प्राचीन धर्म के गवेषक मानवशास्त्रियों और आधुनिक आध्यात्मिक विचारकों का कहना है कि धार्मिक अनुभूति ही धर्म का वास्तविक सार है। विभिन्न धर्मों के बाह्य स्वरूपों और विधि-विधानों में पार्थक्य रहते हुए भी उन सबका लक्ष्य एक है। डा० भगवानदास इसे सब धर्मो की मौलिक एकता कहते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने इसी सार्वभौम धर्म का प्रतिपादन किया है। धार्मिक अनुभूति सब धर्मों में समान है। परम सत्ता से तादात्म्य उसका तत्त्व है। ऐसा कहा जाता है रामकृष्ण परमहंस ने इस्लाम, हिन्दू और ईसाई तीनों मुख्य मार्गों से साधना कर इस एकता का अनुभव किया था। इस धार्मिक अनुभूति का वर्णन सरल नही है। इसे अनिर्वचनीय कहा गया है। कबीर ने इसकी गूंगे के गुड़ से तुलना की है। रवीन्द्रनाथ ने इस अवस्था को प्राणिमात्र मे एकात्मभाव कहा है।

यह कहा जा सकता है कि आधुनिक संस्कृति में ऐसे धर्म की परम आवश्यकता है। विज्ञान के विकास ने भयसंचारक भूत-प्रेत और काल्पनिक कथाओं पर आश्रित धर्म को हिला दिया है। फिर भी आज की शहरी सभ्यता ऐसी यन्त्रवत् है कि जिसमें बहुत बार लाखों में भी मनुष्य अपने को एकाकी अनुभव करता है; अपार भौतिक सुखों के बीच भी कभी-कभी बड़ी शून्यता अनुभव करता है। पुराने युग में उसे रोटी के संघर्ष से फुरसत न थी। आज अवकाश ने उसकी मानसिक जिज्ञासाओं और भावात्मक पिपासाओं को बहुत बढ़ा दिया है।

मनुष्य के जीवन में एक समय आता है जब उसका अन्तरतम विक्षुब्ध हो उठता है। ऐसे समय उसे धार्मिक अनुभूति ही शायद उसे शांत कर सकती है। अनेक बार हमारा वातावरण हमें ऐसे कार्य करने पर मजबूर कर देता है जिसके

लिए हमे लज्जा होती है, पश्चात्ताप होता है। ऐसे क्षणों में धार्मिक अनुभूति ही हमें जीवित रख सकती है, सान्त्वना दे सकती है। धार्मिक अनुभूति ही वह भावना है जो हमे धन, मान, यश आदि की प्रतिद्वन्द्वी भावनाओं से ऊपर उठा सकती है; एक उच्चतर लक्ष्य को प्रस्तुत कर एकात्मक शक्ति उत्पन्न कर सकती है। इससे हमें व्यक्तित्व के एकीकरण में सहायता मिल सकती है और हम जीवन के व्याघातों में बेहतर संतुलन स्थापित कर सकते है। कभी-कभी हमारे जीवन में तनाव इतना बढ़ जाता है कि उसे किसी मार्गदर्शक की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है।

मानव प्राणी धार्मिक अनुभव क्यों चाहते है, यह एक मनोरंजक प्रश्न है। शायद संस्कृति से मानव-प्रकृति का संतुलन-स्थापन ही इसका मुख्य कारण है। विभिन्न प्रकार के दबाव, एकाकीपन, प्रलोभन, चिन्ता, मानसिक संघर्ष हमारे सामाजिक जीवन का परिणाम है, असंतोष के द्योतक है और संस्कृति के साथ मानव-प्रकृति के असंतुलन को सूचित करते है। यदि धर्म ऐसी स्थिति में मानव-मन को शान्ति प्रदान करता है, सहारा देता है, उच्च लक्ष्य पर चलने की प्रेरणा देता है तो धर्म की आवश्यकता है। अनुभूतिशील धर्म ने इस आवश्यकता को पूरा किया है। पर संस्थात्मक धर्म ने प्रायः संसार में अशांति, घृणा और संघर्ष की सृष्टि की है। संस्थात्मक या संगठित धर्म विश्वासों पर आधारित और प्रतिगामी रहा है। धार्मिक अनुभूति इससे पृथक् चीज है। कुछ लोगों का ख्याल है कि हम बिना धर्म के समाज को चला सकते है। यह लोग धार्मिक अनुभूति को भूल जाते है और धार्मिक विश्वास पर चले जाते है।

धर्म और सामाजिक प्रश्न

व्यक्तिगत आचार धर्म का प्रमुख विषय है। प्रायः प्रत्येक धर्म में दया, उदारता और प्रेम की शिक्षा दी गई है। धर्म व्यक्तिगत आचरण की नैतिकता निर्धारित करता है। क्या उसे सामाजिक आचरण की नैतिकता को भी निर्धारित करना चाहिए ? व्यक्तिगत सम्पत्ति, जमींदारी, सूदखोरी, मजदूर संगठन, मजदूरी-निर्धारण, बेकारी, बीमा, राष्ट्रीयकरण, कुछ ऐसे ही प्रश्न हैं। विभिन्न देशों का अनुभव यह बतलाता है कि इन प्रश्नों को हम व्यक्तिगत सदाचरण पर बल देकर नहीं सुलझा सकते। जहां विरोधी स्वार्थों का प्रश्न आता है, वहां सामूहिक कार्यवाही की जरूरत होती है। सामूहिक कार्यवाही के अभाव में यदि कुछ व्यक्ति सदाचार को, मानवता की भावना को व्यावहारिक स्वरूप देने लगें, जब कि अन्य सब लोग उनका अनुकरण नहीं कर रहे है, तो उनका तो दिवाला ही निकल जाय। ऐसी स्थिति में सामाजिक हस्तक्षेप की आवश्यकता पड़ती है।

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि सभ्य समाजों में धर्म ने व्यक्तिगत आचार

पर बहुत बल दिया है, सामाजिक व्यवस्था में सुधार का कोई जिक्र नहीं किया है। इसका यही कारण है कि धर्म विद्यमान सामाजिक व्यवस्था को सत्य और सही मान लेता है। गरीबों की गरीबी और असहायता की जिम्मेदारी सामाजिक व्यवस्था पर न हो, उनके भाग्य पर पड़ती है, जिससे वह केवल किसी करिश्मे द्वारा ही छुटकारा पा सकते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने मे धर्म सर्वथा असफल रहा है और उसने सदा विशिष्ट शासक वर्ग के स्वार्थों का ही संरक्षण किया है। धर्म के प्रति वर्तमान उदासीनता और विरोध का यह एक बड़ा कारण है। इसीलिए पाश्चात्य देशों में तो कम-से-कम चर्च ने सामाजिक सुधार मे दिलचस्पी दिखाई है। भारत में इस दृष्टि से अभी कोई जागृति दृष्टिगोचर नहीं होती और ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक संस्थाएं किसी भी प्रकार के सामाजिक सुधार के सर्वथा विरुद्ध है। रामकृष्ण मिशन और आर्य समाज जैसी इक्का दुक्का ने अवश्य इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कार्य किया है।

पन्द्रहवां अध्याय

आर्थिक संगठन

ECONOMIC ORGANISATION

जीविका उपार्जन और सम्पत्ति संचय से सम्बद्ध क्रियाएं आर्थिक संस्थाओं के अन्तर्गत आती हैं। हमारी संस्कृति का बड़ा भाग इन्ही क्रियाओं से संयुक्त है। हमारे विभिन्न प्रकार के कृषि-कर्म, दस्तकारी, छोटे बड़े उद्योग, कल-कारखाने, यातायात और संवाद-वहन के साधन, क्रय-विक्रय, साख और मुद्रा-संस्थाएं इसका अंग है। इन संस्थाओं पर व्यक्तियों, साझीदारों अथवा हिस्सेदारों का स्वामित्व हो सकता है, पारस्परिक प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार हो सकता है, सहकारी अथवा सरकारी नियन्त्रण या प्रभत्व हो सकता है। हमारा बड़ा समय आर्थिक समस्याओं को सुलझाने और आर्थिक कर्मों को करने में चला जाता है। यह समस्याएं इतनी जटिल हैं कि उन्हें लेकर एक पृथक् विज्ञान की ही रचना हुई है जिसे कि अर्थशास्त्र कहते है।

हमारे आधुनिक आर्थिक संगठन अनेक गंभीर बुराइयों से ग्रसित है। निर्धनता, बेकारी, समय-समय पर आने वाली भीषण मन्दिया, आर्थिक वस्तुओं और सम्पत्ति का अत्यन्त असमान वितरण, पारस्परिक प्रातियोगिता और तज्जनित बरबादी, उपयोगी वस्तुओं की कमी रहते हुए भी विलासिता की वस्तुओ का निर्माण इनमे से मुख्य है। इन्ही से सम्बद्ध पूंजीवाद की कार्य-क्षमता और नियन्त्रण तथा आर्थिक संगठनों और सरकार के वीच सम्बन्धों की समस्या है। वास्तव में यह प्रश्न ठीक समाजशास्त्र के न होकर अर्थशास्त्र के है। पर क्योंकि आर्थिक जीवन अधिजैविक (Super-organic) के सामान्य ढांचे का ही एक हिस्सा है, अतः समाजशास्त्री द्वारा इनका अध्ययन एक बेहतर और विस्तृत दृष्टि प्रदान करता है। आर्थिक समस्याओं को एकाकी नही सुलझाया जा सकता। आर्थिक जीवन के साथ अन्य संस्थाओं के सम्बन्ध को समझना जरूरी है। समाजशास्त्र का कार्य, समाज की सम्पूर्ण सांस्कृतिक विरासित, अर्थात् विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का जिनमे कि आर्थिक भी सम्मिलित है, अध्ययन करना है।

आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था

आर्थिक जीवन का आरम्भ

एक सामाजिक संस्था भौतिक संकृति की भांति पत्थर या धातु के औजारों

के कोई अवशेष नहीं छोड़ती, जिनके आधार पर उसके तत्कालीन रूप की कल्पना की जा सके। अधिकांश उच्च पशु भोजन-संग्रह में ही व्यस्त रहते है और उनकी एक मात्र सम्पत्ति एक घोंसले के अतिरिक्त और कुछ नही होती। इसीलिए आर्थिक जीवन के आरम्भ का निर्धारिण करना बड़ा दुष्कर कार्य है। पालतू पशु एक रेवड़ की शक्ल में चारे की तलाश में निकलते हैं। भेड़िये किसी के नेतृत्व में एक दल बनाकर खाने की खोज में निकलते है। दस लाख या उससे अधिक सालों तक, जब तक मनुष्य का उसके वर्तमान रूप में विकास हुआ, उसका जीवन भोजन पर ही केन्द्रित था। मनुष्य जाति का वह भाग जो ठण्डे प्रदेशो मे रहता था, उसे अवश्य कपड़े बनाने की चिन्ता हुई होगी।

पुरुष की प्रारम्भिक आर्थिक क्रियाओं का अनुमान हम उन पत्थर के औजारों से लगा सकते है जो आज हमें पृथ्वी के भीतर से प्राप्त हुए है। वर्तमान सरलतम प्रागक्षर (Pre-literate) संस्कृतियों के अध्ययन से भी हमें इसका थोड़ा संकेत मिलता है, किन्तु पूरी सूचना नही मिलती। क्योंकि जिन आदि संस्कृतियों से हम परिचित है, वह भी बहुत विकसित है। किन्तु ये निस्संदेह हमें आर्थिक जीवन के विकास के सम्बन्ध मे पर्याप्त ज्ञान तथा आर्थिक शुरुआत के सम्बन्ध में भी कुछ अनुमान प्रदान करती है।

खाद्य-सचय (Fruit gathering) और शिकार (Hunting)

मनुष्य के शरीर के विश्लेषण से पता चलता है कि वह मूलतः वृक्षवासी था। उसकी आदिम आर्थिक क्रियाये कन्द-मूल-फल का संचय थीं। मनुष्य को हम सर्वप्रथभ फलसंचक संस्कृति में पाते है। उसके साथ-ही-साथ अथवा कुछ पश्चात् उसने शिकार, अर्थात् जलचर और थलचर जन्तुओं को फंसाने व मारने के प्रयत्न भी शुरू किए। उसके भोजन मे मांस की तुलना मे प्रायः फल-फूल का ही अनुपात अधिक था। पर सब जगह एक-सी स्थिति न थी। जहां जानवर प्रचुर संख्या में पाये जाते थे वहा पर मांस भक्षण का प्रचार अधिक होगा। उदाहरण के लिए मैदान मे रहने वाले रैड इण्डियनों का मुख्य खाद्य भैसे है। इसलिए फलसंचक संस्कृतियों, जो प्रधानतया शाकाहार पर निर्भर करती है, और शिकारी संस्कृतियों को पृथक् करना बेहतर होगा।

स्त्री-पुरुषों में श्रम विभाजन (Division of Labour)

भोजन प्राप्त करने और पकाने का प्रारम्भिक संगठन स्त्री-पुरुषों के बीच श्रम-विभाजन है। जहां शिकार भोजन का मुख्य स्रोत है वहां पुरुष प्रायः शिकार करते है। स्त्रियां प्रायः कन्द, मूल, फल फलियों और गिरियों को बटोरती है। इस सम्बन्ध में विभिन्न जातियों में अपवाद और भिन्नताएं पाई जाती है।

विभिन्न शिकारी संस्कृतियां एक-सी नहीं हैं। फिर भी उनमें बहुत-सी

बातें मिलती-जुलती हैं। एक बात ध्यान देने की है कि उन जातियों में जहां आने-जाने के साधन सीमित और भोजन को सुरक्षित रखने के साधन अविकसित है, शिकार और फल-संचय से साल भर गुजर करना बड़ा कठिन हो जाता है। इसीलिए कभी-कभी एक वर्गमील और कही-कही पर पन्द्रह-बीस वर्गमील मे एक आदमी का पाया जाना आश्चर्य की बात नहीं है। शिकारी लोग प्रायः अकेले परिवारों में नही रहते, वह छोटे-छोटे समुदायों और समूहों मे रहते है, जो बीसियों व्यक्तियों या परिवारों से मिलकर बने होते है।

परिवार और समुदाय के आर्थिक कार्य

परिवार वस्तुओं के उत्पादन और उपभोग की महत्वपूर्ण संस्था है। परिवार के स्त्री-पुरुष बाहर से जो खाद्य वस्तुएं लाते है, उन्हें राधना प्रायः गृह-पत्नी का काम होता है। फिर केवल परिवार ही उत्पादन और उपभोग की अकेली संस्था नहीं है। कई बार भैंसों या अन्य जानवरों का शिकार करने के लिए एक परिवार के सदस्यों से अधिक बहुत-से लोगों की जरूरत होती है। कभी-कभी यह शिकारी दल हफ्तों और महीनों बाहर रहते है। मुख्यतया उपभोग (Consumption) की इकाई परिवार ही होती है, पर उत्सवों और त्यौहार के मौकों पर सामूहिक भोजन का आयोजन होता है। इस तरह हम देखते है कि परिवार और समुदाय दोनों ही उत्पादन और उपभोग की इकाई का काम करते है।

प्रारम्भिक पूंजी (Capital)

शिकारी परिवारों और समुदायों की पूंजी बहुत ही सरल और अल्प थी। भाले, तीर-कमान, मछली पकड़ने के कांटे, नावें और छद्मवेश उनमें मुख्य थे। मछली, चिड़ियों और बड़े जानवरों को पकड़ने के जालों की अनेक किस्में थी।

व्यापार का उद्गम

प्रारम्भिक आरण्यक समुदाय आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर थे और परिणामतः, व्यापार पर आश्रित न थे। प्रायः विभिन्न बस्तियों के बीच का फासला काफी था और यातायात के साधन अविकसित थे। शिकारियों के पास प्रायः बोझा ढोने वाले पालतू जानवर न थे। इसलिए विभिन्न कबीलों के बीच व्यापार संभव न था। व्यापार में दूसरी कठिनाई मान्य विनिमय के माध्यम (Medium of Exchange) का अभाव था। सजावटी किस्म के टिकाऊ पत्थर, कौड़ियां आदि मुद्रा का कार्य करती थीं। पड़ौसी कबीलों में ही कुछ व्यापार होता था जिसका आधार वस्तुओं की अदल-बदल (Barter) था। एक कबीले में मछली, गिरियों, खालों आदि की कमी व्यापार को प्रेरित करती थी। किन्तु सामान्यतः शिकारी लोगों के जीवन में व्यापार का नगण्य स्थान था।

ऐसा मालूम होता है कि कुछ शिकारी लोग व्यापार करना बिल्कुल नहीं

जानते। जब गोरे व्यापारी कुछ आरण्यकों से चीजें बदलने गये तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि कोई उनकी वस्तुएं भी बदल सकता है। कुछ स्थानों मे मौन-व्यापार की प्रथा प्रचलित है। एक निश्चित स्थान पर, एक दल, जो वस्तुएं वह देना चाहता है, छोड़ जाता है। बाद में वह आकर देखता है कि वह वस्तुएं गायब हं और उनकी जगह दूसरी वस्तुएं रखी हुई है। इससे अनुमान होता है कि व्यापार मनुष्य की मूल प्रवृत्ति (Instinct) या उसके लिए प्राकृतिक चीज नहीं है। इसका आविष्कार हुआ है, यह सीखी गई है, और संस्कृति के विकास में इसका बाद में आगमन हुआ है।

उपहार विनमय का माध्यम (Gift Medium of Exchange)

बहुत-से समुदायों में उपहार विनिमय के माध्यम का पार्ट अदा करते है। मुद्राविहीन समाजों में उपहार मुद्रा का सामाजिक पूरक है। इस तरह जब कभी किसी के यहां शादी-ब्याह या कोई अन्य उत्सव होता है तो लोग उसे उपहार देते है, बाद में उनके यहां ऐसा अवसर आने पर उन्हें भी बदले मे उपहार दिए जाते थे। यह पद्धति हमारे यहां के गांवों के रिवाज से बहुत मिलती-जुलती है। जैसा कि हमारे यहां भी रिवाज है, प्रारम्भिक सस्कृतियों के लोग इस बात को खूब अच्छी तरह याद रखते है कि कितनी कीमत की वस्तु उन्हें भेट की गई और अगर कोई ऐसा कार्य है जो कि सामूहिक सहयोग से किया जाता हे, जैसे कि छप्पर का वनाना तो उसमें दूसरे व्यक्ति ने कितने उत्साह या आलस्य से सहयोग दिया। अपनी बारी आने पर उपहार या सामूहिक सहयोग देते समय इन सब बातों का ध्यान रखा जाता है।

इस तरह आरण्यक समाजों में लेन-देन विनिमय की एक प्रचलित रीति है। वस्तु का मूल्य मुद्रा के माप को सहायता के बिना प्राप्तकर्ता द्वारा याद रखा जाता है। वहां पर कोई मजदूरी नही होती, किन्तु श्रम के सम्बन्ध में यह साधारण नियम होता है कि यदि तुम मेरी मदद करोगे, तो मै तुम्हारी मदद करूंगा।

आतिथ्य (Hospitality) एक आर्थिक सेवा

आरण्यक जातियों में आतिथ्य सार्वभौम है। उतमें आतिथ्य वही कार्य करता है जो कि आजकल के बैंक करते हैं। उपहार की भांति आतिथ्यप्रदान करने का कार्य भी एकतरफा न हो कर दोतरफा है। प्रत्येक मुसाफिर को भोजन और आश्रय पाने का अधिकार प्राप्त होता है। जब तक कि दूसरे के पास भोजन है, किसी व्यक्ति को भूखे नहीं मरने दिया जाता। कभी-कभी बूढ़े या सख्त बीमार व्यक्तियों को मरने छोड़ दिया जाता है। किन्तु वह विशेष अवस्था है जिसमें जान-बूझ कर ऐसा किया जाता है।

आतिथ्य व्यवहार कभी-कभी अपनी चरम सीमा को पहुंच जाता है। यह

अनेक प्रकार की वस्तुएं उधार लेने का अधिकार प्रदान करता है। आरण्यकों में रुपया उधार देने या कोई चीज किराये पर देने का रिवाज नही है। पारस्परिक आतिथ्य इस कमी को पूरा करता है। शिकार में इस्तेमाल होने वाले कुछ अस्त्र अवश्य उधार नहीं दिये जाते, किन्तु अन्य वस्तुएं बिना स्वामी को बताये तक भी ली जा सकती हैं। टूट-फूट हो जाने पर उनकी क्षतिपूर्ति नहीं करनी पड़ती।

इस तरह हम देखते है कि मजदूरी, लगान, ब्याज, व्यापार और मुद्रा, प्रारम्भिक आर्थिक संगठन में नहीं पाई जाती। यद्यपि इन द्वारा संपादित किये जाने वाले कार्य उपहारों के लेन-देन और आतिथ्य द्वारा सम्पन्न हो जाते हैं।

सम्पत्ति के प्रति प्रारम्भिक दृष्टिकोण

उपहार देने, आतिथ्य, बिना ब्याज उधार लेनें-देने और भूमि के सार्वजनिक प्रयोग ने ऐसी धारणा की सृष्टि की है कि आरण्यक शिकारियों में साम्यवाद विद्यमान था। यह प्रश्न कि आरण्यकों में साम्यवाद था अथवा व्यक्तिवाद और व्यक्तिगत सम्पत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व था या नहीं, यह मानव-प्रकृति के अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। आज के पूंजीवाद में तो धन और व्यक्तिगत सम्पत्ति की तृष्णा हमे मानव प्रकृति का अंग प्रतीत होती है।

आरण्यक शिकारियों के आर्थिक जीवन के अध्ययन से स्पष्ट है कि उनमें सामूहिक उपभोग और व्यक्तिगत सम्पत्ति दोनों ही तत्त्व विद्यमान है। कपड़े, जेवर, हथियार, औजार, बर्तन-भांडे, घर, व्यक्तिगत सम्पत्ति होते हैं। शिकार-भूमि समस्त कबीले या बिरादरी की सम्पत्ति होती है। जैसे कि हम वायु के व्यक्तिगत स्वामित्व की कल्पना नही कर सकते। ऐसे ही वे लोग भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व की कल्पना नही कर सकते। आरण्यकों में सामान्यतः उत्पादन के साधान और जीवन की आवश्यकताएं, जैसे कि भूमि या भोजन, व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर समस्त परिवार, बिरादरी या कबीले की होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सामूहिक रिवाज बहुत कुछ जीवन की अवस्था की उपज होते है। शिकार किये जाने वाले जानवरों की गतिशीलता और उन्हे पाने के लिए तय किया जाने वाला फासला शिकार-भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व को कठिन बना देते हैं। भौतिक आविष्कार और सम्पत्ति की तुलनात्मक न्यूनता हमारी तुलना में आरण्यक लोगो के जीवन मे सम्पत्ति के महत्त्व को बहुत कम कर देते हैं। हमारी दृष्टि मे धन-सम्पत्ति का बड़ा मान है। आरण्यकों में क्षमता और ख्याति की बड़ी प्रतिष्ठा है। इसीलिए आरण्यकों में निन्दा को बहुत बुरा माना जाता है और उसकी बहुत सख्त सजा है। बावजूद इसके, कभी-कभी आरण्यक एक छोटे से चाकू तक के लिए खून करते पाये गये है, जिससे प्रकट होता है कि वह भी सम्पत्ति के मोह से मुक्त नहीं हैं।

मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति का निपटारा भी सम्पत्ति के प्रति उनके दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करता है। प्रायः जब कोई आरण्यक शिकारी मरता था, उसके साथ उसकी सम्पत्ति गाड़ दी जाती थी। इस रिवाज का मूल पुनर्जन्म में विश्वास था, इससे यह प्रमाणित नही होता कि आरण्यकों की दृष्टि मे सम्पत्ति का कोई मूल्य नहीं है। इसके विपरीत, रिवाज से यह प्रकट होता है कि उसे पर्याप्त महत्त्व और मान दिया जाता है। और जबकि सम्पत्ति का उत्तराधिकार इतना महत्त्व-पूर्ण नहीं माना जाता था, नाम का उत्तराधिकार मान्य था, जैसा कि आजकल के राजकुलों में होता है। नाम का महत्त्व दर्शाता है कि ख्याति का कितना महत्व है। इस तरह ख्याति भी स्वयं एक मूल्यवान् सम्पत्ति बन सकती है।

आर्थिक प्रेरक : सम्पत्ति बनाम सम्मान

वर्तमान अर्थव्यवस्था का मूल प्रेरक धनप्राप्ति की लालसा और लाभ अर्जन की प्रवृत्ति है। पूंजीपतियों का कहना है कि यदि लाभ की प्रेरणा न रहे तो आदमी कार्य ही क्यों करेगा, साम्यवाद सफल नहीं हो सकता क्योंकि उसमें आदमी को कार्य करने की कोई ऐसी प्रेरणा नहीं होती। इस सम्बन्ध में आरण्यक व्यवस्था कुछ प्रकाश डाल सकती है। आरण्यक व्यवस्था में सम्पत्ति बहुत कम और उत्पादन-सम्पत्ति सामूहिक होती है।

आरण्यक संस्कृतियों मे लाभ-प्राप्ति की इच्छा का लोप नहीं है। जो सबसे अधिक भोजन संचय करता है उसे सबसे अधिक भोजन मिलता है और वही सबसे बडी दावत दे सकता है। पर साथ ही यह भी दिखाई देता है कि सर्वोत्तम शिकारी को सबसे अधिक मांस नही मिलता लेकिन उसका सबसे अधिक सम्मान होता है। सुस्त शिकारी को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। अल्पसम्पत्ति वाली आरण्यक जातियों मे सम्पत्ति के स्थान पर सम्मान की अधिक प्रेरणा है।

पोटलाश. उत्तरी पश्चिमी प्रशांत-तट के अमरीकन इण्डियनों की पोटलाश प्रतियोगिता इसका एक मनोरंजक उदाहरण है। ये आरण्यक एक बड़े उत्सव पर एकत्रित होते हैं और उस अवसर पर कम्बल, जिन्हें कि ये सबसे कीमती समझते हैं दूसरो को दान करते है। दान लेने वाले को उसमें अपनी सामर्थ्यानुसार अधिक-से-अधिक वृद्धि करके लौटना होता है। हमारी संस्कृति के विपरीत, वहां वह आदमी सबसे बडा समझा जाता है जो अधिक-से-अधिक ब्याज दर दे सके। ऐसी स्थिति मे सम्पत्तिसंचय की कल्पना नही की जा सकती, जब तक कि उसका उद्देश्य तत्काल पुर्नवितरण न हो। इससे स्पष्ट है कि मानव-जीवन के लक्ष्य उस संस्कृति से निर्धारित होते हैं जिसमे कि वह रहता है।

हमारी दृष्टि से विभिन्न संस्कृतियों में आर्थिक क्रियाओं की मूल प्रेरणएं बड़ी विचित्र है। लिण्टन ने जब तनानारीव के एक व्यापारी से कोई वस्तु खरीदी

तो उसने उससे एक चौथाई अधिक कीमत वसूल की किन्तु जब लिण्टन ने उसी कीमत पर सारा स्टाक बेचने को कहा तो उसने साफ इन्कार कर दिया और कहा कि वह दिन भर खाली बैठा क्या करेगा। मैक्सिको में एक अमरीकी राजदूत ने दो डालर देकर एक हाथ की बनी कुर्सी खरीदी किन्तु जब उसने वैसी ही दस कुर्सियां और खरीदने की इच्छा प्रकट की तो उसे उसकी कीमत पच्चीस डालर बताई गई और उसका कारण यह बताया गया कि दस कुर्सियां बनाने में बनाने वाले का दिल बहुत ऊब जायेगा।

सामान्यतः संस्कृति का आर्थिक जीवन से सम्बन्ध

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि आरण्यक समाज में आर्थिक क्रियाएं अन्य संस्थाओं से घनिष्ठतया सम्बन्धित होती हैं। पोटलाश उत्सव और त्यौहार से सम्बन्द्ध होता है। विवाह या उत्सवों पर उपहार देकर वस्तुओं के विनिमय को सम्पन्न किया जाता है। कभी-कभी शिकार धर्म और जादू-टोने से भी घनिष्ठतया संयुक्त होता है। कुछ पशु कबीले के गणचिन्ह (Totem) बन जाते हैं और वह अवध्य समझे जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि विनिमय, व्यापार, उत्पादन और वितरण से सम्बद्ध प्रक्रियाएं समुदाय की मान्यताओं के अनुरूप होती हैं। आरण्यक आर्थिक जीवन परिवार, धर्म, सामुदायिक परम्परा और रीति से घनिष्ठतया सम्बन्धित है।

आर्थिक संस्थाओं का विकास

आर्थिक जीवन और भौतिक संस्कृति

आर्थिक जीवन केवल सामुदायिक मान्यताओं और आचार से ही सम्बन्धित नहीं है, यह औजारों और आविष्कारों का भी परिणाम है। दो आविष्कारों ने धीरे-धीरे शिकारी को समाप्त कर दिया और उन आर्थिक प्रक्रियाओं को तेज कर दिया जिनसे हम परिचित हैं। पशुओं, विशेषकर बड़े ढोरों का पालन और कृषि, यह वे दो आविष्कार थे। शिकारी लोग शिकार मे सहायता के लिए कुत्ते तो पालते थे, पर बड़े जानवरों के उपयोग से अपरिचित थे। पौधे लगाने और पशु पालने ने अन्य खोजों और आविष्कारों को उत्तेजित किया। हम यह कह सकते हैं कि आर्थिक संगठन का क्रम बहुत कुछ भौतिक संस्कृति के आविष्कारों पर निर्भर है।

ऐसा ख्याल किया जाता है कि स्त्रियों के प्रयत्नों से कृषि और पुरुषों के प्रयत्नों से पशुपालन का जन्म हुआ। कृषि ने खाद्यपूर्ति में पर्याप्त स्थिरता और निश्चितता ला दी। कृषि के करने के साधन पशुओं को पालने की तुलना में अधिक विस्तृत थे। इसीलिए पशुपालकों की तुलना में कृषि पर अधिक व्यक्ति निर्भर हो सके। हल के विकास और पशुपालन के प्रसार ने भोजन-प्राप्ति के दोनों

तरीकों को पास ला दिया, जैसा कि इहिास के एक काल में प्रकट हुआ।

प्रारम्भिक कृषि

स्थिरवास, निश्चित खाद्यपूर्ति और बड़े समुदाय का विकास. खेती की प्रारम्भिक अवस्था में कुदाल या अन्य कोई नोकीला औजार, न कि हल, खेती के मुख्य यन्त्र थे। कुदाल-कृषि (Hoe-culture) शिकार की तरह सरल चीज न थी, बल्कि एक कला थी। नई अर्थ-व्यवस्था का मुख्य परिणाम भोजन की खोज में इधर-उधर घूमने के बजाय एक जगह बसना था। कृषि ने खाद्यपूर्ति को बहुत सरल और निश्चित किया, बड़े समुदायों का भरण-पोषण संभव बनाया तथा जन-संख्या के घनत्व में वृद्धि की।

भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व. कृषि ने भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व पर बल दिया। यद्यपि बहुत बार कृषि-संस्कृतियों में जमीन सारी बिरादरी की होती थी और बाद को उसे अलग-अलग परिवारों में बांट दिया जाता था। पर फसल उन व्यक्तियों की सम्पत्ति होती थी जो कि उन्हें पैदा करते थे। कुछ कार्य जैसे बुवाई या गहराई सामूहिक रूप से किये जात थें। इस भांति सामूहिक रूप से कई परिवार भोजन के मालिक होते थे।

अन्य आविष्कारों को प्रोत्साहन. कृषि के स्थिर जीवन के साथ अन्य आविष्कार भी जुड़े हुए है। बर्तन बनाने की कला प्रायः कृषि के साथ ही प्रकट हुई। बालों, ऊन या सूती कपड़े का बुनना भी कृषि-संस्कृतियों में प्रारम्भ हुआ। शिकारी लोग तो खालों या फरों से अपनी आच्छादन की आवश्यकता को पूरा कर लेते थे। कृषि से सम्बद्ध निश्चित निवास तथा विकसित आविष्कारों ने गृह-निर्माण की नीव डाली। यद्यपि, जैसा कि प्रत्येक सांस्कृतिक तथ्य के साथ होता है, इसके अपवाद भी मिलते है।

श्रम-विभाजन का सूत्रपात. कपड़े, बर्तन, टोकरियों, फसलों आदि की वृद्धि के साथ सम्पत्ति जमा होने लगती है और पर्याप्त महत्त्व धारण कर लेती है। इसके अतिरिक्त, 'इन कार्यों द्वारा चाहे जाने वाली विशेष योग्यता श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण को जन्म देती है। इस तरह विनिमय के अनुकूल स्थिति उत्पन्न होती है और व्यापार की शुरूआत होती है।

पशु-पालन

पशु-पालन से पहले की तुलना में खाद्यपूर्ति की अनिश्चितता कम हो गई। यह ठीक है कि सभी पशुपालक जातियां दूध या उससे बने पदार्थों से परिचित नहीं होतीं। उसे खोजने और अपनाने में समय लगता है। फिर भी पशु-पालन का बड़ा लाभ यह है कि खाना सदा साथ रहता है, न तो इसमें शिकार की अनिश्चितता रहती है न फसल के मारे जाने का भय। झुण्डों के बढ़ जाने के

साथ विनिमय और व्यापार के लिए सम्पत्ति में वृद्धि हो जाती है। कुछ दशाओं में पशु-पालन पशुओं के झुण्डो का पीछा करने से विकसित हुआ, जैसे लापातवासी रेंडियरो के झुण्डों का पीछा करते है। ऐसी स्थिति में पशु अर्ध-जंगली अवस्था में रहते हैं।

पशु-पालन स्पष्टतः पुरुषों का कार्य है। इसीलिए पशु-पालकों मे प्रायः पुरुषों का प्रभुत्व होता है, जब कि कृषि-संस्कृतियों मे इससे उलटा होता है।

जहां तक पशुपालक लोगों का झुण्डों को लिए घूमने का अम्बन्ध है उनका जीवन एक जगह बसे कृषकों के बजाय शिकारियों से अधिक मिलता-जुलता है। वह अपने साथ अधिक बर्तन-भाडे नही रखते। वह ऐसे मकान बनाते हैं जिन्हे वह आसानी से समेट सके और एक जगह से दूसरी जगह ले जा सकें। बनजारे पशु-पालकों में लूट-पाट, पशुओं की चोरी, अनाज के भंडारों पर हमला करने की प्रवृत्ति बहुत स्वाभाविक थी। घोड़े के पालन ने इसे बहुत सरल बना दिया। घोड़े से आक्रमण कर तेजी से भाग जाना बहुत आसान था। पशुपालक संस्कृति की लड़ाई मे घोड़े का वही स्थान था जो कि आजकल तोपों या हवाई जहाजों का है।

दस्तकारी का विकास

पशु पालने और और अन्न पैदा करने के विकास के साथ-साथ अन्ततोगत्वा पशुपालन और कृषि संयुक्त हो गये। किसान भेड़ें, बकरियां, ढोर और घोड़े पालने लगे विशेषतः जहां पर पशुओं द्वारा खींचे जाने वाले हलों का आविष्कार हुआ, ऐसा ही हुआ। हलधर-संस्कृति (Plough Culture) की अवस्था में सम्पत्ति पर्याप्त विकसित हुई। साथ ही खेती की जमीन, यन्त्रों और उत्पादन पर व्यक्तिगत स्वामित्व की शुरूआत हुई। पशुओं द्वारा संचालित हलों की खेती ने खाद्य-पूर्ति को अधिक सुनिश्चित कर दिया। कुछ स्थानों में कृषि-पदार्थ आवश्यकता से अधिक भी होने लगे। जहां नावे या घोड़े उपलब्ध थे वहां उन्हे दूर ले जाकर विक्रय करना संभव हो गया। इसी बीच विभिन्न कलाओ मे भी उन्नति हुई। बर्तन बनाने में सुधार हुआ। तकली की कताई के स्थान पर चरखे का आविष्कार हुआ।

हलधर-संस्कृति के विकास तक दस्तकारी एक अच्छे उद्योग के रूप मे विकसित हो गई। प्रारम्भिकतम दस्तकारी की वस्तुएं वह थी जो जानवरो के शिकार करने और फंसाने के काम आती थी। यहां तक कि हिम युग मे भी हमे नाना प्रकार के काटने, छेदने और घिसने के पत्थर के औजारों के दर्शन होते है। जब तक कुदाल का स्थान हल ने लिया विभिन्न प्रकार की दस्तकारी, उत्पादक और उपभोग्य वस्तुएं निर्मित होने लगी। बोने, काटने, गाहने, पीसने, पशु-रक्षा, दुग्ध-पदार्थ बनाने, खाना पकाने, परसने, घर की रक्षा और सजावट करने, फर्नीचर

बनाने, सीने, आग और रोशनी जलाने, कताई, बुनाई, रंगाई, टोकरियां बनाने के उपकरण इसी समय की देन थे ।

दस्तकारी के विकास का आर्थिक महत्त्व

दस्तकारी के विकास का पहला परिणाम सम्पत्ति की वृद्धि था । मानव की सम्पत्ति और सम्मान की इच्छा के संघर्ष के बीच सम्पत्ति की इच्छा जोर पकड़ने लगी । दूसरे, जितनी ही वस्तुओं और उनकी किस्मों की संख्या बढ़ी उतनी ही श्रम की आवश्यकता बढ़ी । इस तरह, उम्र और स्त्री-पुरुष के दायरे को छोड़ श्रम-विभाजन का सिद्धान्त अधिक विस्तृत हुआ ।

श्रम-विभाजन का विकास. तांबे, टीन, कांसे और लोहे के आविष्कार ने विशिष्टीकरण को और भी बढ़ा दिया और विभिन्न प्रकार के धातु-हथियारों, औजारों और जेबरों के निर्माण को प्रोत्साहित किया । बहुत-सी ऐसी चीजें, जो पहले मिट्टी, लकड़ी, पत्थर, घास या मनकों से बनाई जाती थीं, अब धातु से बनाई जाने लगीं । पहले पदार्थों की तुलना में धातु का वितरण असमान था और साथ ही इससे पक्का माल बनाने की प्रक्रिया अधिक जटिल थी । उस पर दक्षता प्राप्त करना सुगम न था । परिणामतः, अधिकाधिक विशिष्टीकरण हुआ । इस विशिष्टीकरण ने विनिमय को और अधिक अनिवार्य बनाया ।

दूर प्रदेशों में विनिमय का अर्थ व्यापार और यातायात (Transport) मे वृद्धि है । जो स्थान नदियों के समीप थे, वहां नाव यातायात का अच्छा साधन सिद्ध हुई । घोड़ों के पालने के पश्चात् भी यह कायम रही । मैदानों को छोड़कर बिना अच्छे रास्तों के जंगलों मे घोड़े की सवारी सुविधाजनक न थी । मानव जाति में सड़को का निर्माण बहुत बाद की चीज है ।

व्यापारिक और औद्योगिक नगरों का उद्गम. दस्तकारी में विशिष्टीकरण और यातायात के विकास के साथ व्यापार में वृद्धि हुई । इसने नगरों की नींव डाली । नगरों का यह प्रमुख लक्षण है कि वह अपनी खाद्य आवश्यकताओं को स्वयं पूर्ण नहीं कर सकते । उन्हें बाहर से अन्न मंगाना पड़ता है । इसके लिए यातायात और व्यापार अनिवार्य होता है । किन्तु नागरिक मुफ्त में अन्न नहीं पा सकते, अतः उन्हें कपड़े, धातु, चमड़े इत्यादि कच्चे माल की ऐसी वस्तुएं बनानी पड़ती हैं, जिनका कि वे विनिमय कर सकें । प्रायः जल-मार्गों पर स्थित ऐसे प्रारम्भिक शहर व्यापार के केन्द्र बन गये । प्राचीन भारत में मौर्य-काल में पाटलीपुत्र, प्रयाग, काशी, ताम्रपर्णी, तम्रलिप्ति ऐसे ही नगर थे । वस्तुएं प्रायः किसी एक निश्चित स्थान पर एकत्रित कर दी जाती थीं । वहीं पर उनका क्रय-विक्रय होता था । कई स्थानों पर इसके लिए सामयिक मेलों और पेंठों का आयोजन भी होता था । अक्सर व्यापार अदल-बदल द्वारा होता था । फिर भी कुछ ऐसी वस्तुओं का जिनकी

मांग प्रायः रहती थी, अधिक विनिमय होता था। जो ऐसी वस्तुएं हल्की और टिकाऊ होती थीं, जैसे कि सोना-चांदी के अलंकार; उन्होंने मुद्रा (Money) का रूप धारण कर लिया। नागरिक जीवन और उसके व्यापार के अनुपात ने मुद्रा के प्रयोग को प्रोत्साहित किया।

आर्थिक संगठन का विकास

आविष्कारों द्वारा संभव उपभोग्य वस्तुओं के परिवर्तित उत्पादन ने उसके अनुकूल आर्थिक संगठन को विकसित किया। भौतिक संस्कृति का जिक्र करते समय हम कुछ आर्थिक संस्थाओं का जिक्र कर चुके हैं। आदिकाल में उत्पादन प्रायः पारिवारिक संगठन में होता था, जहां आयु के अनुसार, और स्त्री-पुरुष के बीच कुछ श्रम-विभाजन अवश्य विद्यमान था। समुदाय कुछ कार्यों, जैसे कि शिकार खेलने, बोने या भूमि को वितरित करने में, पारिवारिक संगठन का हाथ बटाता था। समुदाय अपने सामजिक रिवाजों द्वारा आर्थिक तथा अन्य समस्त आचार की व्यवस्था करता था, जिससे कि लोग अति स्वार्थी न हो जायं। विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न अनुपात में उपहारों का आदान-प्रदान, पारस्परिक सहयोग और भूमि का सामूहिक प्रयोग प्रचलित था। शिकारी अवस्था आर्थिक जीवन पर परिवार-और समुदाय का नियन्त्रण था। हलधर और पशु-पालक संस्कृतियों मे परिवार संगठन सम्मिलित खेती पर अधारित हुआ। किसान गावों में मिलकर रहते थे, अतः वहां पर समुदाय ने उनके आर्थिक जीवन को प्रभावित किया।

सामन्तशाही संगठन (Feudal Organisation)

आधुनिक अवस्था के आगमन से पहले, विशेषकर जहां केन्द्रीय सरकार नहीं थी, लुटेरों से रक्षा के लिए सामन्तशाही व्यवस्था का जन्म हुआ। अधिक सम्पत्ति और भूमि के मालिक बड़े किसान दूसरे निर्बल-निर्धन किसानो से कर वसूल करते थे और उन्हें बदले मे रक्षा का आश्वासन देते थे। वसूल हुए कर का बड़ा अंश कुछ सशस्त्र सैनिकों को रखने में व्यय हो जाता था। सैनिको की सहायता से सामन्त प्रभु (Lords) आस-पास के प्रदेशों को भी विजय करते थे और उनसे भेंटें प्राप्त करते। सम्पत्ति के कुछ व्यक्तियों में केन्द्रित हो जाने से श्रम-विभाजन का और अधिक विकास हुआ। सामन्तशाही व्यवस्था केवल सभ्य संस्कृतियों तक ही सीमित नही थी। हमे प्रागक्षर संस्कृतियों मे भी प्रारम्भिक या विस्तृत रूप में इसके दर्शन होते हैं।

दस्तकारी संघों (Guilds) का निर्माण. सामन्तशाही के उदय के शीघ्र बाद ही प्रायः नगरों के आर्थिक और राजनैतिक संगठन का विकास हुआ। विशिष्टीकरण, व्यापार और यातायात का विकास इसके मुख्य सहायक थे। नगरों पक्के माल का निर्माण होने के कारण छोटे-छोटे कारखानों में दस्तकारों मे

बहुत निकट और घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ और इस तरह दस्तकारी संघों (Guilds) का निर्माण संभव हुआ। दस्तकारी संघ ही वर्तमान श्रम संघों (Trade Unions) के अग्रणी थे। एस समय के दस्तकारी संघ, ठीक मजदूरों के संगठन न होकर, मालिकों के संगठन थे। उस समय तक मजदूर अपने औजारों स्वयं मालिक थे और उनकी तथा उनके मालिकों की संख्या के अनुपात मे, जैसा कि आज दिखाई देता है, बहुत अन्तर न था।

आधुनिक अर्थ-व्यवस्था

पूंजवाद (Capitalism)

औद्योगिक क्रान्ति का हाथ. सामन्तवाद के क्षय और औद्योगिक क्रान्ति के उद्भव ने आधुनिक पूंजीवाद की नींव डाली और मुक्त व्यापार (Free trade) तथा राज्य द्वारा अल्पतम हस्तक्षेप (Laissez faire) के तत्कालीन उदारवादी सिद्धान्तों ने उसे पोषित किया। इंगलैंड औद्योगिक क्रान्ति में अग्रणी था। भाप से चलने वाले नये यन्त्रों ने उत्पादन के अत्यन्त कुशल और कीमती साधन उपस्थित किये। इन साधनों का स्वामित्व साधारण श्रमिकों के बूते के बाहर था, अतः धनिक पूंजीपतियों ने इन्हे अपनाया। इन नये यान्त्रिक आविष्कारों की सहायता से उत्पादन अत्यन्त सस्ता और अधिक होने लगा। जो वस्तुएं किसी समय केवल कुछ गिने-चुने लोगों को उपलब्ध थी वह जनसाधारण के उपभोग की वस्तु बन गई। आविष्कारों की कृपा से दस्तकारी निर्माण भाप से चलने वाले यन्त्रों के आगमन से पहले ही काफी उन्नति कर चुका था। वाष्पशक्ति ने इसे नया प्रोत्साहन दिया। वस्तुओं के परिमाण और वैचित्र्य ने उपभोग और उत्पादक वस्तुओं के भेद को उत्पन्न किया।

बड़ी पूंजी के कारखानों की स्थापना. स्वतन्त्र हाथ के कारीगर नये यन्त्रों की प्रतियोगिता के सामने न टिक सके। उन्हे अपनी जीविका के लिए बृहत् पूंजी से स्थापित कारखानों मे शरण लेनी पड़ी। विपुल पूंजी का प्रयोग नई अर्थव्यवस्था का मुख्य लक्षण था, अतः इसे पूंजीवाद का नाम दिया गया। विपुल पूंजी का प्रयोग ही केवल इस नई प्रवृत्ति की प्रमुख विशेषता न थी वरन् तत्कालीन सामाजिक विचारधारा भी इसका अभिन्न अंग बन गई। इस विचारधारा को अल्पतम हस्तक्षेप नीति का नाम दिया जाता है। इसके अनुसार व्यक्तियो और व्यापारियों की अनवरुद्ध प्रतियोगिता में ही समाज और व्यक्तियों का कल्याण निहित है। अतः राज्य को आर्थिक क्रियाओं, उपभोग, वितरण व्यापार आदि किसी भी क्षेत्र में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

उद्योग पर परिवार के प्रभुत्व का ह्रास. सामन्तवाद में दस्तकारी, व्यापार, यातायात पर परिवार का स्वामित्व था। पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत एक परिवार के लिए उत्पादन के यन्त्रों को जुटाना सम्भव न रहा। परिणामतः दो या

अधिक परिवार की साझेदारी शुरू हुई। स्वभावतः उद्योग पर परिवार का प्रभुत्व घटने लगा।

संयुक्त पूंजी की कम्पनियों (Joint Stock Companies) **का जन्म और स्वामित्व और प्रबन्ध में परिवर्तन.** उद्योग में प्रत्येक साझीदारका अपरिमित दायित्व होता था। इसीसे साझीदारों द्वारा रुपया लेना सम्भव था। नये आविष्कारों ने उत्पादन-यन्त्रों के मूल्य को और भी बढ़ा दिया और अब कुछ साझियों द्वारा भी उद्योग को चलाना सम्भव न रहा। ऐसी परिस्थिति मे एक ऐसे सामाजिक आविष्कार की आवश्यकता हुई जो पूंजी की बढ़ती हुई माग को पूरा कर सके। संयुक्त पूंजी की कम्पनियों (Joint stock companies) ने इस मांग को पूरा किया सैकड़ों, हजारों व्यक्तियों की थोड़ी-थोड़ी पूंजी को जोड़कर विशाल पूंजी एकत्र हो गई। इन कम्पनियों में हिस्सेदारों का दायित्व उनके हिस्से की रकम तक ही सीमित था। परिमित दायित्व ने बहुत लोगों को हिस्सेदार बनने को प्रोत्साहित किया। इसका उत्पादन के यन्त्र का स्वामित्व पर क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा। इससे उत्पादन यन्त्र का स्वामित्व एक व्यक्ति के हाथ में न रहकर सैकड़ों-हजारों हिस्सेदारों के हाथों में चला गया। इसका एक और भी महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि अन्ततोगत्वा उद्योग का प्रबन्ध स्वामियों के हाथ में न रहकर कुशल प्रबन्धकों के हाथ में आ गया।

क्रमशः मजदूरों और प्रबन्धकों की शक्ति में वृद्धि. दूसरी ओर इससे सैकड़ों हजारों मजदूरों को एक साथ काम करने का अवसर मिला। पूंजीपतियों के शोषण से बचने के लिए और अधिकतम मजदूरी निश्चित करने के लिए मजदूर संगठनों की आवश्यकता अनुभव हुई। तत्कालीत उदारवादी विचारधारा ने भी इसमे सहयोग दिया। इस तरह धीरे-धीरे उत्पादन यन्त्र पर पूंजीपतियों का जोर घटने लगा और प्रबन्धकों और मजदूरों का जोर बढ़ने लगा। पूंजीवाद के अन्दर यह रूपान्तरण मुख्यतः पूंजीपतियों और मजदूरों के संघर्ष का परिणाम न होकर, उत्पादन-संगठन के नूतन यान्त्रिक परिवर्तनों का परिणाम था।

कृषि और पूंजीवाद

दस्तकारी की तुलना में पूंजीवाद ने कृषि को बहुत कम प्रभावित किया। वाष्प-शक्ति खेती के लिए अनुकूल न थी। इसलिए औद्योगिक देशों में एक लम्बे समय तक मानव पेशियों पशुओं और वायु की शक्ति से खेती होती रही। पेट्रोल कम्बशन इंजिन के आविष्कार ने ऊबड़-खाबड़ भूमि पर यन्त्रों की सहायता से खेती को संभव और सस्ता बनाया। बीसवीं सदी के मध्य में अब धीरे-धीरे यान्त्रिक शक्ति खेती में आरही है। अमरीका योरोप और रूस के किसान खेतों की बुबाई, कटाई, और गहाई के लिए ट्रैक्टरों, सोअरों, मोअरों और थ्रशरों का प्रयोग करने

लगे हैं। फिर भी कृषि मे लगी पूंजी की मात्रा बहुत कम है। अमरीका में कृषि भूमि और किसानों के मकानों की कीमत का कुल ७ प्रतिशत अंश कृषि का पूंजी मे लगा हुआ है। खेती मे श्रमिकों की मजदूरी के रूप में भी बहुत कम पूंजी की जरूरत पड़ती है क्योंकि अधिकतर किसान अपने परिवार के सदस्यों द्वारा ही सारा काम कर लेते हैं। उन्हे बहुत कम बाहरी मजदूरों को लगाना पड़ता है।

पूंजीवाद मे उद्योग की भांति कृषि बड़ी संयुक्त पूंजी की कम्पनियों मे सगठित नहीं हो सकी। यह बहुत कुछ आत्मनिर्भर है। इसी कारण इससे सम्बन्धित साख या विक्रय सस्थाओं का समुचित विकास नहीं हुआ। यातायात के विकास ने कृषि उत्पादन को परिवार के लिए न रख कर बाजारों के लिए बना दिया, यद्यपि कृषि फार्म अभी भी बिखरे और असंगठित रहे। परिणामतः, आर्थिक मन्दी मे कृषि पर ही सबसे अधिक चोट होती है। इसके अतिरिक्त हालमें कृषि द्वारा यन्त्रों को अपनाना बड़ी संख्या में खेती से श्रम को हटाने की ओर संकेत कर रहा है।

पूंजीवाद में सम्पत्ति का उत्पादन

पूजीवाद के अन्तर्गत वस्तुओं के उत्पादन मे अभूतपूर्व उन्नति हुई। बड़े पैमाने के उत्पादन ने जनता के लिए उत्पादन की नीव डाली। पुरानी वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा, नई-नई वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ हुआ। विकसित यातायात और विनिमय की सुविधाओं ने उसे और भी प्रोत्साहित किया। अमरीका जैसे देश मे आर्थिक प्रगति की दर का औसत २ प्रतिशत प्रतिवर्ष रहा और दो सौ वर्ष में प्रति व्यक्ति औसत आय चार गुणा से भी अधिक बढ़ गई। इस उन्नति का श्रेय पूंजीवाद को दिया जाता है।

वास्तव मे जनसंख्या, प्राकृतिक साधनों और आविष्कारों पर समय का उत्पादन निर्भर करता है। चूंकि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत देशों की जनसंख्या भपीर्याप्त बढ़ी, इसलिए यह स्वाभाविक था कि वस्तुओं का उत्पादन बढ़ता। पर महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या अन्य किसी सामाजिक व्यवस्था में यही जनसंख्या और आविष्कार रहने पर क्या यही या इससे उत्तम परिणाम उपलब्ध नहीं किया जा सकता था ? इसका निश्चित उत्तर देना कठिन है।

भारतवर्ष में पूंजीवाद अभी पूरी तरह विकसित नहीं हो पाया है। वह अभी प्रारम्भिक अवस्था में है। अभी भी यहां कृषि और बहुत-से उद्योगों में सामन्त-शाही व्यवस्था के अवशेष बाकी हैं। फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि पिछले सौ सालों में जनसंख्या की वृद्धि के बावजूद प्रति व्यक्ति उत्पादन यहां पर बढ़ा है।

पूंजीवाद में सम्पत्ति का विभाजन

कुछ व्यक्तियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति या पूंजी से लाभ अर्जन की प्रेरणा

के अन्तर्गत बड़े पैमाने पर पूंजीवादी उत्पादन शुरू हुआ था। ऐसी स्थिति में लगान, मजदूरी और लागत को निकालकर जो कुछ बच रहता था, वह उद्योगपति का मुनाफा था। सामान्यतः उसकी मात्रा एक सामान्य मजदूर की आय की तुलना में सैकड़ों और हजारों गुणा होती थी। इस तरह पूंजीवाद में व्यक्तियों की आय में अत्यन्त अधिक अन्तर विद्यमान रहता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और उद्योगों की आय विपुल आय के मुख्य साधन हैं। विभिन्न व्यक्तियों की आयों के अत्यधिक अन्तर मे योग्यता गौण और सम्पत्ति का असमान वितरण मुख्य कारण है। यह बात मार्के की है कि बराबर आय वाले विभिन्न पारिवारिक वर्गों की आय की वक्र रेखा (Curve) एक समकोण त्रिभुज की भाति है, जब कि उनके आनुवंशिक गुणों की वक्र रेखा घंटीनुमा वक्ररेखा (Bell Shaped Curve) की भांति है। इससे स्पष्ट है कि पूंजीवाद के अन्दर योग्यतानुसार आय का अन्तर नही है। यदि ऐसा होता तो आय की वक्र रेखा समकोण त्रिभुज के समान न होकर घंटीनुमा वक्र रेखा की भांति होती।

मुक्त उद्योग-व्यवस्था और लाभ-अर्जन की मूल प्रेरणा ने आय के वितरण मे बहुत असमानता ला दी। किन्तु पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे भी प्रगतिशील आयकर पद्धति (Progressive Taxation) और मृत्यु शुल्क (Death Duties) के लगाने से यह असामानता पर्याप्त कम कर दी गई है। यह कहना अवश्य कठिन है कि असमान आय केवल पूंजीवादी व्यवस्था की ही विशेषता है, क्योंकि हम देखते है कि साम्यवादी रूस मे भी व्यक्तियों की आय मे पर्याप्त अधिक अन्तर विद्यमान है। कहने को तो भारत भी समाजवादी व्यवस्था की ओर अग्रसर हो रहा है, पर विभिन्न वर्गो की और व्यक्तियों की आय की भीषण असमानता के कम होने के यहां अभी कोई चिह्न नजर नही आते है।

श्रमिको की अवस्था

पूंजीवादी अल्पतम हस्तक्षेप नीति का प्रारम्भ में मजदूरों पर तो बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। उत्पादन के साधनों से वंचित असंगठित मजदूर सर्वथा असहाय थे। निर्धन और सम्पत्तिविहीन होने के कारण उनकी प्रतिरोध शक्ति शून्य थी। परिणामतः, उन्हें कम-से-कम मजदूरी पर जो उन्हे केवल जिन्दा रखने के लिए पर्याप्त थी, अधिक-से-अधिक घंटे काम करने के लिए राजी होना पड़ा। अनेक तत्कालीन विचारकों ने इसे पूंजीवादी व्यवस्था का अवश्यंभावी परिणाम और स्थायी लक्षण समझा। इसी को देख कार्ल मार्क्स ने पूंजीवाद में मजदूरो की अवस्था निरन्तर गिरने की भविष्यवाणी की।

पर धीरे-धीरे अवस्था परिवर्तित हुई, जिस अल्पतम हस्तक्षेप नीति ने प्रारम्भ मे पूंजीपतियों को श्रमिकों के शोषण की स्वाधीनता प्रदान की थी, उसी

ने बाद में मजदूरों को संगठित होने का अवसर प्रदान किया। श्रमसंघों की स्वीकृति और विकास से मजदूरों की प्रतिरोध-शक्ति और सौदा करने की शक्ति बहुत बढ़ गई। इससे मजदूर भी पूंजीवाद की बढ़ती समृद्धि में साझेदार हो सके। उनका रहन-सहन का दर्जा गिरने के बजाय बराबर उन्नत होता गया। फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि संगठित उद्योगपतियों की तुलना में संगठित श्रम की प्रतिरोध शक्ति कम ही रहती है। मजदूर अधिक समय खाली नही बैठ सकते, जब कि पूंजीपति काफी समय खाली बैठकर खा सकते हैं।

व्यापार चक्र (Trade Cycles)

लाभ-प्राप्ति की मूल प्रेरणा पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की मुख्य परिचायिका है। प्रत्येक व्यवसायी कम लाभ से अधिक लाभ वाले व्यवसाय में और प्रत्येक मजदूर कम मजदूरी से अधिक मजदूरी वाले स्थान मे स्थानान्तरित होने की चेष्टा मे निरन्तर संलग्न है। इस भांति वह, पूंजीवादी विचारकों के अनुसार, व्यक्तिलाभ मे वृद्धि कर साथ-ही-साथ सामाजिक कल्याण मे वृद्धि करता है। लाभ का प्रलोभन और हानि का भय ही अधिकाधिक कार्य-क्षमता और कर्मशीलता को प्रोत्साहित करता है। व्यापारियों और उत्पादकों की पारस्परिक प्रतियोगिता द्वारा उचिततम मजदूरी निर्धारित होती है।

परन्तु पूंजीवादी व्यवस्था सब समय इस आदर्श के अनुसार नही चलती। एक समय ऐसी आर्थिक और मानसिक स्थिति आती है कि व्यवसायी किसी उद्योग में रुपया लगाना लाभप्रद नही समझता। यह भावना छूत की बीमारी की तरह समस्त व्यवसायी वर्ग को आक्रान्त कर लेती है। इसका परिणाम होता है कि विनियोग (Investment) रुक जाता है; उत्पादन गिर जाता है; व्यापार ठप्प हो जाता है; मजदूर बेकार हो जाते है; राष्ट्रीय आय गिर जाती है और सामाजिक असन्तोष की वृद्धि होती है। ऐसे समय पूंजीवादी व्यवस्था की कमजोरी स्पष्टतया दिखाई देने लगती है। ऐसा प्रतीत होता है कि सामयिक आर्थिक मन्दियां (Depressions) अनियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था का अभिन्न अंग है। १९२९ मे ऐसी ही भीषण मन्दी ने संसार के पूंजीवादी देशों को आ घेरा था। यह मन्दी ३-४ साल तक रही और इसने बहुत आर्थिक और सामाजिक हानि पहुंचाई।

पूंजीवाद के समर्थकों का कहना है कि यदि मन्दी के आने पर कीमतों और मजदूरी को स्थिर करने का प्रयत्न न किया जाय, तो वस्तुओं की माग न गिरे और मन्दी दूर होने में समय न लगे। जो भी हो, व्यवहार में ऐसा नहीं होता। गिरी हुई पूंजीवादी व्यवस्था स्वयं शीघ्र नही उठ पाती। उसे बाह्य उत्तेजना की जरूरत पड़ती है। इसी तरह, संकटकाल में या वस्तुओ के भीषण अभाव की अवस्था में, पारस्परिक प्रतियोगिता का खेल नहीं खेला जा सकता।

उस भीषण समय आवश्यकता होती है, कि कोई प्रतिनिधि-सामाजिक संस्था उसका नियन्त्रण करे और सामाजिक हित में उसका प्रयोग करे। ऐसे समय ही आयोजन (Planning) की पुकार होती है।

बेकारी. अनियन्त्रित पूंजीवादी व्यवस्था में बिना इस बात का ध्यान करे कि इसका रोजगार पर क्या प्रभाव पड़ेगा, केवल व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा के अन्तर्गत नये यन्त्रों को अपनाया जाता है। परिणामतः, समय-समय पर भीषण यान्त्रिक बेकारी (Technological unemplovment) की सृष्टि होती है। इसके अतिरिक्त, मन्दी के समय लाभ की सम्भावना न रहने से मजदूरों की माग गिर जाती है और बेकारी फैलने लगती है। इस तरह अनियन्त्रित पूंजीवादी व्यवस्था रोजगार की समस्या को सुलझाने में असमर्थ रहती है।

एकाधिकार (Monopoly)

अविकसित प्रारम्भिक अवस्था में पूंजीवादी उद्योग खुली प्रतियोगिता (Free competition) सिद्धांत पर कार्य करता रहा। व्यापारियों की पारस्परिक प्रतियोगिता बहुत अंशों में मजदूरों और उपभोक्ताओं के लिए कम मजदूरी और अत्यधिक कीमेत के विरुद्ध अच्छा संरक्षण थी। पर धीरे-धीरे व्यवसायियों ने यह अनुभव किया कि यह अधिक अच्छा हो किवह आपसी प्रतियोगिता बन्द कर कार्य करें। इस तरह वह अधिक मुनाफा कमा सकते है। उद्योगों के स्थानीकरण और केन्द्रीकरण ने इसे संभव भी बना दिया। इस तरह प्रतियोगी पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर एकाधिकारी पूंजीवादी व्यवस्था प्रकट हुई। आजकल पूंजीवाद का रुख प्रतियोगिता से हट एकाधिकार की ही ओर है। उद्योगों में यह प्रवृत्ति प्रबल है। कृषि में असंख्य छोटे-छोटे और बिखरे उत्पादकों के कारण यह सरलतया सम्भव नही है।

यह भी सत्य है कि एकाधिकार कभी भी स्थायी या पूर्ण नहीं होता। नये आविष्कार तथा कुछ व्यवसायियों का विरोध उसे समय-समय पर तोड़ते रहते है।

प्रतियोगिता से दूर और एकाधिकार की ओर', इस प्रवृत्ति को प्रायः बहुत चिन्ता से देखा जा रहा है और स्वभावतः एकाधिकारों के शोषण से बचने के लिए उसके सामाजिक नियन्त्रण की मांग हो रही है। इस तरह हम धीरे-धीरे अल्पतम हस्तक्षेप नीति को तिलांजलि दे रहे है।

कुछ दशाओं में तो सामाजिक एकाधिकार निःसंदेह प्रतियोगिता से श्रेष्ठ है। पूंजीवाद के समर्थकों तक ने कुछ सामाजिक एकाधिकारों का समर्थन किया है। जनोपयोगी सेवाएं इसी श्रेणी में आती हैं, रेल, जल-विद्युत्, डाक, तार, टेलीफोन आदि सेवाएं ऐसी ही हैं। इसमें कोई सार नहीं कि एक ही शहर में

पांच टेलीफोन की लाइनें हों। अतः यही बेहतर है कि एक ही कम्पनी उस कार्य को करे और उस पर सरकारी नियन्त्रण हो।

उद्योगों का सामाजिक नियन्त्रण

अनियन्त्रित पूंजीवादी व्यवस्था की कमियों को रोकने के लिए पूंजीवाद के विकास के साथ ही जोरदार आन्दोलन हुआ है। कट्टर-से-कट्टर पूंजीवाद के पोषक देशों को इस आन्दोलन के आगे झुकना पड़ा है। उद्योगों मे सामाजिक नियन्त्रण की शुरुआत जनोपयोगी सेवाओं के नियन्त्रण से हुई है। धीरे-धीरे सामाजिक नियन्त्रण का क्षेत्र बराबर विस्तृत होता जा रहा है। आर्थिक जीवन का शायद ही कोई ऐसा भाग हो, जहा नियन्त्रण का हाथ नही पहुंचा ह। संकटकाल और युद्धकाल मे तो इसका विस्तार और भी बढ़ गया है। श्रमिक और फैक्टरी कानून, मजदूरी और मुनाफे का नियन्त्रण, आय और सम्पत्ति पर कर का लगाना वस्तुओं के वितरण की मात्रा और मूल्यों का नियन्त्रण, आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध, मुद्रा के मूल्य का निर्धारण, इसके ज्वलन्त उदाहरण है।

समुदाय द्वारा आर्थिक जीवन का नियन्त्रण कोई चीज नही है। स्वभावतः यह आर्थिक संगठन जितना ही पुराना है, वास्तव मे पूंजीवादी अल्पतम हस्तक्षेप नीति एक माध्यमिक अवस्था थी। यह विश्वास कि वर्तमान संस्थाएं स्थायी है, भारी भ्रम है। कोई भी सामाजिक संस्था परिवर्तित हुए बिना नही रहती, यही हाल पूंजीवाद का है।

आयोजित अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy)

ऐसा प्रतीत होता है कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था शायद नियन्त्रित पूंजीवाद से अगली सीढ़ी है, जिस पर हमें आगे बढ़ना है। यों तो पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे भी एक प्रकार का आयोजन निहित है। प्रत्येक व्यवसायी अपनी पृथक् उत्पादन व वितरण योजनाएं बनाता है। किन्तु अनियन्त्रित व्यवस्था मे एक व्यवसायी का दूसरे व्यवसायी की योजना पर कोई काबू नही होता। इसीलिए अनेक बार उसकी योजना अन्य व्यवसायियों की योजना से रद्द हो जाती है। पृथक्-पृथक् योजनाओं में एकीकरण या समन्वय न होने के कारण ही ऐसा होता है। इसके विपरीत, आयोजित अर्थ-व्यवस्था में समस्त छोटी-छोटी पृथक् योजनाएं एक बृहत् योजना का अंग होती है, उनमें आपस में कोई विरोध नही होता, एक दूसरे को नष्ट करने का खतरा विद्यमान नहीं होता।

लाभ प्रवृत्ति और उत्पादन के साधनों मे व्यक्तिगत स्वामित्व के रहते हुए एक सार्वजनिक योजना नही बनाई जा सकती। अतः आयोजित अर्थ व्यवस्था में उत्पादन यन्त्रों पर यदि कानूनी नहीं, तो कम-से-कम व्यावहारिक सामाजिक स्वामित्व की तो अवश्य आवश्यकता पड़ती है। ऐसी स्थिति मे वही

वस्तुएं उत्पन्न की जाती हैं और उन्हीं के उत्पादन को प्राथमिकता दी जाती है जिनकी मांग निश्चित है, जो सामाजिक हित की दृष्टि से उपयोगी और आवश्यक है। यहां पारस्परिक प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त, उत्पादन यन्त्रों पर समाज का स्वामित्व होने के कारण स्वामित्व-जनित आय के भीषण अंतर आयोजित अवस्था में समाप्त हो जाते ह। कुशलताजन्य मजदूरी के अंतर अवश्य कायम रहते है या बढ़ाये भी जा सकते है। इस तरह आयोजित अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक विषमता प्रायः कम रहती है। पर आयोजित अर्थ-व्यवस्था और आर्थिक समानता में कोई कार्य कारण का सम्बन्ध नहीं है। आयोजित अर्थ-व्यवस्था को भी शक्तिशाली और स्वार्थी आयोजकों द्वारा विशिष्ट स्वार्थों और उद्देश्यों के लिए चलाया जा सकता है। फासिस्ट जर्मनी में ऐसा ही हुआ।

निःसन्देह उत्पादन, उपभोग, वितरण, विनिमय-यन्त्र और विनियोग तथा बचत पर पूर्ण नियन्त्रण होने के कारण आयोजित अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक यन्त्र को सामाजिक हित में परिचालित करने की सुविधा रहती है। पूंजीवाद के भीतर विद्यमान सामयिक मन्दियों का संकट प्रायः समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि जब अमरीका और इंगलेंड जैसे पूंजीवादी राज्यों मे १९३०-३२ मे भीषण बेकारी फैली हुई थी, रूस और जर्मनी में मजदूरों की कमी थी।

पूंजीवादी के अंदर उत्पादन, आर्थिक प्रगति और सम्पत्ति का विभाजन उत्पादकों और व्यापारियों की परिवर्तनशील मानसिक स्थिति, मालिकों और मजदूरों तथा जमीदारों की आपसी खींचातानी का परिणाम होते हैं, परन्तु आयोजित व्यवस्था के अन्दर वह एक पूर्व-नियोजित योजना और सामाजिक संस्था के निर्धारण का परिणाम होते है। यहा पर कीमतें घटने से किसी के व्यक्तिगत लाभ में कमी नही पड़ती, मजदूरी घटने से किसी की व्यक्तिगत आय मे वृद्धि नही होती। इस तरह व्यक्तिगत स्वार्थों का संघर्ष बहुत कुछ समाप्त हो जाता है। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था में कोई आर्थिक समस्याएं नहीं उठती, उठती हैं अवश्य, आयोजकों के अनुमान गलत हो सकते है। आयोजन कोई रामवाण औषध नहीं है। चौबीस साल पहले रूस ने सर्वप्रथम आयोजन की ओर कदम उठाया। बारह साल के अल्पकाल में उसने औद्योगीकरण रोजगार में असाधारण उन्नति की और संसार का ध्यान आयोजन की ओर आकृष्ट किया। मन्दी और युद्ध ने आयोजन के प्रति दिलचस्पी को बढ़ाया और युद्धकाल मे अल्पाधिक रूप में सभी राष्ट्रों ने इसे अपनाया। १९५१ में भारत सरकार ने पहली बार एक पंचवर्षीय योजना का सूत्रपात किया। १९५६ से दूसरी पंचवर्षीय योजना चालू हो रही है। गांव के आर्थिक और सामाजिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए सामुदायिक योजनाएं जारी की गई हैं।

सोलहवां अध्याय

राजनैतिक सगठन

POLITIC\L ORGANISATION

व्यक्ति और राज्य (State)

राज्य हमारे जीवन का एक महत्वपूर्ण तथ्य है। बालक का जन्म होते ही इसकी सूचना सरकार को देनी पड़ती है। कुछ बड़े होने पर सरकारी स्कूल हमे शिक्षा की सुविधा प्रदान करते हैं। घर बनाते समय हमें उसके नक्शे को सरकार से पास कराना पड़ता है। आय का एक निश्चित अंश हमें सरकार को करों के रूप मे देना होता है। सरकारी नीति खाने-पीने की चीजों, कपड़े आदि अन्य व्यवहारोपयोगी वस्तुओं के दाम व मकान के किरायों की दर को प्रभावित करती है। सरकार अनेक बार हमारे मनोरंजन को भी नियन्त्रित करती है और यह तक निर्धारित करती है कि हम क्या करे और क्या नहीं। कुछ देशों में यह चिकित्सा की सुविधा प्रदान करती है, बच्चों को स्कूलों मे भेजने को बाध्य करती है। देश से बाहर जाने के लिए हमें सरकार की अनुमति प्राप्त करनी होती है। यहा तक कि यदि एक पति-पत्नी एक दूसरे से पृथक् होना चाहें तो वह भी राज्य की स्वीकृति के बिना पृथक् नहीं हो सकते, पुनर्विवाह नहीं कर सकते। बहुत से राज्य बेरोजगार होने की दशा में अथवा बुढ़ापे में अपने नागरिकों को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। हमारे मरने तक की खबर सरकार को पहुंचानी पड़ती है। इस तरह हम देखते हैं कि राज्य बचपन से बुढ़ापे तक हमारा पीछा नहीं छोड़ता। वह हमारे समस्त जीवन पर छाया हुआ है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में हम रोज ही उसके सम्पर्क मे आते हैं।

सरकार के स्वरूपों की विभिन्नता

सरकार के उपर्युक्त या अन्य कार्यों को विभिन्न राष्ट्रीय, प्रान्तीय या स्थानीय सरकार सम्पन्न करती है। कई बार उनका स्वरूप लोकतन्त्रीय तथा कई बार अधिनायकतन्त्रीय होता है। कुछ राज्यों में राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की रक्षा, कुछ में उसका उद्देश्य राष्ट्र की रक्षा होता है। राज्य के कार्यों के बारे में भी पर्याप्त विभिन्नताएं पाई जाती हैं, जिनका हम यथास्थान वर्णन करेंगे।

राज्य के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

राज्य और सरकार राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का विषय है। एक

समाजशास्त्री की हैसियत से हमें संविधानों और सरकार के स्वरूपों तथा किस भांति राज्य अपने कार्यों को सम्पन्न करते हैं, इसमे दिलचस्पी नही। हम तो उसे एक विशिष्ट प्रकार की समिति समझते है और उसके समाजशास्त्रीय स्वरूप को पहचानने और सामाजिक व्यवस्था के अन्य भागो से उसके विशेष सम्बन्धो को बताने की कोशिश करते है। बडी-बडी समितियों या संस्थाओ ने पृथक् विज्ञानों को जन्म दिया हैं। समाजशास्त्र इनका स्थानापन्न नहीं बन सकता।

जटिल समाजों में राजनैतिक और आर्थिक संगठन की संस्थाएं सामाजिक बुनियाद का एक विस्तृत ढांचा बन जाती है। वह जटिलतम सम्बन्धों में प्रसार करती है और राष्ट्र और धर्म की सीमा को पार कर जाती है।

राज्य और समुदाय (Community)

वास्तव में राज्य भी अन्य समितियों (Associations) की भांति एक समिति है। यद्यपि हम साधारण भाषा में प्रायः इस शब्द का दुरुपयोग करते है। हम बहुत बार कहते हैं, भारत ने अमरीका से सन्धि की। इस भांति हम भारतवर्ष और अमरीका की समस्त जनता को मिला एक सार्वभौम साझेदारी की कल्पना करते हैं, जो कि भ्रान्त है।

यह सोचना गलत है कि राज्य वास्तव में हमारे अधिकांश समाजिक सम्बन्धों को नियन्त्रित करता है, और उसे वैधानिकतया उससे भी अधिक अंश को नियन्त्रित करने की सामार्थ्य है। यह भी कहा जाता है कि यदि वह स्वयं ऐसा नही करता, तो अन्य संस्थाएं उसकी इच्छानुरूप उसे सम्पन्न करती है। पर यदि यह भी मान लिया जाय, तब भी हम नियन्त्रक को नियन्त्रित से नही मिला सकते। एक सामाजिक प्राणी की हैसियत से हम नागरिक भर ही नही है। हम बहुत-से सम्बन्धों में शरीक होते है, हम बहुत-से सामाजिक कार्य करते हें, एक राज्य के सदस्य की हैसियत से नहीं, बल्कि एक सामाजिक प्राणी, एक प्रेमी, एक मित्र, एक परिवार, एक सम्प्रदाय, एक क्लब या अन्य वर्ग के सदस्य की हैसियत हे। अतः राज्य से समुदाय को मिलाना बहुत अनुचित है। आजकल तो अधिकांश संविधान राज्य की शक्तियों पर अंकुश लगा देते है; उसके लिए बहुत सी बातों का निषेध कर देते है।

अतः राज्य सामाजिक ढांचे का एक आवश्यक अंग है, सम्पूर्ण शरीर नही। यह समाज की एक सस्था है जिसके हाथ में अनेक विस्तृत और महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, फिर भी इसकी शक्तियां सीमित है। यह अन्य संस्थाओं का स्थान नही लेता और न ले सकता है। परिवार का अपना स्थान है, श्रम संघ का अपना स्थान है, विभिन्न समितियों का अपना स्थान है। राज्य को कहां तक और कैसे अन्य समितियों को नियन्त्रित करना चाहिए, यह एक विस्तृत प्रश्न है, जिसके उत्तर में बहुत मतभेद की गुंजाइश है।

सरल संस्कृतियों में सरकार

आज पाई जाने वाली आरण्यक जातियों में जो भौतिक विकास की ारम्भिक अवस्था में है, सरकार अति अरल और कठिनाई से नजर आती है। अण्डमान द्वीप वासी व टेराडेलफ्यूगो निवासी, बुशमैन और शोशोन इसी श्रेणी ों आते है। इनमें कोई विशेष गठित सरकार नही है, कोई निश्चित शासक, ुखिया या नेता नही है। विशेष जरूरत पड़ने पर यह एक अस्थाई• नेता चुन ेते है। उदाहरण के लिए, किसी का कत्ल हो जाने पर कत्ल होने वाले व्यक्ति का कोई निकट-सम्बन्धी बदला लेने वाले दल का नेतृत्व करता है, किन्तु वह काम समाप्त होते ही उसका नेतृत्व भी समाप्त हो जाता है।

नेतृत्व का तथ्य. इन समाजों में भी कुछ व्यक्ति निःसन्देह अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करते है। प्रागक्षर (Pre-literate) समाजों में बूढ़े प्रायः ऐतिहासिक वृत्तान्तों, पुराणों और धार्मिक ज्ञान के संरक्षक होते हैं। शिकार का लम्बा अनुभव उन्हें और भी प्रतिष्ठा प्रदान करता है। इसलिए महत्त्वपूर्ण मामलों में उनकी सलाह ली जाती है। उनका प्रभाव समुदाय में व्यवस्था और शान्ति कायम रखने का अच्छा साधन बन जाता है।

पुनरावृत्ति का तथ्य. बार-बार किसी एक ही काम को करने से किसी व्यक्ति, वर्ग या सम्प्रदाय के कामों में एक व्यवस्थितता आ जाती है। हमारी बुनियादी आवश्यकताएं, जैसे कि भूख और नीद दुहराई जाने वाली है। इसी प्रकार एक समुदाय द्वारा एक ही कार्य की पुनरावृत्ति द्वारा उसमें व्यवस्थितता आ जाती है।

इस तरह सरल संस्कृतियों मे नेतृत्व और पुनरावृत्ति व्यवस्था कायम रखने मे योग देतें है। यह कहा जा सकता है कि जहां नेतृत्व व्यवस्था कायम करता है वहां वह प्रतियोगिता की सृष्टि कर अशान्ति और अव्यवस्था को भी जन्म देता है। कुछ अंशों में यह ठीक भी है। फिर भी जब तक नेतृत्व और पुनरावृत्ति किसी समदाय में व्यवस्थित जीवन प्रदान करते हैं, तब तक उसे नि:सन्देह किसी सरकार की आवश्यकता नहीं होती।

सरल संस्कृतियों में सरकार की सीमित आवश्यकता के कारण

१. वर्ग का छोटा स्वरूप. शिकारियों या कन्द-मूल इकट्ठा करने वाले कबीलों की सदस्य-संख्या बहुत ही कम होती है। उसमें १५-२० से लेकर अधिकतम १५०-२०० व्यक्ति होते हैं। और फिर प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को जानता है। परिणामत: वर्ग की सामुदायिक चर्चा (Gossip) और जनमत (Public Opinion) सामाजिक दबाव के साधन के रूप मे प्राप्त होता है। वैयक्तिक सम्पर्कविहीन विशाल समुदाय में ऐसा नहीं हो पाता। एक बड़े शहर

के लिए तो सब नगरवासियों की सम्पति की देख-भाल करने के लिए पुलिस की व्यवस्था ही एक बड़ी समस्या है।

२. **विकृत (Abnormal) व्यक्तियों की अल्प-संख्या.** यद्यपि आदिम और सभ्य समाजों में अपराध और रोगों को प्रभावित करने वाले विकृत व्यक्तियों की ठीक-ठीक संख्या उपलब्ध नहीं है फिर भी इसमें संदेह नही कि सभ्य समाज उन्हें संरक्षण प्रदान करता है। शिकारी अवस्था मे एक कमजोर आंख वाला और मन्दधी व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता और फिर आदिम समाजों में विकृत व्यक्ति एक संकट या समस्या नही माने जाते। उनका धर्म उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करता है। एक मिरगी पीड़ित व्यक्ति को रक्षक माना जाता है। ओझा, पुरोहित, शमन ऐसे ही लोग बनते हैं। अन्ततः, जादू-टोना ऐसे व्यक्तियों के व्यवस्थापन में पर्याप्त सहयोग देता है।

३. **संस्कृति की अगतिशीलता.** आदिम समाजों मे सामाजिक संस्थाएं दीर्घकाल तक एक-सी ही अवस्था में रहती है। इसी कारण समुदाय के सदस्य शीघ्र ही अपने-अपने कर्तव्य सीख जाते है। इसी तरह एकतत्त्वीय (Homogenous) संस्कृति की सृष्टि होती है और सब लोगों के मत एक-दूसरे से मिलते है। इसके विपरीत, एक विभिन्नतत्त्वीय (Heterogenous) परिवर्तनशील संस्कृति में लोगों के विभिन्न मत और भले-बुरे के विभिन्न मापदण्ड होते है। परिणामतः, एक जटिल समाज में अपराधों को अधिक प्रोत्साहन मिलता है।

४. **सम्पत्ति का अभाव.** सभ्य समाजों में अधिकाश अपराध सम्पत्ति को लेकर होते हैं। सरल समाजों में सम्पत्ति की राशि बहुत कम होती है और वह भी समुदाय छोटा होने के कारण उसके सदस्यों को आपस मे ज्ञात होती है। ऐसी स्थिति में, विशेषकर जब कि व्यापार और यात्रा की सुविधाएं न हों, चोरी करना एक कठिन समस्या हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचना से हम यह धारणा नहीं बना सकते कि शिकारियों में दुराचरण या अपराध नहीं होते। वहां पर भी वे होते है, पर उनका विस्तार और क्षेत्र बहुत सीमित होता है। उदाहरण के लिए, वहां पर भी यौन-अनियमितताएँ होती है, दूसरों की बुराइयां होती है, रुचि और व्यक्तित्व की विभिन्नताओं के कारण झगड़े-फसाद होते है, धार्मिक नियमों का उल्लंघन होता है। अनुकूल परिस्थितियों के बावजूद शान्तिस्थापना की समस्या वहां भी उपस्थित होती है।

सरल संस्कृतियों में सामाजिक नियन्त्रण के साधन

१. **परिवार.** किसी समुदाय में शासन संस्था सदैव राज्य ही नहीं होती। हमारे युग में शासन की प्रमुख संस्थाएं अदालत और पुलिस के रूप में प्रकट होती

हैं । आरण्यकों में परिवार आचार-नियन्त्रण की जबर्दस्त संस्था थी जैसा कि कुछ अंशों में आज के सभ्य समाजों मे भी है । पारिवारिक शासन की शक्ति की सबसे बड़ी साक्षी पारिवारिक लड़ाइयां (Feuds) है । आरण्यकों में किसी परिवार के सदस्य से अपराध होने पर, आहत परिवार के सदस्यों का यह पुनीत कर्तव्य हो जाता था कि वह उसका बदला लें । अफ्रीका के कबीलों के अपवाद को छोड़कर अपराध का दण्ड देने की यह प्रथा लगभग समस्त आरण्यकों में प्रचलित थी । यहां तक कि योरोप और एशिया के विभिन्न देशों में यह अभी हाल तक कायम रही। भारत में भी अभी कुछ ऐसी उपजातियां है, जो अपने झगड़े बिना कानून की सहायता के अपने आप निपटाने में गौरव समझती हैं ।

२. **बिरादरी.** अनेक बार शासन का काम एक अर्ध-पारिवारिक संगठन के हाथों में होता है जिसे बिरादरी कहते है । बिरादरी के सदस्य कई गांवों में फैले हो सकते है। वह या तो रक्त सम्बन्ध से जुड़े होते हैं, या अपने को एक ही पूर्वज की संतान मानते है । बिरादरी का एक महत्त्वपूर्ण कार्य विवाहों का नियन्त्रण होता है । बिरादरी कई सामाजिक सेवाओं को भी प्रदान करती है । स्वभावत: शिकारी समाजों मे बिरादरी का संगठन बाद में विकसित हुआ ।

३. **विभिन्न समितियां.** परिवार और बिरादरी के अतिरिक्त, समवयस्कों, समलिंगियों, या विशिष्ट सदस्यों की गुप्त समितियां भी निम्न सरल संस्कृतियों में शासन का कार्य करती है । उदाहरणार्थ, उत्तरी न्यूगिनी के काई तामी, याबीम और बाकुआ कबीलों के कुछ आदमी एक ऐसे धार्मिक भ्रातृत्व में दीक्षित होते हैं जिसे वृषभनाद कहते है । इसका मुख्य कार्य स्त्रियों और अदीक्षित पुरुषों के आचार-व्यवहार पर अनुशासन करना होता है । गोड़ों के 'घोतुल' और नागाओं के 'भोरंगे' युवाओं के आचरण को नियंत्रित करते है । यह कहा जा सकता है कि निम्न शिकारी संस्कृतियों में विभिन्न संगठन अपराध को शान्त करते और अनुशासन कायम रखते हैं । परन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या उनके यहां आजकल की भाति कोई ऐसा पृथक् संगठन था जिसका मुख्य कार्य शासन करना था ? क्या उन संस्कृतियों में राज्य संस्था थी ? क्या राज्य सदा हमारे साथ रहा है ? अथवा यह एक सामाजिक आविष्कार है, जो आखेट युग के बाद हुआ है ? यदि यह सामाजिक आविष्कार है, तो इसका जन्म कैसे हुआ ?

राज्य की विशेषताएं

उपर्युक्त विवेचना में यह मान लिया गया है कि राज्य का मुख्य कार्य शांति और सुरक्षा कायम रखना और न्याय प्रदान करना है । कई बार यह युद्धों का संचालन करता है, मनोरंजन की व्यवस्था करता है, आर्थिक सहायता की व्यवस्था करता है । पर क्या राज्यों का कोई ऐसा भी कार्य है जो सब राज्यों

में समान है ? हम देख चुके है कि परिवार और बिरादरी भी शांति और व्यवस्था-स्थापन में योग देते हैं । पर राज्य और इन संस्थाओं में मुख्य अन्तर यही है कि इसका नियन्त्रण सर्वोपरि और सार्वभौम (Sovereign) है । राज्य की कल्पना में एक दूसरा विचार एक निश्चित भौगोलिक सीमा है, जिस तक इसकी सार्वभौमता विस्तृत है ।

राज्य एक ऐसा संगठन है, जिसके कुछ विशेष गुण हैं, विशेष यन्त्र है, विशेष शक्ति है, जो कि इसे अन्य संगठनों से पृथक् करती है । यह यन्त्र राजनैतिक कानून का यन्त्र है । इसके आदेश के साथ बिना शर्त बाध्यता जुड़ी हुई है । इसके आदेश, बिना किसी अपवाद के एक भौगोलिक क्षेत्र में लागू होते हैं । इसके नियमों को सबसे अधिक श्रेष्ठता प्रदान करनी पड़ती है । अतः इसके नियम उस क्षेत्र में लागू नहीं हो सकते जिस क्षेत्र में कि उसके सदस्य मतभेद का दावा रखते हों ।। राज्य का आधार शक्ति है, उसकी अपील की शक्ति सीमित है । अन्य समितियां, जिनके कि व्यक्ति स्वेच्छा से सदस्य बनते हैं, मतभेद की अवस्था में केवल समझाने-बुझाने का ही सहारा ले सकती है । यों तो राज्य भी अपने नागरिकों से अपील कर सकता है, प्रचार के समस्त साधनों को अपने हाथों में ले जनता को प्रभावित कर सकता है, पर उसकी अपील के पीछे भी बाध्यता और दण्ड का भय रहता है । अन्य समितियों के सदस्य समिति की नीति से असन्तुष्ट होने पर उसे छोड़ सकते है । समिति भंग या विभक्त हो सकती है, पर राज्य के सम्बन्ध मे ऐसी कोई बात नही घटती । पुराने जमाने मे राज्य की नीति से असंतुष्ट वर्ग पृथक् हो सकता था, किन्तु आज के केन्द्रित राज्य में यह असम्भव हो गया है ।

इस विवेचना से यह भी नतीजा निकलता है कि कुछ काम ऐसे है जो कि समस्त जनता के लिए समान महत्त्व रखते है, जिन्हें राज्य ही अच्छी तरह सम्पन्न कर सकता है । स्वतन्त्र समितियां विशिष्ट स्वार्थों और रुचियों की रक्षा के लिए उपयुक्त है, जब कि राज्य सामान्य कार्यों के लिए । यह सामान्य कार्य क्या हों, यह राज्य की परिस्थिति पर निर्भर है । कभी राज्य प्रभुता प्राप्त शोषक वर्ग की इच्छापूर्ति का साधन थे । परन्तु हाल में राज्य का नया पहलू कल्याण राज्य (Welfare State) के रूप में प्रकट हो रहा है ।

राज्य का उद्गम

मनोवैज्ञानिक और संस्थात्मक कारण. राज्य के उद्गम के विषय में अभी तक हमारा ज्ञान बहुत अधूरा है । कुछ विद्वानों के मत में कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्य तथा कुछ के मत में कुछ सामाजिक संस्थाएं इसके जन्म के लिए उत्तरदायी हैं । मोर्ले कहता है कि "राज्य उन अवस्थाओं की स्वीकृति है जो मानव में अन्तर्हित

सामाजिकता से उत्पन्न हुई और मानव सुविधा की सहज खोज में विकसित हुई है।"

रक्त सम्बन्ध. एक दूसरा लेखक वर्ग है जो कि मनोवैज्ञानिक तथ्यों की उपेक्षा तो नहीं करता पर संस्थाओं पर अधिक बल देता है। विल्सन इसी मत का प्रतिपादक है। उसके अनुसार "समस्त सभ्य जातियों में सरकार का इतिहास बहुत कुछ एक-सा ही होना चाहिए। यह पारिवारिक अनुशासन में शुरू हुई होगी।" और जहां तक ऐतिहासिक केन्द्रीय राज्यों के बारे में ज्ञात है उससे स्पष्ट है कि सरकार बिरादरी से शुरू हुई जिसकी मौलिक एकता का बन्धन वास्तविक और कल्पित रक्त सम्बन्ध ही था।

व्यक्तिगत सम्पत्ति. प्रसिद्ध लेखक कामन्स राज्य के उद्गम के सम्बन्ध में अन्य प्रवृत्तियों की ओर संकेत करता है। उसके शब्दों में "राज्य समाज की एक बाध्य करने वाली संस्था है। वह समाज पर लादी गई कोई आदर्श इकाई नहीं है, किन्तु ऐसे विभिन्न वर्गों के बीच हुए समझौतों का एक एकत्रित क्रम है, जिनमें से प्रत्येक ही व्यक्तिगत सम्पत्ति पर अपना नियन्त्रण चाहता है···राज्य व्यक्तिगत सम्पत्ति की सन्तान है।"

युद्ध और विजय. कामन्स से मिलता-जुलता ही गुम्पलोविज का मत है। उसका कहना है कि "राज्य कभी भी एक जाति या कई जातियों द्वारा मिलकर अन्य जाति के दासत्व बिना उत्पन्न नहीं हुआ।" वास्तव में यह कहना काफी हद तक ठीक मालूम होता है। एक वर्ग के अन्दर संकट उत्पन्न होने पर अनुशासन की कल्पना उद्भूत हो सकती है। वर्गों की भीषण प्रतियोगिता राज्य के उद्गम के अनुकूल है। बुशमैनों के उदाहरण से यह बात स्पष्ट की जा सकती है कि किस तरह वहा दासता शुरू होती है। हौटनटौट और काफिरों के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए वह संगठित होते है। युद्ध राज्य के उद्गम के अनुकूल स्थिति है ऐसा अनेक लेखकों का मत है।

युद्ध बाद की चीज. युद्ध पशुओं में एक सहजप्रेरित और सामान्य क्रिया है जब कि मनुष्य में यह एक संगठित क्रिया है, जिसे सीखने में समय लगता है। मैलिनोवस्की ने ठीक कहा है, "सब झगड़े-फसादों, टूटे दांतों और फूटी आंखों को युद्ध का नाम देना भ्रामक है। युद्ध शक्ति का संगठित उपयोग है। इस अर्थ में मानव समाजों में इसका प्रवेश और आविष्कार काफी देर में हुआ, ऐसा मानना होगा।

युद्ध का जन्म. विभिन्न वर्गों में लड़ाई युद्ध को जन्म देती है। बहुत बार इसकी शुरुआत बदला लेने से होती थी। पारिवारिक दुश्मनियां युद्ध का रूप धारण कर लेती थीं। कभी-कभी युद्ध बिना खूंखारी के भी सम्पन्न हो जाते थे।

सम्पत्ति के विकास ने युद्ध के अनुकूल स्थिति उत्पन्न की। यह भी सत्य है कि आक्रमण सदा सम्पति के लिए ही नहीं हुए। प्रारम्भिक अवस्था में जमीन का हथियाना युद्धों का उद्देश्य नहीं कहा जा सकता। कृषि के प्रारम्भ से ही भूमि एक मूल्यवान वस्तु समझी जाने लगी है।

राज्य का विकास

राज्यों का रेखांकित विकास (Linear Evolution) नहीं. प्राचीन काल से लेकर आज के राष्ट्रीय राज्यों तक किसी एक निश्चित पद्धति से राज्यों का विकास नहीं हुआ है। सामाजिक संस्थाएं किसी एक समान क्रम में नही बढ़ती। उदाहरण के लिए, रैड इंडियनों में कोई राज्य संस्था नहीं है, किन्तु अफ्रीकी कबीलों में, जा संस्कृति में उनसे ऊंचे नहीं है, सूक्ष्म राज्य संस्था है। १९वीं शती के शुरू में जुलुओं के विख्यात मुखिया चाका ने एक सुदृढ़ निरंकुश शासन खड़ा किया। पन्द्रह हजार आदमियों की सहायता से उसने अफ्रीका में जुलु को एक विशाल शक्ति बना दिया। इसी तरह अफ्रीका के युगाण्डा, शिलुक और बुशांगो आदि अन्य कबीलों में भी विस्तृत सरकारें हैं।

राज्यों से सम्बद्ध परिस्थितियों का बताना सम्भव. यद्यपि राज्य के विकास को नहीं ढूंढ़ा जा सकता, पर उन कारणों और परिस्थितियों का बताना सम्भव है जो कि राज्य की कल्पना से सम्बद्ध है। कई कारणों और परिस्थितियों की ओर हम राज्य के उद्‌गम की विवेचना करते समय संकेत कर चुके हैं। नेता, शिकारी दल, रक्षा-समितियां, सम्पत्ति, युद्ध, दासता, सामाजिक कार्य और वर्ग उनमे मुख्य थे। विभिन्न परिस्थितियों के विभिन्न मिश्रणों ने विभिन्न समाजों मे विभिन्न प्रकार की सरकारों को पैदा किया।

सामन्तशाही सरकार

धनी, शक्तिशाली कृषक का उत्कर्ष. सरकार की स्थापना में एक कारण समान संस्कृति वाले कृषकों के हाथों में शक्ति और सम्पत्ति की वृद्धि भी रहा है। यह स्वाभाविक था कि गुलामों, रैयत, अनुचरों और मजदूरों से युक्त कृषक उन पर किसी प्रकार की हकूमत चलाते। यही धनी लोग सरदार या सामन्त बन बैठे। उस युग में पुलिस का कोई प्रबन्ध नहीं था, लूट-मार, लड़ाई-झगड़े आम बात थी। एक सरदार दूसरे सरदार को हराकर उससे हरजाना वसूल करता था, जिसकी एक बड़ी राशि वह अपने सैनिकों पर खर्च कर देता था। एक समय मे भूमियों और अनुचरों के संगठन का कार्य सम्पन्न हो गया। धनी और लड़ाका कृषकों ने बड़े पैमाने पर सरकारों की स्थापना की।

भारत, चीन, एशिया और योरोप के मध्यकालीन इतिहास के छात्र इस से परिचित हे। यह एक रोचक तथ्य है कि सामन्तशाही पद्धति संसार के कुछ

प्रागक्षर लोगों में भी, जैसे कि पेरू, मेक्सिको, अफ्रीका और पौलीनेशिया के अनेक कबीलों में, पायी जाती है। जिन आराण्यकों में सम्पत्ति अच्छी तरह विकसित हुई वहां भी सामन्तवाद पाया जाता है, क्योंकि मुखिया को सदा वस्तुओं के रूप में कर की अदायगी की जाती है। सामन्तशाही व्यवस्था में धनिकों या कुलीनों और सामान्य जनता के बीच सदा एक श्रेणी विभाजन रहता है।

सामन्तवाद के क्षय के कारण. विभिन्न देशों में सामन्तवाद के क्षय के विभिन्न कारण थे। भारत में औद्योगीकरण का आगमन और प्रगति, लोकतन्त्र का विकास, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन समान्तवाद के ह्रास के मुख्य कारण है। विभिन्न बोली बोलने वाले कबीलों में एकीकरण एक धीमी प्रक्रिया थी। इस परिवर्तन में मुद्रा-व्यवस्था ने भी भाग लिया। मुद्रा के रूप में करों का संग्रह, सामान्तवादी व्यवस्था में विद्यमान फसल के हिस्से के संग्रह की तुलना मे बहुत सुगम था। उधर बारूद के आविष्कार ने संरक्षण के तरीकों को प्रभावित किया। यातायात के साधनों का विकास एक और महत्त्वपूर्ण कारण था जिसने शासन के विस्तृत क्षेत्र और शक्तिशाली वर्ग निर्मित किए। संस्कृति में स्वयं ही ऐसे विकास हुए जिन्होंने सामन्तवाद को विश्रृंखल कर दिया।

समान्तवाद का अध्ययन करते समय एक बात और ध्यान देने योग्य है कि स्थानीय शक्तिशालियों की प्रतियोगिता सदैव एक बड़े राजा को जो उन सबों पर राज्य कर सके, जन्म नही देती। कभी-कभी यह शक्तिशाली सरदार एक संघीय सरकार की स्थापना कर लेते है। उत्तरी-पूर्वी अमरीका के रैड इंडियनों ने विभिन्न कबीलों और राष्ट्रों का एक संघ स्थापित किया। आइसलैण्ड के आदि-वासियों ने भी ऐसा ही किया।

नगर राज्य

ऊपर हम जिन सरकारों की विवेचना [कर चुके है वह छोटे गांवो और कृषि-प्रदेशों से सम्बद्ध थीं। किन्तु प्राचीन समय मे कुछ बड़े शहर भी थे, जिनकी आस-पास की भूमि पर प्रभुता थी और जो नगर राज्य कहलाते थे। कुछ नगरों की शक्ति, विशेषकर जहां कि जल या थल यातायात पर्याप्त विकसित था, विशाल क्षेत्र पर विस्तृत थी। ऐथेन्स और रोम ऐसे ही नगर थे। जब कि इन नगरों द्वारा शासित प्रदेश बहुत विस्तृत होते थे, वह साम्राज्य कहलाते थे, जैसा कि रोम में हुआ। यह नगर प्रायः जलमार्गों पर विकसित हुए और व्यापार द्वारा समृद्ध हुए। इन नगरों में भूमि के रूप में उतनी सम्पत्ति नही थी जितनी कि वस्तुओं के रूप में। भूमि एक स्थायी सम्पत्ति है, अतः उसका वंशपरम्परा द्वारा संक्रमण सुगम है। जहां किले रक्षा के प्रधान साधन होते हैं वहां अनुचरों और सैनिकों को

भूमि द्वारा आजीविका प्राप्त करने में विशेष सुविधा होती थी। भूमिपतियों में वंशानुगत कुलीनता का जन्म इसका स्वाभाविक विकास था। किन्तु नगरों में जहां का आर्थिक जीवन अधिक अस्थिर था, वहां कृषि की तुलना में वंशानुक्रम सिद्धान्त कम सुरक्षित था। ग्रामीण इलाकों की तुलना में शहरों में परिवार और बिरादरी व्यवस्था कम महत्त्वपूर्ण थी और इसलिए भी वंशानुगत शासन कठिन था। इसके अतिरिक्त, नगर परिवर्तन से शीघ्र प्रभावित होते थे, विदेशी व्यापारी दूसरे देशों से नये-नये विचारों को यहां पर लाते थे। प्रारम्भ मे धनी लोग और लड़ाके नगर राज्यों में शासक बन गये, किन्तु धीरे-धीरे यहां पर नागरिकता का विचार भी विकसित होने लगा। नगर शासन को चलाने के लिए सम्पत्ति अधिकतर व्यापारियों और दस्तकारों से आती थी, यद्यपि नगर की सेनाएं और नौसेनाएं पास के इलाकों को जीत उनपर भी कर लगाती थीं। चूंकि धन नागरिकों के पास से आता था और नगर का भाग्य नागरिकों के भाग्य को निर्धारित करता था, अतः यह स्वाभाविक था कि नागरिक शासन-क्रिया में अधिकाधिक हिस्सा लें। इस तरह नगरों में लोकतन्त्र की शुरुआत हुई।

राजतंत्रों (Monarchies) का पतन : संसदों (Parliaments) की स्थापना

आधुनिक युग का मुख्य लक्षण निरंकुश राजतन्त्रों की समाप्ति और उनके स्थान पर सीमित राजतन्त्रों की स्थापना है। सम्राट्, बादशाह, जार और कैसर भूमि-अर्थव्यवस्था से सम्बद्ध थे। वह कृषि-प्रधान अवस्था अथवा पूंजीवाद की प्रारम्भिक अवस्था तक कायम रहे। बहुत बार, जैसा कि फ्रांस में हुआ, राजतन्त्र को क्रान्ति द्वारा समाप्त कर दिया गया और उनके स्थान पर बिना राजा के चुने हुए अधिकारी भी नियुक्त किये गये। बहुत बार, जैसा कि इंग्लैण्ड में हुआ राजा नाम को कायम रहे पर उनकी शक्तिया बहुत सीमित कर दी गईं। यह कार्य संसद् (पार्लियामेण्ट) की स्थापना से संभव हो सका। संसद् का राजस्व के साधनों पर नियन्त्रण होने के कारण राजा और उसका दरबार उस पर आश्रित हो गये। प्रारम्भ में राजा अपना राजस्व (Revenue) धनी सामन्तों, कृषकों और जागीरदारों से प्राप्त किया करते थे, किन्तु पूंजीवाद के आगमन से सम्पत्ति के नये साधन और धनिकों की नई श्रेणी सामने आयी। अब राजा की समस्या फसल का एक भाग पाना नहीं, प्रत्युत धन का एक भाग पाना हो गई। कर व्यवस्था विकसित हुई और उसके साथ संसदों का भी विकास हुआ। व्यापारी वर्ग के हाथों मे धनराशि आजाने के कारण राजा के लिए उन्हें कानून निर्माण में अधिकाधिक हिस्सा देना जरूरी हो गया। क्योंकि व्यापारी वर्ग अब राजा की शक्ति छीनने में समर्थ था।

प्रजातन्त्र

राजा की शक्ति समाप्त होते ही तत्काल प्रजातन्त्र स्थापित नहीं हो गये। प्राय: शक्ति उन लोगों के हाथों में चली गई जिनके पास सम्पत्ति थी। जनता अर्थात् समस्त वयस्क नागरिकों के पास, जिसमें अमीर, गरीब सभी सम्मिलित थे, यह शक्ति एकदम नहीं आई। यद्यपि कभी-कभी यह परिवर्तन सीधा भी हुआ। राजा के हाथ से शक्ति निकलते ही जनता के हाथों में चली गई। १७९३ में फ्रास की राज्यक्रान्ति के बाद ऐसा ही हुआ, यद्यपि साधारण जनता अपने हाथों मे शक्ति न रख सकी क्योंकि नैपोलियन ने अपने को राजा घोषित कर दिया। १८वीं शती के अन्त में यह विचार कि साधारण जनता कानून बनाये और शासन चलाये बहुत क्रान्तिकारी और असाधारण समझा जाता था। उस समय राजा अपने दैवीय अधिकारों की दुहाई देते और उसका दावा करते थे। उस समय की सरकार कुलीनतन्त्र पर आधारित थी। १६वें लुई और जहांगीर के दरबार उस समय की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

ऐथेन्स, स्पार्टा या भारत के गणराज्यों में राज्य की नीति को निर्धारित करने वाले नागरिकों की संख्या बहुत अल्प थी। प्लेटो, सुकरात, कौटिल्य और मनु राजतन्त्र के समर्थक थे। रोम में यद्यपि एक समय गणराज्य था पर लोकतन्त्र वहां ऐथेन्स से भी कमजोर था। इंग्लैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका में समस्त नागरिकों को मताधिकार प्राप्त करने में एक लम्बा समय लगा। भारत में १९०९ मे १ प्रतिशत से कम, १९१९ में ३ प्रतिशत, १९३५ के विधान में १४ प्रतिशत लोगो को मत देने का अधिकार था। १९५० में प्रथम बार भारत के समस्त वयस्क नागरिकों को मत देने का अधिकार प्राप्त हुआ। वर्तमान समय में विस्तृत शिक्षा और उच्चतर रहन-सहन के दर्जे से प्रजातन्त्र को बल और लोकप्रियता मिली है। पर बहुत-से पिछड़े देशों मे यह विस्तृत शिक्षा, उच्चतर रहन-सहन, और संघर्ष का परिणाम न होकर, केवल विधान-निर्माताओं की लेखनी के जोर से ही संभव हुआ है। भारतवर्ष इसका अच्छा उदाहरण है।

राज्य की आधुनिक समस्यायें

प्रजातन्त्र में जनमत का ह्रास

अब्राहम लिंकन ने प्रजातन्त्र की 'जनता का शासन, जनता द्वारा शासन, जनता के लिए शासन' कहकर व्याख्या की थी। प्रजातन्त्र की कल्पना के अनुसार प्रत्येक नागरिक राज्य के शासन मे, उसकी नीति निर्धारित करने में सक्रिय भाग लेता है। किन्तु प्रजातन्त्र की कल्पना और उसके व्यावहारिक स्वरूप में बड़ा अन्तर दिखाई देता है। प्रजातन्त्र ने बहुत-से देशों में समस्त बालिगों को मताधिकार अवश्य दिया है, किन्तु उनका राज्य के शासन में कुछ भी हाथ नहीं ह।

न तो अधिकांश लोगों के पास इतना समय है, न ही उन्हें इतनी रुचि है और न उन्हें इतना ज्ञान ही है कि वह आज के राज्य के शासनसूत्र को चला सके। एक छोटे गांव में तो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र चल सकता है, जहां कि थोड़ी जनसंख्या है, सरल समस्याएं हैं, लोगों के सोचने के एक-से तरीके है, वहां पर सब लोग एक स्थान पर एकत्रित होकर किसी मसले पर अपनी राय दे सकते हैं। किन्तु वर्तमान विकसित राज्य में यह सर्वथा असभव है।

कुछ देशों में जनता को कानून बनाने में हिस्सा देने के लिए तथा विधान-मण्डल (Legislatures) द्वारा बनाये कानून पर उनका नियन्त्रण रखने के लिए कुछ तरीके निकाले गये हैं। प्रस्ताव (Initiative) अर्थात् मतदाताओं को विधेयक उपस्थित करने का अधिकार तथा विधानमण्डल द्वारा पास किये गये विधेयक पर मतदान (Referendum) मतदाताओं की अन्तिम स्वीकृति या अस्वीकृति देने का अधिकार ऐसे ही कदम है। स्विटजरलैण्ड में यह रीति प्रचलित हैं। स्विटजरलैण्ड जैसे छोटे देश में तो यह कुछ संभव भी है, पर वहां भी इसकी विशेष उपादेयता नहीं है, क्योंकि अधिकांश मतदाता उनके सम्मुख रखे प्रश्नों में कोई दिलचस्पी नही लेते। प्रत्यक्ष कानून निर्माण के एक गंभीर गवेषक का यह कहना है कि मुश्किल से सौ मे से एक आदमी ऐसा होता है जो उन कानूनों को पढ़ता है जिन पर वह मत दे रहा है। यदि कानून जटिल होते है, जैसा कि प्रायः होता है, मतदाता उन्हे नही समझते और फिर मतदाता अपनी स्वतन्त्र विचार शक्ति का प्रयोग न कर बाहरी प्रचार, सुझाव और पटाने से बहुत प्रभावित होते हैं। इस तरह शक्ति जनता के हाथ में न रहकर उन लोगों के हाथ में रहती है जो अधिकाधिक प्रचार से उसे अपनी मुट्ठी में कर सकते हैं।

प्रायः जनता किसी कानून पर अपना मत नहीं देती, न ही वह आदेशों को कार्यान्वित करती है। वह इन कार्यों को संसद या विधानमण्डल मे अपने प्रतिनिधियों या कार्यकारी अधिकारियों को सुपुर्द कर देती है। यहां तक कि इन मामलों मे भी जनता की इच्छा नही जानी जाती। निर्वाचन उन व्यक्तियो द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है जो कि उस समय पद पर आसीन हों न कि जनता द्वारा। ऐसे बहुत-से तरीके है जिनसे निर्वाचन नियन्त्रित किए जा सकते है। यद्यपि मतदाता लाखों-करोडों होते है, किन्तु शक्ति कुछ लोगों के हाथ मे ही जाती है। शुम्पीटर ने ठीक ही कहा है, "आज का प्रजातन्त्र वैकल्पिक नेतृत्व के चुनाव के अतिरिक्त कुछ नही है। मतदाता एक निश्चित अवधि के बाद एक नेतृत्व से असन्तुष्ट हो उसे हटा सकते हैं पर एक बार एक नेतृत्व को चुन लेने पर वास्तविक शक्ति नेतृत्व के हाथों में ही चली जाती है।"

आज के जटिल समाज में यह सर्वथा स्वाभाविक है। यद्यपि प्रजातन्त्र आज

नागरिकों को स्वयं अपने नियम बनाने और शासन चलाने का अधिकार नहीं देता, तथापि वह उसे निकम्मे शासकों को बर्खास्त करने का अधिकार देता है। अतः आज का प्रजातन्त्र इस दृष्टि से अधिनायकतन्त्र की तुलना में अवश्य श्रेष्ठ है।

हमारे चुनावों की कमियां

हमारे चुनावों में बहुत बार वोटों को खरीदा जाता है; प्रचार-साधनों और अखबारों की सहायता से मतदाताओं को प्रायः गुमराह किया जाता है और उन पर पानी की तरह रुपया बहाया जाता है; वास्तविक तथ्यों और समस्याओं को ताक पर रख लोगों की भावनाएं भड़काई जाती हैं; पार्टी हाई कमाण्डों द्वारा ऐसे लोगों को मनोनीत किया जाता है, जो बहुत बार जनता के वास्तविक प्रतिनिधि नहीं होते, किन्तु किसी दल विशेष का सदस्य होने के ही कारण तथा अन्य कोई विकल्प न होने के कारण, मजबूरी में उन्हें उसे वोट देना पड़ता है। उसके अतिरिक्त भारत के प्रथम महान् चुनाव मे सकीर्ण जाति भावना (Caste feeling) का पूरा-पूरा प्रयोग किया गया है।

मतदाताओं की उदासीनता. हमारे चुनावों की सबसे बडी कमी चुनावो के प्रति सामान्य जनता की उदासीनता है। चुनाव तो कुल दिये गये मतों के आधार पर ही होते हैं। परन्तु बहुत बार $\frac{3}{5}$ मतदाता भी अपना वोट नही देते और इस प्रकार $\frac{3}{5}$ से भी कम मतदाता $\frac{4}{5}$ मतदाताओं की इच्छा को कुचल सकते है। भारत के प्रथम सामान्य चुनाव मे भी हमे यह बात दिखाई देती है। कुछ भागो मे तो २०' प्रतिशत मतदाताओं ने भी वोट नही दिये। इस तरह अल्पसंख्यक वोटों से ही कुछ लोग जनता के प्रतिनिधि चुन लिये गए।

लोग वोट क्यों नहीं देते ?

मतदाताओं के एक बड़े भाग का मताधिकार का प्रयोग न करना सच्चे प्रजातन्त्र के विकास में एक बड़ी बाधा है। लोगों के वोट न देने में जबर्दस्ती रुकावट एक गौण कारण है। वोट न देने का सबसे प्रधान कारण उसके मूल्य और उपयोगिता में लोगों का सन्देह है। बहुत-से लोग सोचते है कि एक वोट से क्या होगा, सारे उम्मीदवार या दल चोर है, क्यों व्यर्थ मे अपना समय बर्बाद कर अपनी मजदूरी या कुछ समय की आय खोई जाय। सामान्यतः स्त्रियां घर को ही अपना क्षेत्र समझने तथा राजनैतिक बातों से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण बहुत कम मताधिकार का प्रयोग करती है। सामान्य जनता भी राजनैतिक समस्याओं को नही समझती, उम्मीदवार की योग्यता और चरित्र से परिचित नही होती और न ही उन्हें जानने में समय लगाती है। वैदेशिक नीति, कर प्रस्ताव, उद्योगो का संरक्षण आदि ऐसे पेचीदे मसले है जिन पर एक साधारण नागरिक अपना मत नहीं दे सकता। प्रायः जनता इन मसलों पर मत देते हुए अपनी शक्ति का बुद्धिमत्ता

से प्रयोग नहीं करती। किन्तु बावजूद इसके, सरल और अति महत्त्वपूर्ण मसलों पर उनकी शक्ति प्रभावक और निर्णायक होती है। इस तरह शासन पर उनका अन्तिम अंकुश होता है।

प्रजातन्त्र और स्वार्थी वर्ग

प्रजातन्त्र का उद्देश्य धनिकों या कुलीनों के हाथ से शक्ति छीनकर सामान्य जनता को उसे प्रदान कर देना था। एकतत्त्वीय समाज में, जहां एक ही वर्ग के लोग थे तथा जहाँ शासन की समस्याएं बहुत सरल थीं, प्रजातन्त्र आराम से चला।

समाज परिवर्तनशील है, पूंजीवादी और औद्योगीकरण के विकास ने समाज में विचित्र विभिन्नतत्त्वीयता उत्पन्न कर दी है। आज केवल किसानों और व्यापारियों का ही वर्ग नहीं है, उद्योगपति और मजदूर हैं, जमींदार और किसान हैं, बौद्धिक वर्ग और यातायात साधनों के स्वामी वर्ग हैं, विभिन्न प्रान्तों, जातियों, धर्मों, भाषाओं और संस्कृतियों के लोग एक प्रजातन्त्र के सदस्य है। उनकी न समान शिक्षा है, न समान रिवाज है, न समान धारणाएं है। उनके बीच भीषण मतभेद होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त, सरकार द्वारा विचारणीय प्रश्नों की सूची बराबर बढ़ती जा रही है और वह प्रश्न ऐसे नहीं जिन्हें कि एक चौपाल में बैठकर हल किया जा सके। इन्हीं कारणों से प्रजातन्त्र का काम करना बहुत कठिन हो गया है।

प्रारम्भ में विभिन्नतत्त्वीयता (Heterogeneity) मुख्यतः भौगोलिक थी। भौगोलिक निर्वाचन क्षेत्रों का निर्माण कर उसे हल करने की कोशिश की जाती थी। किन्तु आजकल विभिन्नतत्त्वीयता पेशों—आर्थिक धन्धों पर आधारित है। यह नये सामाजिक वर्ग स्थान विशेषों में केन्द्रित न हो, सब जगह फैले हुए है; और इन सामाजिक वर्गों के स्वार्थ भिन्न-भिन्न और बहुत बार परस्पर विरोधी भी होते है।

वास्तव में आजकल प्रजातन्त्रों में विभिन्न दल जनता के नाम पर विशिष्ट स्वार्थों के लिए सरकार चलाते है। जूट पर ड्यूटी लगने पर, चीनी का दाम घटाने पर, कपड़े का नियन्त्रण करने पर, खाद्यान्न का आयात नियन्त्रित करने पर, मजदूरी बढ़ाने पर विभिन्न वर्गों में विभिन्न प्रतिक्रिया होती है और ऐसी स्थिति में विभिन्न वर्ग अपने स्वार्थ के पक्ष में सरकार पर दबाव डालने की कोशिश करते हैं। अमरीका आदि देशों में लाबिंग द्वारा स्वार्थी वर्ग विधानमण्डल की गैलरी में सदस्यों को प्रभावित करके यह कार्य सम्पन्न करते है। यह ठीक है कि स्वार्थी वर्ग सरकार पर अपने पक्ष में दबाव डालते हैं पर कोई भी स्वार्थी वर्ग समस्त वर्गों के विरुद्ध सदा सरकार को नियन्त्रित नहीं कर सकता।

सरकार के कार्य

सरकार के नियन्त्रण की समस्या ही आज राजनीति की प्रमुख समस्या नहीं है। आज यह प्रश्न भी अत्यधिक महत्त्व का है कि सरकार को क्या-क्या कार्य करने चाहिए। अल्पतम हस्तक्षेप नीति के हिमायतियों का कहना है कि जो सरकार जितना कम शासन करती है वह उतनी ही श्रेष्ठ है। उनके अनुसार न्याय, सुरक्षा तथा कुछ अन्य कार्य ही राज्य के मुख्य कार्य हैं। मध्य काल में सरकार प्रायः निरंकुश शासन से सम्बद्ध थी। अतः यह स्वाभाविक था कि लोग सरकार के हाथ में अधिक शक्ति देते हुए डरें। उधर उदीयमान उद्योगपति भी यह चाहते थे कि राज्य आर्थिक और अन्य मामलों मे कम-से-कम दखल दे।

इसमें संदेह नही कि शांति और व्यवस्था की स्थापना राज्य का विशिष्ट कार्य है। राज्य ही एक ऐसी संस्था है जिसका कानून उसकी सीमा में रहने वाले सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होता है और जिसके पालन के लिए सबको बाध्य किया जा सकता है। अतः वह ही सुचारु रूप से शांति व्यवस्था स्थापित कर सकती है। इसके अतिरिक्त, माप, तोल, गुण और मूल्यों के मान, रहन-सहन का कम-से-कम दर्जा, विभिन्न संस्थाओं और समितियों के अधिकार क्षेत्र को निर्धारित कर सकने वाली भी एकमात्र संस्था राज्य है।

राज्य केवल व्यवस्था कायम कर ही संतुष्ट नहीं हो जाता। फिर निरंकुश और प्रजातन्त्र की व्यवस्था स्थापना में भी सदैव अन्तर होता है। शांति व्यवस्था में व्यवस्थापकों की प्रतिष्ठा और पद का भी प्रभाव होता है। इसके अतिरिक्त वह विभिन्न अवसरों पर उपयुक्त समझे जाने वाले व्यवहार पर भी आधारित होती है। इसके अन्दर सदैव कोई न कोई न्याय का सिद्धान्त निहित रहता है। केवल कानून के सम्मुख समानता द्वारा नागरिकों के अधिकारों को संरक्षित नहीं किया जा सकता। अनातोले फ्रांस ने ठीक ही लिखा है "अपनी शान में समानता गरीब-अमीर दोनों को सड़कों पर सोने और भीख मांगने का निषेध करती है।" वास्तव मे किसी राज्य की व्यवस्था बहुत कुछ वहां की सम्पत्ति-पद्धति पर निर्भर होती है। साम्पत्तिक अधिकार प्रकृति द्वारा निर्धारित नहीं होते। अतः उनकी व्याख्या करने के लिए किसी अधिकारी की जरूरत पड़ती है।

सरकार के उपयुक्त कार्य

वैसे तो उन कार्यों की, जिन्हें सरकार सुचारु रूप से सम्पन्न कर सकती है, सूची तैयार करना असंभव है; फिर भी कुछ कार्य ऐसे है जिनके लिए सरकार विशेष रूप से उपयुक्त है। व्यक्ति दीर्घकालीन दृष्टि नहीं रखते, उनके स्वार्थ अनेक बार सार्वजनिक हित की उपेक्षा कर बैठते है। उदाहरण के लिए, प्राकृतिक साधनों, जंगलों, खनिज पदार्थों और पशु धन का संरक्षण ऐसी ही समस्याए हैं।

जहां व्यक्तिगत प्रतियोगिता या एकाधिकार सामाजिक हित को हानि पहुंचाते हैं वहां पर सरकार का हस्तक्षेप उचित हो जाता है। जनता की शिक्षा भी ऐसा विषय है जिसका सार्वजनिक कल्याण से सम्बन्ध है। अतः बेहतर है कि राज्य उसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले और उसे संकीर्ण स्वार्थों से पृथक् करे। ऐसे ही सामाजिक नीति निर्धारित करने के लिए भी यह जरूरी है कि जनसंख्या आदि महत्त्वपूर्ण तथ्यों और आंकड़ों का संग्रह वह करे। जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं कि इस बात की कोई पूर्व-निर्धारित सीमा नही है कि राज्य क्या करे और क्या न करे।

सरकार के अनुपयुक्त कार्य

राज्य के अन्दर विद्यमान विभिन्न समितियां इस बात की साक्षी हैं कि राज्य अपने नागरिकों की अनन्त आवश्यकताओं, रुचियों और खब्तों को पूरा नहीं कर सकता। राज्य समस्त समुदाय की संस्था है। अतः यह बेहतर है कि वह उन्हीं बातों को अपने नियन्त्रण में ले जिन पर सामान्यतः नागरिकों में एकमत पाया जाता है तथा जिनका सार्वजनिक महत्त्व है। परन्तु धर्म, साहित्य, कला, वैज्ञानिक विवेचना, व्यक्तिगत रुचियां कुछ ऐसे ही विषय है जिन पर राज्य का नियंत्रण अनुचित है। निःसंदेह विश्वास, कला, साहित्य, संस्कृति सरकार से प्रभावित होते है, किन्तु इससे इनकार नही किया जा सकता कि इनकी जीवनशक्ति और प्रेरणा का स्रोत जनता में निहित है, जो राज्य की निर्धारण शक्ति के परे है।

सरकार की कार्यक्षमता

विशेषकर पिछले पचास सालों मे सरकार का कार्य-क्षेत्र बराबर बढ़ता जा रहा है। बहुत-से व्यक्तियों को इसमें कोई मौलिक आपत्ति नही है, पर उनका मुख्य संदेह सरकार के कार्यों को बढाने मे सरकारी कार्य-क्षमता का है। भारत में ही विद्यमान सरकारी कर्मचारियों में फैली हुई रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार आराम-तलबी और फिजूलखर्ची की प्रवृत्तियों को देखते हुए यह बहुत कुछ स्वाभाविक भी है। कुछ व्यक्तियों का यह भी कहना है कि सरकारी कर्मचारी अपना निजी कार्य या लाभ न होने के कारण सरकारी काम को उतनी मेहनत या लगन से नहीं करते जितना कि वह किसी निजी कार्य को करते है। सरकारी सेवा में जाते ही उनकी कार्य-प्रेरणा मारी जाती है।

इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि सब जगह और सब समय सरकारी सेवाओं में ऐसा नहीं होता। शिक्षा, जनमत और दण्ड की सहायता से बहुत कुछ कार्य-क्षमता को उन्नत किया जा सकता है। हम देखते है कि इग्लैंड और रूस में सरकारी कर्मचारियों की कार्य-क्षमता व्यक्तिगत कर्मचारियों से किसी कद्र कम नहीं कही जा सकती। फिर सरकार के सभी विभाग आज भी एक-सी

कार्य-क्षमता प्रदर्शित नहीं कर रहे है। बहुत बार सरकारी उद्योगों का संगठन बहुत ि ष्ठ होता है। भारत मे ही पोस्टल विभाग का संचालन बहुत संतोषजनक है। ो क्या कारण है कि हम अन्य कार्यो में भी ऐसी ही कार्य-क्षमता प्राप्त नहीं कर ाकते ?

प्राज के युग में राज्य का अधिकाधिक उत्तरदायित्व अनिवार्य

१९वीं सदी की अल्पतम हस्तक्षेप नीति द्वारा पोषित अर्थव्यवस्था ने ार्थिक जीवन में भीषण अव्यवस्था की सृष्टि की। मन्दियां, बेकारी, सम्पत्ति की ार्बादी, विनाशकारी प्रतियोगिता इसका अभिन्न अंग हो गये। जनता को रोजगार ने, राष्ट्र की उत्पादन और वितरण प्रणाली को ठीक करने के लिए, राज्य का स्तक्षेप ही नही, प्रत्युत आर्थिक जीवन का आयोजन आवश्यक हो गया है। इन समस्याओं को व्यक्तिगत प्रयत्नों से सुलझाना आज असम्भव प्रतीत होता है। आर्थिक जीवन मे सामंजस्य और एकीकरण स्थापित करने के लिए यह अवश्यक हो गया है कि राज्य की सार्वजनिक संस्था ही इस कार्य को अपने कंधे पर ले। इस तरह हम देखते है कि राज्य का उत्तरदायित्व दिन पर दिन अनिवार्यतः बढ़ता जारहा है।

सरकार और सामाजिक परिवर्तन

वर्तमान जटिल जगत् में अनन्त कार्यो में संलग्न सरकार मे प्रजातन्त्र का संचालन सुगम नही है। सामाजिक परिवर्तन का तथ्य भी इससे जुड़ा हुआ है। वास्तव में प्रजातन्त्र का संगठन उस अवस्था के अनुकूल है जहां सरल समस्याएं हों और जनता को शिक्षित करने का पर्याप्त समय हो। किन्तु प्रजातन्त्रीय व्यवस्थायें उस संकट अवस्था के अनुकूल नहीं है जहा कि शीघ्र निर्णय की आवश्यकता होती है। युद्ध और आजकल की आर्थिक मन्दियां ऐसे ही संकट है। ऐसी स्थिति मे हमें कार्यकारिणी को विस्तृत अधिकार देने पड़ते हैं। भारत के संविधान मे भी संकट काल मे राष्ट्रपति को विस्तृत अधिकार प्रदान किए गए है। युद्ध और मन्दी एक असाधारण अवस्था है। ऐसे अवसर पर शीघ्र कार्यवाही का बड़ा महत्त्व है। शीघ्र परिवर्तनशील समाज मे बहुत-सी समस्याएं एक संकट का रूप धारण कर उपस्थित होती है : प्रजातन्त्र की मशीन कम गतिशील समाज के लिए अधिक उपयुक्त है। यदि इसकी रफ्तार को तेज परिवर्तनों के अनुरूप न ढाला गया, तो कोई आश्चर्य नही कि उसकी जगह कोई दूसरी मशीन अपनानी पड़े। अधिनायकों (Dictators) की गति निर्विवाद रूप से विधान मण्डलों से तेज होती है।

सर्वेसर्वा राज्य (Totalitarian States)

फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद प्रजातन्त्र के स्वरूप में अनेक परिवर्तन हुए हैं। परिवर्तनशील जगत् में प्रजातन्त्र में परिवर्तन स्वाभाविक बात है। हाल ही में,

विशेषतः प्रथम महायुद्ध के बाद, एक नई प्रकार की सरकार का उद्‌भव हुआ है जिसे कि सर्वेसर्वा राज्य कहते हैं। युद्ध के बाद अनेक देशों में, विशेषतः पराजित राष्ट्रों में, भीषण बेकारी फैल गई। प्रजातन्त्रीय सरकारें विद्यमान संकट का मुकाबिला.करने में असमर्थ रहीं। ऐसे समय जनता मुक्तिदाता अधिनायकों की ओर आकर्षित हुई। जर्मनी में प्रजातन्त्रीय तरीके से ही सर्वेसर्वा सरकार की स्थापना हुई। वहां अल्प समय में सर्वेसर्वा सरकार ने युद्धयन्त्र का निर्माण किया। रूस में सर्वेसर्वा सरकार ने अपनी पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा दस सालों में असाधारण उद्योगीकरण को सम्पन्न किया। सर्वेसर्वा राज्य की सफलताएं उस पर विचार करने के लिए मजबूर करती है। वास्तव में सर्वेसर्वा राज्य प्रजातन्त्र के लिए जबर्दस्त चुनौती है।

सर्वेसर्वा राज्य, जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट है, प्रत्येक कार्य में सर्वोपरि होता है। उसके कार्य बहुमुखी होते है; उसका नियन्त्रण सार्वभौम होता है। जहां तक वस्तुओं के उत्पादन का सम्बन्ध है, उसकी अवस्था बहुत कुछ राज्य-समाजवाद से मिलती-जुलती है। निम्न अन्य विशेषताएं भी उसमे हो सकती है: (१) विधान-मण्डल की बर्खास्तगी, (२) शासक द्वारा अधिनायकतन्त्रीय शक्ति (Dictatorial Powers) का ग्रहण करना, (३) मतदाताओं द्वारा मताधिकार का अल्प प्रयोग, (४) व्यक्तिगत स्वाधीनता पर पर्याप्त पाबन्दियां।

संकटकालीन उपादेयता. यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि संकट-काल में यह विशेषताएं प्रजातन्त्रीय राज्यों में भी दिखाई देती है। प्रजातन्त्रीय देशों के राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री संकटकाल में अधिनायकतन्त्रीय शक्तियां ग्रहण कर लेते हैं। प्रायः उन देशों का संविधान भी उन्हें इस बात की छूट देता है। भारत के संविधान में भी संकटकाल में राष्ट्रपति को विस्तृत अधिकार प्रदान किए गये है। ऐसी स्थिति में विधानमण्डलों की शक्ति बहुत सीमित हो जाती है। दलगत भावना बहुत दब जाती है। चुनाव प्रायः स्थगित हो जाते है। सरकार अनेक नये कार्यों को अपने हाथों में ले लेती है। निःसंदेह संकटकालीन अवस्था सर्वेसर्वा राज्य के बहुत अनुकूल है। युद्ध की तैयारी मे व्यस्त राज्य, सर्वेसर्वावाद की ओर अग्रसर होते हैं। सर्वेसर्वा राज्य को युद्धकालीन राज्य कहा जा सकता है।

अब प्रश्न यह है कि युद्ध की आशंका या योजनाएं शांत और समाप्त होने पर क्या सर्वेसर्वा राज्य पुनः प्रजातन्त्र की ओर अग्रसर होंगे? इस सम्बंध मे हम यही कह सकते है कि उन देशों में जहां प्रजातंत्र की परम्परा नहीं है, निःसन्देह सर्वेसर्वा राज्य की अवधि पर्याप्त लम्बी रहेगी। किसी चीज के कायम रहने में अभ्यास का बड़ा हाथ होता है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि दीर्घकाल तक सर्वेसर्वा सरकार के अभ्यस्त नागरिक आसानी से उसे छोड़ना पसंद न करे।

१९२० से पहले राज्यों का रुख प्रजातंत्र की ओर था। निरंकुश सरकारें समाप्त होकर प्रजातन्त्रीय सरकारें कायम हो रही थी। क्या सर्वेसर्वा सरकारों के वर्तमान उद्भव नें उस प्रवृत्ति को बदल दिया है, अथवा यह एक अस्थायी व्यतिक्रम है ?

दिन पर दिन यह स्पष्ट होता जा रहा है कि द्रुत गति से परिवर्तनशील और परस्पर अति निर्भर राज्य में विशुद्ध प्रजातन्त्र का संचालन असम्भव है, राज्य के कर्त्तव्यों का बढ़ना स्वाभाविक है। अतः हम कह सकते है कि सर्वेसर्वा राज्य की समाप्ति के बादभी, सर्वेसर्वा राज्य द्वारा अपनायी हुई बहुत सी चीजे बहुत समय तक चलती रहेगी। उदाहरण के लिए, उत्पादन, वितरण, संचय, विनियोग, आयात-निर्यात पर नियन्त्रण तथा अन्य ऐसे ही विषय, जिन पर कि तत्काल निर्णय आवश्यक है, नई प्रजातन्त्रीय सरकारों को भी अपने हाथ में लेने पड़ेगे तथा वह सर्वेसर्वा सरकार के ढांचे को पूर्णतः विनष्ट नहीं करेंगी।

स्वाधीनता बनाम संगठन

प्रजातन्त्र और सर्वेसर्वावाद की बहस को हम स्वधीनता बनाम संगठन का झगड़ा कह सकते है। आज की पेचीदा आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याएं संगठन द्वारा ही सुलझाई जा सकती है। किसी चीज का संगठन करने मे स्वाधीनता को अवश्य कुछ सीमित करना पड़ता है। आज की जटिल सामाजिक समस्याएं संगठन द्वारा ही सुलझाई जा सकती है। इनमें से मुख्य समस्याएं आर्थिक और औद्योगिक है। आज की सरकार के सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि उसका उद्योग के साथ क्या सम्बन्ध हो। ऐसे प्रश्न बहुत कुछ संकटकालीन बन गये है। इनको तत्काल सुलझाना आवश्यक है। इन्हें स्थगित करना बहुत खतरनाक सिद्ध हो सकता है।

राज्य का भविष्य

शुरू से लेकर आज तक राज्य-संस्था में बराबर परिवर्तन होते आ रहे हैं। राजतन्त्र के स्थान पर सर्वेसर्वा राज्यों का उद्भव हो रहा है। इस परिवर्तन और विकास में एक बात स्पष्ट दिखाई दे रही है कि सरकार की सत्ता का, चाहे कोई भी स्वरूप क्यों न रहे, पर उसके उत्तरदायित्व और कार्य निरंतर बढ़ते जा रहे हैं।

प्रसिद्ध साम्यवादी कार्ल मार्क्स का विचार था कि कम-से-कम साम्यवादी समाज में राज्य अन्ततोगत्वा विलुप्त हो जाएगा। आज के समाजवादी राज्यों पर यदि दृष्टि डालें, तो प्रकट होगा कि कहां ऐसे कोई आसार नजर नही आते। इसके विपरीत, राज्य की शक्ति बराबर सुदृढ़ और प्रबल होती जा रही है; हमारे आर्थिक, सामाजिक और नैतिक जीवन में राज्य का अधिकाधिक प्रवेश होता प्रतीत

होता है।

राज्य संस्था पर युद्ध के साधनों का भी जबर्दस्त प्रभाव होता है। जब तक बन्दूक या पिस्तौल लड़ाई के मुख्य साधन थे तब तक जन क्रांतियां बहुत सुगम थी। बन्दूक और पिस्तौलधारियों की संख्या बहुत कुछ संघर्ष का निर्णय करती थी। किन्तु आज के जल-थल-आकाश युद्ध के नये साधनों ने जनक्रांति की सम्भावनाओं को एक अंश में समाप्त कर दिया है। आधुनिक शस्त्रों का अधिकार राज्य सत्ता प्राप्त व्यक्तियों को असाधारण अन्याय की शक्ति प्रदान करता है और अल्पसंख्यक समुदाय को अपना शासन कायम रखने में समर्थ बनाता है।

राज्य और बृहत् समाज

राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध. अभी तक हमने राज्यों की सीमा में उसके परिवर्तनों और कार्यों का अध्ययन किया है। हमें यह न भूलना चाहिए कि समाज का बृहत् क्षेत्र राज्य की सीमा के बाहर भी फैला हुआ है। कोई एक राज्य सभ्यता के साम्राज्य को नहीं घेरता। निःसंदेह राज्यों के आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध उन्हें निरन्तर निकट ला रहे है और वर्तमान सभ्यता एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की मांग करती है। राज्यों की व्यक्तिगत संधियों और समझौतो द्वारा यह कार्य कुछ अंशों में सम्पन्न होता है, किन्तु दूसरी ओर प्रलयंकर युद्धों ने एक महान् संकट उत्पन्न कर दिया है। राज्य की सीमा के अन्दर शक्ति का प्रयोग संरक्षण का आश्वासन है, साथ ही समुदाय द्वारा नियन्त्रित भी है। किन्तु राज्य की सीमा के बाहर, इसका बिलकुल दूसरा अर्थ है। बिना अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व और संरक्षण के यह भीषण विनाश की सृष्टि करता है। परिणामतः, इस विरोधाभास का सामना करना पड़ता है: राज्य राष्ट्रीय दृष्टि से सामाजिक सुरक्षा का महायंत्र है; अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से वह सुरक्षा के लिए एक महान संकट है।

आर्थिक और सामाजिक परस्पर निर्भरता के बढ़ने के साथ-साथ यह समस्या अपनी परिधि और उग्रता में बराबर बढती जा रही है। इसने विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय-सुरक्षा की योजनाओं को हमारे सम्मुख रखा है। इसका एक तरीका विभिन्न राज्यों के बीच मैत्री-सम्बन्ध की स्थापना है। वर्तमान पश्चिमी संघ, जिसमें पश्चिम योरोप के समस्त प्रमुख राज्य सम्मिलित है, एक ऐसा ही संगठन है। ब्रिटिश कामनवैल्थ का संगठन, पैसिफिक ब्लाक का प्रस्ताव, सोवियट ब्लाक, ऐसी ही योजनाएं है। विभिन्न ब्लाकों का उद्देश्य शक्तिसंतुलन स्थापित करना, अपनी प्रभुता के क्षेत्र को विस्तृत करना होता है। शांति स्थापना के लिए विरोधी ब्लाकों का निर्माण सही कदम नही कहा जा सकता। यह केवल विभिन्न पृथक् राज्यों के छोटे-छोटे युद्धों के स्थान पर कई सम्मिलित राज्यों के एक महान् युद्ध के आवाहन का अग्रदूत है।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विभिन्न राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के रूप में बृहत् समाज की ओर बढ़ने का एक नया प्रयत्न किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य कार्य विभिन्न राज्यों के झगड़ों को शांतिपूर्वक निपटाना है। राष्ट्रसंघ के कोई भी निर्णय तीन बड़े राष्ट्रों के, जिन्हें निषेधाधिकार (Right of Veto) प्राप्त है, एकमत हुए बिना नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति बड़े राष्ट्रों के बीच के झगड़े निपटाने में अभी असमर्थ है। इसके अतिरिक्त, दक्षिणी अफ्रीका, काश्मीर, कोरिया के झगड़ों को निपटाने में भी संयुक्त राष्ट्र संघ को विशेष सफलता नहीं मिली है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के न होने से, कुछ कमियों वाली एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का होना उपयोगी है।

सत्रहवां अध्याय

क्रीड़ा, मनोरंजन और शिक्षा

RECREATION, AMUSEMENT AND EDUCATION

क्रीड़ा का कार्य और महत्व

क्रीड़ा एक मानवसुलभ सहज प्रवृत्ति है। बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक यह विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है। क्रीड़ा की इस प्रवृत्ति को परितृप्त करने के लिए बालक, युवा और वृद्ध, स्त्री और पुरुष विभिन्न प्रकार के क्रीड़ा समूहों, साधनों और संस्थाओं का आश्रय लेत है।

क्रीड़ा समूह एक प्रारम्भिक समूह है। आनन्द, उद्दीपन, उत्तेजना, मनोरंजन इसकी क्रियाओं की विशेषताएं है। क्रीड़ा मे मनुष्य अपने दैनिक कार्यों की तुलना में अधिक शक्ति का व्यय कर सकते है और उसकी समाप्ति पर एक अद्भुत तृप्ति और आनन्द का अनुभव कर सकते है। क्रीडा में समय व्यतीत होता पता नहीं चलता। क्रीड़ा में मनुष्य सबसे अधिक तन्मय और निश्चिन्त होता है। इस समय उसके व्यवितत्व के दबे हुए गुणों को सरलता से उद्दीप्त किया जा सकता है।

क्रीड़ा-समूह, कार्य-समूह का पूरक है। क्रीड़ा व्यक्तित्व के प्रकाश को संतुलन प्रदान करती है। काम के घंटे कम हो जाने पर क्रीड़ा ही व्यक्तित्व की आवश्यकताओं को पूरा करती है। यदि संसार अधिकाधिक अवकाश की ओर अग्रसर हो रहा है, तो हमें उसकी शून्यता, उसके निठल्लेपन को भरने के लिए क्रीड़ा की और भी अधिक आवश्यकता होगी, अन्यथा खाली व्यक्तियों के व्यक्तित्वों के विशृंखल होने का संकट सदैव समारे सम्मुख उपस्थित रहेगा।

अवकाश के समय व्यक्तित्वों के निर्माण और सामुदायिक जीवन की समृद्धि में क्रीड़ा का वही महत्त्व है, जो कि व्यस्त समय में धर्म,' शिक्षा, स्वास्थ्य और कार्य का है। क्रीड़ा को इतना ऊंचा स्थान देने का एक और भी कारण है। क्रीड़ा कार्य का स्थानपन्न बन सकती है; यह जीवन में स्फूर्ति लाती है ; व्यक्तित्व के विकास में सहायता करती है ; समूह में अनुशासन और साहस कायम रखती है ; लोगों में उत्साह की वृद्धि करती है और उन्हें मिलकर सामूहिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दे सकती है।

पारिवारिक जीवन, पेशेगत कार्य और क्रीड़ा, यह तीनों ही तत्त्व व्यक्तित्व के विकास के लिए अपेक्षित है। जैसे-जैसे यान्त्रिक आविष्कारों और सामाजिक

विधानों के परिणामस्वरूप अवकाश की अवधि बढ़ती जा रही है, क्रीड़ा को जीवन के एक महत्वपूर्ण अंग और क्रिया के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। इस प्रकार दैनिक कार्य की समस्याओं की तुलना में अवकाश की समस्याएं अधिक वेग से बढ़ रही है।

यों तो मनोरंजन ने सदैव ही मनुष्य का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है, पर आज तो स्वास्थ्य, कार्यकुशलता और सामाजिक व्यवहार को दृष्टि में रख जीवन की योजना में इसे एक प्रमुख स्थान प्रदान किया जा चुका ह। क्रीड़ा के प्रति आज यह अभिरुचि इतनी अधिक बढ़ चुकी है कि आज मनुष्य के समय, शक्ति और सम्पत्ति का बड़ा अंश मनोरंजन पर व्यय हो रहा है।

क्रीड़ा-समूह एक प्रारम्भिक समूह है, जिसमें बच्चे की प्रारम्भिकतम धारणाएं विकसित होती हैं। इसका जन्म प्रायः परिवार में होता है, जो कि स्वयं ही एक प्रारम्भिक समूह है। पड़ौस के बच्चे या परिवार में रहने वाले अन्य बच्चे ही एक व्यक्ति का सबसे प्रारम्भिक क्रीड़ा-समूह होते हैं। सामान्य परिस्थितियों में बाल्यावस्था और किशोरावस्था की प्रधान पृष्ठभूमि क्रीड़ा-समूह का जीवन है। यद्यपि क्रीडा-सम्बन्धी धारणाएं सारे जीवन भर सामान्य ही रहती हैं।

क्रीड़ा समूह का महत्त्व उसकी प्रसन्नता-प्रदायक प्रकृति में निहित है। यह रोचक उद्दीपनों से परिपूर्ण है। यह सजीव है। एक क्रीड़ा समूह आनन्ददायक वातावरण, उद्दीपक घटनाओं और क्रिया के परिवर्तित दृश्यों का एक आदर्श समन्वय है। इसमें व्यक्ति साधारणतया अपने से बड़ों के साथ भाग न लेकर, अपने बराबर वालों, अथवा ऐसे व्यक्तियों के साथ, जो उससे बराबर वालों जैसा ही व्यवहार कर रहे हों, भाग लेता है। क्रीड़ा बन्धुत्व प्रदान करती है।

क्रीड़ा और मनोरंजन का इतिहास मानव जाति के बराबर ही पुराना है। सरल आरण्यक समुदायों से लेकर आज के जटिल औद्योगिक समाज में यह निरन्तर विद्यमान रहे है। यद्यपि विभिन्न कालों, विभिन्न देशों और विभिन्न जातियों में इसके विभिन्न प्रकार रहे है, फिर भी क्रीड़ा के मूल तत्त्व बेतकल्लुफी, समानता, सक्रियता, उद्दीपन, वैचित्र्य, आदर्शों और धारणाओं के निर्माण और परिवर्तन का कार्य, सदैव ही उपस्थित रहे हैं।

क्रीड़ा के प्रति विभिन्न धारणाएं

विभिन्न समाजों और एक ही समाज में विभिन्न कालों में क्रीड़ा के प्रति पृथक्-पृथक् धारणाएं रही हैं। आरण्यक संस्कृतियों के लोगों ने कार्य और क्रीड़ा को पृथक् करके नहीं देखा। ग्रीक लोगों में प्रतियोगिता, एक-दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ की भावना ने क्रीड़ा को लोकप्रिय बनाया।

हमारे देश में युद्ध विद्या के अतिरिक्त, विभिन्न प्रकार के खेलों में दक्षता

प्राप्त करना विशेष रूप से क्षत्रियों का धर्म समझा जाता था। मध्यकाल में वैराग्य-वाद के उदय ने क्रीड़ा के प्रति उच्च वर्गों में उपेक्षा की भावना पैदा करने का प्रयत्न किया। फिर भी सामान्यतः क्रीड़ा हमारी सामान्य जनता के जीवन का सभी कालों में एक अभिन्न अंग रही और उसे उन्होंने कभी भी निन्दनीय नहीं समझा। इसका एक और भी कारण था कि हमारे यहां खेल-कूद, नृत्य-गान, अभिनय और नाटक आदि क्रीड़ा और मनोरंजन के साधन धार्मिक उत्सवों से घनिष्ठतया सम्बन्धित रहे हैं। परिणामतः, धार्मिक उत्सव क्रीड़ा की सहजप्रवृत्ति की सुन्दर और स्वाभाविक अभिव्यक्ति के उपयुक्त अवसर बन गए हैं। वर्तमान काल में हमारे ऊपर पाश्चात्य संस्कृति के प्रबल प्रभाव के होते हुए भी, गांव में क्रीड़ा का धार्मिक रूप अभी तक विद्यमान है। नगरों में अवश्य क्रीड़ा के पाश्चात्य ऐहिक-साधन दिन-प्रतिदिन लोकप्रिय होते जा रहे हैं।

क्रीड़ा के सिद्धांत

विद्वानों ने क्रीड़ा के उद्गम के विभिन्न कारण प्रस्तुत किए हैं।

१. **अतिरिक्त शक्ति.** इस सम्बन्ध में उन्नसीवीं शती के अन्त मे हर्बर्ट स्पेन्सर ने अतिरिक्त शक्ति (Surplus Energy) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार ज्यों ही बच्चे में अतिरिक्त शक्ति का संचार होता है, वह खेलने लगता है। यह सिद्धान्त सर्कस मे काम करने वाली उस लड़की पर लागू नही होता जो भभकते पैट्रोल के कुएं मे कूद, थककर अपने प्राण दे देती है। हर्बर्ट स्पेन्सर का सिद्धान्त क्रीड़ा के एक अंश को ही समझा सकता है।

२. **पुनरावृत्ति.** जान फिस्के ने क्रीड़ा के पुनरावृत्ति (Recapitulation) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार बच्चा क्रीड़ा में मानव विकास की एक के बाद एक सीढी शीघ्रता से पार करता चला जाता है। जानवरों को सताने या दल बनाकर लड़ने से लेकर वह सुनियंत्रित सामाजिक क्रीड़ा की ओर अग्रसर होता है। यह सिद्धान्त भी अपूर्ण है और क्रीड़ा के केवल एक पक्ष की ही व्याख्या करता है।

३. **सहज प्रेरित शिक्षण.** ग्रूस के अनुसार क्रीड़ा जीवन के लिए एक सहज प्रेरित तैयारी है। एक बिल्ली का एक लकड़ी के टुकड़े के साथ खेलना उसे चूहे पकड़ने की शिक्षा देता है और एक बच्चे का खेल उसे वस्तुएं बनाने और जुटाने की शिक्षा प्रदान करता है। एक नन्ही लड़की का अपनी गुड़िया से खेल उसे मातृत्व के लिए तैयार करता है। इसमे बहुत कुछ सत्य है। इसके अतिरिक्त, क्रीड़ा अनुशासन और नियमपालन के प्रति सम्मान पैदा करती है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि क्रीड़ा जीवन के लिए तैयारी ही नहीं, वरन् उत्कृष्ट जीवन के लिए तैयारी है। यह सिद्धान्त भी सब प्रकार की क्रीड़ाओं की व्याख्या करने में

असमर्थ है।

४. व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति. जान ड्यूई ने क्रीड़ा को व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति कहा है। क्रीड़ा और कार्य का अन्तर केवल समय का है। क्रीड़ा में साध्य और साधन सीधे संयुक्त होते हैं। अतः क्रीड़ा में आकर्षण प्रत्यक्ष होता है।

निष्कर्ष. उपर्युक्त कोई भी सिद्धान्त अपने आप में पूर्ण नहीं है, किन्तु प्रत्येक में ही कुछ सत्य का अंश निहित है। क्रीड़ा की सम्पूर्ण व्याख्या में हमें इन सभी सिद्धान्तों के सही तत्त्वों को नए तत्त्वों के साथ सम्मिलित करना होगा। क्रीड़ा की व्याख्या के लिए विस्तृत और संतुलित सिद्धान्त की आवश्यकता है।

क्रीड़ा में उन सब क्रियाओं का समावेश है, जो कि बिना किसी पुरस्कार के प्रलोभन के केवल स्वान्तःसुखाय सम्पन्न की जाती है। उनका उद्दीपन उनमें स्वयं अन्तर्हित है। बच्चों को खेल खिलाने के लिए पुरस्कारों की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब हम क्रीड़ा का लक्ष्य पुरस्कारों को रख देते हैं, तो खेल का उद्देश्य वस्तुगत हो जाता है और क्रीड़ा स्वयं एक कार्य बन जाती है।

अवकाश के उपयोग में मुनाफावृत्ति

आधुनिक युग में मुनाफाखोर व्यापारियों ने मनुष्य की मनोरंजन प्रवृत्ति का पूरा फायदा उठाया है। आज करोड़ों रुपया इस कार्य में व्यय किया जा रहा है। थियेटर, सिनेमा, सर्कस, क्रिकेट, फुटबाल, नृत्य, गान प्रभृति क्रीड़ाएं आज मुनाफाखोर व्यापारियों के हाथ में चली गई है।

हमने केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए, मनुष्य को मनोरंजन प्रवृत्ति के शोषण के लिए ही नही छोड़ दिया है, बल्कि स्वार्थी संचालकों को अपने इस व्यापार में सैकड़ों हजारों व्यक्तियों को लगाकर उनके नैतिक स्तर को नीचे गिराने, उनकी कला का दुरुपयोग करने और उनके श्रमका शोषण करने की भी स्वतन्त्रता प्रदान की है। इस अनियंत्रित व्यक्तिवादी व्यवस्था में हम व्यक्तित्व के विकास और सामाजिक कल्याण की क्या आशा कर सकते है ?

पिछले तीस सालों से हमारे अवकाश व मनोरंजन पर पूंजीपतियों का आधिपत्य दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है। जनता की गाढ़ी कमाई के करोड़ों रुपए प्रतिवर्ष उनकी जेबों में जा रहे है। मनुष्य की क्रीड़ा प्रवृत्ति का प्रयोग सार्वजनिक कल्याण या व्यक्तित्व के निर्माण में न होकर, रुपया बनाने में हो रहा है। सर्वत्र मनोरंजन के सस्ते और निम्न साधन जुटाए जा रहे है। जनता की क्रीड़ा प्रवृत्ति को अश्लील और भडकीले विज्ञापनों द्वारा तथा सनसनीपूर्ण मनोरंजन जुटाकर तृप्त किया जा रहा है। लोग भी थोड़े-से पैसे खर्च कर यहां पर इतनी उत्तेजना पाते हैं कि एक बार उसका मजा चख उन्हें उनका चस्का पड़ जाता है।

सिनेमा

शहरों और कस्बों मे सिनेमा आज मनोरंजन का प्रमुख साधन बन चुका है। दिन प्रतिदिन इसके प्रति जनता की अभिरुचि बढ़ती जा रही है। इसके प्रभाव का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता जा सकता है कि क्या गलियों के अवारा बच्चे, और क्या भद्र परिवारों के शिक्षित बच्चे, सभी को ही आप कोई-न-कोई सिनेमा का नवीनतम, गाना गुनगुनाते पायेंगे। कलिजों और क्लबों में विद्यार्थियों और सभ्य सदस्यों की चर्चा का विषय भी मुख्यतया सिनेमा उनके अभिनेता और अभिनेत्रियां ही होते है। सिनेमा सम्बन्धी पत्रिकाओं का प्रचार भी खूब बढ़ता जा रहा है।

भारत में आज ६० स्टूडियो है जहां प्रतिवर्ष लगभग २७५ चित्रों का निर्माण होता है। ३,२५० सिनेमाहाल हैं, जहां लगभग ६० से ७५ करोड़ व्यक्ति प्रतिवर्ष फिल्म देखते है। संसार के फिल्म उत्पादन में आज भारतवर्ष का दूसरा स्थान है। सिनेमा उद्योग में हमारा लगभग ४० करोड़ रुपया लगा हुआ है और लगभग ७० हजार व्यक्ति संलग्न है। संघ और राज्य सरकारों को सिनेमा के मनोरंजन-कर से प्रायः ५½ करोड़ रुपये प्रतिवर्ष की आय होती है। उसे काटकर सिनेमा उद्योग को लगभग २० करोड़ वार्षिक आय होती है।

सिनेमा की लोकप्रियता के कारण. विभिन्न व्यक्तियों द्वारा सिनेमा की लोकप्रियता के अनेक कारण उसस्थित किए गये है जिनमें से प्रमुख यह है:

(१) इसमें दिखलाई जाने वाली वस्तु की अपरिचितता का आकर्षण प्रबल है। (२) इसमें समय की कोई पाबन्दी नहीं है, जो जब चाहे जाकर बैठ सकता और उठकर चला आ सकता है। (३) इसके लिए किसी बात के प्रति किसी विशेष दृष्टिकोण और विश्वास की आवश्यकता नहीं पड़ती। यहां तक कि किसी भाषा तक का ज्ञान अनिवार्य नही होता। (४) यह हमारी भावनाओं को अपील करता है। चाहे वह बच्चों के प्रति प्रीति हो, घर के प्रति आकर्षण हो, झंडे के प्रति आदर हो, साहस की प्रशंसा हो, या प्रेम के लिए बलिदान हो, यह सब हमारी भावनाओं को उद्वेलित करते है। सिनेमा में इन भावनाओं को कई बार सुन्दरता से, तो अनेक बार भद्देपन से प्रस्तुत किया जाता है; कई बार हमारी कामुकता की भावनाओं को उभारने का प्रयत्न किया जाता है। (५) सामान्य जनता के लिए यह एक सस्ता और सुलभ मनोरंजन का साधन है, जहां कि वह अकेले अथवा मित्रों या बच्चों के साथ सरलता से जा सकती है।

जैसे-जैसे सिनेमा की टैकनीक उन्नत होती जा रही है, उसका प्रभाव और अपील भी बढ़ती जा रही है। वास्तविक ध्वनि और टेक्नीकलर और सिनेमास्कोप चित्रों ने तो सिनेमा की सजीवता और यथार्थता में असाधारण वृद्धि कर दी है।

संसार की शायद ही कोई ऐसी घटना हो जिसे कि आज यथार्थ रूप में सिनेमा के पर्दे पर नही दिखाया जा सकता। इसके अतिरिक्त, उदाहरणार्थ, वाल्ट डिज्ने के व्यंग चित्रों ने सिनेमा को एक नई दिशा दिखाई है। यह चित्र यथार्थवादी चित्रों से भी अधिक तृप्ति प्रदान करते हैं, क्योंकि यह दर्शक को जीवन की कठोर वास्तविकताओ से दूर भागने, और अपने को विस्मृत करने में सहायता प्रदान करते हैं।

सिनेमा-नियन्त्रण की आवश्यकता. सिनेमा अप्रत्यक्ष सुझाव (Indirect suggestion) का जबर्दस्त हथियार है। पूंजीवादी देशों में पैसा कमाने और तानाशाही देशों में प्रचार के लिए इसका बड़े पैमाने पर प्रयोग हुआ है। सिनेमा एक ऐसा शक्तिशाली हथियार है जिसका रचनात्मक और विनाशात्मक दोनों उद्देश्यों के लिए प्रयोग किया जा सकता है। रचनात्मक या सृजनात्मक प्रवृत्तियां सौहार्द, क्रीड़ा, कला, नैतिकता, सौन्दर्य और सामाजिकता को मजबूत करती है। इसके विपरीत, विनाशात्मक या पतित प्रवृत्तियां घृणा, सस्ते मनोरंजन, अनैतिकता अश्लीलता और समाज विरोधी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती हैं। ऐसी स्थिति में कोई भी उत्तरदायी सरकार सिनेमा जैसे प्रभावशाली साधन को स्वतन्त्र नहीं छोड़ सकती। सिनेमा जैसे अत्यन्त लोकप्रिय मनोरंजन का नियन्त्रण अनिवार्य प्रतीत होता है। इसीलिए प्रत्येक प्रजातान्त्रिक सभ्य राष्ट्र भी आज सिनेमा के सेन्सर की पद्धति को अपना रहा है। इसके विपरीत, तानाशाही राज्यों ने आर्थिक व्यवस्था और शिक्षा के साथ सिनेमा को भी पूर्णरूपेण अपनी नीति को प्रचारित करने का साधन बना लिया है।

एक प्रसिद्ध लेखक के शब्दों में हम अपने देश की स्थिति को इस तरह व्यक्त कर सकते है : "हम आज मनोरंजन के नाम पर संसार की प्रत्येक अनैतिकता को खुले आम अपने बच्चों के सम्मुख प्रदर्शित कर रहे है। अपराध को मनोरंजन के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है। चित्र एक सजीव और सम्पूर्ण कहानी होती है, जिसे कि वास्तविकता की तुलना में समझना सौ गुणा सुगम होता है...एक दुराचारी के जीवन को एक घंटा आकर्षक रूप से प्रस्तुत करने के बाद एक मिनिट के लिए यह कह देना कि यह भूल है, ऐसे प्रदर्शन को क्षम्य नहीं बना सकता।"

आज हमारे यहां अच्छे-बुरे सभी प्रकार के चित्र बनाए जा रहे है। पर इनमें सस्ते और निम्न स्तर के चित्रों का अनुपात ही अधिक है। इनमें से अधिकांश तथाकथित मनोरंजक चित्रों में किसी लड़के-लड़की की कहानी, आठ-दस सस्ते, भद्दे गाने और भोंड़े नाच अथवा मद्यपान और मारकाट, या बेहूदे तरीके से दिखाई गई पौराणिक या धार्मिक गाथाएं होती है। इस प्रकार सिनेमा प्रदर्शक सामान्य अर्धशिक्षित जनता की वासनात्मक व आक्रमणात्मक अपराधवृत्ति अथवा धार्मिक भावनाओं का पूरा-पूरा दुरुपयोग करते हैं।

एक प्रमुख चलचित्र निर्माता के अनुसार सबसे अधिक दर्शकों को आकर्षित करने वाले चित्र वह हैं जो कि एक किशोर के मानसिक स्तर को व्यक्त करते हैं। सामान्य चित्रों का यही बौद्धिक स्तर होता है। वे निर्माता जो कि उच्च कलात्मक या शिक्षात्मक महत्त्व और मूल्य के चित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं, बहुत ही थोड़े दर्शकों को आकर्षित कर पाते हैं। यही कारण है कि 'खिड़की' या 'बहार' जैसे सस्ते चित्र जहां एक-एक शहर में साल-भर चल जाते हैं, वहां 'डा० कोटनिस' 'छोटा भाई' 'जागृति' 'विराज बहू' जैसे सुन्दर चित्रों का एक सप्ताह चलना भी कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में अच्छे चित्रों का निर्माण जिनमें अल्प-लाभ या आर्थिक हानि की पूरी सम्भावना हो सर्वथा असम्भव है।

इन सब बातों को देखते हुए हमें नैतिकता विरोधी गन्दे चित्रों के उत्पादन और प्रदर्शन की रोकथाम युक्तिसंगत प्रतीत होती है। पर इस सम्बन्ध में दो प्रश्न विचारणीय हैं: (१) चित्रों का नियन्त्रण उनके उत्पादन से पहले हो या बाद में और (२) क्या सरकार को चित्रों के निर्माण को स्वयं संचालित करना चाहिए। वास्तव मे नियन्त्रण की समस्या बड़ी ही जटिल है, इसका सरल उत्तर देना बडा ही कठिन है। गन्दे चित्रों की रोक और अच्छे चित्रों का प्रोत्साहन आवश्यक है, पर साथ ही चित्रो के निर्माण की स्वाधीनता तथा सामाजिक प्रश्नों पर विरोधी मत प्रकाशन की स्वतन्त्रता भी महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार एक अच्छा नियन्त्रण राजकीय आदेशानुसार निर्मित चित्रों से भिन्न वस्तु है।

अवकाश के नये उपयोग

मनुष्य ने बहुत कम अवकाश से अपनी यात्रा प्रारम्भ की। दासता और सामन्त-के युग मे समाज के एक वर्ग के भाग्य मे समस्त अवकाश और दूसरे वर्ग के भाग्य में समस्त कार्य आ पड़ा। दैनिक श्रम से राहत पाने का एक मात्र मार्ग निष्क्रियता मद्यपान या नीचे दर्जे का नाच-गान था। आज से डेढ सौ वर्ष पहले वाष्प-शक्ति के विकास ने फैक्टरी-व्यवस्था को जन्म दिया। उच्च वर्ग को अत्यधिक अवकाश और श्रमिक वर्ग को पुनः अल्प-अवकाश था; किन्तु मशीनों के अधिकाधिक प्रसार, श्रमिक के संगठन और सरकारी व सामाजिक कानूनों ने, श्रमिकों के काम करने के घण्टों में पर्याप्त कमी कर दी और उनके अवकाश मे बहुत वृद्धि कर दी। आधुनिक आविष्कारकों का तो यहां तक कहना है कि वह दिन अधिक दूर नहीं जब कि मनुष्य को अपनी समस्त प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए चार घण्टा प्रति दिन से अधिक काम नहीं करना पड़ेगा।

आधुनिक नगर ने सामाजिक स्थिति में एक विराट् परिवर्तन उपस्थित कर दिया है। पहले तो बच्चे अपने गांवों में पहाड़ी, चरागाहों, खेतों, बाड़ों में पर्याप्त खेल-कूद कर सकते थे, पर आजकल के शहरों में भीषण स्थानाभाव के कारण यह

असम्भव हो गया है और क्रीड़ा के कृत्रिम और अल्प स्थानीय साधन ही हमारे पास रह गये हैं । संयुक्त परिवार विघटन और व्यक्तिवादी भावना के विकास ने अपरिपक्व अवस्था के किशोर युवक-युवतियों को स्वतन्त्र जीविका-अर्जन, और परिणामतः अपनी इच्छानुसार अपनी आय को उड़ाने की सुविधाएं प्रदान कर दी हैं ।

आधुनिक सामाजिक व्यवस्था का झुकाव अधिकाधिक अवकाश की ओर है । आज का युग सप्ताह में कम-से-कम एक छुट्टी तो अवश्य प्रदान करता है । आठ घण्टे कार्य, आठ घण्टे विश्राम और आठ घण्टे अवकाश के आदर्श के निकट तो हम अभी पहुंच रहे हैं । इस भांति अवकाश के उचित उपयोग की समस्याएं हमारे लिए अधिकालिक गम्भीर होती जा रही हैं ।

अवकाश की समस्या जीवन के एक तिहाई समय की समस्या है । अवकाशके घण्टे कार्य के घण्टों के बराबर महत्त्वपूर्ण बनते जा रहे हैं । बल्कि एक अर्थ मे यह उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि कार्य के समय में तो किसी-न-किसी प्रकार की नियमितता और समानता रहती ही है, किन्तु अवकाश के घण्टों मे पर्याप्त अव्यवस्था और समय की बर्बादी हो सकती है । यह समस्या तब और भी विकट रूप धारण कर लेती है जब कि हम व्यापारिक स्वार्थों को जनता के अवकाश-समय को, निजी लाभ-अर्जन का साधन बनाने, उनमे उत्तेजना उत्पन्न करने, उन्हें अयोग्य और नशीला बनाने तथा उनकी बचत को बटोरने में तत्पर पाते है ।

अवकाश का अर्थ कार्य की थकान से मुक्ति और ताजगी अथवा बुरी आदतों का चस्का, शरीर या मन की स्फूर्ति अथवा आत्मनाश दोनों ही हो सकते है । भारत मे ही छत्तीस करोड़ व्यक्तियो के अवकाश का समुचित नियन्त्रण आज एक महान् राष्ट्रीय समस्या बन गया है ।

क्या हमारा अवकाश व्यापारिक स्वार्थों द्वारा हड़प लिया जायेगा या अवकाश का समाज के हित मे उपयोग हो सकेगा ? दूसरे शब्दों में, हमारे अवकाश का व्यापारीकरण होगा अथवा समाजीकरण ? व्यक्तित्व के समुचित विकास और सामाजिक कल्याण की वृद्धि के लिए अवकाश-नियन्त्रण की आवश्यकता आज सभी समझदार व्यक्ति स्वीकार करते हैं ।

अवकाश को व्यापारी के हाथों मे छोड़ जनता के धन और चरित्र को नष्ट करने का साधन बनाया जा सकता है; अथवा यों ही बर्बाद होने, आवारागर्दी करने, फालतू गप्पे मारने और बैठकर दिल बहला का अवसर बनाया जा जकता है; अथवा सामुदायिक क्रीड़ा और स्वस्थ मनोरंजन में व्यतीत किया जा सकता है । सामाजिक हित और व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास के लिए हमारे लिए अवकाश के अन्तिम उद्देश्य को ही अपनाना उचित होगा ।

अवकाश के सामाजिक उपयोग

अवकाश के सामाजिक उपयोग के औचित्य को आज लगभग स्वीकार किया जा चुका है। विभिन्न देशों में इस सम्बन्ध में विभिन्न उत्तम योजनायें प्रस्तुत और कार्यान्वित की जा चुकी हैं। भारत जैसे देश में भी अवकाश के सामाजिक उपयोग की एक व्यावहारिक योजना बनाने की परम आवश्यकता है। जैकोस्लोवाकिया का सामुदायिक-परिकल्पना-आन्दोलन (Community Project Movement) और अमरीका का क्रीड़ाक्षेत्र आन्दोलन (Playground Movement) इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है।

क्रीड़ा क्षेत्र आन्दोलन. अमरीका के क्रीड़ा क्षेत्र आन्दोलन को सात अवस्थाओं में बाटा जा सकता है। प्रथम अवस्था, बालू के बगीचे से शुरू होती है जिसमें बच्चों के लिए एक बक्स और बालू के ढेर की व्यवस्था होती है। दूसरी अवस्था में, प्रति दस हजार व्यक्तियों पर एक आदर्श-क्षेत्र का निर्माण होता है। तीसरी अवस्था, कुछ थोड़े लोगों के लिए सैर करने, बैठने और कुछ खेल जुटाने की है। चौथी अवस्था, प्रदर्शनों और व्याख्यानों के लिए सार्वजनिक स्कूल हालों के निर्माण द्वारा मनोरंजन केन्द्र की स्थापना है। पाचवीं अवस्था, नागरिक कला और कल्याण की है जिसमे सौदर्यात्मक पहलुओं और जन-चेतना पर बल दिया जाता है। छठी अवस्था पड़ौसी-संगठन की है जिसमें पड़ौसी विस्तृत और सक्रिय भाग लेकर एक ठोस चेतना विकसित करते है। सातवीं अवस्था, सामुदायिक सेवा की है जिसमें आपत्काल में जनता की सेवा का समावेश है।

भारतवर्ष में भी इस लाइन पर एक राष्ट्रीय क्रीड़ा योजना बनाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त, जनता को क्रीड़ा के सिद्धान्तों की शिक्षा, संघ, राज्य, जिला, कस्बा और ग्राम क्रीडा-समितियों का निर्माण, गृह मनोरजन का विकास, छोटे बच्चों और बड़ों के लिए क्रीड़ा-क्षेत्रों का विस्तार, मुनाफे के लिए चलाये जानेवाले मनोरंजनों का नियन्त्रण, निरीक्षण और दमन, सामुदायिक या सहकारी क्रीड़ा को प्रोत्साहन, एक अच्छी अवकाश-उपयोग योजना के अंग होने चाहिएं।

अवकाश-समस्याओं के प्रख्यात लेखक लिण्डमैन ने आधुनिक अवकाश से स्वस्थ शरीरों और व्यक्तित्वों के गठन, सामान्य कार्यकुशलता की वृद्धि, कलाओं में योगदान, प्रकृति के परिचय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में सामान्य ज्ञान, मनन, और सामूहिक अनुभव, इन सात आवश्यकताओं की पूर्ति की आशा की है।

शिक्षण-समितियां

शिक्षा की परिभाषा कार्य, रूप और महत्व

प्रत्येक समाज अपने सदस्यों से एक विशिष्ट व्यवहार और आचार की आशा

करता है। इसके सीखने और सिखाने के लिए वह विभिन्न विशेष व सामान्य साधन प्रस्तुत करता है। परिवार, पेशेगत समितियां, धार्मिक क्रीड़ा संस्थाएं और सामान्य शिक्षा संस्थाएं इसी प्रकार की संस्थायें है। वह प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा नहीं देतीं। परोक्षरूप से सुझाव दे वह एक वातावरण की सृष्टि करती हैं, स्थायी प्रभावों को छोड़ती है, और जीवन और तथ्यों के प्रति एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में योग प्रदान करती हैं। इसके विपरीत, कुछ ऐसी संस्थाएं भी है, एकमात्र शिक्षा देना ही जिनका उद्देश्य है। पाठशाला, स्कूल, कालिज, विश्वविद्यालय ऐसी ही विशेष शिक्षण-संस्थाएं हैं। इसके अतिरिक्त, समाचारपत्र, रेडियो, सिनेमा और पुस्तकालय भी आज शिक्षा का शक्तिशाली साधन बनते जा रहे है।

विशिष्ट शिक्षाकी निम्न परिभाषा दी जा सकती है: यह समुदाय या व्यक्तियों द्वारा परिचालित वह सामाजिक प्रक्रिया है जो समाज को उसके द्वारा स्वीकृत मूल्यों और मान्यताओं की ओर अग्रसर करती है।

एक अर्थ में शिक्षा उन हजारों सालों के अनुभव की देन है जिसमें कि एक व्यक्ति पैदा हुआ है। इन अनुभवों मे उसकी सांस्कृतिक विरासत छिपी हुई है। वर्णमाला, भाषा, लिपि, साहित्य परम्पराएं रीति रिवाज और आविष्कार सभी का इसमें समावेश है। सांस्कृतिक विरासत और जीवन के ज्ञान का अर्जन ही शिक्षा है।

सामाजिक दृष्टि से सास्कृतिक विरासत का ज्ञान, मानसिक विश्लेषण की पद्धतियों की क्षमता प्राप्त करना तथा सांस्कृतिक विरासत का एक समालोचक और सुधारक बनना शिक्षा का कार्य कहा जा सकता है।

किसी संस्कृति के प्रधान तत्त्व उसकी जनश्रुति, लोकगीतों और साहित्य में विद्यमान रहते है। साहित्य 'मानव ज्ञान की सर्वोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति है।' आदिकालीन समाजों मे ओझा और पुरोहित विशिष्ट शिक्षक थे। वह कबीले के इतिहास के संरक्षक और कबीले के सरदारों के प्रशस्ति-गायक थे। यही लोक गीतों का प्रारम्भ था। इस भांति धार्मिक जनश्रुति या ग्रन्थ और युद्ध गीत शिक्षा के प्रारम्भिकतम साधन थे।

मनुष्य विचार करने से पहले अनुभव करता है। अतः पहले कविता का उदय हुआ। पर विचार शक्ति के विकास के साथ शिक्षा के लिए गद्य का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। गद्य द्वारा ही विचारों को बारीकी से प्रस्तुत करना तथा विभिन्न तथ्यों का विश्लेषण सम्भव था। इसने वक्तृत्वकला के महत्त्व को बहुत बढा दिया। पन्द्रहवीं शती तक वक्तृता, संभाषण, उपदेश ही शिक्षा का प्रधान साधन रहे। आधुनिक मुद्रण यन्त्रों के आविष्कार ने सस्ते और विस्तृत साहित्य के सृजन और प्रचार को सम्भव बनाया। रेडियो और टेलीविजन के आविष्कारों ने शिक्षा में एक नई क्रान्ति ला दी।

किसी भी समाज के लिए विशिष्ट शिक्षा का महान् महत्त्व है। विस्तृत अर्थों में शिक्षा साहित्य, जो व्यक्ति के भावों की, और विज्ञान जो व्यक्ति के बौद्धिक विकास की अभिव्यक्ति है, दोनों पक्षों का समावेश है। एक अच्छी शिक्षा प्रणाली में दोनों पक्षों का उचित संतुलन और समन्वय आवश्यक है।

अच्छी शिक्षा व्यक्ति को केवल अनुभव करना और सोचना ही नहीं सिखाती, बल्कि उसे विशेष कार्य करने की प्रेरणा देती है। यह सत्य है अभी तक हमारे व्यवहार को नियन्त्रित करने में शिक्षा प्रर्याप्त दुर्बल सिद्ध हुई है। यही कारण है कि आज शिक्षा ने हमें प्रजातन्त्र के बारे में सोचना तो सिखा दिया है व्यवहार में लाना नहीं। इसके बावजूद, एक स्वस्थ संतुलित और वैज्ञानिक शिक्षा, चाहे वह विशिष्ट हो अथवा सामान्य, और चाहे परिवार, पेशे धर्म या स्कूल कहीं से भी मिले, हमारे व्यक्तित्व के कल्पनात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक तीनों ही पक्षों में एक संतुलन-स्थापन पर बल देती है। अन्यथा शिक्षा अपूर्ण व्यक्तित्वों और संकुचित दृष्टिकोण वाले वर्गों का ही निर्माण करती है।

भारत में शिक्षा

समाज की सांस्कृतिक अवस्था के शिक्षा पर प्रभाव जानने, और आधुनिक शिक्षा-समस्याओं को समझने और उनके समाधानों के संधान के लिए भारत में शिक्षा-संस्था के परिवर्तित स्वरूपों और पद्धतियों का अध्ययन उपयोगी सिद्ध होगा।

प्राचीन काल. वैदिककालीन लोग कृषक और पशुपालक थे। उन्होंने गुरुकुल शिक्षा पद्धति का सूत्रपात किया शिक्षक के परिवार (कुल) में शिष्य परिवार के एक सदस्य की हैसियत से रहता था और धार्मिक ग्रन्थों, दर्शन और युद्धकला की शिक्षा प्राप्त करना उसका मुख्य उद्देश्य होता था। प्रायः एक गुरुकुल में बहुत थोड़े ही छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। सम्भवतः उनकी संख्या पन्द्रह-बीस से अधिक न होती होगी। विद्यार्थी बहुत छोटी अवस्था में गुरुकुल में प्रवेश लेते थे। सात वर्ष से लेकर पच्चीस वर्ष की आयु शिक्षा की अवधि मानी जाती थी। वहां पर पढ़ने के लिए किसी प्रकार की फीस न देनी पडती थी, विद्यार्थी खाली समय में पास के गांव में जाकर गृहस्थों से भिक्षा मांग लाते थे जिससे शिक्षक के परिवार और उनका गुजर और खर्च चलता था। शिक्षार्थियों को अन्न, वस्त्र और उपयोगी वस्तुओं की भिक्षा देना गृहस्थ अपना परम कर्तव्य समझते थे। शिक्षक और शिष्य के आत्मीय सम्बन्ध, प्रकृति से निकटता, परिवार जैसा वातावरण, निःशुल्क शिक्षा इस प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं थीं। व्यक्तित्व के संतुलित विकास के लिए कृषि प्रधान, दानभावना प्रेरित सरल समाज के लिए यह प्रणाली पर्याप्त उपयुक्त थी।

वैदिक कर्मकाण्ड के ह्रास के साथ हमारे यहां बौद्ध धर्म का उदय हुआ और उस समय बौद्ध विहार शिक्षा का केन्द्र बन गये। छोटे पैमाने पर अन्तर्राष्ट्रीय

केन्द्रो का उदय हुआ जहां पर कि देश-विदेश के छात्र आकर शिक्षा प्राप्त करते थे। यह अन्तर्राष्ट्रीय विद्यालय इस युग की विशेषता थे। नालन्दा और तक्षशिला दर्शन और चिकित्सा की शिक्षा के प्रसिद्ध विद्यालय थे, यद्यपि इनमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या आजकल के विश्वविद्यालयों की तुलना में बहुत नगण्य थी। बौद्ध शिक्षा प्रणाली और गुरुकुल प्रणाली के संगठन में विशेष अन्तर न था, अन्तर केवल पाठ्यक्रम और उद्देश्यों का था।

मध्यकाल. इस समय तक शिक्षा का अधिकार केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों, तथाकथित ब्राह्मणों के हाथ में ही सीमित हो गया। अन्य जातिया और स्त्रियां शास्त्रीय शिक्षा से वंचित होगई। इसी समय भारत में इस्लाम का आगमन हुआ और तत्कालीन धर्मधारियों की छत्रछाया में पाठशाला या टोल जो कि मन्दिरों से लगे होते थे और धनियों के दान से चलते थे तथा मकतब और मदरसे जो कि मस्जिदों से लगे होते थे और बादशाहों की सहायता और वक्फ से चलते थे, शिक्षा के प्रधान साधन हुए।

इस तरह हम देखते हैं कि मध्यकाल तक शिक्षा पर धर्म और साम्प्रदायिकता का प्रबल प्रभाव था। शिक्षा मुख्यतः वेद-पुराण और कुरान-हदीस के अध्ययन तक ही सीमित रह गई।

आधुनिक शिक्षा. भारत में आधुनिक ऐहिक (Secular) शिक्षा के सूत्रपात का श्रेय अंग्रेजों को है। उन्नीसवीं शती के मध्य में यहां पर पाश्चात्य ढंग पर भारत के प्रधान नगरों में विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। इस नई प्रणाली का मूल उद्देश्य तो अंग्रेजी शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए छोटे अफसर और क्लर्क तैयार करना तथा अंग्रेजों और भारतीयों को एक दूसरे के निकट लाना था। यह कार्य तो इसने किया ही, पर अंग्रेजी शिक्षा ने प्रजातन्त्र और स्वाधीनता के विचारो के प्रसार में भी बड़ा योग दिया। अंग्रेजी शिक्षा ने जहा हमे अंग्रेजी साम्राज्य की सेवा सुचारु रूप से करने की सामर्थ्य प्रदान की वहाँ इसने हमें एक नई बौद्धिक चेतना, एक नई आकांक्षा, एक नई दिशा प्रदान की। संक्षेप में, उसने हमें संसार के साहित्य और आधुनिक विज्ञान से संयुक्त कर दिया। हमें प्रजातान्त्रिक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचने पर बाधित किया

उपर्युक्त लाभों के होते हुए भी, इस प्रणाली में कई मूलभूत दोष थे, जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारी शिक्षा के विकास और उसके परिणामों पर पड़ा। १९४७ में अंग्रेजी साम्राज्य का सूर्य तो अस्त हो गया पर उनके द्वारा प्रदत्त शिक्षा प्रणाली आज भी बहुत अश में हमारे साथ है, यद्यपि उसमें परिवर्तन और संशोधन की चारों ओर पुकार है। पर किन नये सिद्धान्तों पर इसका पुर्ननिमाण हो इस विषय में पर्याप्य मत- भेद हैं। १९५१ के विश्वविद्यालय आयोग तथा १९५४ के

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने उच्च माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में अनेक रचनात्मक सुझाव दिए हैं परन्तु वे अभी तक कार्यान्वित नही हो सके है ।

विद्यमान शिक्षा-प्रणाली के दोष

विद्यमान शिक्षा-व्यवस्था हमें अंग्रेजों से विरासत में मिली है । स्वाधीन होने पर भी हम अभी तक उस शिक्षा-व्यवस्था में विशेष परिवर्तन नही ला सके हैं । प्रायः सभी समझदार व्यक्ति, जिन्हें देश के हित की चिन्ता है, यह स्वीकार करते है कि हमारे यहाँ प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था मे भयंकर भूलें, कमियां, बुराइयां और अनेक दोष हैं। यह व्यवस्था अच्छी और वैज्ञानिक शिक्षा के समस्त ज्ञात सिद्धातों का उल्लंघन करती है । यह शिक्षा-शास्त्र, मनोविज्ञान और जनस्वास्थ्य के नियमों के विरुद्ध है । संक्षेप में इसके प्रमुख दोषों पर दृष्टिपात करना अनुचित न होगा ।

१. वास्तविक जीवन से दूर. प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था बहुत ही कृत्रिम और औपचारिक (Formal) है और इस प्रकार वास्तविकता और जीवन से सर्वथा पृथक् है । संकीर्ण अर्थों में यह बौद्धिक है । यह वस्तुओं की उपेक्षा कर उनके प्रतीकों को महत्त्व प्रदान करती है । वस्तुओं और तथ्यों को जबानी बिना दिखाए बता दिया जाता है । लिखित शब्दों के शिक्षा का प्रधान माध्यम होने के कारण रटाई इसका प्रमुख साधन है । वास्तविक तथ्यों और व्यावहारिक ज्ञान से इसका अल्प सम्पर्क है । वैज्ञानिक परीक्षण और प्रयोगशाला का इसमें प्रबल अभाव है । यह शिक्षा निष्क्रिय, वर्णनात्मक और अमूर्त है । इसीलिए इसमें निरीक्षण और उसके आधार पर किसी परिणाम पर पहुंचने की प्रवृत्ति नही है । शारीरिक दृष्टि से भी यह निर्जीव है । इसमें बढ़ते हुए बच्चे के लिए किसी प्रकार के स्वस्थ खेल-कूद और सृजनात्मक क्रियाओं को स्थान नही है । यह उसे क्लास के कमरे में बन्द रखती है । यह उसे ताजी हवा और सूरज की रोशनी से वंचित रखती है । जो आंशिक ज्ञान यह प्रदान करती है वह न तो सम्पूर्ण ही होता है और न ही एकीकृत । विद्यार्थी की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को विकसित करने में असमर्थ होने के कारण यह उसके व्यक्तित्व के विकास में रुकावट डालती है । बौद्धिकता के बाहरी आडम्बर के बावजूद भी यह उनमें निरर्थक अन्धविश्वासों, कट्टरताओं को पोषित करती है । इसी का परिणाम हमारे पढ़े-लिखे निकम्मों की सृष्टि है । जब उन्हें जीवन की वास्तविकताओं का सामना करना पड़ता है वह असफल रहते हैं । इसीलिए प्रायः वह विद्यार्थी जो किताबें रटने मे प्रवीण नही होते और परीक्षाओ मे अच्छा परिणाम नही दिखाते जीवन मे अधिक सफल होते है । वह अधिक व्यावहारिक और वास्तविक जीवन के निकट होते है ।

२. पढ़े-लिखे बेकारों की सृष्टि. देश की आर्थिक आवश्यकता और श्रम की मांग को बिना ध्यान मे रक्खे हमारे यहां लाखों विद्यार्थी प्रतिवर्ष स्कूल, कालिज

और यूनिवर्सिटियों से डिग्रियां लेकर बाहर निकल रहे हैं। संकीर्ण साहित्यिक शिक्षा-प्राप्त श्रम की मांग बहुत सीमित है और फिर यह शिक्षित वर्ग केवल कुछ सफेदपोश कलमघिसाई के सम्मानित कहे जाने वाले बौद्धिक पेशों को ही अपना सकता है। इसी का यह परिणाम है कि उनमें से अधिकांश लोग बेकार रह जाते हैं अथवा उन्हें अपनी 'रुचि के विरुद्ध, उनकी दृष्टि में 'निकृष्ट' अन्य पेशों को अपनाने पर मजबूर होना पड़ता है।

आज की व्यवस्था में अधिकांश विद्यार्थियों को अपनी कालिज-शिक्षा के अन्त तक भी इस बात की कोई स्पष्ट धारणा नहीं होती कि वह अपनी शिक्षा समाप्त कर के क्या करेंगे। तरुण लड़के और लड़कियां, जब तक कि उनके माता-पिता उन्हें पढ़ाने में सर्वथा असमर्थ नहीं होते, एक बड़े खर्चे पर प्रारम्भिक से माध्यमिक स्कूलों, माध्यमिक स्कूलों से कालिजों में चढ़ते चले जाते हैं। उन्हें इस बात का भी कोई ज्ञान नहीं होता कि वह और क्या कर सकते हैं अथवा उन्हें क्या करना चाहिए। वह केवल परेशान करनेवाले इस प्रश्न को, कि "उन्हें आखिर क्या कैरियर अपनाना है" स्थगित करने के लिए, अपने अध्ययन को जारी रखते हैं। इस प्रकार निरुद्देश्य तरीके से जीवन के विकास-काल के पन्द्रह-बीस सालों को खो देने का एकमात्र परिमाण उन छात्रों में अनिश्चितता, साहसहीनता और टाल-मटोल करने की प्रवृत्ति को पैदा करने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? इस अनियोजित शिक्षा से हमारे जैसे निर्धन राष्ट्र के विपुल श्रम, समय और सम्पत्ति की ही भयंकर बरबादी हो रही है। इस शिक्षा का जीवन में कोई वास्तविक उपयोग नहीं है।

३. राष्ट्रीयता का अभाव. अभी तक हमारी शिक्षा, विशेषकर उच्च शिक्षा, अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली की ही एक भद्दी और दोषयुक्त नकल रही है, जिसमें सदैव मानसिक गुलामी की गन्ध रही है। इसी कारण आज लाखों पढ़े-लिखे व्यक्तियों के होते हुए भी हम एक शिक्षित राष्ट्र नही कहे जा सकते। कोई भी राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र की, चाहे वह कितना ही उन्नत हो, शिक्षा-प्रणाली का अन्धानुकरण करके अपने नागरिकों को शिक्षित नहीं बना सकता। उसे अपने राष्ट्र के इतिहास, परम्परा, प्रतिभा और विचारों के अनुकूल और अनुरूप शिक्षा-प्रणाली का विकास करना होगा।

विद्यमान भारतीय शिक्षा का सबसे बड़ा दोष है कि यह देश में मौजूद भाषा, कला, इतिहास और दर्शन पर आधारित नहीं है, अपितु इसने इनकी निर्मम उपेक्षा की है और इसके स्थान पर विदेशी भाषा, विदेशी परम्परा, विदेशी इतिहास, विदेशी कला, विदेशी दर्शन को अपने ऊपर लाद लिया है। इस प्रकार पाठशाला परिवार की पूरक और परिवर्धक न होकर ६ घंटे रोज का एक अवास्तविक स्वप्न बन गई है, जिस बीच बच्चा घर से भिन्न भाषा सुनता है, अपने

अनुभव से दूर चिड़ियों, पशुओं, घटनाओं और तथ्यों का वर्णन पढ़ता है अथवा उन रिवाजों और संस्थाओं की प्रतिष्ठा करना सीखता है, जो उसके जीवन से सर्वथा असम्बद्ध हैं, एक संवेदनशील बालक के लिए उसकी पुस्तकों का संसार ही वास्तविक और आदर्श बन जाता है। इस प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम होता है कि बच्चा अपने ही माता-पिताओं की भाषा, पोशाक, रीति-रिवाज और परम्पराओं को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। एक साहब या मेमसाहब बनना ही उसके जीवन की बड़ी अकांक्षा रह जाती है।

धार्मिक शिक्षा बनाम ऐहिक (Secular) शिक्षा

आज से सौ साल पहले तक धर्म शिक्षा का घनिष्ठ सहचर रहा है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि धर्म का उपदेश देना ही उस समय की मुख्य शिक्षा थी। उस धार्मिक शिक्षा ने स्वभावतः संकुचित और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को जन्म दिया, घृणा, अन्धविश्वास और कट्टरता को बल दिया और साहित्य के आनन्द और विज्ञान के प्रकाश से जनता को दूर रखा। ऐहिक शिक्षा ने शिक्षा को एक नई दिशा दी, नया और उदार दृष्टिकोण दिया। मनुष्य की ज्ञानवृद्धि, कल्पना की तृप्ति और विचारों की समृद्धि में ऐहिक शिक्षा एक निश्चित प्रगति थी। पर उसने सदाचार और नैतिकता की कहा तक वृद्धि की अथवा व्यक्तित्व को कहां तक अधिक संतुलित बनाया, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है।

शिक्षा को संस्थात्मक धर्म से पृथक् करना एक सही कदम था। पर धार्मिक अन्धविश्वास के रिक्त स्थान पर एक नैतिक विश्वास को प्रस्थापित करना भी जरूरी था। हमने धर्म को तो शिक्षा से निकाल फेंका पर दूसरा कार्य नहीं किया। इस विश्वास की कमी ने शिक्षित मनुष्य को एक अजीब असमंजस में डाल दिया है। उसके पास आज भगवान् जैसी किसी अमूर्त कल्पना का सहारा नहीं है जिससे कि वह विपत्ति और चिन्ता में अपने को सांत्वना दे सके। अतः ऐहिक शिक्षा के साथ शिक्षा का एक नैतिक और भावात्मक आदर्श होना भी आवश्यक है।

शिक्षा की नई धारणाएं

बुनियादी शिक्षा. गांधी जी ने राजनैतिक समस्याओं के अतिरिक्त, देश की शिक्षा-संस्थाओं में भी दिलचस्पी ली और डा० जाकिर हुसेन ने उनके विचारों के आधार पर बुनियादी शिक्षा की योजना प्रस्तुत की। बुनियादी शिक्षा विद्यमान शिक्षाप्रणाली के दोषों से मुक्त होने का दावा करती है। स्वावलम्बन, सहयोग, सृजन, सरलता और व्यावहारिक उपयोगिता इसकी मुख्य विशेषताएं हैं। इसमें शिल्प और उद्योग की सहायता से स्वयं अपने हाथ से काम सीखने पर बल दिया जाता है।

हमारे देश के प्रारम्भिक स्कूलों के लिए बुनियादी शिक्षा उपयुक्त है। भारतीय संघ के कई राज्यों ने तो इसे अपने यहां अपना लिया है। बुनियादी शिक्षाप्राप्त व्यक्ति जीवन-निर्वाह के लिए नौकरी पर निर्भर न रहकर कोई दस्तकारी शुरू कर सकते हैं। बुनियादी शिक्षा कुटीर-उद्योगों के प्रसार के लिए तो अनुकूल है, पर यदि हम देश में बड़े पैमाने का औद्योगीकरण चाहते है तो हमें इसकी व्यावहारिक शिल्प-शिक्षा में तदनुसार परिर्वतन करना होगा।

अमरीका का प्रगतिशील शिक्षा-आंदोलन. प्रगतिशील स्कूल में "बच्चे के विकास" पर जोर दिया जाता है। इसमें बच्चे को एक समूह का कार्यशील सदस्य मान लिया जाता है और शिक्षक को उसका 'सहायक'। इसका उद्देश्य बच्चे के गले कुछ बने-बनाये तथ्य उतारने के बजाय, उसमें सृजनात्मक अभि-व्यक्ति की वृद्धि करना होता है।

प्रगतिशील शिक्षा लचकदार और प्रजातान्त्रिक होती है। इसमें दैनिक कार्यों के चुनाव में भी बच्चों की आवाज सुनी जाती है। वह स्वयं सामग्री का चुनाव करते है। वह इधर-उधर मेजों पर बैठते है और स्वाधीनतापूर्वक विचरण करते हैं। कतारों में अध्यापक के सामने बैठने और शिक्षक के आदेश पर पढ़ने की पुरानी प्रणाली उन्होंने छोड़ दी है।

कुछ लोगों को भय है कि प्रगतिशील शिक्षा आवश्यक ज्ञान के अर्जन में बाधक हो सकती है, उसकी परिकल्पित क्रियाओं में असंतुलन हो सकता है। अनुशासन भी एक समस्या है। कई बार बच्चों को सामूहिक नियंत्रण द्वारा संभालना संभव नहीं होता। फिर भी यह आशा की जा सकती है कि प्रगतिशील शिक्षा के अधिक परिपक्व होने पर स्वभावतः यह कमियां उसमें नहीं रहगी।

शिक्षा के अन्य आधुनिक साधन

समाचारपत्र

एक प्रभावशाली शिक्षा साधन. स्कूल एक संगठित शिक्षणसंस्था है जब कि समाचारपत्र को एक असंगठित शिक्षण संस्था कहा जा सकता है। प्रतिदिन समाचारपत्रों के लाखों-करोड़ों पाठक अपने प्रिय समाचारपत्र से संसार की घटनाओं और समस्याओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह पाठक जनता प्रायः प्रौढ़ होती है। हमारे देश में यद्यपि समाचारपत्र-पाठकों की संख्या अभी बहुत अधिक नहीं है, पर फिर भी भविष्य में इसकी निरन्तर वृद्धि की आशा की जा सकती है, समाचार-पत्रों का प्रचार दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है।

समाचार पत्रों का पतन. पैसा कमाने और स्वार्थी राजनैतिक दलों के प्रचार का साधन होने और अपनी आय के लिए विज्ञापनदाताओं पर प्रधानतः निर्भर होने के कारण अधिकतर समाचारपत्र अपने उच्च आदर्श से गिर गये हैं।

राजनैतिक दलदल में फंस जाने के कारण इन्होंने स्वाधीन चिन्तन को समाप्त कर दिया है।

जनमत-निर्माण का शक्तिशाली साधन. तार, टेलीफोन, रेडियो और टेलीविजन के साथ मिलकर समाचारपत्र ने एक नई सामाजिक चेतना को विकसित किया है। संसार के समस्त स्थान, उनकी जनता और उनकी समस्याएं आज इनके द्वारा एक-दूसरे के बहुत निकट आ गई है। आज एक महत्त्वपूर्ण घटना को समस्त संसार की जनता सम्भवत: एक ही समय पढ़ती है। इस भांति एक पाठक एक विचित्र सामाजिक समूह का सदस्य बन जाता है। परिणामत:, समाचारपत्र आज जनमत को बनाने का शक्तिशाली साधन बन गये हैं।

पूंजीपतियों का आधिपत्य. आज एक बड़े दैनिक समाचारपत्र को निकालने के लिए पन्द्रह-बीस लाख रुपए से कम पूंजी की जरूरत नहीं पड़ती। पूंजीपति-स्वामी ने पहले के सम्पादक-स्वामी का स्थान ले लिया है। आज अधिकांश सम्पादक समाचार पत्र के स्वामियों के हाथों बिके हुए है और उनसे स्वामियों के दृष्टिकोण को प्रस ुत करने की आशा की जाती है।

लाभवृत्ति का शिकार. व्यवसायीकरण ने समाचारपत्र की स्वाधीनता पर प्रबल आघात किया है। लाभ की मात्रा किसी समाचारपत्र के सफल मुद्रण का मापदण्ड बन गई है। इस भाति प्राय: सार्वजनिक कल्याण पर लाभ-वृत्ति हावी हो जाती है। इसका एक बड़ा कारण यह है कि समाचारपत्रों की आय का बड़ा अंश विज्ञापनों से आता है। अत: वह विज्ञापनदाताओं की इच्छा के विरुद्ध नहीं चल सक। वह बड़ी-बड़ी कम्पनियां जो विज्ञापन देती हैं, समाचारपत्रों के कार्यालय में 'पवित्र गायें' कहलाती हैं। समाचारपत्र में ऐसी कोई चीज नहीं छापी जाती जो कि इन "पवित्र गायों" को नाराज करे। ऐडवर्ड रॉस ने ठीक ही चेतावनी दी है कि आज के बड़े समाचारपत्र का एक ऐसा कारखाना बनमें का खतरा सदैव मौजूद है जहां कागज और स्याही और बुद्धि को मिलाकर उसे अधिकाधिक बिकने वाली वस्तु के रूप में तैयार किया जाता है।

समाचारों का प्रकाशन. सूचनाओं के सम्बन्ध में समाचारपत्र विश्वास योग्य भी हो सकता है और नहीं भी। यह बहुत सी महत्त्वपूर्ण या बहुत सी फालतू बातों की ओर ध्यान आकर्षित कर सकता है अथवा उन्हें सही रूप में या तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत कर सकता है।

सुधार के सुझाव. इससे स्पष्ट है कि हमें ऐसे समाचारपत्रों की जरूरत है जो विज्ञापनदाताओं के घातक प्रभाव से मुक्त हों और जिनके स्वामी राजनैतिक प्रचारकों का कार्य न करें और सच्चे समाचारों को छापने में किसी का भी लिहाज न करें। वर्तमान अवस्था में यह कठिन कार्य कैसे सम्पन्न हो, यह एक विकट

समस्या है। कुछ लोगों ने एक राष्ट्रीय प्रेस का प्रस्ताव रखा है जिसका कि समाचारपत्रों पर एकाधिकार हो। किन्तु सरकारी प्रेस भी कोई अमोघ औषधि नहीं है। सर्वसर्वा राज्यों में समाचारपत्र विशिष्ट व्यक्तियों और शासक दल के प्रचार का निर्लज्ज साधन बन गये हैं। लिखने, छापने और सभा करने की स्वाधीनता वहां समाप्त हो चुकी है। अतः सरकारी प्रेस भी तभी सचाई से कार्य कर सकता है जब कि उस पर जनता का प्रत्यक्ष नियंत्रण हो।

रेडियो

शक्ति और प्रयोग. समृद्ध देशों में रेडियो ने विशाल जनसमूहों की सृष्टि कर दी है। एक व्याख्यान अथवा संगीत के श्रोता प्रायः हजारों मील के क्षेत्र में फैले होते हैं। यदि प्रत्येक घर में एक रेडियो-सेट हो, जैसी स्थिति कि आज अमरीका-जैसे देशों की है, तो रेडियो द्वारा किसी देश की समस्त जनता में एक प्रारम्भिक समूह-भावना को संचारित किया जा सकता है।

रेडियो राष्ट्रीय और विश्व-चेतना के विकास में परम सहायक सिद्ध हो सकता है। किसी देश के श्रेष्ठतम संगीत, नाटक और नृत्य रेडियो द्वारा प्रसारित किए जाते है। इसके अतिरिक्त, संसार के समाचारों, शिक्षा, धर्म और खेलों के लिए पृथक् कार्यक्रम होते हैं। इस भांति रेडियो की अपील सार्वभौम होती जा रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय ब्राडकास्टिंग. अभी तक रेडियो-प्रसारण (ब्राडकास्टिंग) का रूप प्रधानतः राष्ट्रीय ही है। सर्वसर्वा राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय ब्राडकास्टिंग के मार्ग मे रुकावट डाली है, केवल यही नही उन्होंने अन्य राज्यों के कार्यक्रमों को सुनने पर पाबन्दी तक लगा दी है। ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय ब्राडकास्टिंग का विकास नही हो सका : फिर भी यदि इस दिशा मे प्रयत्न किया जाय और समान विश्व-केन्द्रों से अन्तर्राष्ट्रीय कार्य-क्रम प्रसारित किये जायं तो इससे अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ाने में बड़ा योग मिलेगा।

टेलीविजन. सिनेमा एक शक्तिशाली शिक्षा-साधन है जिसके प्रभाव का हम पीछे जिक्र कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त, टेलीविजन के विकास ने शिक्षा और मनोरंजन के क्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियों का सूत्रपात किया है। टेलीविजन ने रेडियो के अदृश्य कार्यक्रमों को मूर्त बना दिया है। इसका एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव सिनेमा को घर में लाना है।

रेडियो-टेलीविजन का नियन्त्रण और स्वामित्व. इसकी समस्या भी बहुत कुछ समाचार-पत्रों और सिनेमा से मिलती-जुलती है। इस पर राज्य का नियन्त्रण और स्वामित्व हो अथवा व्यक्तियों का, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। व्यक्तियों के हाथ में देने से इसके लाभ के उद्देश्य के लिए प्रयुक्त हों और राज्य के हाथों

में सौंपने से इसके प्रचार के लिए प्रयुक्त होने का संकट है। अतः एक ऐसा मध्य मार्ग ढूंढना होगा जिससे कि इन दोनों बातों से बचा जा सके।

पुस्तकालय

इनका कार्य. सार्वजनिक पुस्तकालय साक्षर देशों में शिक्षा का एक प्रभावशाली साधन बनते जा रहे हैं। पुस्तकालय केवल पढ़ने की सुविधाएं ही प्रदान नहीं करते, वह मनोरंजन और शिक्षा का भी प्रबल साधन हैं। पढ़ना एक मनोरंजन और शिक्षा ही नहीं, एक चिकित्सा भी है। बहुत-से व्यक्ति पढ़ कर ही 'अपने अनेक कष्टों को भूल जाते हैं।

साहित्य का प्रभाव. पढ़ने और सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण परीक्षण हुए हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि साहित्य जहां एक ओर समाज को प्रतिबिम्बित करता है, वहां दूसरी ओर अनेक बार समाज को नियन्त्रित करता है।

पुस्तक पाठकों के अनुभवों को कैथरीन लिन्ड के अनुसार चार श्रेणियों में बांटा जा सकता है : (१) पढ़ना अल्पाधिक अरुचिकर संसार से भागकर एक काल्पनिक संसार का निर्माण करता है। (२) यह भावना-उत्तेजक दैनिक अनुभवों से एक अस्थायी राहत प्रदान करता है। (३) इसका पाठक के व्यक्तित्व पर एक रचनात्मक प्रभाव पड़ता है। वह उसे स्वयं और संसार को समझने में सहायता प्रदान करता है। (४) इसके अतिरिक्त, इसके अन्य ठोस लाभ भी है, जैसे कि तथ्यों को देना और रुचियों को जागृत करना। यही नहीं, पढ़ना लोगों की रुचियों और धारणाओं का भी अच्छा परिचय देता है।

इस भांति आज के सस्ते और सुलभ साहित्य के युग में शिक्षा के साधन के रूप में पुस्तकों का महत्त्व अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। इनके नियन्त्रण और प्रचार की समस्या भी अन्य शिक्षा-साधनों के ही समान जटिल और महत्त्वपूर्ण है।

शिक्षा के सामाजिक कार्य

शिक्षा के दो मुख्य सामाजिक कार्य हैं : एक तो अज्ञान का निवारण और दूसरा भ्रान्ति का निवारण। दूसरे शब्दों में, इसका उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता को विकसित करना तथा विभिन्न संस्कृतियों और विभिन्न स्वार्थों के बीच एक सामंजस्य स्थापित करना है। विशेषतः प्रजातन्त्र के विकास के लिए सही अर्थों में शिक्षित नागरिकों का निर्माण आवश्यक है। केवल साक्षरता के प्रसार से शिक्षा की समस्या उन्हें सामाजिक बनाने, उन्हें बुद्धिमत्तापूर्वक व्यवहार करने और सार्वजनिक हित में कार्य करने की शिक्षा प्रदान करने की है। यह समाज-हितैषियों का कार्य है कि वह विभिन्न शिक्षण-संस्थाओं को इस भांति आयोजित और परिचालित करें जिससे कि सामाजिक हित में अधिकाधिक वृद्धि हो सके।

अठारवां अध्याय

सामाजिक परिवर्तन और विघटन

SOCIAL CHANGE AND DISORGANISATION

सामाजिक परिवर्तन

हम मनुष्य के भोजन, कपड़े, घर, रीति-रिवाज, धर्म, पारिवारिक सम्बन्ध, धार्मिक विश्वास, जीविका उपार्जन के साधन, विभिन्न वर्गों के विकास, उनके आपसी सम्बन्ध, राजनैतिक संगठन, इत्यादि समाज के किसी भी सम्बन्ध, व्यवहार, आचार, मान्यताओं पर दृष्टि डालें, हमें ज्ञात होगा कि किस तरह इन समस्त दिशाओं में एक ही जगह स्थित समाज में निरन्तर परिवर्तन आ रहे हैं। परिवर्तन मानव समाज की विशेषता है। सामाजिक परिवर्तनों का अध्ययन समाजशास्त्र की प्रमुख समस्या है। इन परिवर्तनों की क्या दिशा है? यह परिवर्तन मानव समाज को किस ओर ले जायेंगे? इन परिवर्तनों का क्या स्वरूप है? क्या यह परिवर्तन दूसरों से ग्रहण किए जाते हैं अथवा कोई समाज इनका स्वयं आविष्कार करता है? इन परिवर्तनों के क्या कारण हैं? इर परिवर्तनों को कैसे नियंत्रित किया जा सकता है? यह जटिल और महत्वपूर्ण प्रश्न है। इन प्रश्नों का केवल बौद्धिक महत्व ही नहीं है, बल्कि उनका मानवीय महत्व है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, अतः सामाजिक परिवर्तन एक मानवीय परिवर्तन है। समाज के बदलने का अर्थ, मनुष्य का बदलना है।

इस सम्बन्ध में अनेक लेखकों ने विभिन्न सिद्धान्त पेश किए हैं। इनमें से अधिकांश सिद्धान्त बहुत ही एकांगी, अपूर्ण और भ्रामक हैं। सामाजिक परिवर्तन के विषय में वैज्ञानिक साहित्य का बहुत अभाव है।

सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन. सामाजिक परिवर्तन में केवल उन परिवर्तनों का समावेश है जो कि समाज के संगठन, अर्थात् उसकी रचना (Structure) और कार्यों (Functions) से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन का केवल एक अंश है। सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन से अधिक विस्तृत चीज है; उसमें कला, विज्ञान, यन्त्रविद्या, दर्शन, इत्यादि संस्कृति की किसी भी शाखा का परिवर्तन सम्मिलित है। सामाजिक संगठन उनकी केवल एक शाखा है।

उक्त अन्तर को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। पूंजीवादी

समाज में संगठित श्रमिकों का उदय सामाजिक परिवर्तन कहा जाएगा, क्योंकि उसने मालिक और मजदूर के सम्बन्धों में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन पैदा किया; जिसका कि आर्थिक और राजनैतिक संगठन पर एक बुनियादी प्रभाव पड़ा है। इसके विपरीत, भाषा के परिवर्तनों को हम सांस्कृतिक परिवर्तन कहेंगे। किस भांति संस्कृत से प्राकृत, अपभ्रंश और फारसी के मेल से हिन्दवी और उर्दू की उत्पत्ति हुई, और किस प्रकार हिन्दी का स्वरूप निरंतर बदलता रहा और अन्त में खड़ी बोली का विकास हुआ, इसका सामाजिक संगठन और उसके सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों या कार्यों को बदलने में कोई हाथ नहीं कहा जा सकता। यह विशुद्ध भाषा शास्त्री तत्व है। यह सांस्कृतिक तो है, सामाजिक नही। अतः भाषा, कला, संगीत-शैली या गणित का विकास सांस्कृतिक परिवर्तन के अंश हैं, सामाजिक परिवर्तन के नहीं। इससे स्पष्ट है कि सांस्कृतिक परिवर्तन का क्षेत्र सामाजिक परिवर्तन से अधिक विस्तृत है।

परिवर्तन और अन्तःक्रिया (Inter-action). एक समाज में व्यक्ति सदा आपस में अन्तःक्रिया में संलग्न है। किन्तु इस अन्तःक्रिया के रूप और नियम एक पर्याप्त समय के लिए निर्धारित हैं, अतः उनका यह कार्य क्रिया तो अवश्य है, पर सामाजिक परिवर्तन नहीं, क्योंकि समाज का संगठन अपरिवर्तित है। अतः सामाजिक अन्तःक्रिया सामाजिक परिवर्तन से भिन्न चीज है।

अल्पकालीन और दीर्घकालीन परिवर्तन. सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन में पर्याप्त लम्बे समय को ध्यान में रखना जरूरी है, क्योंकि पर्याप्त लम्बे समय में ाजिक रचना या ढांचे और उसके कार्यों में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। अतः हम वर्तमान पर ध्यान केन्द्रित कर सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन नहीं कर सकते। हमें दीर्घकालीन परिवर्तनों पर दृष्टि रखनी होगी।

रेखांकित और चक्रीय. सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन करते समय हमें यह भी देखना होगा कि इसका रूप रेखांकित (Linear) है अथवा चक्रीय (Cyclical) है। रेखांकित परिवर्तन इस बात पर जोर देता है कि परिवर्तन हमें एक निश्चित दिशा की ओर ले जा रहा है। जब कि चक्रीय परिवर्तन में हम एक दिशा में आगे बढ़ना, फिर पीछे हटना और उतार-चढ़ाव देखते है।

निर्णयवाद (Determinism) **की भ्रांति.** परिवर्तन के कारणों की विवेचना में निर्णयवादी सिद्धान्त बहुत लोकप्रिय हैं। निर्णयवादी सिद्धान्त के पोषक किसी एक प्राकृतिक या सामाजिक कारण को लेकर उसे अनुचित महत्व दे, सामाजिक परिवर्तन का एक मात्र श्रेय देना चाहते हैं। कुछ लेखक भौतिक या प्राणिक कारणों को सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं। उनके अनुसार प्राकृतिक वातावरण या जनसंख्या के रूप में परिवर्तन सामजिक परिवर्तन के लिए

उत्तरदायी है। पीछे हम भौगोलिक निर्णयवाद की विस्तृत समालोचना कर चुके हैं। इसी प्रकार जनसंख्या का तत्त्व भी कोई पूर्व-निर्धारित तत्त्व नहीं है। हम जानते हैं कि किस प्रकार एक ही समाज में जन्म और मृत्यु-दर घट या बढ़ जाती है। सामाजिक तत्त्वों का इसको प्रमाणित करने में मुख्य हाथ है।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या. प्राकृतिक या प्राणिक निर्णयवाद को छोड़कर, कुछ लेखकों ने किसी एक सामाजिक तथ्य को लेकर उसे सामाजिक परिवर्तन का कारण माना है। मार्क्स की इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या इसी श्रेणी में आती है। इस मत के समर्थकों ने आर्थिक कारण की स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। कई बार वह इसमें राजनैतिक कारणों का भी समावेश कर लेते हैं। मार्क्स और ऐंजिल्स उसमें यन्त्रविद्या (Technology) का भी समावेश करते नजर आते है। उनके अनुसार "उत्पादन की प्रणाली सामाजिक, राजनैतिक और बौद्धिक जीवन का स्वरूप निर्धारित करती है।" किन्तु वह यह बताने में असमर्थ रहे हैं, कि उत्पादन-प्रणाली में यह परिवर्तन किस प्रकार शुरू होते हैं। साथ ही आर्थिक स्वार्थों की व्याख्या करते हुए वह उसमें राजनैतिक तथ्यों का भी समावेश कर लेते है और व्यक्तिगत स्वार्थों को वर्ग-स्वार्थ कहते हैं। जब कि आर्थिक कारण की परिभाषा इतनी अनिश्चित हो, उससे इसे सिद्ध करना बड़ा आसान हो जाता है।

जब हम 'स्वार्थ' की विवेचना करते है, तो हमारे लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आखिर यह स्वार्थ है क्या ? यह कोई जन्मजात निश्चित सहज प्रेरणा नही है। मनुष्य के विश्वास, धारणाएं, ज्ञान और मान्यताएं उसे बदलते रहते है। यह स्वार्थ, जैसा कि कुछ लोगों का विश्वास है, सदा आर्थिक नहीं होता। उदाहरण के लिए भारत में मुसलमानों के द्वारा की गई पाकिस्तान के रूप में एक पृथक् राष्ट्र की मांग आर्थिक स्वार्थों द्वारा प्रेरित न थी। यह पहले ही अच्छी तरह ज्ञात था कि पाकिस्तान आर्थिक दृष्टि से एक कमजोर राष्ट्र होगा। फिर भी मुसलमानों ने धार्मिक भावना से प्रेरित होकर उसकी माग की! यहां पर आर्थिक भावना ने नहीं, बल्कि धार्मिक भावना ने उनके व्यवहार को निर्धारित किया। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हम सामाजिक क्षेत्र में देख सकते है।

संतुलन (Equilibrium) का दृष्टिकोण. सामाजिक परिवर्तन को सही रूप में समझने के लिए यह आवश्यक होगा कि हम सामाजिक परिवर्तन के एक ही नियम का आग्रह छोड़ दें। इसके लिए हमें अनेक कारणों पर एक साथ दृष्टिपात करना होगा। सामाजिक संतुलन की कल्पना इस दिशा में उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

सामाजिक व्यवस्था एक सदा-परिवर्तित संतुलन है। भावनाएं, मान्यताएं, अंतिम लक्ष्य और उनकी प्राप्ति के साधन, वह समस्त यांत्रिक, आर्थिक, धार्मिक और

नैतिक क्रियाएं जिनमें यह सब तत्व सम्मिलित हैं, इन सब क्रियाओं को विभिन्न स्थितियों में क्रियान्वित करने के कानून, संस्थाएं, जन-रीति, रूढ़ियां, सम्पर्क, सहयोग, विरोध और सात्मीकरण-जैसी वह सब प्रक्रियाएं जो कि इन नियमों को एक रूप देती हैं, मिल कर एक समय में सामाजिक संतुलन का निर्माण करती हैं। इन अनेकानेक वस्तुओं में से कोई भी तत्त्व समाज का संतुलन भंग कर सकता है। अतः हम किसी एक तत्त्व को निर्णायक महत्व नहीं दे सकते। यह संतुलन की कल्पना सभी सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में अत्यन्त उपयोगी है। अर्थशास्त्र में तो इसका सफल प्रयोग हुआ है। समाजशास्त्र के क्षेत्र में परेटो और टालकौट पार्सन्स ने विशेष रूप से इसे विकसित किया है। सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए यह कल्पना अत्यन्त उपयोगी है।

सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा. मैकाइवर ने संस्कृति को भौतिक और अभौतिक दो भागों में विभक्त करने में आपत्ति प्रकट की है। उसने उन्हें उपयोगी (Utilitarian) और सांस्कृतिक दो भागों में बांटा है। उपयोगी या भौतिक तत्त्वों को उसने सभ्यता का नाम दिया है। जबकि अभौतिक तत्त्व, जिनका कार्य किसी बाह्य आवश्यकता की पूर्ति न होकर आंतरिक आनन्द की सृष्टि है, उसके अनुसार संस्कृति है। उसके अनुसार सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन का विषय है। यह सामाजिक परिवर्तन उपयोगी तत्त्वों अर्थात् सभ्यता के परिवर्तनों से शुरू होता ह। इस प्रकार हमारी संस्कृति की परिभाषा सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा को भी बदल देती है। हमने संस्कृति को भौतिक और अभौतिक दो भागों में बांटा है। अतः हम गिलित गिलिन के शब्दों में सामाजिक परिवर्तन की निम्न परिभाषा दे सकते है:

"जीवन रीति के स्वीकृत तरीकों में परिवर्तन, चाहे वह भौगोलिक अवस्था के सांस्कृतिक साधनों या, जनसंख्या के स्वरूप के या विचारधारा के बदलने से हो, चाहे वह प्रसार से हो, या समूह के अपने आविष्कार से, सामाजिक परिवर्तन है।)

सामाजिक परिवर्तन के कारण

इसके अलावा सामाजिक परिवर्तन के क्या स्रोत है, इस सम्बन्ध में हम अधिकांश लेखकों को दो भागों मे बांट सकते है। एक तो आविष्कार (Invention) को सामाजिक परिवर्तन का कारण मानते है। दूसरे प्रसार (Diffusion) को परिवर्तन के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं। वास्तव में सांस्कृतिक परिवर्तन में दोनों ही कारणों का हाथ होता है।

वातावरण के परिवर्तन. किसी समाज के प्राकृतिक वातावरण में परिवर्तन आने से सामाजिक सम्बन्धों और साधनों, दोनों में परिवर्तन उपस्थित होते हैं। प्राकृतिक वातावरण तीन प्रकार से प्रभावित हो सकता है, (१) प्राकृतिक परिवर्तनों द्वारा, (२) मनुष्यों के प्रयत्नों द्वारा, अथवा (३) निष्क्रमण या निवास स्थान बदलने

के कारण। भौगोलिक वातावरण का अध्ययन करते समय हम विस्तार से प्राकृतिक परिवर्तनों पर प्रकाश डाल चुके हैं। मनुष्य् के प्रयत्नों और निष्क्रमण का वातावरण के बदलने और बनाने में बड़ा हाथ है।

जनसंख्या. कोई भी कारण जो कि जनसंख्या के स्वरूप, स्त्री पुरुषों की संख्या, जन्म, मृत्यु-दर, और विभिन्न उम्र के लोगों के अनुपात पर प्रभाव डालता है, सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं और संगठन को प्रभावित करता है। लेकिन इन परिवर्तनों का किसी समाज विशेष में प्रभाव सर्वथा निश्चित नहीं है। उस समाज की मान्यताएं, परम्परा और उसकी यांत्रिक उन्नति इत्यादि, अनेक तत्त्व इसे प्रभावित करते, हैं। पर इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि जनसंख्या के स्वरूप में परिवर्तन भी सामाजिक परिवर्तन में सहायक होते है। स्वयं जनसंख्या के परिवर्तन एक समाज में प्रेरणाओं और मान्यताओं के रूप को बदल सकते हैं।

सामाजिक सांस्कृतिक कारण. एक संस्कृति की अपूर्णताएं स्वयं उसके परिवर्तन की प्रेरणा जुटाती हैं। जितना अधिक किसी समाज में विद्यमान स्थिति से असंतोष और अतृप्ति होगी, उतना ही अधिक हम वहाँ पर परिवर्तन की संभावना कर सकते है।

नयीरीतियों का प्रवेश. केवल समाज में विद्यमान रीतियों से असंतोष ही उसमें परिवर्तन लाने के लिए पर्याप्त नहीं है। रिवाजों को बदलने के लिए यह भी जरूरी है, कि लोगों को नई रीतियाँ आजमाने के लिए तैयार किया जा सके। अतः परीक्षण के लिए नए सांस्कृतिक तत्त्वों को प्रस्तुत करना सांस्कृतिक परिवर्तन की आवश्यक शर्त है। आधुनिक समाजों में आविष्कारों की बढ़ती संख्या जनता के सामने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के नित नए और अधिक साधन उपस्थित कर रही है।

नई रीतियों की स्वीकृति. केवल आजमाइश के लिए संस्कृति के नए तत्त्वों का पेश करना ही काफी नहीं है, उसके लिए यह भी जरूरी है कि लोग उसे अपनाने के लिए तैयार हो। सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्थाएं इस प्रवृत्ति को बढ़ाने और घटाने में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

परिवर्तन में प्रभावशाली व्यक्तित्व का हाथ. यद्यपि सामाजिक परिवर्तन का अर्थ जनता के पारस्परिक सम्बन्धों और व्यवहार में अन्तर का आना है, इन परिवर्तनों को लाने में प्रतिभाशाली और प्रभावशाली व्यक्तियों का भी बड़ा हाथ होता है। महापुरुष सदा ही महान् आंदोलनों और परिवर्तनों के स्रष्टा होते हैं। भारत के इतिहास में ही कौटिल्य, बुद्ध, महावीर, कबीर, दयानन्द, राममोहन राय, महात्मा गांधी को सामाजिक परिवर्तन लाने का कम श्रेय नहीं है। योरोप और अमरीका के इतिहास में सुकरात, ईसा मसीह, गैलीलियो, न्यूटन, नैपोलियन, कार्लमार्क्स,

लेनिन, स्टीफैन्सन, फैराडे, ऐडीसन, लिंकन, ग्राहमबेल ऐसे ही महापुरुष हैं ।

युद्ध का परिवर्तन में भाग. समस्त प्रकार के भीषण सामूहिक संघर्ष अनेक प्रकार की कठिनाइयों और नई परिस्थितियों को जन्म देते है। राष्ट्रीय युद्ध इनमें सबसे प्रमुख हैं। युद्धों में बड़ी मात्रा में जनसंख्या और भौतिक सम्पत्ति की बर्बादी होती है। युद्ध में संलग्न राष्ट्रों को अपने सामाजिक संगठन मे क्रान्तिकारी परिवर्तन करने पड़ते है। हारे हुए राष्ट्रों को जीते हुए राष्ट्रों की इच्छाओं के सामने सिर झुकाना पड़ता है। युद्ध आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक पारिवारिक, शैक्षणिक और मनोरंजन सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण परिवर्तनों की सृष्टि करते हैं। इन परिवर्तनों का स्वरूप सभी समाजों में एक-सा नहीं होता ।

परिवर्तनों का अन्तःसम्बन्ध. किसी समाज में नए सास्कृतिक तत्वों का आगमन केवल कुछ नई चीजों और मान्यताओं को ही नहीं बढ़ा देता, न ही वह केवल कुछ पुरानी चीजों या संस्थाओं के स्थान मे नई चीजें या संस्थाएं ला देता है बल्कि वह समस्त सामाजिक और सांस्कृतिक संगठन में परिवर्तन उपस्थित करता है।

यान्त्रिक परिवर्तन. इस दृष्टि से नए यन्त्रों का प्रवेश महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन लाता है। उदाहरण के लिए, भाप और बिजली से चलने वाली मशीनों के आगमन ने केवल उत्पादन के पैमाने, सम्पत्ति की मात्रा और रहन-सहन के स्तर को ही नही बदला, बल्कि उसने पारिवारिक सम्बन्धों, बच्चों की शिक्षा की पद्धति, विभिन्न समूहों के एक-दूसरे से सम्पर्क, मालिकों और मजदूरों के व्यक्तिगत सम्बन्धों मे भी अत्यधिक परिवर्तन पैदा किए।

विचारधाराओं का प्रभाव. केवल नए यान्त्रिक आविष्कार ही परिवर्तन में महत्वपूर्ण नहीं हैं, नई विचारधाराएं भी उसमें महत्वपूर्ण भाग लेती है। जहां एक ओर खोजें और आविष्कार स्वयं सामाजिक विचारधाराओं को प्रभावित करते हैं, वहां स्वयं विचारधाराएं अनेक अंशों में उनकी दिशा और उपयोग को निश्चित करती है। विज्ञान पुराने विश्वासों और परम्पराओं पर प्रहार करता है। वह हमें प्रकृति और विभिन्न व्यक्तियों के सम्बन्ध और स्वरूप के विषय में नई दृष्टि प्रदान करता है। विज्ञान की खोजों का हमारे धार्मिक विश्वासों पर प्रबल प्रभाव पड़ा है। नई राजनैतिक विचारधाराएं राज्य के स्वरूप और नियन्त्रण के प्रकार पर अपना असर डालती हैं। आधुनिक प्रजातंत्र, एकतंत्र और साम्यवाद के उदय को हम केवल यांत्रिक कारणों से नहीं समझा सकते। इसी प्रकार स्त्री-पुरुषों के बदलते सम्बन्धों को हम एकांततः उत्पादन के क्षेत्र में हुए क्रान्तिकारी परिवर्तनों से ही नहीं जान सकते। उसके लिए स्त्री पुरुषों के यौन सम्बन्धों के विषय में प्रचलित नई विचारधाराएं भी महत्वपूर्ण प्रभाव दिखाती हैं। विचारधाराओं की सहायता से हम यह समझ सकते हैं कि किस प्रकार एक प्रकार के यन्त्रों की सहायता से इंग्लैंड

और अमरीका ने नियन्त्रित पूंजीवाद, स्वीडन नें प्रजातान्त्रिक समाजवाद और रूस ने सोवियत साम्यवाद-जैसे भिन्न सामाजिक संगठनों को जन्म दिया और कायम रखा है। यही, नही एक ही समाज में मनोविज्ञान, समाजशास्त्र की खोजें अनेक बार सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करती है। अतः सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन में विचारधाराओं का अध्ययन भी आवश्यक है।

उक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन करते समय हमें चारों ओर दृष्टि रखनी पड़ती है। हम किसी एक कारण से उसे नहीं समझा सकते।

संगठन समाज का आधार. सामाजिक जीवन और सामाजिक कल्याण के लिए समाज में संगठन की आवश्यकता अनुभव होती है। किसी शरीर या वस्तु के विभिन्न अंगों और क्रियाओं के सुचारु समायोजन को हम संगठन कह सकते हैं। मानव-शरीर सगठन का एक सुन्दर उदाहरण है, जिसमें खाने, श्वास लेने और मल त्यागने के आवश्यक अंग है। रक्त का संचार और नाडी-संस्थान पोषण, वस्तुबोध और क्रियाओं का समुचित संचालन करते है। किन्तु इस शरीर के किसी अंग या कुछ अंगों अथवा संस्थानों मे किसी भी कारण से कोई विकार उत्पन्न हो जाने अथवा क्षति घटित हो जाने पर वह सुचारु रूप से अपना कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में, हम उसे रुग्ण या विघटित कह सकते है।

किसी भी संस्कृति के विभिन्न भौतिक और अभौतिक तत्त्व, रीति-रिवाज विकास और धारणाएं, पारिवारिक, आर्थिक, राजनैतिक और शिक्षण-संस्थाएं, क्रीड़ा-मनोरंजन क्रियाएं एक समाज के संगठन का आधार होती है। जब तक किसी समाज में भौतिक संस्कृति के विभिन्न विभाग, मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ, एक-दूसरे के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलती हैं, उन सब मे एक मूलभूत एकता, अनुकूलता, पूरकता विद्यमान रहती है, और हम कह सकते है कि वह समाज संगठित है। पर जैसे ही उसके कुछ या समस्त विभागों में किसी प्रकार की विषमता, प्रतिकूलता, प्रतियोगिता प्रारम्भ हो जाती है, समाज विघटन की ओर अग्रसर होने लगता है।

सामाजिक विघटन. संक्षेप में, समाज की विभिन्न शक्तियों का असंतुलन सामाजिक ढाचे की विशृंखलता, पूर्व विद्यमान सामाजिक नियन्त्रणों की असफलता सामाजिक विघटन के प्रमुख लक्षण हैं :

सामाजिक परिवर्तन सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में असन्तुलन की सृष्टि करता है; अतः यह सामाजिक विघटन का मूल स्रोत है; अथवा सामाजिक विघटन सामाजिक परिवर्तन का ही एक पहलू है। सामान्यतः, यह सामाजिक स्थिरता और सामाजिक पुनःसंगठन के बीच की अवस्था है। और फिर, सामाजिक

संगठन और सामाजिक विघटन दोनों ही सापेक्ष शब्द हैं। सामाजिक संगठन की भाँति ही सामाजिक विघटन की भी कमी या अधिकता हो सकती है। समाज का गतिशील स्वभाव अपने विभिन्न भागों में निरन्तर एक पुनर्व्यवस्थापन की आवश्यकता की ओर संकेत करता है। इस पुनर्व्यवस्थापन से उत्पन्न परिवर्तन पहले सामाजिक ढांचे के अभिन्न अंगों, संस्थात्मक सम्बन्धों और व्यवहार-रीति में एक विशृंखलता ला देता है। परिवर्तन की गतिशीलता नई रीतियों की स्थापना को कठिन बना देती है। इस बीच वर्तमान समाज का नियन्त्रण उन साधनों से होता है, जो उस समाज में बने थे, जो अब लौट कर नहीं आयेगा।

सामाजिक विघटन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी समूह के विभिन्न सदस्यों के बीच विद्यमान सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाते है। सामाजिक विघटन वस्तुतः समूह के विघटन की प्रक्रिया है, चाहे वह समूह परिवार हो, पड़ौस हो, समुदाय हो अथवा राष्ट्र।

सामाजिक विघटन के कारण

आगे हम संक्षेप में उन शक्तियों का विश्लेषण करने का प्रयत्न करेंगे जो कि इस विशृंखलता को जन्म देती हैं और किस भांति वह विभिन्न वर्गों अथवा व्यक्तियों को प्रभावित करती है। प्रत्येक व्यक्ति अनेक समूहों के सूत्रों में बंधा होता है और वह सभी सूत्र एक साथ ही नहीं टूट जाते। एक व्यक्ति के एक समूह से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने पर अन्य समूहों से सम्बन्ध अविच्छिन्न रह सकते है। पर जैसे ही किसी एक समूह से यह सम्बन्ध टूटते हैं, सामाजिक विघटन विद्यमान होता है।

अनेक कारणों की सह-उपस्थिति. अन्य सामाजिक घटनाओं की भांति ही सामाजिक विघटन का स्वभाव बहुत जटिल है। हम इसका कोई एक कारण नहीं ढूंढ सकते। धर्म का ह्रास, परिवार का परिवर्तित ढाँचा, शासन-व्यवस्था का नया स्वरूप, उत्पादन के नये यन्त्र, नई सामाजिक विचार-धाराएं, सभी इसमें अपना-अपना योग दे रहे हैं। एक कारण बताने के धुनी लोगों ने इन कारणों में से एकान्ततः किसी एक को सामाजिक विघटन के लिए उत्तरदायी ठहराया है।

आज भी हमारे यहां ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जो धार्मिक विधि-विधान या धार्मिक शक्ति के ह्रास को वर्तमान सामाजिक विघटन की विभिन्न अभिव्यक्तियों, अपराध, अनैतिक भ्रष्टाचार, बेकारी, और पारिवारिक कलह का एकमात्र कारण मानते हैं। कुछ लोग मशीनों को इन सब परेशानियों की जड़ मानते हैं। एक अन्य वर्ग की राय में सुप्रजनन-शास्त्र (Eugenics) के सिद्धान्तों पर न चलना ही आधुनिक कष्टों का मूल है।

इनमें से प्रत्येक व्यक्ति या वर्ग अपनी रुचि और रुझान के अनुसार किसी एक तथ्य को ही सामाजिक विघटन का कारण मानने लगता है। वास्तव में सामाजिक बुराइयों के किसी एक कारण का खोजने वाला व्यक्ति किसी एक समस्या के नाना पहलुओं को समग्र रूप से समझने में असमर्थ रहता है। इस प्रकार की तर्कप्रणाली को ही "विशेषात्मक भ्रान्ति" (Particularistic fallacy) कहते है। अतः सामाजिक विघटन को सही रूप में समझने के लिए हमें उन समस्त पहलुओं पर विचार करना होगा, जो कि इससे सम्बद्ध हैं। हम देखेंगे कि सभी विघटित व्यक्ति, दुराचारी, अपराधी, वेश्या आदि, जनता के अन्य सदस्यों की ही भांति होते हैं। विघटित व्यवहार कभी भी किसी एक विशेष कारण का परिणाम नहीं है। वास्तव में उसमें विभिन्न कारण अन्तर्हित हैं।

अध्ययन की सुविधा के लिए हम सामाजिक विघटन को प्रेरित करने वाली पांच प्रमुख परिस्थितियों की ओर संकेत कर सकते है। वह है, (१) सामाजिक ढांचा, (२) सामाजिक परिवर्तन, (३) सामाजिक धारणाएं, (४) सामाजिक मूल्य और (५) सामाजिक संकट। वास्तव में यह सब परिस्थितियां भी एक दूसरे से पर्याप्त घनिष्ठतया सम्बद्ध है। नीचे हम संक्षेप में इन पर विचार करेंगे।

१. सामाजिक ढांचे (Structure) में परिवर्तन

एक गतिशील समाज में सामाजिक ढांचा निरंतर तेजी से बदलता रहता है। व्यक्ति का पद (Status) और भूमिका (Role) ठीक निश्चित नहीं होती और व्यक्ति अपने को ऐसी स्थिति में पाते हैं जहां कोई पूर्वनिर्धारित व्यवहार विद्यमान नहीं होते। गतिशील समाज में स्थिर और स्थायी व्यवहारों को निश्चित करना बहुत कठिन हो जाता है। परिणामतः, पद और भूमिका में पर्याप्त हेर-फेर होता रहता है। बहुत से व्यक्तियों को सर्वदा नई भूमिका ग्रहण करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। यह प्रक्रिया समाज के लिए बहुत बार हितकर सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार एक गतिशील समाज में स्वयं ही सामाजिक विघटन के तत्त्व अन्तर्हित होते हैं। जो तत्त्व सामाजिक ढाँचे को गतिशील बनाते हैं वही उसे विघटित भी करते है।

पद (Status) **और भूमिका** (Role) **सामाजिक निर्धारण का परिणाम.** सामाजिक पद और भूमिका सामाजिक निर्धारण का परिणाम होते है। समाज ही अधिकांश व्यक्तियों के लिए यह निर्णय करता है कि वह क्या पद ग्रहण करें और कौन सी भूमिका अदा करें। जब यह पद और भूमिकाएं स्पष्ट और निश्चित होती हैं, समाज सापेक्षतः सुसंगठित होता है। जब कि ऐसा नहीं होता, विघटन घटित होता है। हमारे वर्तमान समाज में पाश्चात्य शिक्षा और आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तनस्वरूप पद और भूमिका के सम्बन्ध में स्पष्टता और निश्चितता निरन्तर

कम होती जा रही है ,और परिणामतः विघटन के बीज बोए जा रहे है ।

प्रत्याशित पद और भूमिका तथा उसकी पूर्ति में व्यवधान. एक विघटित समाज में व्यक्तियों द्वारा इच्छित और प्रत्याशित पद और भूमिका की कल्पना और उनकी वास्तविक स्थिति में सदैव एक बड़ा अन्तर प्रदर्शित होता है। प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति को ऐसे आदर्शों का सामना करना पड़ता है, जिन्हें शायद वह कभी भी प्राप्त नहीं कर पाता । वह विश्वास करने लगता है कि वह एक करोड़पति बन सकता है, अनुपम सुन्दरी से विवाह कर सकता है, देश का राष्ट्रपति चुना जा सकता है, इत्यादि । परन्तु वस्तुतः, उसके ऐसी किसी भूमिका के अदा करने के अवसर बहुत ही कम होतें है । परिणाम यह होता है कि अन्ततोगत्वा निराश हो, अधिकांश व्यक्तियों को अपनी अतृप्त आकांक्षाओं को तृप्त करने के लिए समाज-विरोधी कार्यों में कूदना पड़ता है । इसका ज्वलंत उदाहरण वह व्यक्ति है जो चोरी, छल, कपट, गबन, चोरबाजारी तथा अन्य समाज विरोधी तरीकों से करोड़पति बनने का प्रयत्न करता है । वह समाज जहां कि जनसंख्या के पर्याप्त अनुपात समाज द्वारा अस्वीकृत तरीकों से अप्राप्य भूमिकाओं को अदा करने का प्रयास करते है, स्पष्टतः सापेक्षतया विघटित है।

सामाजिक एकमतता (Consensus) का अभाव. एक विघटित समाज में प्रमुख भूमिकाओं के बारे में कोई सामाजिक एकमतता नहीं होती । उदाहरणार्थ, आज हमारे समाज में एक पत्नी कौन सी भूमिका अदा करे यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। वह माता की, या कमाने वाली की, या घर की शोभा बढ़ाने वाली की, अथवा एक दिल बहलाने वाले साथी की भूमिका अदा करे, यह निश्चित नहीं है । इनमें से कुछ भूमिकाएं तो एक-दूसरी की पूरक है, पर कुछ ऐसी नहीं है। एक स्त्री के लिए विभिन्न भूमिकाओं को अदा करने के प्रयत्न का परिणाम व्यक्तिगत निराशा ही होता है ।

एक अगितशील और पूर्णतया एकीकृत समाज में किसी व्यक्ति का पद और भूमिका रीति-रिवाज द्वारा स्पष्टतः पूर्वनिर्धारित होते हैं। अतः व्यक्ति को इस सम्बन्ध में चिन्तित नहीं होना पड़ता । सामाजिक परिवर्तन की तीव्रता ने, हमारे समाज के पुराने ढांचे को छिन्न-भिन्न कर दिया है और परिर्वातित आर्थिक सामाजिक अवस्थाओं ने व्यक्तियो को परम्परागत व्यवहार को छोड़ने पर मजबूर किया है ।

परिणामतः एक विघटित समाज में लोग वैसा व्यवहार नहीं कर पाते जैसा कि उनसे आशा की जाती थी । जब कि पत्नी को घर से बाहर काम करना पड़ता है, पति को स्थायी जीविका नहीं मिलती , अथवा उसे जीविका की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमना पड़ता है, उसके बच्चे पहले की तुलना में कम होते

हैं, व्यक्ति उन भूमिकाओं को अदा नहीं कर सकते जो कि सर्वथा भिन्न, सरल परिस्थितियों के लिये उपयुक्त थीं। जब कि अधिक संख्या में लोगों को अप्रत्याशित स्थितियों का सामना करना पड़े,, समाज विघटित कहा जायेगा।

एक विघटित समाज में विश्वास और व्यवहार, प्रत्याशा (Expectation) और प्राप्ति(Achievement)में सदैव विस्तृत अन्तर विद्यमान रहता है। व्यक्ति ऐसे पदों की प्राप्ति या भूमिका अदा करने की शिक्षा ग्रहण करते हैं, जो कि उन्हें कभी भी प्राप्त नहीं होते। इसके विपरीत, एक संगठित समाज में प्रत्याशा और प्राप्ति में पर्याप्त सामंजस्य पाया जाता है पर शीघ्र परिवर्तित समाज में बड़ों द्वारा अपने बच्चों के लिए निर्धारित भूमिकाएं कोई अर्थ नहीं रखतीं। परिणामतः, अप्रत्याशित परिस्थितियों में व्यक्तियों की असफलता की निराशा उन्हें समूह के ही विरुद्ध खड़ा कर देती है।

२. सामाजिक परिवर्तन का प्रतिरोध

एक संस्कृति के अभौतिक तत्त्व उसकी विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का रूप धारण कर लेते हैं, जिन्हें बदलना सुगम नहीं होता। वह संस्थाएं जो कि एक समाज में स्थिरता लाती हैं, परिवर्तन के प्रति अपने हठ और प्रतिरोध के कारण प्रायः सामाजिक विघटन का कारण बन जाती है। किसी संस्था अथवा समाज के जीवित रहने के लिए अनिवार्य है कि वह परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार अपने को संशोधित कर सके।

जहां कहीं भी सांस्कृतिक परिवर्तन की गति सापेक्षतया तीव्र है, नई परिस्थितियों और पुरानी जीवन प्रणाली के विरोध से सामाजिक ढांचा निरन्तर हिलता रहता है। सामाजिक विघटन सामाजिक परिवर्तन और प्रगति की कीमत का एक अंश है।

सांस्कृतिक पिछड़न (Cultural Lag) यह एक सर्वविदित तथ्य है कि भौतिक संस्कृति की तुलना में अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन बहुत मन्द गति से होते हैं। संसार में कोई वस्तु इतनी मन्द गति से परिवर्तित नहीं होती जितना कि विचार। भौतिक संस्कृति के परिवर्तन में अधिक कठिनाई नहीं होती। इसका कारण भी है। एक बैलगाड़ी की तुलना में एक मोटरकार की श्रेष्ठता प्रदर्शित करना विशेष कठिन नहीं होता। पर एक नये राजनैतिक या सामाजिक आविष्कार की श्रेष्ठता प्रदर्शित करना और उसे अपनाना इतना सुगम नहीं होता। उससे हमारी उन भावनाओं को आघात पहुंचता है, जिन्हें हमने बचपन से संजोया है। यही कारण है कि जहां हम सरलता से नये भौतिक परिवर्तनों को स्वीकार कर लेते हैं ,वहां अभौतिक परिवर्तनों को स्वीकार करने में प्रबल प्रतिरोध प्रदर्शित करते हैं। इसका परिणाम भौतिक और अभौतिक क्षेत्र के परिवर्तनों में विषमता

की सृष्टि होता है । इसी विषमता को सांस्कृतिक पिछड़न का नाम दिया गया है ।

भौतिक संस्कृति में परिवर्तन अभौतिक संस्कृति में भी तदनुसार परिवर्तन की आवश्यकता पर बल देते हैं । आधुनिक यातायात और संवादवहन के साधनों ने आज दूरी की समस्या को बिलकुल बदल दिया है, और परिणामतः, राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में विस्तृत परिवर्तनों को अनिवार्य बना दिया है । इसी प्रकार कृषि और उद्योग के नये यन्त्रों और संगठनों ने हमारे आर्थिक ढांचे में विशाल परिवर्तन ला दिये हैं । विभिन्न भौतिक परिवर्तनों के साथ-साथ समस्त अभौतिक क्षेत्र में भी उसके अनुसार परिवर्तन लाना आधुनिक युग की सबसे प्रधान समस्या है ।

३. सामाजिक धारणाओं (Attitudes) में विषमता

एक संतुलित सांस्कृतिक समीकरण (Adjustment) के लिए आवश्यक है कि सामाजिक व्यवहार में परिवर्तित यन्त्रों, परिवर्तित आर्थिक मांगों और परिवर्तित संस्थात्मक आवश्यकताओं के अनुसार सुधार हो। परन्तु मनुष्य की चिरपोषित धारणाएं प्रायः बहुत धीरे-धीरे बदलती हैं । और जब नयी धारणाएँ पुरानी स्वीकृत धारणाओं को मानने से इनकार कर देती है, सामाजिक विघटन की सृष्टि हो जाती है । व्यक्ति परम्परागत व्यवहार को तिलांजलि दे देते हैं । सामाजिक धारणाओं और मूल्यों में यह संशोधन परिवर्तन का कारण न होकर उसका परिणाम होता है ।

एक सामाजिक धारणा "व्यक्तिगत चेतना की वह प्रक्रिया है जो समाज में व्यक्ति की यथार्थ और संभावित क्रियाओं को निर्धारित करती है ।" धारणाओं की वस्तुओं और परिस्थितियों से पृथक् कोई सत्ता नहीं है । वह सदैव ही किसी लक्ष्य या परिस्थिति से सम्बद्ध होती है । एक सामाजिक धारणा मन की एक स्थिति है । यह मनःस्थिति स्वयं विभिन्न वस्तुओं और परिस्थितियों का परिणाम होती है । एक अमेरिकन या रूसी बच्चा स्कूल में ही साम्यवाद और पूंजीवाद के प्रति अपनी एक विशिष्ट धारणा बना लेता है । एक व्यक्ति स्वयं अपनी विशेष उप-संस्कृति या समूह से ऐसी धारणाएं ग्रहण कर सकता है, जो कि सार्वजनिक हित के विरुद्ध हो सकती है । एक वेश्यालय में पली लड़की अनायास ही अनैतिकता की ओर अग्रसर होती है ।

ऐसी धारणाओं का ज्ञान, जो कि व्यवहार के विद्यमान नियमों की क्षमता को नष्ट करती हैं, और इस प्रकार सामाजिक संस्थाओं पर प्रहार करती हैं, सामाजिक विघटन के लिए परमावश्यक हैं ।

४. सामाजिक मूल्यों (Values) का विरोध

प्रत्येक समाज की कुछ मान्यताएं अथवा मूल्य होते हैं जो कि प्रत्येक समूह की सांस्कृतिक विरासता का आधारभूत अंश होते है। वह इस बात का निर्धारण करते हैं कि समाज किस बात को महत्त्वपूर्ण और उचित अथवा किसे नगण्य और अनुचित समझता है। मूल्य हमारे व्यवहार के निर्णय में बड़ा भाग अदा करते हैं। तलाक हमारे लिए एक समस्या बन जाता है, क्योंकि उससे हमारी विवाह सम्बन्ध की अविच्छेद्यता की मान्यता पर कुठाराघात होता है। विवाह से पूर्व यौन-सम्बन्ध अनैतिक घोषित किए जाते हैं क्योंकि वह हमारी विवाह से पूर्व ब्रह्मचर्य की कल्पना के विरुद्ध जाते है। इस तरह समस्त क्षेत्रों में सामाजिक मूल्य सामाजिक संगठन का अभिन्न अंग होते हैं। ज्यों ही सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध आवाज उठती है, सामाजिक विघटन शुरू हो जाता है।

जब लोगों में सामाजिक एकमतता नष्ट हो जाय और वह व्यक्तिगत अथवा वर्गीय स्वार्थ की दृष्टि से सामाजिक प्रश्नों पर सोचना शुरू कर दें, सामाजिक विघटन विद्यमान माना जाएगा। हमारे आधुनिक समाज में इस एकमतता का अभाव अच्छी तरह व्यक्त हुआ है। संगठित धर्म के ह्रास, संयुक्त परिवार के विघटन और परस्पर विरोधी राजनैतिक विचारधाराओं के उदय और विकास में यह विघटन भली-भांति प्रकट हुआ है। आधुनिक समाज में अर्थशास्त्र, राजनीति, वैदेशिक सम्बन्ध, धर्म, परिवार इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों पर, बहुसंख्यक जनता मे एकमतता का अभाव है। परिवर्तित संसार ने विभिन्न सामाजिक विचारधाराओं को जन्म दिया है।

हमारे यहां आज से सौ साल पहले महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रश्नों पर जो एकमतता व्यक्त होती थी, वह शनैः-शनैः समाप्त होती जा रही है। पाश्चात्य शिक्षा, औद्योगीकरण, आधुनिक यातायात और संवादवहन के साधनों, आर्थिक मन्दियों, सामाजिक, राजनैतिक परिवर्तनों, नये सामाजिक कानूनों तथा युद्ध ने हमारी मान्यताओं और मूल्यों में पर्याप्त परिवर्तन ला दिए हैं और सामाजिक प्रश्नों पर एकमतता नष्ट करने में यथेष्ट योग दिया है।

धारणाएं और मूल्य सहवर्ती होते है और एक-दूसरे पर अत्यन्त निर्भर है। दोनों ही सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक मतवैषम्य को प्रकट करते है। समाज की गतिशीलता में वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक प्रश्नों, व्याख्याओं और सामाजिक मूल्यों में अधिक परिवर्तन स्वाभाविक हैं। एक सामान्य व्यक्ति ऐसी स्थिति में अपने को अधिकाधिक कठिनाई में पाता है। वास्तव में सामाजिक मूल्यों का यह समकालीन संघर्ष मानव इतिहास में सबसे विस्तृत सामाजिक विघटन को दर्शाता है।

५. संकटकालीन स्थिति (Crisis)

यद्यपि सामाजिक विघटन एक क्रमिक प्रक्रिया है, परन्तु संकटकालीन परिस्थितियों में इसके बहुत-से उग्ररूप उदय होते हैं। समूह के विचारों अथवा कार्यों में एक ऐसा गंभीर व्याघात, जो कि नई परिस्थितियों में पुरानी आदतों, रिवाजों और व्यवहार को प्रकट करे, सामाजिक संकट है। एक सामाजिक संकट व्यक्तिगत संकटों का भी सूत्रपात करता है, क्योंकि अधिकांश व्यक्ति अपने आप परिवर्तित परिस्थितियों का सामना नहीं कर सकते।

आकस्मिक और क्रमिक संकट. सामाजिक संकट दो प्रकार के हो सकते हैं: आकस्मिक और क्रमिक। जब किसी समूह की आदतों में एक आकस्मिक व्याघात उत्पन्न हो जाता है और रातों-रात उन्हें अपने कार्यों को नई परिस्थिति के अनुरूप ढालना पड़ता है, उसे आकस्मिक संकट कहा जाता है। नेताओं की मृत्यु, आकस्मिक दुर्घटनाएं, अकाल, भूकम्प, बैंक का फेल हो जाना अथवा शेयर बाजार का ठप्प हो जाना ऐसे ही आकस्मिक संकट हैं। हमारे लिए द्वितीय महायुद्ध भी एक आकस्मिक संकट था।

इसके विपरीत, एक क्रमिक संकट वह है जो दीर्घ काल में धीरे-धीरे उग्र रूप धारण करता है। नई नस्लों के वर्गों के सात्मीकरण (Assimilation) में उत्पन्न कठिनाइयां क्रमिक संकट का उदाहरण है। इसी प्रकार हमारी आर्थिक व्यवस्था में हुए परिवर्तनों ने एक क्रमिक संकट को जन्म दिया है। हमारी कृषि-अर्थ-व्यवस्था का सामाजिक संगठन धीरे-धीरे नष्ट होता जा रहा है। पर्याप्त संख्या में जीविका की खोज में लोग गांवों से शहरों को निष्क्रमण कर चुके है। आधुनिक बाजारों की मांग के परिवर्तन सामयिक आर्थिक मन्दियों को जन्म देत है और भीषण बेकारी को फैलाते है।

सामाजिक विघटन के प्रमुख रूप

आर्थिक मन्दी (Depression) **और बेकारी.** उत्पादन, विनिमय और यातायात के साधनों ने जहां एक ओर जनसाधारण के लिए उपभोग और आराम की वस्तुओं का जुटाना संभव बनाया है, वहाँ दूसरी ओर व्यक्तिगत लाभ के लिए पूंजीपतियों द्वारा संचालित अर्थ-व्यवस्था ने आर्थिक मन्दी—बेकारी जिसका परिणाम है, जैसे क्रमिक संकट को जन्म दिया है। उत्पादन के लिए धन लगाने (Investment) में आकस्मिक कमी के कारण बड़ी संख्या में मजदूर बेकार हो जाते है। इस प्रकार लाखों मजदूरों को बेकार कर, उनमें असंतोष और निराशा की वृद्धि कर और समाज-विरोधी भावनाएँ जगा आर्थिक मन्दी एक विकट सामाजिक विघटन को जन्म देती है। व्यक्तिगत लाभ के लिए उत्पादन, विनिमय और वितरण-यन्त्रों का उपयोग और सम्पत्ति का अत्यन्त असमान वितरण इस विघटन

के लिए उत्तरदायी हैं।

पारिवारिक विघटन. बड़े-बड़े कारखानों के बनने से पहले एक कृषक परिवार केवल स्नेह और कामसूत्र से ही नहीं, प्रत्युत् धर्म, अर्थ, शिक्षा और मनोरंजन के सूत्रों से भी बंधा था। इन बंधनों का तोड़ना कठिन था। किन्तु परिवार के अधिकांश कार्य आज बाहरी संस्थाओं के पास चले गये हैं। परिणामतः पारिवारिक बंधन ढीले हो गये हैं। ऐसी स्थिति में तलाक, विच्छेद और परित्याग बढ़ गये है। नई आर्थिक परिस्थितियों ने परिवार के ढाँचे को बदल दिया है, पर हमारी पुरानी पारिवारिक धारणाएं और मूल्य अभी परिवर्तन में पिछड़ गये है। इस कारण इस क्षेत्र मे भी सामाजिक विघटन विद्यमान है।

युद्ध. किसी भी समाज के लिए युद्ध एक महान् आपदा और संकट है। युद्ध आर्थिक क्षेत्र मे उत्पादन, विनिमय, वितरण में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित करते है। युद्धकाल मे उपभोग की वस्तुओं का भीषण अभाव हो जाता है। समाज की सारी शक्ति उपयोगी वस्तुएं बनाने के स्थान पर विनाश के साधनो के निर्माण मे लग जाती है। युद्धों में भीषण धन और जन की हानि उठानी पड़ती है। भय, घृणा क्रूरता लोगों कोआक्रान्त कर लेती है। व्यक्ति और विचारों की स्वाधीनता युद्ध-उद्देश्यों के लिए समाप्त कर दी जाती है। युद्धरत समाज युद्धकाल में एक दूसरे के विरुद्ध बर्बर व्यवहार की स्वीकृति दे, शाँतिकाल में भी उससे मुक्त नही हो पाते। बड़ी संख्या में पुरुषों के युद्ध-क्षेत्र में चले जाने अथवा मारे जाने के कारण, पारिवारिक जीवन नष्ट हो जाता है और व्यभिचार और चारित्र्य-शैथिल्य उसका स्थान ले लेते है। इस प्रकार हम देखते है कि युद्ध समस्त विद्यमान सामाजिक सम्बन्धों, धारणाओं और मूल्यों को छिन्न-भिन्न कर गंभीर सामाजिक विघटन की सृष्टि करते हैं।

अपराध. जब समाज में विघटन होता है, तब लोग परस्परागत नैतिकता और सदाचार की भावनाओं में विश्वास खो देते तथा विभिन्न आर्थिक मजबूरियों से प्रेरित हो समाज विरोधी दृष्टिकोण अपनाने की ओर अग्रसर होते है। परिणामतः अपराधों की वृद्धि होती है। किसी समाज में अपराधों की उपस्थिति ऐसे व्यक्तियों की उपस्थिति को सूचित करती है, जो कि असंतुष्ट है और अपने वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाये हैं। सामाजिक विघटन की अवस्था में ऐसे व्यक्तियों की संख्या असाधारण रूप से बढ़ जाती है। फलस्वरूप, अपराध भी बढ़ जाते हैं। अधिक अपराधों का होना किसी भी सामाजिक संगठन के लिए बड़ा खतरा और उसकी रोगी और विघटित अवस्था का द्योतक है।

उद्योगीकरण और सामाजिक विघटन

सामाजिक विघटन की सामान्य विवेचना करते हुए हम देख चुके

कि अन्य अनेक कारणों के साथ अनियोजित उद्योगीकरण (Unplanned Industrialisation) वर्तमान समाज में सामाजिक विघटन का एक प्रधान कारण है। अतः उस पर पृथक् रूप से कुछ कहना आवश्यक है।

उद्योगीकरण और सामाजिक संगठन को लेकर कुछ अन्वेषकों और विद्वानों ने कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य संकलित किये हैं। इन तथ्यों की जानकारी आत्युपयोगी है। यह अध्ययन मुख्यतः फ्रांस और अमरीका को लेकर किये गये है, किन्तु इनमें दिये हुए निष्कर्ष भारत पर भी पूरी तरह लागू होते हैं। वास्तव में जिन देशों में अनियोजित उद्योगीकरण हुआ, उन्हें ही प्रायः समान परिणामों का सामना करना पड़ा है।

लाप्ले का अध्ययन. फ्रेंच इंजीनियर फ्रेडरिक लाप्ले उन्नीसवीं सदी में फ्रांस मे उद्योगीकरण के प्रभावों का अध्ययन करते हुए इस परिणाम पहुँचे कि सरल संस्कृतियों में जहाँ कि जीविका का मुख्य साधन कृषि अथवा मछली पकड़ने के प्राथमिक उद्योग हैं, सामाजिक संगठन में स्थिरता है, जो कि विकसित उद्योग केन्द्रों मे नष्ट हो चुकी है। इन सरल संस्कृतियों में प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न आर्थिक और सामाजिक क्रियाओं को समझता है और अल्पाधिक अंश में उनमें भाग लेता है। परिवार और बिरादरी के वास्तविक या काल्पनिक बधन तथा प्रत्येक सामाजिक अवसर उसे प्रत्येक सदस्य से सम्बन्धित करते है और यहां पर सहयोगपूर्ण कार्य करने की क्षमता बहुत उच्चस्तर पर पाई जाती है। यह स्थिति ऐसी नही है, जहां कि जोर जब्र से सहयोग प्राप्त किया जाता है; इसके विपरीत व्यक्ति खुशी से स्वयं सहयोग देते हैं और व्यक्तिगत आकांक्षाओं और सामाजिक बिधान में किसी प्रकार का विरोध नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति इच्छापूर्वक सामाजिक कार्यों में योग देता है

लाप्ले की खोजों के अनुसार आधुनिक और औद्योगिक समुदायों की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। यहां पर विस्तृत सामाजिक विघटन व्याप्त है: सामाजिक विधान की सत्ता की उपेक्षा की जाती है बिरादरी और रक्त के बन्धन कमजोर हो गए हैं, शान्ति और स्थिरता की क्षमता निश्चित रूप से कम हो गई है। ऐस समुदायों में व्यक्ति दुखी हैं। परिवर्तन और नवीनता की इच्छा पागलपन की सीमा तक पहुंच गई है, जिसने विघटन को और भी बढ़ा दिया है। विभिन्न व्यक्तियों और समूहों के बीच प्रभावशाली सम्पर्क नष्ट हो गया है और उनके बीच स्वाभाविक और प्रभावशाली सहयोग की क्षमता भी परिणामतः नष्ट हो गई है। प्रसिद्ध फ्रेंच समाजशास्त्री दुरखाइम भी इससे मिलते-जुलते परिणामों पर पहुँचे हैं।

वर्तमान औद्योगिक समाज के अध्ययन से दो बातें तो स्पष्ट हैं—दुखी व्यक्तियों की संख्या निस्सन्देह बढ़ गई है तथा इससें विभिन्न समूहों में सहयोग का स्तर पर्याप्त निम्न है।

दुरखाइम का मत. दुरखाइम ने ठीक ही लिखा है कि हमारे विकास की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि उसने समस्त स्थापित सामाजिक प्रसंगों को नष्ट कर दिया है और उसका स्थान लेने के लिए कोई नई चीज पैदा नहीं हुई है। दूसरे शब्दों में द्रुत औद्योगिक, यान्त्रिक, भौतिक और रासायनिक उन्नति और प्रगति ने समस्त ऐतिहासिक और व्यक्तिगत सम्बन्धों को बिलकुल छिन्न-भिन्न कर दिया है। ऐसा लगता है, कि पहले की समस्त संस्थाओं में से केवल राज्य ही बचा है जिसने समाज के विभिन्न सामाजिक कृत्यों को अपने अन्दर आत्मसात् करने की चेष्टा की है। लेकिन वह उसमें सफल नहीं हो सका है।

भारतीय इतिहास के जिन विद्यार्थियों ने मेजर बी० डी० बसु लिखित भारत में अंग्रेजी राज्य के उत्कर्ष की कहानी पढ़ी है, वह उद्योगीकरण के प्रभाव से हुई भारतीय दस्तकारों की कंगाली, भुखमरी और दयनीय अवस्था से भली भांति परिचित है। यद्यपि भारत में उद्योगीकरण के सामाजिक प्रभावों का कोई वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हुआ है, पर इसमें संदेह नहीं कि भारत में उद्योगीकरण ने भीषण सामाजिक विघटन की स्थिति को उत्पन्न किया है।

लाप्ले और दुरखाइम के अध्ययनों से एक परिणाम प्रबल रूप में निकलता है कि औद्योगिक समाज में हम सहयोग को केवल चांस—संयोग पर नहीं छोड़ सकते। राजनैतिक और औद्योगिक इकाइयों में यह उपेक्षा केवल विश्रृंखलता और विनाश की ही सृष्टि करेगी। निस्संदेह पिछली शताब्दी में भौतिक विज्ञानों, रसायन और चिकित्सा के क्षेत्र में असाधारण उन्नति हुई है, किन्तु इस उन्नति के असाधारण विस्तार ने समाज के संतुलन को समाप्त कर दिया है। यदि हमारी सामाजिक कुशलता भी हमारी यान्त्रिक कुशलता के साथ कदम से कदम मिलाकर चलती, तो यह अव्यवस्था न होती। परिवर्तनशील समाज में हमें अपनी कुशलता को परिवर्तित अवस्था के अनुसार निरंतर परिवर्तित करते रहकर उसके अनुकूल बनाना होगा।

यदि हम भारत में जुलाहों का ही उदाहरण लें, तो हमें पता चलेगा कि मशीनों के आयात और उद्योगीकरण से पहले यहां पर जनसंख्या का बड़ा अनुपात कपड़ा कातने-बुनने के काम में लगा हुआ था। मशीनों के आगमन और उद्योगीकरण की प्रगति ने उनके रोजगार को बड़ा धक्का पहुंचाया। उनमें से अधिकांश बेकार हो गए। इस प्रकार समाज के आधार विकासवादी धारणाएं ग्रहण करने के स्थान पर बेकारी और व्यक्तिगत निराशा के गर्त में जा गिरे। अपने और समाज के प्रति उनका रुख पूर्ण अविश्वास का हो गया और इससे भीषण सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो गई। यह समस्या केवल जुलाहों तक ही सीमित नहीं रही है, प्रत्युत् दस्तकारी में लगे हुए सभी लोग इससे प्रभावित हुए और हो रहे हैं।

उक्त विवेचन से यह परिणाम निकलता है, कि यदि हमें अपने टेक्नीकल कौशल में आकस्मिक और बुनियादी परिवर्तन करना है, तो हमें परिवर्तित स्थिति का मुकाबिला करने के लिए उस सामाजिक कौशल का विकास करना होगा, जो कि रहन-सहन के तरीकों में सामाजिक परिवर्तन ला बदली स्थिति का मुकाबिला करने के लिए इन कार्यवाहियों का संतुलन कर सके। हम किसी भी प्रकार एक पैर बीसवीं सदी और दूसरा पैर अठारहवीं सदी में रखकर नहीं चल सकते। पिछले सौ सालों में समाज ने अपनी सभी पूर्वस्थापनाओं को बदल दिया है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम अपने सब कार्यों में संतुलन और व्यवस्थापन स्थापित करें।

सामाजिक आयोजन (Planning) **की आवश्यकता.** हमारी अधिकांश वर्तमान सामाजिक समस्याओं के कारणों को हमारी संस्कृति के विभिन्न विभागों की असमान प्रगति में ढूंढा जा सकता है। अतः सामाजिक विघटन को रोकने का प्रभावपूर्ण उपाय संस्कृति के विभिन्न भौतिक और अभौतिक विभागों—समस्त संस्थाओं, रीति-रिवाजों, विश्वासों, कानूनों को एक दिशा में, एक गति से, एक संगति से आगे बढ़ाना है। यह कार्य स्वयमेव अदृश्य हाथ के चमत्कार द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता, जैसा कि निर्हस्तक्षेप-नीति (Laissez faire) के समर्थकों का विश्वास था। इसके लिए हमें आयोजन को अपनाना होगा। सार्वजनिक हित की भावना से प्रेरित, व्यक्तिगत और वर्गीय स्वार्थो से रहित, सामाजिक यन्त्र के विभिन्न विभागों के संचालन की क्षमता-प्राप्त व्यक्तियों द्वारा पूर्व-नियोजित, जनतांत्रिक रीति से निश्चित बौद्धिक सामाजिक आयोजन द्वारा ही यह संभव है।। भौतिक आविष्कारों को रोककर सामाजिक विघटन का समाधान नहीं किया जा सकता, न ही संस्कृति के कुछ विशिष्ट भागो को अनियमित रीति से नियंत्रित कर सामाजिक संकट का मुकाबिला किया जा सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि हम बहुमुखी और विस्तृत विकास की योजनाएं अपनाये।

परिशिष्ट

भारत की नस्लें, संस्कृति और सामाजिक जीवन पर संक्षिप्त टिप्पणियां

: १ :

भारत की नस्लें

पहले यह समझा जाता था कि द्रविड़ इस भारत के मूल निवासी थे और आर्य लोग बाहर से आये थे। नई वैज्ञानिक गवेषणा के अनुसार भारत में बसने वाली सभी नस्लें मूलतः बाहर से आई हैं। भारत की वर्तमान जनता को डा० बी० एस० गुहा ने सूक्ष्म निरीक्षण के बाद छः प्रधान नस्लों में बांटा है :

(१) नेग्रिटो (Negrito) (२) आस्ट्रेलायड (३) मंगोलायड, (४) मैडीटरेनियन—भूमध्यसागरीय (द्रविड़), (५) पश्चिमी गोल सिर वाले और (६) नार्डिक (आर्य)।

१. नेग्रिटो. नीग्रो वंश की वह शाखा है जिसका कद बहुत नाटा होता है। गहरा काला रंग, बहुत छोटा कद, मोटे होंठ तथा ऊनी बाल इनकी मुख्य विशेषताएं हैं। यह भारत में बसने वाली प्राचीनतम नस्ल है और अब इसके अवशेष बहुत कम मिलते हैं। यह प्रधान रूप से आजकल अण्डमान टापू में बसी हुई है और इसके कुछ अंश भारत के दक्षिणी भाग कोचीन और ट्रावनकोर के पर्वतों की कडर और पनियन जातियों में आसाम के अंगमी नागों में तथा राजमहल (बिहार) की पहाड़ियों में बसने वाली जातियों में पाये जाते हैं। इसे इसके बाद आने वाली नस्ल ने, विशेषकर आस्ट्रेलायड नस्ल ने बहुत कुछ लुप्त कर दिया।

२. आस्ट्रेलायड. नेग्रिटो नस्ल के बाद यह नस्ल भी पश्चिम से भारत में आई। भारत में इस नस्ल से सम्बद्ध विभिन्न बोलियां बोलने वाले समुदाय, संथाल, मुण्डा, शबर आदि प्रधान रूप से उड़ीसा के पास झाड़-खंड में रहते हैं। इन्हें कोल भी कहा जाता है। भारत में इनकी संख्या बहुत कम है, किन्तु इस देश से बाहर इस नस्ल के लोग बर्मा, हिन्द-चीन, मलाया, पूर्वी द्वीप समूह तथा प्रशान्त महासागर के टापुओं में बहुत दूर तक फैले हुए हैं। ऐसा समझा जाता है कि प्रागैतिहासिक युग में इनकी जो शाखा भारत में आई वह इस समय विद्यमान आस्ट्रेलयायड का पूर्व रूप थी, अतएव उसे प्रोटो-आस्ट्रेलायड का नाम दिया जाता है। भारत में इसे नस्ली विशेषताएं प्राप्त हुई है और यहीं से इसकी एक शाखा दक्षिण-पूर्व (आग्नेय) कोण की ओर चली गई। प्रोटो आस्ट्रेलायड नस्ल के लोगों की शक्ल-सूरत के सम्बन्ध में हमें सही-सही ज्ञान प्राप्त नहीं है; ऐसा प्रतीत

होता है कि यह भी नाटे कद और चपटी नाक वाले थे। आज भी भारत के अधिकांश भाग में यह निम्न जातियों के रूप में विद्यमान है। प्राचीन काल में निषाद शायद इन्हीं का नाम था।

३. **भूमध्यसागरीय (द्रविड़).** पहले जिस नस्ल को द्रविड कहा जाता था, उसे अब भूमध्यसागरीय नाम दिया जाता है। इसके तीन उपभेद माने जाते हैं:

(क) **पुरा भूमध्यसागरीय.** काला रंग और मंझला कद इसकी विशेषताएं हैं। यह प्रधान रूप से मलयालम, तामिल तथा कन्नड़-भाषी प्रदेशों में अवस्थित है।

(ख) **असली भूमध्यसागरीय.** यह पुरा भूमध्यसागरीयों की अपेक्षा अधिक ऊंचे और साफ रंग के हैं। गंगा की ऊपरली घाटी मे बसे हुए हैं। ऐसा समझा जाता है कि आर्यों के आने से पहले उत्तरी भारत में इसी नस्ल का निवास था।

(ग) **प्राच्य भूमध्यसागरीय.** इनकी नाक लम्बी और रंग अधिक गोरा है। यह पंजाब, सिंध, राजपूताना और पश्चिमी उत्तार प्रदेश में पाई जाती है। यह सभी नस्लें लम्बे सिर वाली हैं।

(४) **पश्चिमी (गोल सिर वाले)** (Western Brachycephals). मध्य एशियायी पर्वतमालाओं में विकसित इस नस्ल के आल्पाइनी, दीनारी और आर्मीनियन नामक तीन भेद पाये जाते हैं, पहला भेद गुजरात में, दूसरा बंगाल, उड़ीसा, काठियावाड, कन्नड़ और तामिल प्रदेशों मे तथा तीसरा प्रधान रूप से बम्बई के पारसियों में मिलता है।

(५) **नार्डिक (आर्य).** गोरा या गेहुंआ रंग, ऊंचा कद, उभरा हुआ माथा, लम्बी नुकीली नाक और भरपूर दाढ़ी मूंछ, आर्य भाषा-भाषी नार्डिक नस्ल के खास लक्षण है। इसके नमूने उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत, विशेषत: सिन्धु नदी की ऊपरली घाटी तथा स्वात, पंजकोरा, कुनार, चित्राल नदियों की घाटियों और हिन्दूकुश पर्वत के दक्षिण में मिलते हैं। पंजाब, राजपूताना और गंगा की ऊपरली घाटी में भी नस्ल अन्य नस्लों के साथ सम्मिश्रित पाई जाती है। महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मणों में भी इसका तत्व प्रधान है। प्राचीन साहित्य से ज्ञात है कि आर्य सुनहले बालों तथा नीली आंखों वाले थे। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय जलवायु के प्रभाव से उनके रूप में कुछ परिवर्तन आ गया।

(६) **मंगोलायड.** पीला रंग, चपटा चेहरा, उभरी हुई गालों की हड्डियां, नहीं बराबर दाढ़ी-मूंछ तथा नाक की कुछ चपटी जड़ इस नस्ल की मुख्य पहचान हैं। भारत में इसके दो भेद—लम्बे सिर वाले और गोल सिर वाले पाये जाते हैं। लम्बे सिर वाले पुराने मंगोल हैं। ये आसाम में तथा भारत और बर्मा के सीमा-प्रदेश में रहते हैं। गोल सिर वाले इन्हीं से विकसित समझे जाते हैं, यह चटगांव

की पहाड़ियों तथा बर्मा के निवासी हैं। तिब्बत के किरात वंश में इस नस्ल के भेदक चिन्ह अधिक स्पष्ट रूप में मिलते है। ये सिक्किम और भूटान के निवासी है और तिब्बत से काफी आधुनिक समय में भारत आये हैं।

इस तरह भारतीय जनता प्रधान रूप से छः नस्लों के सम्मिश्रण से बनी है।

रिजले का वर्गीकरण

रिजले ने भारत की जनसंख्या को सात शारीरिक टाइप (Physical Types) में बांटा है। उसके मत में अण्डमानवासी नेग्रिटो लोगों का भारत की जनता से कोई विशेष,सम्बन्ध नहीं है। प्रो० डी० एन० मजूम्दार ने रिजले का समर्थन किया है। उन्होंने भारतीय नस्लों का निम्न वर्गीकरण प्रस्तुत किया है :

१. **तुर्क इरानी.** इस समूह के लोग बिलोचिस्तान और पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त में, जो कि वर्तमान पाकिस्तान में है, रहते है। इनका रंग गोरा तथा लम्बाई औसत से अधिक है। इनकी आंखें प्रायः काली है, किन्तु भूरी आंखें भी पायी जाती है। इनके सिर लम्बे होते (Dolicocphalic) हैं, नाक की चौड़ाई कुछ कम और लम्बाई बहुत अधिक होती है और वह विशेष रूप से उभरी हुई होती है।

२. **इंडो-आर्यन.** यह पंजाब के पूर्वी भाग, राजपूताना और काश्मीर में पाये जाते है। इन स्थानों के खत्री और जाट खास तौर से इसके अंतर्गत आते हैं। इनमें से अधिकांश लोगों के सिर लम्बे, नाक पतली लम्बी और उभरी हुई हैं। इनका रंग भी पर्याप्त गोरा और आंखें काली हैं।

३. **शक द्राविड़** (Scytho-Dravidian). इसके नाम से ही प्रकट है कि यह शक और द्राविड दो भिन्न नस्ली धाराओं के अन्तःमिश्रण का परिणाम है। यह प्रायः मध्यप्रदेश के पहाड़ी प्रदेश, सौराष्ट्र और कुर्ग में निवास करते है। इन प्रदेशों की उच्च जातियों में शक तथा निम्न जातियों में द्राविड़ तत्व की प्रधानता है। इनके सिर लम्बे है, नाक पर्याप्त नोकीली तथा कम लम्बी है। इनका कद मंझला, रंग गोरा और शरीर पर बाल बहुत कम है।

४. **आर्य-द्राविड़.** उत्तर प्रदेश, राजपूताना और बिहार में यह सबसे अधिक संख्या में है। यह टाइप विभिन्न अनुपात में इंडो-आर्य और द्रविड़ टाइप के अन्तः-मिश्रण का परिणाम है। इनका सिर सामान्यतः लम्बा है और मंझले होने की तरफ उसका रुझान है। इनके रंग में समानता नही है; वह स्थान-स्थान पर बदल गया है। प्रायः वह हल्के भूरे से काला है। इनकी नाक प्रायः मंझली है, पर कहीं-कहीं पर चौड़ी भी हो गई है। इंडो-आर्यन टाइप की तुलना में इनका कद भी छोटा ह।

५. **मंगोल द्राविड़.** यह टाइप बंगाल और बिहार में पाया जाता है। बंगाली ब्राह्मणों, बंगाली कायस्थों और बंगाली मुसलमानों की संख्या का बड़ा अनुपात इन्हीं में से है। रिजले के विचार में यह टाइप मंगोलों के द्राविड़ से अन्तः मिश्रण, जिससे कि इंडो-आर्यन टाइप की भी कुछ धारायें आ मिली हैं, का परिणाम है। इनका रंग काला है और चेहरे पर प्रचुर बाल हैं। इनके सिर गोल (Brachycephalic) है और उनमें कहीं चपटा होने का रुझान है। इनका कद मंझला और कहीं कहीं नाटा है।

३. **मंगोलायड.** हिमालय प्रदेश में इनकी एक पट्टी नेपाल से शुरू होकर आसाम होती हुई बर्मा तक चली गई है। यह विभिन्न भागों में विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं, पर इनके शारीरिक लक्षण समान हैं। इनके सिर चौड़े है और नाक पतली है, जो कि कहीं-कहीं चौड़ी हो गई है। चपटे चेहरे इनकी विशेषता हैं, और इनकी आंखों में एक विशेष शिकन (Epicanthic fold) पायी जाती है जो कि मंगोलायड नस्ल का विशिष्ट लक्षण है। इनकी खाल का रंग सांवला हैं, जिसमें पीलेपन की झलक है। शरीर पर प्रायः कम बाल है। इनका कद नाटा है।

७. **द्राविड़.** यह भारत के दक्षिणी भाग, विशेषकर मद्रास, हैदराबाद आंध्र, मध्यप्रदेश के दक्षिणी भाग और छोटा नागपुर में बसे हुए हैं। छोटा नागपुर के संथालों और दक्षिण भारत के पनियन लोगों में इनके समस्त लक्षण पाये जाते हैं। इस समह के लोगों के शरीर, और आंख का रंग सांवला, कद नाटा और बाल प्रचुर होते हैं। इनके बालों का रुझान घुंघरालेपन की ओर है। इनका सिर लम्बा नाक बहुत चौड़ी होती हैं। इनकी नाक के मूल में एक प्रकार का गड्ढा होता है।

: २ :

भारतीय संस्कृति का विकास

भारतीय संस्कृति विश्व के इतिहास में विशेष महत्व और स्थान रखती है। यह संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से है। मोहेंज दोड़ो की खुदाई के बाद से यह मिस्र और मेसोपोटामिया की पुरानी ऐतिहासिक और विकसित संस्कृतियों के सम-कालीन समझी जाने लगी है। इस संस्कृति का प्रभाव केवल भारत महाद्वीप तक ही सीमित नहीं रहा। उसे इस बात का श्रेय भी प्राप्त है, कि उसने सुदूर प्रदेशों को भी प्रभावित किया। साइबेरिया से लंका तक, मडागास्कर टापू, ईरान और अफ-गानिस्तान, प्रशान्त महासागर में बोर्नियो, बाली के द्वीपों तक के विशाल भूखण्ड पर उसने अपना अमिट प्रभाव छोड़ा।

सम्मिश्रण. भारतीय संस्कृति को प्रायः केवल आर्यों की कृति समझा जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत की संस्कृति के निर्माण में उनका भी बड़ा हाथ रहा है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आज भारत की संस्कृति आर्य नहीं, बल्कि भारतीय है। इसमें आर्यों ने और उनसे पहले यहां बसने वाली सभी आर्येतर नस्लों ने अपनी देन दी है। जिस प्रकार मिट्टी की अनेक तहों के जमने से डेल्टा बनता है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति नाना जन समूहों के परस्पर सम्मिलन से बनी है। नेग्रिटो, आस्ट्रेलायड, द्रविड़, ईरानी, यवन, शक, कुषाण, पहलव, हूण, अरब, तुर्क, मुगल इत्यादि अनेक जनसमूहों ने इसमें हाथ बटाया है। आज भारतीय संस्कृति जिस रूप में दिखाई दे रही है, वह आर्य और अनार्य, अनेक जन-समूहों के प्रयत्नों के सम्मिश्रण का परिणाम है।

इस प्रकार का सम्मिश्रण बहुत कम देशों मे हुआ है। इस सम्मिश्रण का प्रधान कारण यहां के निवासियों की सहिष्णुता की प्रवृत्ति प्रतीत होती है। भारत मे आर्यों ने ऋग्वेद के समय से यह सिद्धान्त मान लिया था—'एक ही भगवान को लोग नाना रूपों से कहते है, सबको अपने ढंग से पूजा करने, धार्मिक विश्वास रखने और उसके अनुसार जीवन बिताने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।' भारतीय इतिहास में यह प्रवृत्ति प्रबल रही है। इसी कारण भारतीयों ने बहुत समय तक बाहर से आने वाले लोगों को विदेशी नही समझा, उनसे घृणा नही की और उनकी रीति-नीति और आचार-विचार का विरोध नहीं किया। भिन्न धर्म, भाषा और और रहन-सहन होते हुए भी उन्होंने उसे स्वीकार किया। भारत ने यहूदी, पारसी,

मुसलमान और ईसाई धर्मों को आश्रय दिया। सहिष्णुता के कारण आर्य, द्राविड़, मंगोल, शक, ईरानी, तुर्क इत्यादि जातियों का सुगमतापूर्वक सम्मिश्रण हुआ। यहां जो जातियां आई, सहिष्णुता और उदारता से उन्हें अपना बना लिया गया। इस्लाम हिन्दू धर्म का कट्टर विरोधी था, किन्तु कुछ ही सदियों में मुसलमान विदेशी नहीं रहे और भारतीय बन गये। अमीर खुसरो को इस बात का फख्र था कि वह हिन्दुस्तानी है। उसका कहना था, 'हालांकि मेरा जन्म तुर्क कुल में हुआ है, फिर भी मैं भारतीय हूं। मैं मिस्र से प्रेरणा नहीं ग्रहण करता; मैं अरब की बात नहीं करता; मेरा सितार भारतीय भावों के गीत गाता है।'

इस सम्मिश्रण का परिणाम अच्छा ही हुआ। इससे भारतीय दृष्टिकोण विस्तृत हुआ, विचारों में उदारता और व्यवहार में सहिष्णुता आई। समूचे देश में एक ऐसी गहरी मौलिक एकता उत्पन्न हुई, जो इस आकार के अन्य देशों में आसानी से नही पायी जाती। योरोप से अगर रूस को निकाल दिया जाय, तो बाकी प्रदेश का क्षेत्रफल अविभक्त भारत के बराबर बैठता है। लेकिन योरोप में वैसी गहरी मौलिक एकता नहीं दिखाई देती जैसी कि भारत में है।

विविधता तथा मौलिक एकता. नाना जातियों के सम्पर्क से समृद्ध भारतीय संस्कृति की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसने सब प्रकार की विविधताओं और विचित्रताओं से परिपूर्ण देश में एक मौलिक एकता स्थापित करने की कोशिश की है। भारतीय दर्शन का उच्चतम आदर्श बहुत्व में एकत्व ढूंढ़ना है। और उसकी संस्कृति ने उसे व्यावहारिक रूप देने का निश्चय किया।

भौगोलिक भेद. भौगोलिक दृष्टि से भारत प्रधान रूप से चार भागों में बांटा जाता है। (१) हिमालय, उत्तर पूर्वी उत्तर पश्चिमी सीमा के पर्वत, (२) सिंधु और गंगा के उत्तर भारतीय मैदान, (३) विन्ध्य मेखला, (४) दक्षिण का पठार और समुद्र तट। इनमें सब प्रकार की विविधता है। कहीं ऊंचे पहाड़ हैं, कहीं सपाट मैदान, कहीं हरे-भरे प्रदेश है, तो कहीं निर्जल मरुभूमियां। आर्द्रतम और शुष्कतम ठंडे से ठंडा और गर्म से गर्म सभी प्रकार का जलवायु, नाना प्रकार के पेड़-पौधे, पशु-पक्षी यहां मिलते हैं।

नस्ल, जाति, धर्म, भाषा, जनरीति के भेद. इसमें रहने वाले लोगों की नस्ल, बोलियां, धर्म, रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान में विभिन्नताएं हैं। भारत को इन सब का अजायबघर कहा जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी। भारत की प्रधान नस्ल समूहों का हम पीछे वर्णन कर चुके है। इसके सम्मिश्रण से यहां बीसियों संकर उपनस्लें पैदा हुईं। हिन्दू और मुसलमान, दोनों समाज जात-पात में बंटे हुए हैं। जातिविभाजन भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता है। यहां जातियों की संख्या लगभग २००० है। यही बहुलता भाषाओं और बोलियों के बारे में है। ग्रियर्सन के अनुसार

भारत की विभिन्न भाषाओं और बोलियों की संख्या क्रमशः १७९ और ५४४ है। भारतमें हिन्दू, मुस्लिम, जैन, पारसी, ईसाई, यहूदी आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं। विविध प्रान्तवासियों के वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान में कोई समता नही है।

एकता के साधन. इस बाह्य विविधता के बावजूद भी भारत में अनेक एकताएं देखी जा सकती हैं। उत्तर में हिमालय की विशाल पर्वत-माला तथा दक्षिण में समुद्र ने सारे भारत मे एक विशेष प्रकार की ऋतु पद्धति बना दी है। भारत मे अनेक बोलियां तथा भाषाएं हैं, किन्तु अधिकाँश प्रधान भाषाओं की वर्णमाला एक है। भारत में अनेक नस्लें है, किन्तु घुलमिल कर एक समान वातावरण में रहते, एक भूमि के अन्न जल से पोषण पाते हुए उनमे काफी एकता उत्पन्न होगई है। हर्बर्ट रिजले के शब्दों में, "भारत में दर्शक को भौतिक क्षेत्र में और सामाजिक रूप में भाषा, आचार और धर्म में जो विविधता दिखाई देती है, उसकी तह में एक आन्तरिक एकता है।"

प्रसार (Diffusion). यह एकता प्रधानतः संस्कृति के प्रसार से प्रादुर्भुत हुई और उसे समूचे देश के विभिन्न जनसमूहों को एक सूत्र में पिरोने में पर्याप्त सफलता मिली। हिन्दू धर्म ने इस दिशा में महत्वपूर्ण काम किया। पंजाबी, बंगाली मद्रासी आकार, रूप-रंग, भाषा आदि में भिन्न होते हुए भी, एक हिन्दू धर्म के अनुयायी है। उनके आदर्श पुरुष और धर्मग्रन्थ एक-से है। ब्राह्मण, गौ, गंगा, गायत्री सर्वत्र पवित्र माने जाते है। शिव, विष्णु, दुर्गा आदि पुराण-प्रतिपादित देवी, देवताओं की सभी पूजा करते हैं। हिन्दुओं के तीर्थस्थान सारे देश मे फैले हुए है। चारों दिशाओं में चार धामों, उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में रामेश्वरम्, पूर्व में जगन्नाथपुरी और पश्चिम में द्वारिका ने भारत की सास्कृतिक एकता को स्थापित करने में महत्वपूर्ण योग दिया है। मोक्ष प्रदान करने वाली पवित्र पुरिया अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची और अवन्ती सारे देश में बिखरी हुई है। बहुत प्राचीन काल से हिन्दू गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी को पूज्य मानते आये है। समूचे देश के सामाजिक संगठन में पर्याप्त एकताएं हैं। सब जगह ही वैदिक संस्कार और अनुष्ठान, प्रचलित है सर्वत्र जातिभेद, वर्ण-व्यवस्था, छूतछात का विचार माना जाता है। सारे भारत में रामायण और महाभारत की कथाएं बड़े चाव से सुनी जाती हैं। पुराने जमाने में समूचे देश के विद्वान समाज को एक सूत्र में पिरोने का काम पहले संस्कृत, फिर प्राकृत और बाद में हिन्दी और अंग्रेजी ने किया।

प्रसार के साधन. प्राचीनकाल में यातायात की कठिनाइयां बहुत अधिक थीं। फिर भी उनमें उपर्युक्त सांस्कृतिक एकता उत्पन्न करने में दो साधनों ने मुख्य भाग लिया। इनमें पहले प्राचीन और मध्यकाल में ऋषि-मुनि, सन्त, तीर्थ-यात्री, विद्यार्थी

और व्यापारी थे, तथा दूसरे सैनिक विजेता थे। आधुनिक काल में यातायात और संवादवहन के साधनों के प्रसार और उच्च अंग्रेजी शिक्षा और राजनैतिक एकता ने इस कार्य में मदद की।

ऋषि-मुनी और विद्यार्थी. प्राचीनकालमें ऋषि-मुनियों ने भयंकर कष्ट उठाते हुए दक्षिण भारत में अपने तपोवन और आश्रम स्थापित किये। अगस्त्य आदि मुनियों ने दक्षिण की अनार्य जातियों में आर्य संस्कृति की विचारधारा को फैलाया। सब प्रान्तों में अवस्थित तीर्थों की यात्रा करनेवाले यात्रियों ने सांस्कृतिक एकता को बढ़ाया। कन्याकुमारी से पितरों की अस्थियों को प्रवाहित करने के लिए हरिद्वार आनेवाले दक्षिणवासियों और गंगा का जल रामेश्वरम् के मन्दिर में चढ़ाने वाले उत्तरवासियों के पारस्परिक सम्पर्क से एकता का पुष्ट होना स्वाभाविक ही था। संस्कृत के विद्वानों और धर्म सुधारकों ने भी इस प्रवृत्ति में सहयोग दिया। केरल के श्री शंकराचार्य ने हिमालय तक अपना प्रचार किया, महाप्रभु चैतन्य ने बंगाल से वृन्दावन तक कृष्ण-भक्ति का गीत गाया। प्राचीनकाल में बड़े विश्वविद्यालय तीर्थ-स्थानों और राजधानियों में होते थे। तक्षशिला, बनारस, नालन्दा और उज्जयिनी इसी प्रकार के शिक्षा केन्द्र थे। भारत के विभिन्न प्रदेशों से विद्यार्थी इन स्थानों पर शिक्षा प्राप्त करने आते थे। इन्होंने भी समान संस्कृति के विकास में सहायता दी। ऋषि-मुनि, साधु-सन्त उन दिनों विभिन्न प्रान्तों में सम्बन्ध स्थापित करते हुए, साधारण जनता के विभिन्न अंगों को एक दूसरे के पास लाते रहे।

विजेता. इसी कार्य को बलपूर्वक करने वाले महत्वाकाक्षी और साहसी राजा थे। प्राचीनकाल से राजाओं की इच्छा दिग्विजय करके चक्रवर्ती सम्राट् बनने की रहती थी। प्रतापी राजा दूसरे राज्यों को जीत कर, इस प्रकार के चक्रवर्ती राज्यों से विशाल भूखण्ड के एक शासन सूत्र के नीचे ला देते थे। एक शासन पद्धति सांस्कृतिक एकता के प्रसार में सहायता करती थी। प्राचीनकाल में चन्द्रगुप्त, अशोक तथा समुद्रगुप्त के समय राजनैतिक एकता ने इस प्रवृति को पुष्ट किया। मध्यकाल में मुगल शासन तथा आधुनिककाल में ब्रिटिश शासन ने इस दिशा में महत्वपूर्ण योग दिया।

प्रागतिहासिक काल (Pre-historic Age)

भारत में मानव के आविर्भाव से, वैदिक युग तक के काल को प्रागैतिहासिक काल कहा जाता है। इस काल पर प्रकाश डालने वाली कोई लिखित सामग्री या ग्रन्थ नहीं है। इस काल की जानकारी का एकमात्र साधन उस युग के मानव द्वारा छोड़े औजार, हथियार तथा अन्य अवशेष हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि उसने धीरे-धीरे किस प्रकार अपनी बुद्धि के प्रयोग से नये आविष्कार किये और अपने चारों ओर की परिस्थिति पर विजय पानी शुरू की।

आदिम मानव की प्रगति को चार अवस्थाओं में बांटा जा सकता है। पहली अवस्था में वह पत्थर के हथियारों का प्रयोग करता था। इसके बाद उसने तांबे और फिर कांसे के हथियार बनाने शुरू किये। पाषाण युग को दो बड़े उपविभागों, पुराश्मकाल (Paleolithic) और नवाश्मकाल (Neolithic) में बांटा जाता है। यह पाषाण युग अब से लगभग छः लाख साल पहले शुरू होकर प्रायः दस हजार साल पहले तक जारी रहा। भारत में काश्मीर के पुंच प्रदेश, चम्बल और नर्मदा नदी की घाटी, दक्खिन के कुरनूल जिले, गुजरात में साबरमती नदी की घाटी मद्रास प्रांत के समुद्र तटवर्ती प्रदेश, बम्बई के समीप खण्डिवली के प्रदेश, उड़ीसा की मयूरभंज रियासत के कुलियाना नामक क्षेत्र, तथा मैसूर रियासत के बेल्लारी के इलाके में पाषाण युग के अनेक अवशेष मिले हैं।

पुराश्म काल के अनेक अवशेष, बिल्लौरी पत्थर के बहुत से हथियार नर्मदा गोदावरी की घाटियों में तथा दक्खिन के पठार में पाये गये हैं। भारत में नवाश्म काल का श्रीगणेश करने वाले वर्तमान संथाल आदि जातियों के पूर्वज कहे जा सकते हैं। इस युग के सबसे अधिक अवशेष मध्यप्रान्त से मिले हैं। कानपुर, फतहगढ़, मथुरा, मैनपुरी से भी कुछ अवशेष मिले हैं।

इसके बाद कांसे का युग आया। आज से लगभग पांच हजार साल पहले सिंध और पंजाब में इसकी अभूतपूर्व उन्नति हुई। मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृतियां इस युग की प्रसिद्ध कृतियां थीं।

प्रागैतिहासिक युग में भारत में विविध नस्लों के सगामग से भारतीय संस्कृति का सूत्रपात हुआ और उसने विभिन्न नस्लों से अनेक अंश ग्रहण किये। अपने प्रारम्भिक काल में इसने बहुत से महत्त्वपूर्ण तत्त्व संथाल आदि जातियों के मूल पूर्वज निषादों या प्रोटो-आस्ट्रेलायड तथा भूमध्यसागरीय (द्राविड) नस्लों से ग्रहण किये।

नेग्रिटो नस्ल की देन. डा० गुहा के अनुसार नेग्रिटो भारत भूमि पर पदार्पण करने वाली पहली नस्ल थी। किन्तु वह वहां की परवर्ती संस्कृति पर विशेष प्रभाव न डाल सकी, क्योंकि वह संस्कृति की आदिम अवस्था, पुराश्मीय (Paleolithic) अवस्था में थी। इसे बाद में आनेवाली अधिक उन्नत नस्लों ने विनष्ट और विलीन कर दिया। नेग्रिटो पत्थर और हड्डी के अनगढ़ हथियारों या तीर-कमान का प्रयोग करते थे। जंगलों में फल मूल के संचय और जानवरों तथा मछली के शिकार से अपने जीवन का निर्वाह करते थे। इन्हें खेती, मिट्टी के बर्तन बनाने और भवन-निर्माण की कलाओं का ज्ञान न था। अण्डमान के आदि निवासी अभी हालों तक अनाज नहीं उपजा सकते थे। गुफाओं म रहते थे। भारत में नेग्रिटो शायद अफ्रीका से अरब होते हुए आये और यहां से मलाया हिन्दद्वीप समूह होते

हुए न्यू गिनी तक चले गये। इस समय भारत में इनकी सबसे बड़ी बस्ती अण्डमान टापू में ही है। सभ्यता की आदिम दशा में होने पर भी इनमें अद्भुत साहस था और उसी के भरोसे वह अपनी छोटी-छोटी किश्तियों द्वारा अफ्रीका से न्यूगिनी तक फैल गए थे। भारत की जातियों में नेग्रिटो तत्त्व बहुत समय तक बना रहा। गुप्त चित्रकला पर, विशेषतः अजन्ता के भित्ति चित्रों में, इसका कुछ प्रभाव पाया जाता है। सन्तान प्राप्ति के लिए और मृतकों की सद्गति के लिए वट वृक्ष की पूजा हिन्दू धर्म को इस जाति की विशेष देन थी।

आस्ट्रेलायड नस्ल की देन. आस्ट्रेलायड नस्ल को भारतीय जनता का मूल अंश माना जाता है। ये अपने साथ नवाश्मकालीन (Neolithic) संस्कृति को लाये। इन्होंने पत्थर को घिसकर उनसे धारदार औजार और हथियार बनाये, कुदाल (Hoe) से जमीन को खोद कर खेती शुरू की, कुम्हार का चाक भी उन्हीं के समय से भारत में चलना शुरू हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरी भारत के समूचे विशाल मैदान में ये बसे हुए थे, क्योंकि नवाश्मकालीन अवशेष उत्तरी मैदान की प्रायः सभी नदियों की घाटियों में पाये गये हैं। बाद में आनेवाले लोगों द्वारा ये लोग हिमालय के दुर्गम प्रदेशों और विन्ध्य मेखला के गहन वनों में खदेड़ दिये गये। यासीन घाटी की बुरुशास्की में, मध्य हिमालय की कनौरी में तथा नैपाल की दुर्गम घाटियों मे इनकी बोली के कुछ अवशेष मिलते है। किन्तु इस समय आस्ट्रेलायड भाषा-भाषी संथाल मुंडा, भूमिज, बिरहौर, असुर, अगरिया कोरवा आदि कबीले विन्ध्य पर्वत के पूर्वी भाग में राजमहल की पहाड़ियों से बसे हुए है। मध्यभारत के कुरकु, उड़ीसा मे जुड़ीसा के जुआंग, शबर तथा गदव भी आस्ट्रेलायड बोलियों का प्रयोग करते है। भारत में नारियल के प्रवेश का श्रेय प्रशान्त महासागर के टापुओ से आनेवाली इसी आस्ट्रेलायड नस्ल की एक शाखा को दिया जाता है। भौतिक और धार्मिक क्षेत्र मे आस्ट्रेलायड लोगों की अनेक देनों ने भारतीय संस्कृति को समृद्ध किया।

भौतिक क्षेत्र में इनकी प्रधान देन न केवल कुदाल द्वारा खेती करना ही है, अपितु भाषा-विज्ञान के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि धान की खेती, केला, नारियल, बैंगन, पान, तोरी, नींबू, जामुन और कपास के उत्पादन का श्रेय भी इन्ही को है। इन्हीं ने शायद सबसे पहले सूती कपड़ा बुना था, हाथी को पालतू बनाया था। संस्कृत भाषा को इन्होंने वाण, लकुट (लाठी), शाल्मलि (सिम्बल), कुकवाकु (मुर्गा), मातंग, गज इत्यादि शब्द प्रदान किये। गन्ने से खाने की चीजें बनाना भी इनका आविष्कार माना जाता है। पान सुपारी का व्यवहार, विवाह आदि संस्कारों में सिन्दूर और हल्दी का प्रयोग भी इनसे लिया गया बताया जाता है।

धार्मिक क्षेत्र में पुनर्जन्म का विचार, ब्रह्माण्ड तथा सृष्ट्युत्पत्ति सम्बन्धी अनेक दन्त कथाएं, कच्छप अवतार की कल्पना, पत्थर के टुकड़े में देवता की भावना नाग, मगर आदि विभिन्न प्राणियों की पूजा भक्ष्याभक्ष्य, छूतछात तथा वर्जन (Taboo) का विचार, बुरी नजर को निछावर से बचाना आदि प्रोटोआस्ट्रेलायड प्रभाव का परिणाम है। चन्द्रमा की कला के अनुसार तिथियों की गणना तथा इसके अनुसार धार्मिक त्यौहारों का मनाना भी शायद इन्हीं से लिया गया। सत्ताईस नक्षत्रों में मातृका (कृत्रिका) का मूल भी इन्हीं से बताया जाता है। महाभारत और पुराणों में पाताल-लोक के अधिपति वासुकि आदि नागों, अण्डे से सृष्टि की उत्पत्ति, मत्स्यगंधा और गणेश आदि के सम्बन्ध में प्रचलित मनोरंजक कथाओं का मूल भी इनका पुराण है। विद्वानों का मत है कि नदियों की पूजा और अस्थि विसर्जन ये दोनों विचार संथाल आदि कबीलों से लिए गये हैं। दामोदर नदी मे अस्थियां डाले बिना संथालों की गति नहीं होती। तीर्थों का महत्त्व और नदियों की पूजा वैदिक साहित्य में कहीं नहीं मिलती। स्पष्ट ही यह अनार्य जातियों से ग्रहण की गई है।

द्रविड़ नस्ल की देन. प्रोटोआस्ट्रेलायड लोगों के बाद हमारे देश में द्रविड़ लोगों का आगमन हुआ। द्रविड़ अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत और नगर-सभ्यता से सम्पन्न थे। इस समय द्रविड़ भाषा-भाषी केवल दक्षिण भारत में पाये जाते हैं, किन्तु प्राचीन काल में उत्तरी भारत में भी इनके निवास करने के पक्के प्रमाण मिलते हैं। यह समझा जाता है कि यह लोग मूलतः क्रीट से आये।

धार्मिक क्षेत्र में द्रविड़ प्रभाव का प्ररिणाम नये ढंग की उपासना-पद्धति की शुरूआत थी तथा नये देवताओं का आगमन था। द्रविड़ प्रभाव से देवताओं की पूजा, अर्थात् पत्थर की मूर्ति या किसी प्रकार के देवता के प्रतीक पर पत्र-पुष्प चढ़ाना, उसे सिन्दूर, चन्दन लगाना, इसके सामने धूप दीप जलाना, घंटा-घड़ियाल बजाना, संगीत, नृत्य का आयोजन करना, भोग लगाना प्रसाद लेना प्रचलित हुआ। यह सब अनुष्ठान सर्वथा अवैदिक हैं। पूजा शब्द भी संभवतः द्रविड़ मूल का है पूजा के साथ-साथ शिव, उमा, विष्णु, श्रीकृष्ण, कुमार, हनुमान, गणेश, शीतला आदि नवीन देवता भी द्रविड़ों की देन थे। शिव की लिंग के रूप में पूजा भी इन्हीं लोगों ने चलाई। बाद में आनेवाले आर्यों ने इन्हें अपनाया। सभी पुराणों में इस बात का उल्लेख है कि ऋषियों ने अपनी पत्नियों की हठ से विवश हो इसे स्वीकार किया। मातृ-शक्ति की पूजा भी द्रविड़ों की देन है। उनके मूलस्थान ईजियन सागर के टापुओं में यूनान और लघु एशिया में 'मां' नामक मातृ देवता की पूजा बहुत प्रचलित थी। विष्णु आंशिक रूप से वैदिक है, लेकिन उसका वर्तमान

स्वरूप अवैदिक है, कृष्ण वेद में इन विरोधी है, लेकिन पीछे तारुण्य के इस द्रविड़ देवता को विष्णु के साथ एक कर दिया गया।

मंगोलों की देन. भारतीय संस्कृति पर मंगोलो का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि उनके आगमन तक भारतीय संस्कृति का स्वरूप बहुत कुछ निश्चित हो चुका था। स्वयं यह जातियां बहुत पिछड़ी हुई थी और इनका विस्तार भी भारत की उत्तर पूर्वी सीमाओं पर रहा। फिर भी हिमालय प्रदेश की बोलियों तथा गोरखाली, बंगला, आसामी भाषाओं के विकास में इसका कुछ प्रभाव पड़ा। १३ वीं सदी में आसाम जीतने वाले अहोम धीरे-धीरे हिन्दुओं में मिल गए।

आर्य व आर्येतर संस्कृतियों का संगम. प्रागैतिहासिक युग में इस प्रकार जो आर्येत्तर तथा आर्य संस्कृतियों का संगम हुआ, वही आने वाले समय मे भारतीय संस्कृति का सुदृढ़ आधार बना। संभवतः आस्ट्रेलायड और द्राविड़ों के अनैक्य और और विरोध से आर्यों को सफलता मिली। उनकी भाषा देश के अधिकांश भाग में प्रचलित हुई। भाषा की दृष्टि से आज भारत में ७६·४ प्रतिशत आर्य भाषा-भाषी हैं, २०·६ प्रतिशत द्राविड़ भाषा-भाषी और ३ प्रतिशत लोग आस्ट्रेलायड भाषा-भाषी हैं। किन्तु धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से, कुछ विद्वानों के अनुसार वैदिक और अवैदिक आर्य और आर्येत्तार संस्कृतियों के आपसी घनिष्ट सम्पर्क से यह अनुपात बिल्कुल उलट गया है। वे वर्तमान भारतीय संस्कृति में २५ प्रतिशत अंश को ही वैदिक या आर्य और 'रुपए मे बारह आना' इसका मूल आर्येत्तार मानते हैं भारतीय धर्म, खान-पान, भाषा, सामाजिक रीति-रिवाज पर आदि सभी बातों में आर्येत्तार अंश प्रबल है। धर्म के सम्बन्ध में अनार्य तत्वों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है यहाँ यह कहना ही पर्याप्त है कि भक्ति सिद्धान्त की उत्पत्ति पुराणों के अनुसार द्रविड़ देश मे हुई। तुलसी, बड़, पीपल, बेल, आदि वृक्षों की पूजा और पवित्रता का विचार आर्यों ने आर्येत्तार लोगों से सीखा।

वैदिक आर्यों का प्रधान भोजन जौ और मक्खन था। आज भारतीय भोजन में चावल, गेहूं, दाल, घी और तेल आदि की प्रमुखता है। वैदिक आर्यों के ऊनी का स्थान सूती कपड़ों ने ले लिया। भाषा शास्त्रियों के मतानुसार वर्तमान आर्य भाषाओ के वाक्यों की रचना हिन्द-योरपीय परिवार की अन्य भाषाओं की अपेक्षा द्रविड़ भाषाओं से अधिक मिलती है। इन भाषाओं में यदि सौ के लगभग आस्ट्रेलायड शब्द हैं तो चार सौ पचास के लगभग द्रविड़ शब्द है। विवाह में निषिद्ध पीढ़ियों का विचार, मांगालिक अवसरों पर नारियल का प्रयोग, वैवाहिक विधियों में शंख, स्वस्तिक, रोचन, सफेद सरसों, हल्दी और सिन्दूर का व्यवहार भी अवैदिक है।

आर्येत्तर और आर्य तत्वों के समन्वय से जो संस्कृति उत्पन्न हुई वह न तो अवैदिक और अनार्य थी और न ही वैदिक और आर्य। वह सब की साकी संस्कृति थी।

: ३ :

हिन्दू समाज पर इस्लाम का प्रभाव

सातवीं शती ई० मे अरब प्रायद्वीप में एक नये धर्म और नई शक्ति का अभ्युत्थान हुआ और वह धीरे धीरे अनेक देशों में फैलने लगा। इस्लाम की विश्व-व्यापी लहर शीघ्र ही सीमान्तों से भारत में प्रवेश करने लगी। इस देश में इसका प्रचार दो ढंग से हुआ, शान्तिपूर्वक और शक्तिपूर्वक।

शांतिपूर्वक प्रचार. प्रथम तरीके से प्रचार करने वाले अरब व्यवपारी, मुस्लिम फकीर और दरवेश थे। दूसरे के माध्यम थे, अरब, तुर्क और मुगल आक्रान्ता। प्रायः यह समझा जाता है कि इस्लाम तलवार के जोर से भारत मे फैला, किन्तु यह बात सर्वांश मे सत्य नही है। भारत मे सर्वप्रथम इसका प्रसार शांतिपूर्वक हुआ। अरबों और भारतीयों का सम्बन्ध हजरत मुहम्मद के जन्म से कई सदियों पहले से चला आता था। वे नाविकों और व्यापारियों के रूप मे भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी तटों के बन्दरगाहों पर आते थे। विशेषतः पश्चिम तट पर, चौल, कल्याण और सुपारा तथा मलाबार मे इनकी अनेक बस्तियां थी। इस्लाम के प्रचार के बाद मे ये कट्टर मुसलमान होकर भारत आने लगे। इनमें से अरब व्यापारी भारत मे ही बस जाते थे, भारतीय स्त्रियों से शादी कर लेते थे। इन्ही की सन्तान कोंकण की नटिया और मलाबार की मोपला जातियाँ है। उस समय के पश्चिमी तट के हिन्दू शासकों, विशेषतः सौराष्ट्र के वलभी वंश और कालीकट के जमेरिनों की नीति इन व्यापारियों को अपने राज्य मे पूरा प्रोत्साहन देने की थी, क्योंकि इससे उनके राज्यों को बड़ी आय थी। वलभी के राजाओं ने उन्हें अपने राज्य में न केवल मस्जिदें बनाने की इजाजत दी, बल्कि स्वयं भी इनके लिए मस्जिदे बनवाईं। मलाबार के राजाओं ने इन्हे अपने राज्य मे बड़ी रियासते और ऊंचे पद दिये। एक राजा ने तो यहां तक आज्ञा दे दी कि हर हिन्दू मल्लाह के घर कम-से-कम एक लड़के को बचपन से ही मुसलमानो की तरह शिक्षा दी जाय। इन कारणों से दक्षिण में इस्लाम का प्रचार तेजी से होने लगा।

शांतिपूर्वक धर्म प्रचार मे सब से अधिक महत्व और सफलता मुस्लिम फकीरों और दरवेशों को मिली। ११ वीं शती से इनका कार्य शुरू हुआ। इन फकीरों के पीछे कोई राजनैतिक शक्ति न थी। उन्होंने अपने उपदेशों और चमत्कारों से ही हिन्दू जनता को मुस्लिम बनाया। ११ वीं शती में शेख इस्माइल और

अब्दुल्ला यमनी भारत आये, १२ वीं शती के प्रारम्भ में नूर सतागर ईरानी ने गुजरात की नीची जातियों को मुसलमान बनाया। तेरहवीं शती के प्रसिद्ध फकीर जलालउद्दीन बुखारी, सैयद अहमद कबीर, ख्वाजा मुइनउद्दीन चिश्ती थे। इनकी शिष्य परम्परा में फरीदुद्दीन, निजामउद्दीन औलिया (१३वीं १४वीं शती) ख्वाजा कुतुबुद्दीन, शेख अलाउद्दीन अली, अहमद साबिर पिरानकिलियर व ले प्रसिद्ध है। इन्हें हिन्दुओं की संकीर्ण जाति प्रथा के कारण बहिष्कृत और पददलित व्यक्तियों और नीच जातियों को मुसलमान बनाने में काफी सफलता मिली।

बलपूर्वक प्रचार. बलपूर्वक इस्लाम प्रचार का कार्य कुछ मुस्लिम आक्रांताओं ने किया। मुहम्मद बिन कासिम ने ७१२ ई० में सिंध पर पहला हमला किया। इसके तीन सौ वर्ष बाद ग्यारहवीं शती में मुहम्मद गजनवी ने सत्रह बार हमले किये। इसके दो सौ बारह वर्ष बाद शहाबउद्दीन गौरी ने ११९२ ई० में पृथ्वीराज को हराया। उक्त हमलों का मुख्य उद्देश्य लूट मार था, अतः यह हमले भारतीय समाज और संस्थाओं पर कोई स्थाई प्रभाव न डाल सके। १२०२ ई० में शहाबउद्दीन के सेनापति कुतुबुद्दीन ने दिल्ली में मुस्लिम शासन की स्थाई नींव डाली। १५२६ ई० तक दिल्ली पर तुर्कों और अफगान सुलतानों का शासन रहा और इसके बाद दो सौ वर्ष तक मुगलों का। इस काल में फीरोजशाह तुगलक (१३५१-८८ ई०), सिकन्दर लोदी (१४८८-१५१७ ई०), काश्मीर के सिकन्दर (१३९४-१४१६ ई०) तथा औरंगजेब (१६५९-१७०७ ई०) आदि बादशाहों ने इस्लाम प्रचार के लिए राजशक्ति का प्रयोग किया।

कम सफलता. किन्तु सुदीर्घ काल तक मुस्लिम शासन द्वारा शक्ति प्रयोग तथा शांतिपूर्वक प्रचार से इस्लाम को उल्लेखनीय सफलता न मिली। हिन्दू-धर्म और इस्लाम के सम्पर्क से दोनों के इतिहास में एक नवीन तथा अभूतपूर्व घटना हुई। इस्लाम से पहले भारत पर यवन, शक, हूण आदि उनके जातियों के आक्रमण हुए थे। हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज ने इन जातियों का अपने में आत्मसात कर लिया था। किन्तु मुसलमान ही ऐसी पहली आक्रान्ता जाति थी जो हिन्दू जाति का अंग न बन सकी। भारत में आने से पहले इस्लाम जिन देशों में गया था वहाँ उसे विलक्षण सफलता मिली थी। उन देशों की समूची जनता को उसने अपने रंग में रंग लिया था। किन्तु भारत में इस्लाम कई सदियों तक प्रभाव डालने के बावजूद भी बहुत थोड़े भाग को ही हजरत मुहम्मद का अनुयायी बना सका। हिन्दू-धर्म और इस्लाम दोनों के एक दूसरे को अपने रंग में न रंग सकने के दो प्रधान कारण थे। (१) इस्लाम का कट्टर ऐकेश्वरवाद, (२) हिन्दू धर्म की पाचन शक्ति की हीनता।

इस्लाम का एकेश्वरवाद. धार्मिक दृष्टि से भारत में आने वाले मुस्लिम

विजेता अपने पूर्ववर्ती सभी आक्रान्ताओं से भिन्न थे। शक, कुशाण और हूण जातियों का अपना कोई विशिष्ट विकसित धर्म नहीं था। किन्तु मुसलमान न केवल एक कट्टर एकेश्वरवादी धर्म साथ लेकर आये बल्कि उनमें अपने धर्म को फैलाने की लगन और जोश भी था। बुतपरस्ती से जहां उन्हें नफरत थी, वहां बुतशिकन होने में फख्र भी था। हिन्दू समाज को इसमें कोई ऐतराज न था कि उनके तैंतीस करोड़ देवों में अल्लाह को भी शामिल कर लिया जाय। उन्होंने अल्लोपनिषद् की रचना भी कर डाली; किन्तु मुसलमानों का अल्लाह लाशरीक था और शिरकत इस्लाम की नजर में बड़ा कुफ्र था। अतः इस्लाम के अनुयायी हिन्दू धर्म में विलीन होने को तैयार न थे।

यदि यह किसी तरह मुमकिन भी होता तो भी हिन्दू धर्म इस्लाम को न पचा पाता। इसमें प्राचीनकाल में दूसरों को अपनाने और जज्ब करने की शक्ति अब तक खत्म हो गई थी। इसका नतीजा यह हुआ कि जिन राजवंशों के पूर्वज पहले एक पीढ़ी में ही बाहर की जातियों को अपना अंग बना लेते थे, वे अब मलेच्छों के स्पर्श मात्र से घबराने लगे। विदेश यात्रा से ही उनका धर्म नष्ट होने लगा। जब उच्च वर्ण हिन्दू जाति के निम्न वर्णों से भी अलग रहने लगे तब विधर्मी मुसलमानों को किस तरह अपने में मिला सकते थे?

सम्पर्क का महत्व. फिर भी हिन्दू धर्म और इस्लाम का जो सम्पर्क हुआ उसका बड़ा महत्व है। इस प्रकार की दो विरोधी संस्कृतियों का सम्पर्क भारतीय इतिहास में एक विलक्षण घटना थी। सर जान मार्शल ने ठीक ही लिखा है कि "मानव जाति के इतिहास में एक ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा गया, जब इतनी विशाल, इतनी सुविकसित और साथ ही मौलिक रूप से इतनी विभिन्न सभ्यताओं का सम्मिलन और सम्मिश्रण हुआ हो। इन संस्कृतियों और धर्मों के विस्मृत विभेद उनके सम्पर्क के इतिहास को विशेष शिक्षाप्रद बनाते हैं।"

सम्मिलन की प्रवृति. यद्यपि दोनों धर्म एक दूसरे के कट्टर विरोधी थे, दोनों में उग्र राजनैतिक संघर्ष और युद्ध भी हुए; लेकिन इसके बावजूद हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दोनों को एक दूसरे के पास आते हुए पाते हैं। साधारण जीवन के सभी पहलुओं में सम्मिलन, सम्मिश्रण, सहयोग, सामीप्य, पारस्परिक प्रेम, सामंजस्य और समन्वय की प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। इस्लाम का सूफीवाद वेदान्त से प्रेरणा प्राप्त करता है। हिन्दू धर्म के सुधार आन्दोलन इस्लाम की समानता और भ्रातृत्व की भावना से प्रभावित होते हैं। सर्वसाधारण जनता में ऐसे पंथों की पूजा शुरू होती है जिनमें हिन्दू-मुस्लिम का भेद नहीं रहता। जो लोग मुसलमान बने भी वह संशोधित रूप में हिन्दुओं की जाति प्रथा और अन्य रिवाजों को अपनाए रहे। दो संस्कृतियों के संम्पर्क से वास्तु, चित्र, संगीत कलाओं में नई शैलियों का

आविर्भाव हुआ, जिनके मूल तत्व तो भारतीय थे किन्तु बाह्य आकार ईरानी। मुगल बादशाहों ने हिन्दुओं के तुलादान इत्यादि रिवाज ग्रहण किये। हिन्दू सरदारों ने फारसी भाषा, मुस्लिम रहन-सहन, पोशाक और पहनावा अपनाया।

धार्मिक प्रभाव. मुसलमानों की कट्टरता और धर्म प्रचार की भावना के कारण हिन्दू धार्मिक नेताओं को इस बात की चिन्ता हुई कि कैसे हिन्दुओं की उससे रक्षा की जाये। इसके प्रतिकार का उपाय कट्टरता सोचा गया। इस समय के धर्म शास्त्रकारों ने जाति-भेद के नियमों को कठोर बना कर हिन्दू धर्म को मजबूत किला बनाने की कोशिश की, जिसका कि इस्लाम भेदन न कर सके। हेमाद्रि ने साल भर में २००० अनुष्ठान करने के लिए व्यवस्था की।

हिन्दू धर्म के सुधार आन्दोलन. किन्तु धर्मशास्त्रियों की व्यवस्थाएं हिन्दू धर्म की पूरी रक्षा नहीं कर सकती थी। समाज की नीची जातियां और अछूत उच्च वर्णों द्वारा उत्पीड़ित थे। इस्लाम समानता और भ्रातृभाव पर जोर देता था। उत्तर अफ्रीका और पश्चिमी एशिया मे उसके शीघ्र प्रसार का एक कारण यह भी था कि उन देशों के पद्दलित लोगों को अपने त्राण का एकमात्र उपाय इस्लाम ही प्रतीत हुआ। भारत में भी इस्लाम अत्यधिक लोकप्रिय हो जाता, यदि उसी समय समानता और भक्ति तत्व पर जोर देने वाले आन्दोलन जोर न पकड़ते।

मध्ययुग मे पहले दक्षिण भारत और फिर उत्तर भारत में सुधार आन्दोलन शुरू हुए। भारत मे इस्लाम का शान्तिपूर्वक प्रवेश पहले दक्षिण भारत मे हुआ था। अतः वहीं से सुधार आन्दोलनों का शुरू होना यह सूचित करता है कि इस्लाम से इन्हें कुछ प्रेरणा अवश्य मिली। इस्लाम के अनुयायियों की उपस्थिति ने जाति-भेद, आत्मिक जीवन और ईश्वर के अस्तित्व आदि पर लोगों की विचारधारा को उत्तेजित किया। एकेश्वरवाद और समानता आदि के विचार हिन्दू धर्म मे पहले से ही विद्यमान थे, किन्तु इस्लाम से उन्हें बल मिला। शंकर (७८८-८२० ई०) और रामानुज (लगभग ११०० ई०) इस सुधारक आन्दोलन के अग्रणी थे। यद्यपि इन दोनों के सिद्धान्तों पर इस्लाम का कोई विशष प्रभाव नही पड़ा, किन्तु लिंगायत पर अवश्य पड़ा। हिन्दुओं का अंग होते हुए भी यह जाति-भेद स्वीकार नही करते। इनमें तलाक और विधवा विवाह की इजाजत है। मुर्दे फूंकने की बजाय दफनाये जाते है। ये श्राद्ध और पुनर्जन्म को नहीं मानते; सब एक दूसरे के साथ खा-पी सकते हैं। इस मत का प्रसार इस समय बेलगाँव, बीजापुर और धारवाड़ जिलों, कोल्हापुर और मैसूर रियासतों में है।

उत्तर भारत में सुधार आन्दोलनों के संस्थापक रामानन्द थे। इन्होंने राम की भक्ति पर जोर दिया और हर जाति के लोगों को अपने शिष्यों में सम्मिलित किया। उनके शिष्यों में एक नाई, एक मोची और एक मुसलमान था। मैकलिफ के

मतानुसार इसमें कोई सन्देह नहीं कि बनारस में विद्वान मुसलमानों से रामानन्द की भेंट हुई। रामानन्द के शिष्यों में कबीर (१३९८-१५१८ ई०) इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म की चौड़ी खाई को पाटने का प्रयत्न किया। उन्होंने दोनों धर्मों के बाह्य भेदों, रूढ़ियों और आडम्बरों का खंडन करते हुए आन्तरिक एकता पर जोर दिया। कबीर की शिक्षाएं रहस्यवाद से ओत-प्रोत थीं। उन पर सूफी फकीरों का स्पष्ट प्रभाव था।

इस्लाम के समानता और मूर्तिभंजन के सिद्धान्त महाराष्ट्र की जनता पर भी गहरा प्रभाव डाल रहे थे। वहाँ ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों प्रकार के प्रचारक इस बात पर जोर दे रहे थे कि राम और रहीम को एक समझो; जाति धर्म के बन्धनों को तोड़ दो; मनुष्यमात्र से प्रेम करो। खेचर और उनके शिष्य नामदेव इनमें प्रमुख थे। इनके शिष्यो ओर अनुयायियों मे लिग, धर्म, वर्ण और जाति का भेद न था। इनमें स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-अब्राह्मण, कुनबी, दर्जी, कुम्हार, अन्त्यज, महार, और धर्मनिष्ठ वेश्याएं तक सम्मिलित थीं।

१५ वीं सदी में पंजाब में गुरु नानक ने कबीर की भाँति सब धर्मों की मौलिक एकता और हिन्दू-मुसलमानों के अभेद पर बल दिया। नानक के शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनो थे। नानक के समकालीन महाप्रभु चैतन्य (१४८५-१५३३) थे। उन्होंने बंगाल मे हरि-भक्ति के प्रचार द्वारा ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड और जाति-भेद का जबर्दस्त खण्डन किया। उनके शिष्यों मे नीच जाति के लोग और मुसलमान भी थे।

इस्लाम में परिवर्तन. केवल हिन्दू धर्म पर ही इस्लाम का प्रभाव नही पड़ा, बल्कि स्वयं इस्लाम हिन्दू धर्म के सम्पर्क मे आने से बदला। भारत मे इस्लाम के साथ ऐसी बाते जुड़ गईं, जो पैगम्बर की शिक्षा के सर्वथा प्रतिकूल और अन्ध-विश्वासों से परिपूर्ण थी। मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी होते हुए भी बंगाल में उन्होंने शीतला, काली, धर्मराज, वैद्यनाथ और इतर देवताओं की पूजा जारी रखी। इसके साथ उन्होंने नदियों की अधिष्ठाता ख्वाजा खिज्र, सुन्दरवन मे शेर की सवारी करने वाली देवी के प्रेमी और अंगरक्षक जिन्दागाज़ी आदि नये मुसलमान देवता बना डाले। पीरों के मजारों की पूजा चल पड़ी। इसका प्रधान कारण यह था कि भारत में इस्लाम ने जो अनुयायी बनाये वे सहसा मूर्तिपूजा और अन्ध-विश्वासों को नहीं छोड़ सकते थे।

सम्मिश्रण की प्रवृत्ति. इस्लाम और हिन्दूधर्म के सम्पर्क से दोनों में सम्मिश्रण की प्रवृत्ति बढ़ी और ऐसे सम्प्रदायों और सुधारकों का जन्म हुआ जिनके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। हिन्दुओं ने उदारतापूर्वक मुस्लिम देवी-देवताओं पीरों और मजारों की पूजा शुरू की। इसी शती के शुरू में पंजाब में अब्दुल कादिर

जिलानी के मुरीदों में रावलपिण्डी के ब्राह्मण थे, बहराइच में सैयद सालार मसूद के उपासक हिन्दू भी हैं। अजमेर में शेख मुईनुद्दीन चिश्ती के मजार की भीयही दशा है। बंगाल के देहाती मुसलतानों में हिन्दू देवताओं की पूजा का जिक्र किया जा चुका है। मध्यकाल में अकबर और दाराशिकोह हिन्दू धर्म की ओर झुके थे।

हिन्दू-मुसलतानों के मेल और सामीप्य की लहरों का परिणाम यह हुआ कि सत्यपीर, सत्तनामी, नारायणी आदि ऐसे पंथों का आविर्भाव हुआ, जिनके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे, और जो दोनों में कोई भेदभाव नही मानते थे। बारहवी शती में बंगाल में हिन्दुओं का मुसलमानों की दरगाहों पर मिठाई चढ़ाना, कुरान पढना और मुस्लिम त्योहार मनाना शुरू हो गया था। मुसलमान भी हिन्दुओं की धार्मिक रिवाजों के प्रति क्रियात्मक सम्मान प्रदर्शित करते थे। इसी मेल-जोल से बंगाल में एक नये देवता 'सत्यपीर' की पूजा शुरू हुई। कहा जाता है कि गौड़ का बादशाह हुसैनशाह (१४९३-१५१९ ई०) इस सम्प्रदाय का संस्थापक था। औरंगजेब के समय में सत्तनामी और नारायणी सम्प्रदायों के मिलाने की कोशिश हुई। पिछले पंथ में हिन्दू-मुसलमान दोनों लिए जाते थे, ये पूर्व की ओर मुंह कर दिन मे पांच बार प्रार्थना करते थे, ईश्वर के नामों में अल्लाह को भी मानते थे और मुर्दों को दफनाते थे। गुजरात के एक साधक प्राणनाथ ने जाति-भेद, मूर्ति-पूजा और ब्राह्मणों के प्रभुत्व का खंडन किया। उनसे हर नये दीक्षा लेनेवाले को हिन्दू और मुसलमान दोनों के साथ बैठकर भोजन करना पड़ता था।

कला के क्षेत्र में मिलन : वास्तुकला. जो सामीप्य और मेल-जोल की प्रवृत्ति धर्म के क्षेत्र में थी, यही विभिन्न कलाओं के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होती है। वास्तुकला (भवन-निर्माण) के क्षेत्र में यह विशेष रूप से व्यक्त हुई। मध्ययुग में कला के एक नवीन रूप का जन्म हुआ, जिसमें हिन्दू और मुस्लिम कला-शैलियों का सुन्दर सामंजस्य पाया जाता है। इसे भारत-मुस्लिम (Indo-Saracenic) या पठान कला कहा जाता है। भारतीय कला में विशालता, स्थूलता, और विस्तार पर अधिक बल था। इसके विपरीत, बड़े-बड़े भवन, ऊंची मीनारें, साफ और सादी दीवारें मुस्लिम कला की विशेषताएं थीं। मुसलमान भारत में गुम्बद, मीनार और डाट लाये और उन्होंने भारतीयों से तंग स्तम्भ पंक्तियां तथा भवन कला के अन्य अलंकरण ग्रहण किये। मुसलमानों को मेहराव का ज्ञान था, अतः उन्हें खम्भों की आवश्यकता न थी। सल्तनत युग और मुगल युग की वास्तु-कला में इन दोनों का सम्मिश्रण हुआ। इस सम्मिश्रण के दो कारण सहायक सिद्ध हुए— (१) मुस्लिम भवनों की शिल्पी हिन्दू थे, जो मुसलमान बादशाहों की देख-रेख में भवन-निर्माण करते थे, (२) बहुत से नये मुस्लिम भवन पुराने हिन्दू मन्दिरों की विध्वस्त साम-ग्रियों से बने थे। अतः मुस्लिम वस्तु-कला पर हिन्दू प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

हिन्दू प्रभाव की मात्रा विभिन्न कला शैलियों में परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही। मुगल युग की इमारतों में ईरानी और भारतीय दोनों शैलियों का सामंजस्य बड़े सुन्दर रूप में हुआ। अकबर द्वारा बनवाये फतहपुर सीकरी के भवनों, आगरा के जहांगीरी महल, मुहम्मद गौस और हुमायूं के मकबरों में यह प्रभाव स्पष्ट है। इसका चरम उत्कर्ष शाहजहां की इमारतों—आगरे के ताजमहल और मोती मस्जिद में—दिखाई देता है। यह प्रभाव केवल राजभवनों तक ही सीमित न रह कर धनी नागरिकों की इमारतों और मकानों पर भी विस्तीर्ण हुआ।

संगीत और चित्रकला. इस्लाम के संसर्ग का भारतीय संगीत पर गहरा असर पडा और वह नये वाद्य यन्त्रों और नये रागों से समृद्ध हुआ। प्राचीन भारतीय तथा ईरानी संगीत के सम्मिश्रण ने एक नई संगीत शैली को जन्म दिया। अमीर खुसरो की असाधारण प्रतिभा से भारतीय संगीत को एक अनुपम विशालता और एकता मिली। भारत में वह सितार का प्रारम्भकर्ता माना जाता है। उसने भारत की उत्तरी और दक्षिणी शैलियों के बीच सामंजस्य स्थापित किया। कव्वाली भी उसी ने शुरू की, जो कि अभी तक लोकप्रिय है। जौनपुर के शर्की दरबार की सबसे बडी देन 'खयाल' है। मुस्लिम दरबारों में भारतीय सगीत को प्रोत्साहन मिला। इसमें तराना, ठुमरी, गजल, कव्वाली का प्रवेश हुआ। चित्रकला के क्षेत्र में भी ईरानी और हिन्दू कला का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ।

उद्यान-निर्माण-कला. उद्यानों की योजना और निर्माण भारतीय कलाओं में मुगलों की सबसे बड़ी देन है। भारत में मुगलों के आने से पहले बाग थे, किन्तु वे मुख्य रूप में फलों के लिए थे और प्रायः वन जैसे होते थे। मुगलों के बगीचे ईरान और तुर्किस्तान में विकसित उद्यान कला के अनुरूप थे। नहरो को ऊँचाई से लाकर उनसे सात-आठ झरने बनाए जाते थे, इनमे फव्वारे लगे होते थे, नहरी पटरियो के दोनों ओर फूलों की क्यारियां इनकी विशेषताएं थी। सबसे ऊंचे या निचले फव्वारे पर बारादरी होती थी, जहां से सारे दृश्य को देखा जा सकता था। काश्मीर के शालामार, निशात, अच्छावल, वैरीनाग और लाहौर के शालामार बाग, इसके अच्छे उदाहरण है।

साहित्य विज्ञान और जीवन रीति. इस्लाम ने भारतके मध्ययुग में साहित्य और वैज्ञानिक उन्नति और राजनैतिक एकता मे बड़ा भाग लिया। इससे जन-साधारण के जीवन, रहन-सहन, वेश-भूषा और खान-पान पर भी प्रभाव डाला। प्रान्तीय भाषाओ के विकास में मुसलमान राजाओं ने बहुत योग दिया। बंगला को साहित्य पद पर प्रतिष्ठित करने का मुख्य श्रेय उन्हें ही था। बहमनी बादशाहों ने मराठी को प्रोत्साहन दिया। उर्दू भाषा और साहित्य का विकास हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक सम्पर्क का सीधा परिणाम था। सोलहवी सदी में इसका जन्म हुआ और

अठारहवी सदी में यह साहित्य की भाषा बनी। फारसी तवारीखों से देश में इतिहास लिखने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला।

वैज्ञानिक उन्नति विशेष रूप से सामरिक कला में हुई। मुगलों ने योरोपीय रण-कला तथा बारूद, बन्दूक और तोपों का प्रयोग तुर्कों और ईरानियों से सीखा और उसका भारत में प्रसार किया। युद्धविद्या, सैनिक व्यवस्था और किलेबन्दी की इस समय विशेष उन्नति हुई। कागज बनाने की कला मुसलमान ही भारत में लाये। इससे विद्या प्रसार के कार्य में बड़ी सहायता मिली।

उत्तर भारत की भाषा, वेश-भूषा, रहन-सहन और खान-पान में मुस्लिम प्रभाव बहुत स्पष्ट है। हिंदी, बंगला, मराठी में सैकड़ों फारसी, अरबी और तुर्की शब्दों की वृद्धि हुई। हिन्दुओं के विवाह जैसे पवित्र संस्कार में सेहरा और जामा का प्रयोग होने लगा। हमारी अधिकांश मिठाइयां इसी काल की ईजाद है। बालूशाही, शकरपारा, कलाकन्द, गुलाबजामुन, बरफी, हलवा, सब मुसलमानी नाम हैं।

शासन और न्याय व्यवस्था. राजनैतिक क्षेत्र में मुगल शासन ने सारे देश में सुदृढ़ शासन द्वारा राजनैतिक एकता उत्पन्न की। यही नहीं, उसने स्थानीय, प्रान्तीय और केन्द्रीय शासन की व्यवस्था को प्रभावित किया तथा कम से कम नगरों में न्याय-व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन पैदा किये। इस्लाम के कानून को उन्होंने अपनी दंड-व्यवस्था का आधार बनाया।

आर्थिक संगठन परिवार. इस्लाम के सम्पर्क ने आर्थिक और पारिवारिक क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन पैदा नही किया। आवश्यकतापूर्ति-प्रधान अर्थ व्यवस्था ही हमारे आर्थिक संगठन का मुख्य आधार बनी रही। उत्पादन, वितरण और विनिमय के क्षेत्र, वर्गों के सम्बन्ध और मान्यताओं पर इस्लाम का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इस दृष्टि से उसने कोई ऐसा सामाजिक विघटन पैदा नहीं किया जैसा कि अंग्रेजों के आगमन से हुआ।

निष्कर्ष में, इस्लाम के साथ हिन्दू धर्म के सम्पर्क ने जो प्रभाव पैदा किए वह अनुपम है। उसने एक नई समन्वयात्मक सभ्यता देने का प्रयत्न किया, जो न हिंदू थी और न मुसलमान, बल्कि हिन्दुस्तानी थी। उसने धार्मिक सुधार के बीज बोए, कला, साहित्य, विज्ञान की उन्नति को आगे बढ़ाया। भारतीय संस्कृति में वृद्धि की, उसे समृद्ध बनाया।

:४:

भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य प्रभाव

संगठनात्मक (Structural) और कार्यात्मक (Functional) परिवर्तन का सूत्रपात. यों तो इस्लाम के आगमन से भी पहले भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति का सम्पर्क हुआ था। ३२७ ई० पू० में सिकन्दर ने भारत पर हमला किया। उसे हार कर लौटना पड़ा। सेल्यूकस आदि उसके कुछ सेनापति यहां पर रह गए। चन्द्रगुप्त मौर्य्य (३२५-३०० ई० पू०) ने उन्हें भी पराजित किया। इस समय में रोम और यूनान से भारतीयों के सम्बन्ध थे। पर यह सम्बन्ध तत्कालीन उन्नत भारतीय और संस्कृति और समाज पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं डाल सके। मुगल काल में पुर्तगाली और फ्रांसीसी व्यापारी इस सम्पर्क के प्रवर्तक थे। लेकिन शीघ्र ही अंग्रेजों ने उन्हें पीछे धकेल दिया। वास्तव में अंग्रेज हमारे देश में पाश्चात्य संस्कृति के प्रसार के माध्यम बने। १८ वी शती के मध्य में बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हुई। धीरे-धीरे सारा देश अंग्रेजों के आधीन हो गया। इस प्रकार १८ वीं शती के उत्तरार्ध में हमारा पाश्चात्य संस्कृति से सीधा और प्रभावयुक्त सम्बन्ध स्थापित हुआ।

यह सास्कृतिक सम्पर्क और संघात पिछले सब विदेशी सम्पर्कों की तुलना में अद्वितीय और क्रान्तिकारी था। इस्लाम यहां आया, उसने यहां के धर्म, साहित्य और कलाओं को प्रभावित किया, पर वह यहां के सामाजिक संगठन और सम्बन्धों या कार्यों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन न कर सका। उसके द्वारा जीवन रीति, धार्मिक विश्वास, खान-पान, शिष्टाचार में संशोधन हुए, पर समाज के ढांचे में कोई बुनियादी परिवर्तन नही हुआ। पर अंग्रेजों के द्वारा पाश्चात्य संस्कृति के प्रवेश ने विद्यमान, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक व्यवस्था शिक्षा-पद्धति, विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों, जीविका उपार्जन के साधनों, मान्यताओं, उद्देश्यों में बुनियादी परिवर्तन उपस्थित किए। कुछ अंशों में यह स्वाभाविक भी था। क्योंकि जिस समय अंग्रेजों ने भारत में प्रवेश किया उस समय उनके देश में औद्योगिक क्रांति अपने पैर जमा चुकी थी। साथ ही वहां पर मुक्त व्यापार (Free Trade) और राज्य द्वारा आर्थिक मामलों में अल्पतम हस्तक्षेप की नीति (Laissez faire) का बोलबाला था। नई उत्पादन प्रणाली और तत्कालीन सामाजिक विचारधारा ने वहां पर पूंजीवाद व्यवस्था की नींव डाली। भारत के यह नये शासक मुस्लिम

आक्रांताओं की तरह भारत के स्थायी निवासी नहीं बने। ऐसी स्थिति में उनके लिए भारत की अर्थ-व्यवस्था को अपने देश की अर्थ-व्यवस्था के हित में रूपान्तरित करना आवश्यक हो गया। इस रूपान्तरण के लिए यह जरूरी था कि भारत कच्चे माल का उत्पादक और ब्रिटेन के पक्के माल का ग्राहक बने। मशीनों के द्वारा बने माल की तुलना में हाथ के कारीगर न टिक सकते थे।

मुनाफा प्रधान बाजार अर्थ-व्यवस्था (Market Economy) **का प्रवेश.** अतः पाश्चात्य संस्कृति के इस आक्रमण का पहला परिणाम भारत के कुटीर उद्योगों का विनाश था। इस प्रकार विभिन्न हाथ के दस्तकारों, विशेषतः कपड़े के कारीगरों को, अपने पैतृक पेशों को छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा। गांवों में अभी तक उत्पादन केवल स्थानीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए होता था। मुनाफावृत्ति और प्रतियोगिता को उसमें स्थान न था। विक्रय का उसमें अभाव था। अतः वस्तुओं और सेवाओं की आपसी अदल-बदल ही विनिमय का मुख्य साधन था। लेकिन ब्रिटेन के कारखानों की मांग ने किसानों को बाहर बाजारों में बेचने के लिए उत्पादन करने के लिए प्रेरित किया। शासकों ने आधुनिक यातायात और संवादवहन के साधनों के असाधारण विकास द्वारा उसे सम्भव बनाया। इस प्रकार भारत के गांव और उनके कच्चे माल का उत्पादन अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों से संयुक्त हो गया। उत्पादन का उद्देश्य बदल गया, गांवों की आत्मनिर्भरता नष्ट हो गई, और आर्थिक सम्बन्धों का स्थान मुनाफावृत्ति ने ले लिया। धीरे-धीरे देश में भी कारखाने शुरू हो गए और बड़ी संख्या में गांवों के भूमिहीन और दस्तकार बेकार शहरों मे रोजगार के लिए औद्योगिक केन्द्रों की ओर जाने लगे।

जाति के कार्यात्मक आधार पर आघात. इस नई लहर के आने से पहले जाति व्यवस्था भारतीय सामाजिक संगठन का कठोर आधार थी। वह एक व्यक्ति के रोटी-बेटी के ही सम्बन्धों को निर्धारित करने के अलावा, उसके पेशे को भी निश्चित करती थी। औद्योगिक क्रांति ने समाज के पुराने पेशेवार वर्गीकरण को अक्रियात्मक बना दिया। अनेक जातियों के सदस्यों के लिए अपने पैतृक पेशे द्वारा जीविका उपार्जन दूभर हो गया। अतः उन्हें अपने पेशे को बदलने पर मजबूर होना पड़ा। शहरों की ओर निष्क्रमण की प्रवृत्ति बढ़ी।

नए भूमि सम्बन्धों का सूत्रपात. अंग्रेजों के आने से पहले भारत की जनसंख्या पर्याप्त सीमित थी। जनसंख्या का पर्याप्त अनुपात उद्योगों मे लगा हुआ था। जो लोग जमीन पर खेती करते थे, वही व्यवहारतः उसके मालिक थे। वह अनाज की शक्ल में राज्य को लगान देते थे जिसकी राशि पर्याप्त कम थी। अंग्रेजों के लिए इस प्रकार लगान वसूल करना सुविधाजनक न था। वह नकद और निश्चित रकम चाहते थे। अतः काफी परेशानियों में से गुजरने के बाद उन्होंने कुछ मध्यस्थों

के नाम जमीन के बड़े हिस्से सुपुर्द कर दिए और उनसे एक निश्चित रकम लगान के रूप में तय कर दी । इस प्रकार एक नए जमींदार वर्ग का उदय हुआ, जो स्वयं काश्तकार न था । वह एक तरह का ठेकेदार था जिसे कि मिल्कियत के हक हासिल हुए । भारत के अधिकांश भागों में यह भूमि-व्यवस्था विस्तीर्ण हो गई और इस प्रकार गांवों में एक ऐसा स्थायी वर्ग बन गया, काश्तकारों का शोषण ही जिसकी आय का मुख्य साधन बन गया । इस प्रकार ग्राम्य जीवन के संगठन और वर्ग संबंधों में एक बुनियादी परिवर्तन घटित हुआ । जमींदारी प्रथा ने कृषि में आर्थिक शोषण का सूत्रपात किया ।

पुराने औद्योगिक सम्बन्धों का विनाश. अंग्रेजी शासन स्थापित होने के कुछ ही समय बाद स्वयं भारत में नये तरीके पर कारखाने स्थापित होने लगे । इस कारखानो में दस्तकार दैनिक मजदूरी पर काम करने लगे । वह स्वयं उत्पादन यंत्रों के स्वामी न रहे । पारिवारिक उत्पादन की इकाई नष्ट हो गई और मालिक और मजदूर के निर्वैयक्तिक सम्बन्धों का विकास हुआ । आपसी सहयोग का स्थान संघर्ष ने ले लिया और आर्थिक स्वार्थों को प्रधानता दी जाने लगी । इस प्रकार मालिक और मजदूर के नये वर्गों, नये सम्बन्धों और नये संगठनों का जन्म और विकास हुआ । इन कारखानों में विभिन्न स्थानों, विभिन्न धर्मों, प्रातों और जातियों के लोग बड़ी संख्या में काम करने के लिए इकट्ठा हुए और उनमें एक नई वर्गीय भावना का सूत्रपात हुआ जो कि उनकी पुरानी सीमित स्थानीय और जाति भावना से भिन्न थी । अपने जन्म-स्थानों और प्राय: परिवारों से दूर, इन श्रमिकों में नई जीवन रीतियों, नैतिकता और मान्यताओं का विकास हुआ ।

परिवार में परिवर्तन. व्यक्तिवादी नई विचारधाराओं और नए आर्थिक परिवर्तनों ने संयुक्त परिवार की प्रथा पर आघात किया । परिवार के आर्थिक कृत्यों का ह्रास हुआ । संयुक्त परिवार के विभाजन की प्रवृत्ति को बल मिला । शहरों में निष्क्रमण की प्रवृत्ति बढ़ी, किन्तु शहरों में निवास स्थानों की कमी और किफायत की दृष्टि से मजदूर अपने पत्नी और बच्चों को गांव में ही छोड़ जाते थे । इससे पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन हुआ और यौन-नैतिकता पर भी इसका प्रभाव पड़ा ।

धार्मिक सुधार आन्दोलन. अंग्रेजी शासन के साथ-साथ ईसाई मिश्नरियों ने भी बड़ी संख्या में प्रवेश किया । हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही प्रधान भारतीय धर्म इस समय अत्यन्त ही पतित अवस्था में थे । अज्ञानता, आडम्बर, अन्ध-विश्वास, अनाचार का उनपर एक छत्र राज्य था । ईसाई प्रचारकों ने उनकी निर्मम आलोचना शुरू की और नए विज्ञान ने उसके विश्वासों की जड़ों को हिलाया

इस धक्के ने पुनः एक बार धार्मिक सुधार के आन्दोलन को जन्म दिया। ये आन्दोलन दो प्रकार के थे। एक जो धर्म और समाज में उग्र क्रान्तिकारी सुधार करना चाहते थे। इनकी प्रेरणा का प्रधान स्रोत पश्चिमी शिक्षा और विचारधारा थी। इनमें ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज मुख्य थे। इनके नेताओं ने पश्चिमी विचारों से आकृष्ट होकर जब अत्यधिक मौलिक परिवर्तन करने चाहे, तो इसकी प्रतिक्रिया कट्टर सुधारवादी आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई। थियासफी और रामकृष्ण मिशन ऐसे ही प्रयास थे। दोनों अतिवादियों के बीच में अनेक नरम विचारों वाले सुधारक और आर्यसमाज के नेता थे, जो वैदिक परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए परवर्ती युगों में उत्पन्न हुई कुरीतियों का संशोधन करना चाहते थे। ब्रह्मसमाज ईसाइयत के विरोध में हिन्दू समाज की रक्षा के लिए पहला बांध था। वह अन्त में ईसाइयत के जबर्दस्त प्रवाह का मुकाबला न करके, उसी के साथ बह गया। मूर्ति-पूजा के विरोध के अतिरिक्त, ब्रह्मसमाज ने जातिभेद आदि कुरीतियों के निवारण की ओर बहुत ध्यान दिया। केशवचन्द्र सेन के प्रयत्न से १८७२ ई० में विशेष विवाह कानून पास हुआ जिससे ब्राह्मों में अन्तर्जातीय विवाह वैध हो गये। १८६८ ई० में बम्बई में प्रार्थनासमाज की स्थापना हुई। यह ब्रह्मसमाज का ही दूसरा रूप था। यह अन्दोलन अधिक शक्तिशाली न बन सका। १८५१ में शिक्षित पारसियों ने पारसी धर्म की रक्षा और कुरीतियों के संशोधन के लिए 'रहनुमाये मज्दायस्नान' नामक समिति की स्थापना की। इस्लाम में सर सय्यद अहमद ने नये धार्मिक सुधारों का श्रीगणेश किया। कट्टर एवं रूढ़िगत इस्लाम को उन्होंने युक्तिसंगत बनाने का प्रयत्न किया। वह तर्क को ही प्रमाण मानते थे। हजरत मुहम्मद की शिक्षाओं को समयानुकूल बनाने का दूसरा प्रयास भारत के सबसे पहले प्रिवी कौंसिलर अमीर अली ने किया।

उक्त धार्मिक आन्दोलनों ने विज्ञान और धर्म के बीच एक संतुलन स्थापित करने की कोशिश की तथा धर्म को विज्ञानसम्मत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। पाश्चात्य संस्कृति के आक्रमण ने भारतीय धर्मों को समयानुकूल परिवर्तित होने के लिए मजबूर किया।

शिक्षा पद्धति में परिवर्तन. अंग्रेजों के आगमन के समय हमारी शिक्षा मुख्यतः धार्मिक थी। वह धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन तक सीमित थी। साथ ही उसे ग्रहण करने का अधिकार केवल कुछ विशेष वर्गों को ही प्राप्त था। निम्न जाति के लोग और स्त्रियां उससे वंचित थीं। यह सीमित शिक्षा निःशुल्क थी और इसमें शिक्षक और विद्यार्थी का सीधा व्यक्तिगत स्नेह का सम्बन्ध था। इसका कोई ऐहिक उद्देश्य न था। अंग्रेजों ने १८५७ मे तीन प्रमुख विश्वविद्यालय स्थापित कर सर्वथा नई शिक्षा-पद्धति का सूत्रपात किया। यह शिक्षा सर्वथा लौकिक थी।

इसमें समाज और भौतिक विज्ञान जैसे विषयों का समावेश था। यह शिक्षा हर एक के लिए खुली थी। इस शिक्षा की प्राप्ति परिवर्तित अवस्थाओं में व्यक्तिगत उन्नति और सामाजिक प्रतिष्ठा का साधन थी। यह शिक्षा खर्चीली थी, अतः थोड़े ही लोग इसे प्राप्त कर सकते थे। इस शिक्षा-पद्धति ने एक नये नेता (Elite) वर्ग को जन्म दिया। अब देश का नेतृत्व वेद और कुरान के पंडितों मौलवियों और सामान्तों के हाथ से निकलकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण और पाश्चात्य सामाजिक विचारधाराओं से अनुप्राणित उच्च अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त वर्ग के हाथ में आ गया। भारत के इतिहास में यह अभूतपूर्व घटना थी।

'इस शिक्षा के प्रसार में अंग्रेजों का मूल उद्देश्य यद्यपि साम्राज्यवादी शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए वफादार भारतीय तैयार करना था, किन्तु इसके परिणाम युगान्तर लानेवाले सिद्ध हुए। पाश्चात्य शिक्षा ने नये शिक्षित वर्ग में तत्कालीन योरोप की ऐहिकता, राष्ट्रवाद, समानता, स्वाधीनता, प्रजातन्त्र समाजवाद, साम्यवाद, आयोजन के विचारों का प्रसार किया। इस शिक्षित वर्ग ने भारत में ऐहिक राष्ट्रवाद और भावी समाजसुधार और राजनैतिक आन्दोलन की नीव रखी। पाश्चात्य शिक्षा के ग्रहण करने में हिन्दू अग्रणी थे। वह मुस्लिम राज्य की समाप्ति पर अप्रसन्न न थे। मुसलमानों मे अंग्रेजों के प्रति पर्याप्त कटुता थी। अतः वह इस शिक्षा से काफी समय तक अलग रहे। पर अंग्रेजी शासन के शुरू में हिन्दुओं के बढते प्रभाव ने मुसलमानों को चौकन्ना कर दिया। अंग्रेज भी नहीं चाहते थे कि वह आपस में मिलें। अतः उन्होंने मुसलमानों को हिन्दू शासन का भय दिखाकर और बाद में विशेष रियायतें प्रदान कर अलग रखने की कोशिश की। धीरे-धीरे अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त मुसलमानों में भी पृथक् राष्ट्रीयता की भावना ने जोर पकड़ा, जिसकी अंतिम परिणति पाकिस्तान की स्थापना में हुई।

राजनैतिक संस्थाओं का पाश्चात्य स्वरूप. अंग्रेजी शिक्षा ने हमारी राजनैतिक विचारधारा को विशेष रूप से प्रभावित किया। आत्मनिर्णय और प्रतिनिध्यात्मक सरकार की मांग रखी गई और उसके लिए आन्दोलन शुरू किये गये। भारतीय राजतन्त्र और पुरोहित-तन्त्र का कोई नाम लेवा भी न रहा। 'स्त्री पुरुष सब बालिगों को सरकार चुनने का अधिकार होना चाहिए,' जैसी नई पाश्चात्य कल्पनाएं उनके स्वप्न और आदर्श बन गये। स्वाधीन भारत के संविधान पर हम पाश्चात्य विचारों, पाश्चात्य राजनैतिक संस्थाओं की छाप स्पष्ट देख सकते हैं। यह संविधान निर्विवाद रूप से पाश्चात्य प्रभाव की कृति है। ऐहिक राज्य (Secular state), और नागरिकों के मूलाधिकारों की घोषणा, सबों को मताधिकार और कानून के सामने सबों की समानता, सर्वथा पाश्चात्य विचार कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त,

कार्यकारिणी, न्यायपालिका और विधानसभा की रचना और उनके बीच शक्ति और कार्यों का विभाजन पूर्णतः पाश्चात्य प्रणालियां हैं। हमने राजनैतिक और प्रशासन के क्षेत्र में पाश्चात्य प्रजातन्त्र राज्यों का अनुकरण किया है।

पाश्चात्य न्याय-व्यवस्था का प्रवेश. अंग्रेजों ने यद्यपि उत्तराधिकार इत्यादि के जातीय और धार्मिक कानूनों में तो कोई विशेष हस्तक्षेप नहीं किया, पर उन्होंने दीवानी और फौजदारी के नये कानून बनाये, जो कि अंग्रेजी कानूनों की शैली पर थे और यहां के समस्त अधिवासियों पर समान रूप से लागू होते थे। मुकदमों का फैसला करने में भी साक्षी इत्यादि के आधुनिक अंग्रेजी नियमों को अपनाया गया और 'दिव्यी (Torture) इत्यादि के पुराने तरीकों का परित्याग कर दिया गया। नये शिक्षित वर्ग ने नई न्याय और नई दंड व्यवस्था को अधिक श्रेष्ठ समझ कर स्वीकार किया और आज स्वाधीन भारत में भी हम उस न्याय व्यवस्था को स्वीकार किये है, जो कि स्पष्ट ही पाश्चात्य संस्कृति की देन है। नये प्रकार के न्यायालयों ने पुरानी जाति-पंचायतों की सत्ता को बहुत कुछ समाप्त कर दिया और इस प्रकार एक सर्वथा नये प्रकार की न्याय व्यवस्था की स्थापना की।

सामजिक कानून का प्रारम्भ. पाश्चात्य शिक्षा और विचारों के प्रसार ने सामाजिक कुरीतियों के प्रतिकार के लिए सामाजिक कानूनों की मांग की। पाश्चात्य संस्कृति के प्रवेश से पहले प्रचार और प्रेरणा ही समाज सुधार का मुख्य साधन थे। लेकिन पाश्चात्य देशों के उदाहरणों ने सामाजिक कानूनों का रास्ता दिखाया। यह कानून किसी एक राजा या बादशाह की मनमर्जी का परिणाम न होकर समाज के प्रतिनिधियों की सम्मिलित स्वीकृति का परिणाम थे। उदाहरण के लिए, १८२९ में सरकारी कानून द्वारा सती प्रथा को अवैध और दण्डनीय अपराध बना दिया गया। १७९५ में बाल वध को बंगाल में नर-हत्या घोषित कर दिया गया। १८०२ में बालिका-वध के विरुद्ध कानून बनाया गया। १८५६ में विधवा पुर्नविवाह को जायज ठहराने वाला कानून बनाया गया। १८९१ में एक कानून बनाकर सहवास की वयस को ११ वर्ष निश्चित किया गया। १९२९ में बाल विवाह-निषेधक कानून पास हुआ, जिसके अनुसार १८ वर्ष से कम आयु के लड़के और १४ वर्ष से कम आयु की लड़की के विवाह को अवैध घोषित कर दिया गया।

सामाजिक कानून केवल सामाजिक कुरीतियों के रोकने तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि-दुर्बल वर्गों के आर्थिक हितों की रक्षा और सामाजिक कल्याण में वृद्धि भी उनका कर्तव्य बन गया। नये आर्थिक सम्बन्धों के उदय ने उनकी आवश्यकता की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया। उदाहरण के लिए, १८८१, ९१, १९११,-२२,-३४,-४८ के फैक्टरी एक्ट, १९२३,-५२ का भारतीय खान एक्ट, ९९३२ का चाय जिलों का निष्क्रमणार्थी श्रम एक्ट, ११५१ का बगान-श्रम एक्ट.

१८९१,-१९३१ का रेल्वे एक्ट, १९२३-१९४९ के भारतीय व्यापारिक जहाजरानी एक्ट, १९०८ का डौक कर्मचारी एक्ट, १९२६ से ४७ तक के भारतीय श्रम-संघ एक्ट, व्यावसायिक विवाद एक्ट, मातृत्व-लाभ एक्ट और १९४८ का राज्य-बीमा एक्ट ऐसे ही कानून हैं। पाश्चात्य प्रभाव ही इन कानूनों का मूल स्रोत हैं।

समाज सुधार के आन्दोलन. पाश्चात्य शिक्षा ने प्रबल रूप से और ऐहिक रूप में स्त्री-पुरुषों और समाज के सभी सदस्यों की समानता की घोषणा की। स्त्रियों और शूद्रों की दयनीय अवस्था स्वाधीनता और समानता के सिद्धान्तों के विरुद्ध थी। यद्यपि अंग्रेजों के आगमन से पहले भी उनकी स्थिति को ऊंचा उठाने के प्रयत्न हुए थे, लेकिन समय के गुजरने के साथ वह मृतप्राय: हो गये। पाश्चात्य संस्कृति के संघात और ईसाइयों द्वारा दलित जातियों के धर्म परिवर्तन के प्रयत्नों ने एक बार भारतीयों को पुन: अपनी समाज व्यवस्था को सुधारने की प्रेरणा दी। आर्यसमाज और प्रार्थनासमाज ने इस दिशा में कार्य शुरू किया। १९२० में गाधी जी ने हरिजनोद्धार को रचनात्मक कार्यक्रम का अंग बना लिया।

पाश्चात्य संस्कृति के प्रवेश ने पुन: स्त्रियों मे शिक्षा के प्रसार का श्रीगणेश किया और इसी से स्त्रियों के उत्थान के आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। १९१७ में भारतीय स्त्रियों के प्रतिनिधिमण्डल ने पहली बार तत्कालीन भारतमंत्री से स्त्री-मताधिकार की माग की। भारत के इतिहास में यह अनुपम घटना थी। १९१९ के शासन विधान के अनुसार प्रांतीय विधान परिषदों को नारियों को वोटर बनाने का अधिकार दे दिया गया। १९२६-२८ में लगभग सभी प्रांतों में स्त्रिया निर्वाचक बन गईं। १९२६ में मार्गरेट काजिन्स के प्रयत्न से अखिल भारतीय महिला परिषद की स्थापना हुई। यह शिक्षित महिलाओं का प्रधान संघठन है। पिछली दो शताब्दियों में भारतीय नारियों पर लगे प्रतिबन्धों और कानूनी-बाधाएं हटाने तथा समान अधिकारों की मांग करने में इस संस्था ने मुख्य भाग लिया है। इस पर हम पाश्चात्य विचारों का प्रत्यक्ष प्रभाव देख सकते हैं।

भारत विषयक अध्ययन का प्रारम्भ. १७८३ में सर विलियम जोन्स सुप्रीम-कोर्ट का जज बनकर भारत आया और १७८४ में उसने पौरस्त्य वाङ्मय और ज्ञान-विज्ञान की शोध के लिए बंगाल रायल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की। इसने सर्वप्रथम विद्वानों का ध्यान इस ओर खींचा कि योरोप की पुरानी साहित्यिक भाषाओं, यूनानी तथा लैटिन और ईरान की पुरानी जन्द का संस्कृत से घनिष्ट सम्बन्ध है। ये सब एक मूल से प्रादुर्भूत भाषाएं है। बाद में इन्हीं भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से योरोप मे तुलनात्मक भाषाशास्त्र की नींव पड़ी। इसी से यह ज्ञात हुआ कि इन्हें बोलनेवाली जातियों के धर्म-कर्म, देवगाथाओं, प्रथाओं, और संस्थाओं में बड़ा सादृश्य है। इस प्रकार आर्य

नस्ल का पता लगा। भारत विषयक अध्ययन की नींव रखने का श्रेय जोन्स को है। उसने प्राचीन भारत के तिथि-क्रम को प्रस्तुत किया। १७८५ से पुराने अभिलेख पढ़ने की ओर योरोपीय विद्वानों का ध्यान गया। प्रिन्सेप ने यूनानी सिक्कों की सहायता से मौर्य युग की ब्राह्मी लिपि पढ़ली। कनिंघम ने भरहुत तथा सांची स्थानों की खुदाइ कराई, कैंनिग के समय में पुरातत्व विभाग की स्थापना हुई; सारे देश का पुरातत्त्वीय निरीक्षण किया जाने लगा। कर्जन के समय प्राचीन इमारतों के संरक्षण का कानून बना। इस समय से पुरातत्त्व विभाग ने तक्षशिला नालन्दा, मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा, साँची, सारनाथ इत्यादि अनेक प्राचीन स्थानों की खुदाइ करायी। इनसे भारत के प्राचीन इतिहास का पुनरुद्धार हुआ। इस कार्य के पथ-प्रदर्शक अंग्रेज थे। यह पाश्चात्यों की प्रेरणा का ही परिणाम था कि भारतीयों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने इसके महत्व को समझा।

प्रांतीय भाषाओं और साहित्य का विकास. ब्रिटिश शासन की स्थापना के समय शिक्षित एवं सुसंस्कृत भारतीय अरबी तथा संस्कृत का अध्ययन करते थे। हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, उर्दू, तामिल, तेलगू इत्यदि भाषाएं बहुत काल से लोक प्रचलित थी। किन्तु इनमें उस समय पद्यात्मक साहित्य—वीर, शृंगार भक्तिरस की कविताएं और महाकाव्य ही थे। ब्रिटिश काल में बाइबिल का संदेश जनता तक पहुंचाने के लिए लोकभाषाओं की उन्नत्ति की ओर ध्यान दिया गया। उन्होंने सबसे पहले बंगला, हिन्दी आदि लोकभाषाओं के टाइप बनाये, छापेखाने स्थापित किये, व्याकरण और शब्दकोषों का निर्माण किया। पदारियों के इस कार्य ने परोक्ष रूप से भारतीय शिक्षित वर्ग के हाथ में प्रचार और शिक्षा का क्रांतिकारी साधन प्रस्तुत किया। राष्ट्रीय जागरण ने लोकभाषाओं में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन को बहुत उत्तेजन दिया। पाश्चात्यों ने उन्हे केवल लोक भाषा के महत्व का ज्ञान ही नहीं कराया, बल्कि उन्हें उसके लिए नये विचार और शैलियां भी प्रदान कीं। आधुनिक उपन्यास और कहानी के रूप को हमने पाश्चात्य देशों से ही ग्रहण किया। यही नहीं, पाश्चात्य देशों के रोमांटिकवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद, अस्तित्ववाद, मार्क्सवाद अनेक साहित्यिक आन्दोलन और शैलियां की भारतीय लोक भाषाओं के साहित्य में अभिव्यक्ति हुई। इससे भारतीय साहित्य समृद्ध हुआ और लोकशिक्षा सुलभ हुई।

वैज्ञानिक उन्नति. छटी शती तक वैज्ञानिक क्षेत्र में भारत संसार के प्रायः सभी देशों से आगे बढ़ा हुआ था। लेकिन मध्य युग में यहां वैज्ञानिक अनुसंधान लगभग बंद ही हो गये। १२०० वर्ष की जड़ता के बाद पाश्चात्य संस्कृति ने उसे जगाया और वैज्ञानिक उन्नति की ओर उसका ध्यान खींचा। राममोहन राय आदि नेताओं ने यह अनुभव किया कि पश्चिम की उन्नति का प्रधान कारण उसकी वैज्ञा-

निक प्रगति है। प्रारम्भ में सरकार की ओर से केवल चिकित्साशास्त्र और सिविल इंजीनियरिंग की शिक्षा शुरू की गई। १८७६ में महेन्द्रलाल सरकार ने 'वैज्ञानिक अध्ययन की भारतीय परिषद' की स्थापना की। पुनः भारतीयों ने वैज्ञानिक अन्वेषण में अपने को लगाया। भारतीय वैज्ञानिकों ने महत्वपूर्ण खोजें की और विज्ञान के क्षेत्र में विश्वव्यापी ख्याति प्राप्त की। १९११ में टाटा ने इंडियन इंस्टीट्यूट आफ साइंस की स्थापना की। हाल ही मे सरकार ने सारे देश में विभिन्न प्रयोगशालाओं की स्थापना की है। वैज्ञानिक उन्नति में पाश्चात्य शिक्षा का महत्वपूर्ण हाथ है।

चिकित्सा पद्धति. चिकित्सा के क्षेत्र में पाश्चात्य देशों ने हमें ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति प्रदान की। दिन पर दिन देश में ऐलोपैथिक चिकित्सा और पाश्चात्य शल्यक्रिया (Surgery) का प्रचार बढ़ता जा रहा है। हम तीव्र गति से विभिन्न रोगों के लिए पाश्चात्य औषधियों को अपना रहे हैं। यही नही, पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क ने सफाई और जन-स्वास्थ्य और रोगों के कारणों के सम्बन्ध में हमारी धारणाओं में आमूलचूल परिवर्तन ला दिये है।

कलाएं. ब्रिटिश शासनकाल के प्रारम्भिक काल में शासकों की उपेक्षा तथा शिक्षितो पर पाश्चात्य कला की चकाचौंध का गहरा असर होने से भारतीय ललित-कलाओं की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। किन्तु पाश्चात्य शिक्षा जनित राष्ट्रीय जागृति के आरम्भ ने भारतीयों का ध्यान कलाओं की ओर भी गया। भारत सरकार ने कलकत्ता, बम्बई, मद्रास तथा लाहौर में आर्ट्स स्कूल खोले। १९वीं शती में भारतीय कलाकार पर पाश्चात्य शैली हावी होगई। पिछली शदी के अन्त में रवि वर्मा ने पश्चिमी शैली में भारतीय कल्पनाओं को प्रकट किया। वर्तमान शती के प्रारम्भ में पुनः प्राचीन भारतीय चित्र कला के पुनरुज्जीवन का प्रयत्न हुआ। लेकिन शीघ्र ही सम्मिश्रण की प्रवृत्ति व्यक्त हुई। १९०३-४ में अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक नई चित्रण शैली का विकास किया जिसमे भारतीय और पाश्चात्य शैली का सुन्दर समन्वय हुआ। पिछले वीस सालों मे भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला पर पाश्चात्य शैली, विशेष कर फ्रासीसी कलाकारों का प्रबल प्रभाव पड़ा है। वास्तुकला (भवन-निर्माण) के क्षेत्र मे तो पाश्चात्य प्रभाव बहुत ही प्रबल है। सरकारी इमारतों और शहरी मकानों पर पाश्चात्य शैलियों की स्पष्ट छाप है। संगीत और नृत्य के क्षेत्र में, जहां एक ओर शास्त्रीय और लोकशैली के पुनरुज्जीवन की चेष्टा चल रही है, वहा दूसरी ओर विशेषकर सिनेमा के माध्यम से, पाश्चात्य संगीत और नृत्य शैली का भद्दा अनुकरण हो रहा है।

व्यापारिक मनोरंजन. पाश्चात्य संस्कृति के प्रवेश से पहले कला और मनोरंजन दोनो ही भारतीय सामुदायिक जीवन का अभिन्न अंग थे। सामूहिकता, अनामता और व्यापारिक वृत्ति का अभाव उनकी विशेषताएं थीं। वह केवल आनन्द

या पूजा के उपादन थे। किन्तु पाश्चात्य सभ्यता के प्रवेश ने, जहां हमारी उत्पादन प्रणाली को प्रतियोगिता और मुनाफावृत्ति पर खड़ा कर दिया, वहां उसने कला और मनोरंजन को भी क्रय-विक्रय और मुनाफे का साधन बना दिया। व्यापारिक मनोरंजन में सिनेमा प्रधान है। सिनेमा पाश्चात्य संस्कृति की देन है। सिनेमा के सामने भारतीय लोक-मनोरंजन पराभूत हो गया है। सिनेमा के रूप में हमने पाश्चात्य देशों से केवल मनोरंजन का एक नया साधन ही नहीं अपनाया, बल्कि हम कथावस्तु, संगीत और अभिनय में भी बहुत अशों में उनका अनुकरण कर रहे हैं।

जीवनरीति पर पाश्चात्य प्रभाव. जहां कि पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क और संघात ने हमारी महत्वपूर्ण संस्थाओं को प्रभावित किया है, वहां उसने हमारे यात्रा, खान-पान, वेश-भूषा, साज-सज्जा बर्तन, फर्नीचर, रोजाना प्रयोग की वस्तुएं और शिष्टाचार पर भी कम प्रभाव नही डाला है। नगरों में तो यह प्रभाव बहुत ही प्रबल है और दिन पर दिन इसकी प्रबलता बढ़ती ही मालूम होती है। रेल, मोटर, केक, बिस्कुट, सिगरेट, सोडावाटर, कोको, टाई, कोट, पतलून, क्रीम, पाउडर, टूथ पेस्ट, मेज, कुर्सी इत्यादि वस्तुओं का प्रयोग हम पाश्चात्य प्रभाव से ही सीख रहे हैं। हमारे घरों की सजावट, केश विन्यास, फैशन, पत्र लिखने की शैली, अभिवादन की रीति, सभी क्षेत्रों में हम पाश्चात्य प्रभावों को देख सकते हैं।

बहुमुखी प्रभाव. उक्त विवेचना से हम इस बात का अनुमान लगा सकते है कि भौतिक और अभौतिक, दोनों क्षेत्रों मे पाश्चात्य संस्कृति ने भारतीय संस्कृति में एक असाधारण रूपान्तरण ला दिया है। यह रूपान्तरण किसी क्षेत्र में अधिक है तो किसी में कम। पर अल्पाधिक रूप में इसने सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क ने केवल हमारी संस्कृति मे वृद्धि ही नही की, बल्कि उसमें सामाजिक परिवर्तन उपस्थित किया है। जहा इस सम्पर्क ने अनेक बार कुछ वर्गों के लिए भीषण संकटों, कठिनाइयों और दबावों की सृष्टि की है, वहा इसने भारत को अन्तर्राष्ट्रीय जगत से संयुक्त कर दिया है और उसके मानसिक क्षितिज का विस्तार किया है।

। ५ ।

भारत में जातिभेद और जातिवाद

जातिभेद भारतीय सामाजिक संगठन की एक अद्वितीय विशेषता है। यह भेद केवल हिन्दुओं तक ही सीमित न होकर, भारत के मुसलमानों में भी विद्यमान है। यही नहीं, हिन्दू धर्म के सम्पर्क मे आने वाली आदिम जनजातियां (Tribal Communities) भी इसे ग्रहण कर रही है।

भारतीय समाज में मनुष्य की जाति जन्म से ही निर्धारित हो जाती है। बहुत अंशों में वह समाज में उसके पद (Status) और भूमिका को निर्धारित करती है, उसके खाने-पीने, साथ हुक्का पीने और विवाह करने का क्षेत्र निश्चित करती है। उसके पड़ौस और रोज के सम्पर्कों को प्रभावित करती है। संसार के किसी भी अन्य देश मे इस प्रकार की कठोर व्यवस्था विकसित नहीं हुई।

भारत में जाति प्रथा किस प्रकार विकसित हुई यह एक अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न है। सौ साल की निरन्तर गवेषणा के बाद भी विद्वान इसके मूल के सम्बन्ध म किसी एक मत पर नहीं पहुंच सके है। जितने विद्वान हैं, उतने ही सिद्धान्त उन्होंने प्रस्तुत किए है। प्रो० घुरे इसे गंगा के कांठे में पली ब्राह्मणों द्वारा विकसित हिन्द-आर्य संस्कृति की संतान मानते है। बैनरजी ने इण्डो-योरोपियन लोगों के आदिम अन्धविश्वासों में इसके मूल को खोजा है; नेस्फील्ड ने श्रम-विभाजन के आधार पर इसकी व्याख्या की है, हट्टन ने प्रागद्रविड़ आदिम जातियों के 'माना' की कल्पना मे इसके उद्‌गम को देखा है, इब्टसन ने एक जनजाति के फिरदर जीवन को छोड़कर स्थिर पेशों को ग्रहण करने की विकासवादी प्रक्रिया में इसके दर्शन किए है; शरतचन्द्र राय के अनुसार जाति व्यवस्था इन्डो-आर्य वर्णव्यवस्था और प्रागद्रविड़ जनजातीय व्यवस्था और द्रविड़ लोगों का पेशेवार वर्ग व्यवस्था के अन्तःमिश्रण का परिणाम है; रिजले ने हिन्द-आर्यो के आवास द्वारा हुए नस्ली मिश्रण की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। वास्तव में इनमें से किसी भी सिद्धान्त को पूर्णतः संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। फिर भी जातियों के निर्माण में नस्ली तत्त्व पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न जातियों के शारीरिक लक्षणों और रक्त वर्गों की परीक्षा से यह ज्ञात हुआ है कि जिन जातियों में, द्रविड़ रक्त की अधिकता है, उन्हें भारतीय समाज के श्रेणी विभाजन मे निम्न स्थान प्राप्त हुआ है।

विभिन्न परिस्थितियों और कारणों ने भारत में विभिन्न प्रकार के जातीय

वर्गों का विकास किया है और आज भारत में जातियों की संख्या ३००० के करीब पहुंच गई है।

भारत की बहुत सी जातियों का मूल विभिन्न जन या कबीलों में है। अनेक कार्यों या पेशों के आधार पर बन गई हैं,कई जातियां विभिन्न सम्प्रदायों या पंथों से सम्बद्ध हैं,कई विभिन्न जातियों के अन्तःमिश्रण से बनी है, कइयों का राष्ट्रीय मूल है, तो कई निष्क्रमण द्वारा विकसित हुई हैं और कई रिवाजों के परिवर्तन से पैदा हुई है।

जाति का पद निर्धारण (Caste Ranking) और अन्तर्जातीय सम्बन्ध (Inter-Caste Relations). एक समाजशास्त्री की हैसियत से हमें जातिभेद के मूल से अधिक, उसके विद्यमान व्यावहारिक रूप में अधिक दिलचस्पी है। अतः जातिभेद के इस पहलू पर ही हम संक्षेप में विचार करेंगे। इस सम्बन्ध में विभिन्न जातियों का पद निर्धारण और अन्तर्जातीय सम्बन्धों का अध्ययन महत्वपूर्ण है। इन्हें समझनेके लिए हाल ही में पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एक गांव में, जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों की लगभग बराबर जनसंख्या थी, लेखक द्वारा की गई गवेषणा का संक्षिप्त सारांश कुछ उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

हिन्दुओं में सामान्यतः ब्राह्मण को सबसे ऊंचा माना जाता है। फिर भी विभिन्न जातियों के सापेक्ष पद के सम्बन्ध में विभिन्न जातियों, यहा तक कि एक ही जाति के विभिन्न सदस्यों, के बीच कोई एकमतता नहीं है। मुसलमान कुछ जातियों की श्रेष्ठता स्वीकार करने में प्रायः एकमत है। अधिकांश जातियों अथवा उनके कुछ सदस्यों में, अपने को, या कम-से-कम अपने से कुछ ऊंची समझी जाने वाली जाति की तुलना मे, श्रेष्ठ समझे जाने की एक सामान्य प्रवृत्ति है। प्रायः सभी जातियां जाति अहंकार से ग्रसित हैं। अधिकांश लोग निश्चित रूप से यह बताने में असमर्थ हैं, कि कौन जाति असल में ऊंची है और क्यों? यद्यपि अधिकांश लोग तथाकथित बहुत ऊंची या बहुत नीची जातियों की ओर निर्देश कर सकते है, लेकिन वह बीच की जातियों के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं बता सकते।

मुसलमानों में जाति भेद

वह मुस्लिम जातियां जिनके, नाम या कार्य हिन्दुओं से मिलते हैं, प्रायः भारतजन्मा मुस्लिम जातियों में हिन्दू जातियों के बराबर दर्जा रखती हैं। किन्तु मुसलमान अरबी मूल की जातियों को सबसे ऊंचा मानते हैं। इसका कारण उनका पैगम्बर और उनकी भूमि से निकट सम्बन्ध है। इसके बाद साम्राज्य स्थापित करनें की सामर्थ्य को महत्व दिया गया है। उदाहरण के लिए, सय्यद का स्थान सबसे ऊंचा है, क्योंकि वह पैगम्बर के सीधे वंशज हैं। उसके बाद कुरैशियों का नम्बर आता है, क्योंकि वह पैगम्बर की लड़की फातिमा की संतान हैं। उससे

कुछ नीचे अंसार है, जो कि मदीना के रहने वाले है और जिन्होंने सबसे पहले पैगम्बर की मदद की थी। उसके बाद हिजाज के मुसलमान आते हैं, जिन्हें कि शेख लोगों के बाद मुसलमान बनाया गया। पठान उन्हीं में से है।

उक्त अरब-जन्मा जातियों के बाद उन मुस्लिम जातियों का स्थान है, जिन्होंने किसी समय हिन्दुस्तान पर हकूमत की। यह राजपूत, पठान और मुगल है। इन जातियों का दर्जा बहुत कुछ बराबर है और यह आपस में कई बार शादी-ब्याह भी कर लेती है।

हकूमत करनेवाली जातियों के बाद मुसलमान त्यागी जैसी जातियों का स्थान है, जो कि ब्राह्मण से मुसलमान बनी हैं। यह एक रोचक तथ्य है कि मुसलमानों में ब्राह्मणों को राजपूतों से नीचा दर्जा मिला। इसका यही कारण कहा जा सकता है कि इस्लाम ने उनके हाथ से धार्मिक कृत्यों का एकाधिकार छीन लिया और उनकी धार्मिक पवित्रता को नष्ट कर दिया। इनके बाद जाट, गाढ़ा, गूजर, आदि काश्तकार जातियों का नम्बर आता है। उसके नीचे हिन्दुओं की भांति क्रमशः ही जुलाहा, बढ़ई, लुहार, सक्का, तेली, नाई, धोबी, आदि दस्तकार जातियों का स्थान है। फकीर, शेख ढपालिया, भंगी और डोम क्रमशः मुसलमानों की निम्नतम जातियां है।

ऊंच नीच का आधार. मुसलमानों मे पैगम्बर और उनके देश से सम्बन्ध, साम्राज्य स्थापित करने की क्षमता सबसे श्रेष्ठ जाति होने के प्रमुख मापदण्ड हैं। खान-पान और धार्मिक पवित्रता का उनके यहां कोई महत्त्व नही है। आर्थिक निर्भरता और स्वाधीनता महत्वपूर्ण तत्त्व है। काश्तकार जातियां दस्तकार जातियों की तुलना में इसलिए श्रेष्ठ है कि वह आत्मनिर्भर है, जब कि दस्तकार अपनी जीविका के लिए काश्तकारों पर आश्रित है। साफ और गंदे काम भी जातीय स्थिति को प्रभावित करते हैं। तेली, धोबी और भंगियों और डोमों को इसलिए नीचा माना जाता है कि वह गंदा और नीचा काम करते है।

अन्तर्जातीय सम्बन्ध. मुस्लिम जातियों में नामों, अभिवादन की रीति और खान-पान के कोई अन्तर नहीं है। ऊंचे से ऊंची जाति का मुसलमान, सिवाय डोम या भंगी को छोड़ कर, हरएक मुसलमान के साथ खा-पी सकता और हुक्का पी सकता है। उठने-बैठने मे जरूर छोटी-बड़ी जात का खयाल रखा जाता है। एक समान उम्र के लोगों में अक्सर बड़ी जाति के सदस्य सिरहाने की तरफ बैठते हैं। मुसलमानों के अन्तर्जातीय सम्बन्ध मुख्यतः विवाह के क्षेत्र में ही प्रबल रूप में देखे जाते है। हिन्दुओं की तरह ही इनमें अन्तर्जातीय विवाह बहुत निन्दनीय समझे जाते हैं। एक ऊंची जाति का आदमी कुछ नीची जाति की मुसलमान औरत से तो शादी कर सकता है, लेकिन इससे उल्टा नहीं होता। इस प्रकार अनुलोम विवाह

(Hypergamy) कुछ अंशों में प्रचलित है।

हिन्दुओं में जाति प्रथा

ऊंच-नीच का आधार. जैसा कि हम पीछे संकेत कर चुके हैं कि विभिन्न जातियों में आपसी श्रेष्ठता सिद्ध करने का कोई सर्वथा निश्चित सिद्धान्त नही है, फिर भी लेखक ने अपनी गवेषणा में विभिन्न जातियों के स्थान का क्रम सामान्यत: इस प्रकार पाया। सबसे ऊंचे ब्राह्मण है। खान-पान की पवित्रता और धार्मिक श्रेष्ठता इसका मुख्य कारण है। उसके बाद राजपूतों का नम्बर है। यद्यपि इन लोगों में पुरुष बकरें आदि का बेहतर समझा जाने वाला शिकार खा लेते है, फिर भी प्राचीन काल में इनके राजा होने के कारण इनका स्थान ऊंचा है। इसके बाद वैश्य या बनियों की विभिन्न जातियों का नम्बर आता है। उनके नीचे जाट, अहीर आदि काश्तकार जातियां है। उनके बाद बढ़ई, लुहार, सुनार, झीवर, सिगानी आदि दस्तकार जातियां है। जोगियों की स्थिति विवादास्पद है। कोई उन्हे ब्राह्मणों के बाद तो कोई दस्तकारों से भी नीचे मानते है। दस्तकारो के भी दो वर्ग हैं—एक, साफ और ऊंचा जो काम करते और शुद्ध, अर्थात् शाकाहारी भोजन करते है। दूसरे जो माँसाहारी है और कुछ गंदा और नीचा काम करते हैं। बढ़ई, लुहार झीवर पहले वर्ग मे आते है। कुम्हार, गडरिया, भड़भूजा, नाई, और धोबी क्रमश: निम्नवर्ग के दस्तकार है। हिन्दुओ में सबसे नीचे अछूत जातियां है, जो कि गंदे काम करती है और अपवित्र भोजन खाती है। इनमे चमारों का स्थान ऊंचा है। उसके बाद भंगी, गंदीले, सियानी और बंगाली है। इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दुओ में जाति की उच्चता को निर्धारित करने वाले तत्त्वो मे धार्मिक श्रेष्ठता, आर्थिक स्वाधीनता या पराधीनता, खानपान की शुद्धता और जाति के कार्य की सफाई और गंदगी प्रमुख है। मांसाहारियों की तुलना मे शाकाहारी प्राय: ऊंचे हैं। मांसाहारियों में भी क्रमश: बकरा खानेवाले मछली और कछुआ, मरे पशु या गीदड़ का मांस खानेवाले से श्रेष्ठ है। बाल काटने या कपड़े धोने की तुलना मे लकड़ी या लोहे का काम करने वाले दस्तकार अधिक ऊंचे है।

अन्तर्जातीय सम्बन्ध. मुसलमानों की तुलना मे हिन्दुओं के अन्तर्जातीय सम्बन्ध बहुत ही जटिल हैं। कुछ जातियों के हाथ का पानी पिया जा सकता है पर खाना नहीं खाया जाता। उदाहरण के लिए, ब्राह्मण झीवर, जो कि माँसाहारी है, के हाथ का पानी पी सकता है, खाना नहीं खा सकता। इसी प्रकार, कुछ जातियो के हाथ से पक्का-घी में पकाया हुआ खाना खाया जा सकता है पर कच्चा पानी में पकाया हुआ नही। पानी के बारे में भी सरल नियम नहीं है। एक जाति के हाथ से कुंए पर डोल द्वारा पानी पिया जा सकता है, पर उसके घड़े से नहीं।

शादी-विवाह तो एक दूसरी जाति में सर्वथा वर्जित हैं। गावों में हुक्का भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सब उपजातियों का अलग हुक्का होता है, जिसे कि उस जाति के सदस्य ही मुंह लगाकर पी सकते है। हुक्का जाति की एकता भातृत्व का प्रतीक और उसके सदस्यों के सम्मिलन का केन्द्र है। अतः जब जाति के किसी सदस्य को कोई दंड देना होता है, तो उसका हुक्का पानी बंद कर दिया जाता है। हुक्के का गिराना जाति-दंड-व्यवस्था का मुख्य अस्त्र है। इक्का-दुक्का बराबरकी उपजातियां एक साथ हुक्का पी लेती है पर कइयों को केवल नली निकाल कर ही हुक्का दिया जा सकता है। कइयों को केवल साफी के साथ चिलम दी जा सकती है। पर अति निम्न जातियों के लिए यह भी निषिद्ध है। आज से कुछ साल पंहले अन्त-र्जातीय सम्बन्धों मे छूत का भी विचार था। लेकिन अब प्रायः उत्तर भारत में एक उच्च जाति के लोग निम्न जाति के लोगों को छू सकते है।

जाति प्रथा मे परिवर्तन. पिछले बीस सालों में अन्तर्जातीय सम्बन्धों में विभिन्न स्थानों में अल्पाधिक गति से महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। छूत-छात का विचार प्रायः समाप्त हो गया है। एक जाति के अपनी से निम्न जाति के हाथ के कच्चे, पक्के भोजन और पानी ग्रहण करने के विचार बहुत कुछ शिथिल होते जा रहे है। यद्यपि बहुत ऊंची और बहुत नीची जातियों में यह विचार अभी भी काफी प्रबल है। फिर भी विवाह के क्षेत्र में जाति का आज भी बोल बाला है। अनेक जातिया अपने पैतृक पेशों को छोडने पर मजबूर हो रही हैं। अनेक जातियां मांसाहार, मदिरापान या गंदे समझे जाने वाले कामों को छोड़कर, अपने को ऊंचा उठाने का प्रयास कर रही है। महत्वपूर्ण राजनैतिक, कानूनी और आर्थिक परिवर्तनों और जाति प्रथा के विरुद्ध निरन्तर प्रचार का इन परिवर्तनों मे मुख्य हाथ हैं। अन्य सामाजिक संस्थाओं की भांति जाति की एक परिवर्तनशील संस्था है। उसका रूप निरंतर बदलता रहा है।

जातिवाद और अस्पृश्यता

भारतीय समाज के उग्र जाति भेद ने लगभग पांच करोड़ की जनसंख्या को दलित जातियों की श्रेणी में डाल दिया है। इन जातियों की अनेक अनर्हताएं है। इन्हें प्रायः सड़कों पर चलने, कुओं से पानी भरने, मन्दिरों में दर्शन करने, शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश पाने में पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। दलित जातियां सभी प्रान्तों में दलित नहीं हैं। विभिन्न प्रदेशों में एक ही जाति की विभिन्न कठिनाइयां, अयोग्यताए और अधिकार हैं। जहां पर कि उनकी संख्या कम है वहां यह कठिनाइयां और अयोग्यताएं अधिक उग्र हैं। जहां पर कि विभिन्न जातियां प्रायः एक नस्ल की है, या जहां पर उच्च जाति के सदस्यों की संख्या अधिक नहीं है, यह अयोग्यताएं कम है। और फिर एक जाति दलित या शोषित हो सकती है,

पर उसके कुछ सदस्यों को समाज में पर्याप्त ऊंचा स्थान प्राप्त होता है। तथाकथित हरिजनों के बारे में यह सत्य है।

पिछले पैंतीस सालों में दलित जातियों या हरिजनों की स्थिति को सुधारने के अनेक प्रयत्न हुए हैं। पहले आर्यसमाज ने इस दिशा में कुछ कार्य किया। १९२० के बाद से महात्मा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अस्पृश्यता निवारण को अपने रचनात्मक कार्यक्रम का अंग बना लिया। १९३७ मे कांग्रेसी सरकारों के स्थापित हो जाने के बाद हरिजनों की उन्नति, शिक्षा तथा सामाजिक बाधाओं को दूर करने की ओर अधिक ध्यान दिया गया। भारत के नये संविधान में अस्पृश्यता को एक अपराध घोषित किया गया। १९५४ में केन्द्रीय सरकार ने अस्पृश्यता अपराध कानून पास किया।

पिछले दस सालों में जहां अस्पृश्यता निवारण की दिशा में पर्याप्त प्रगति हुई, वहा इस काल मे जातिवाद (Castism) की समस्या ने पर्याप्त गंभीर रूप धारण कर लिया है। डा० श्रीनिवास ने इस तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है, "जाति प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त हमारे राष्ट्रीय जीवन में बुरी तरह घर कर गया है। सभी ने, यहां तक कि हमारे नेताओं ने भी, इसे मौनरूप में स्वीकार कर लिया है। मंत्रिमंडलों मे हर एक प्रमुख जाति का प्रतिनिधित्व होना जरूरी है। यही सिद्धान्त हमारी प्रांतीय राजधानियों से लौटकर हमारी गांव पंचायतों में पहुंच गया है। हर एक मिनिस्टर के पास अपनी उपजाति में से एक सेक्रेटरी का लेना जरूरी है। मैसूर में तो इस सिद्धान्त का पालन केवल सरकारी नियुक्तियों मे ही नहीं, बल्कि स्कूलों के प्रवेश में भी होता है। हमारे यहां मतदान जाति के आधार पर किया जा रहा है। लोग अपने प्रतिनिधियों से अपनी जाति की सहायता के लिए याचना करने में कोई अनैतिकता नही समझते। बिना जाति की इस शक्तिशाली संस्था के आज हम प्रांतीय राजनीति को नहीं समझा सकते।"

आज से पहले विभिन्न जातियों के सम्बन्ध ठेके (Contract) से निर्धारित न होकर पद (Status) द्वारा निर्धारित होते थे। अतः एक जाति के सदस्यों में अधिक एकता संभव नही थी। पाश्चात्य शिक्षा ने विभिन्न जातियों में एक नई चेतना उत्पन्न की। उसके पढ़े लिखे सदस्यों ने जातीय अखबार निकाले, जातीय संस्थाएं और छात्रावास स्थापित किए तथा जातीय सम्मेलनों का आयोजन किया। इस प्रकार पढ़े-लिखे लोगों में सरकारी नौकरियों के लिए छीना-झपटी शुरु हुई। यह व्यक्तिगत संघर्ष धीरे-धीरे सम्पूर्ण जातियों में फैलने लगा। वास्तव में यह एक जाति के शिक्षित वर्ग की दूसरी जाति के शिक्षित वर्ग से प्रतियोगिता थी। हरिजनों की शिक्षा ने उनमें अपनी विद्यमान स्थिति के प्रति असंतोष जागृत कर जातिवाद की भावना को और भी प्रबल किया।

१९५५ का जातिवाद और अस्पृश्यता सैमीनार. जातिवाद और अस्पृश्यता की समस्याओं पर विचार करने के लिए १९५५ के अंत में एक महत्वपूर्ण सम्मेलन डा० श्रीनिवास की अध्यक्षता में दिल्ली में बुलाया गया। जातिवाद और अस्पृश्यता निवारण के सम्बन्ध मे इस सम्मेलन ने कुछ महत्वपूर्ण सिफारिशें की और विचार व्यक्त किये, जिनका कि सारांश हम नीचे रहे हैं:—

१. २ अक्टूबर, महात्मा गांधी के जन्मदिन पर राष्ट्रीय भातृत्व दिवस मनाया जाय। उसमे ऐसे कार्यक्रम रखे जायें, जिसमे विभिन्न जातियों को एक दूसरे के पास आने का मौका मिले। गावों में दिवाली, दशहरा और होली जैसे त्योहारो का अन्तर्जातीय भातृत्व को बढ़ाने में उपयोग किया जाना चाहिए।

२. सम्मेलन की यह राय है कि जाति दिन पर दिन हमारे सार्वजनिक और व्यक्तिगत जीवन पर व्याप्त होती जा रही है। बालिग मताधिकार ने इस बुराई को और भी बढ़ावा दिया हं और इस बुराई के लक्षण हम जाति के आधार पर चलाई गई गृह-समितियां, सामाजिक संगटनों, दान, क्लबों इत्यादि में भी दिखाई देते है।

३. चूंकि जाति अपने सदस्यो के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित करती है, अतः केवल इसके विरुद्ध प्रचार करके हम बहुत आगे नहीं बढ़ सकते। इसलिए यह आवश्यक है कि हम आर्थिक विकास और कल्याणपरक राज्य के लक्ष्य की ओर बढ़ने के साथ-साथ उन उपयुक्त साधनों का विकास करें, जो कि इन कार्यों को अपने हाथ में ले सके।

४. धर्म जातिवाद का समर्थन नही करता और जातिवाद एक अमानवीय संस्था है जिसके शीघ्र-से-शीघ्र उच्छेद के लिए पूर्ण प्रयत्न होना चाहिए।

५. चूंकि पिछड़ी हुई जातियां ही हमारे यहां सबसे अधिक निर्धन है, अतः अगली पंच-वर्षीय योजना मे उनकी आर्थिक अवस्था की उन्नति की विशेष व्यवस्था होनी चाहिए।

६. दूसरी पंचवर्षीय योजना में दस्तकारियों के पुनरुद्धार में इस बात की पूरी सावधानां बरती जानी चाहिए कि किन्ही भी दस्तकारियों को प्रोत्साहन किसी प्रकार पेशेगत जातियों को पैतृक (Hereditaıy) रूप प्रदान न करे। यह तभी हो सकता है जब कि प्रशिक्षण संस्थाएं इस बात का आग्रह करें कि किसी दस्तकारी की शिक्षा के लिए सभी जातियों के लोग लिये जायें।

७. सम्मेलन की यह राय है कि केवल कानून बनाकर, जब तक कि उसे संगठित और प्रभावशाली जनमत का समर्थन प्राप्त न हो, सामाजिक बुराइयों का प्रतिकार नहीं किया जा सकता। इसके लिए इस बुराई पर आक्रमण करने के लिए राज्य को प्रचार के सभी साधनों का उपयोग करना चाहिए। इसमें उसे सार्वजनिक शिक्षा, हरि-कथा, भजन-कीर्तन-मंडली आदि परम्परागत साधनों को भी प्रयुक्त

करना चाहिए। स्कूलों में जानेवाले बच्चों को हरिजन संतों की जीवनियों से भी परिचित कराना चाहिए। प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों की पुस्तकों की अच्छी तरह जांच होनी चाहिए कि उनमें जाति के पक्ष में किसी प्रकार का प्रचार तो नहीं है।

८. अलग बस्तियों में जातियों का पृथक्करण गावों और शहरों में जाति भेद की सबसे बड़ी बुराई है। इसलिए नए शहरों और गावों के निर्माण और आयोजन में इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा जांना चाहिए कि यह पृथक्करण किसी प्रकार भी कायम न रहे।

९. जातीय क्षात्रावास जातिवाद को जन्म देने और बढ़ाने के दूषित अड्डे ह। अतः सार्वजनिक या सार्वभौम क्षात्रवासों को प्रोत्साहिन देना चाहिए और हरिजन विद्यार्थियों को उनमें प्रवेश करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

१०. हरिजनों को अधिकाधिक शिक्षा प्राप्ति की सुविधाएं प्रदान की जाना चाहिएं। इस बात के विरुद्ध आवश्यक कदम उठाया जाना चाहिए कि यह स्कूल उन्हें पृथक् तो नही रखते।

११. मन्दिरों कुओं, होटलों और सार्वजनिक स्थानों में हरिजनों के प्रवेश को सुनिश्चित करने के लिए ठोस कदम उठाना जरूरी है। छोटे अधिकारियों को अस्पृश्यता एक्ट के बारे मे पूरी जानकारी होनी चाहिए और हरिजनों को अपने कानूनी अधिकारों की रक्षा के लिए मुफ्त कानूनी सहायता की सुविधा दी जानी चाहिए।

१२. यह तथ्य बहुत ही चिन्ताजनक है कि हमारे यहां हाथ से मैला उठाने का गंदा काम स्थाई रूप से कुछ जनसंख्या को अछूतों की श्रेणी में डाल देता है। अतः सम्मेलन जोरदार शब्दों में सिफारिस करता है कि जहां कहीं भी नयी गृह-योजनाएं चालू हों, वहां राज्य भंगी के विना प्रयोग होने वाली टट्टियों (Scavenger-freelavtries) की व्यवस्था करे तथा विद्यमान खुली टट्टियों को भी उसमें परिर्वतित करे।

१३. सम्मेलन इस बात पर जोर देना जरूरी समझता है कि विभिन्न जातियों के बीच जन्मजात नस्ली विभिन्नताएं हो सकती हैं, किन्तु उससे हम किसी जाति की जन्मजात श्रेष्ठता सिद्ध नही कर सकते। किसी जाति के पिछड़े होने में उस जाति के सदस्यों को विकास का आवश्यक सुविधाओं से वंचित रखा जाना ही मूल कारण है। अतः पिछड़े हुए वर्गों को तब तक वह विशेषाधिकार और और रियायतें देना जरूरी है जब तक कि यह उच्च वर्गों के बराबर दर्जे पर न आजाये।

१४. सम्मेलन का सुझाव है कि सरकार और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं को, जब तक कि यह एकदम अनिवार्य ही न हो, अर्जियों और अन्य सरकारी कागजों में व्यक्ति की जाति नहीं लिखवानी चाहिए। स्कूलों में बच्चों के भर्ती करते समय उनके नाम के आगे जाति या कुल के नाम नहीं दर्ज किये जाने चाहिएं।

: ६ :

हिन्दू और मुस्लिम विवाह

शादी या ब्याह की रस्म, हिन्दू और मुसलमान दोनों में, संतानोत्पत्ति और एक स्त्री और पुरुष के स्थायी रूप से साथ रहने के लिए एक आवश्यक चीज है। इस रस्म को पूरा करके ही वह समाजशास्त्र की भाषा मे एक केन्द्रीय परिवार का निर्माण करते है। भारत के विभिन्न प्रांतो के हिन्दू-मुसलमानों और उनकी विभिन्न जातियो में विवाह की रस्मों में पर्याप्त अन्तर पाये जाते है। उनमे अनेक स्थानीय और बाह्य, आर्य और अनार्य, हिन्दू और मुस्लिम रिवाजों का सम्मिश्रण है। भारत के अधिकांश मुसलमानो ने, जिनके पूर्वज भी हिन्दू थे, अपने पुराने रिवाजों को भी इस्लामी विवाह में मिला लिया है। फिर भी हिन्दू और मुसलमानों के प्रधान विवाह-संस्कार और उसके मौलिक उद्देश्यो और कानूनी स्थिति में बुनियादी भेद है। हिन्दुओं मे सप्तपदी और मुसलमानों में निकाह विवाह-संस्कार का आचार है। हिन्दुओं में धार्मिक दृष्टि से विवाह एक पवित्र और अविच्छिन्न सम्बन्ध है, जब कि मुसलमानो मे वह एक प्रकार का ठेका है, जिसे कि स्त्री-पुरुष विशेष शर्तों के अनुसार समाप्त कर सकते है।

आगे हम उत्तर भारत के उच्च जातीय हिन्दुओं और साधारण मुसलमानों में प्रचलित विवाह की रस्म का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। इससे प्रकट होगा कि इन्होनें अपने विवाह की रस्मों में कितनी जन-जातीय और स्थानीय प्रथाओं को सम्मिलित कर लिया है और कहीं-कही उनमें कितनी अधिक समानता है। यहां पुनः यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हिन्दू-मुस्लिम-विवाह-प्रथाओ का कोई सर्वथा निश्चित रूप नहीं है। उसके रूप मे परिवर्तन आते रहे है और आते रहेगे। आगे जो विवरण हम दे रहे है वह केवल कुछ वर्गों में वर्तमान अवस्था में ही लागू होता है।

हिन्दू विवाह

लड़की के माता-पिता या उनके बुजुर्ग सम्बन्धी या मित्र उपयुक्त लड़के की खोज करते है। उसके लिए अपनी ही जाति का और अपने गोत्र, प्रवर और पिंड से भिन्न होना आवश्यक है। लड़के के पिता, या उसके न होने पर लड़के के संरक्षक के सामने वह प्रस्ताव रखते हैं। यदि वह रजामन्दी जाहिर करे तो पंडित द्वारा लड़के-लड़की की जन्मपत्री मिलवाई जाती है। यदि जन्मपत्री में ग्रह अनुकूल

हों और रुपए-पैसे के लेने-देने के बारे में सब बातें तय हो जायें, तो लड़के वाला अपनी स्वीकृति दे देता है ।

रोपना. इसके बाद शुभ दिन देखकर लड़की वाले नाई या ब्राह्मण के हाथ लड़के वाले के यहां नारियल, जनेऊ, सुपारी, सवा रुपया और लड़के के लिए कुछ कपड़े भेज देता है । इसे रोपना कहते है ।

गोद भरना. इसके बाद किसी शुभ दिन लड़की का पिता या भाई लड़की के लिए कुछ कपड़े और जेवर लेकर जाते हैं। लड़की उन्हें पहनकर उपस्थित होती है, तब वह उसकी गोद में कुछ फल और छुहारे रखकर लड़की को देखता है। इस रस्म को गोद भरना कहते हैं । इस रस्म का उद्देश्य यही हो सकता है कि लडकी खूब संतान उत्पन्न करे ।

सगाई या लगन. इसके बाद किसी शुभ दिन लड़की वाला अपने रिश्तेदार और दोस्तों को बुलाकर, पंडित से विवाह का शुभ दिन निकलवाकर, एक लगन या टेवा लिखवाता है जिसमें लड़की वाला लड़के और लड़की के ३,५ या ७ दिन के हलद बांध निश्चित करके भेजता है और विवाह की तारीख की सूचना देता है । इस लगन की चिट्ठी को तथा साथ में मिठाई, फल, थाल, बर्तन, जूता, छतरी और लड़के के लिए कुछ कपड़े लेकर नाई और ब्राह्मण लड़के वाले के यहां जाते है। लडके वाला अपने यहां लोगों को बुलाकर पंडित से गणेश-पूजन करवाता है, लड़का चीज ग्रहण करता है. प्रणाम कर उन्हें घर की बड़ी औरतों को दे देता है । लड़के वाले लौटते समय लड़की वाले नाई के हाथ लड़की के लिए कुछ जेवर, कपड़ा और चोटी भेजते है, जिससे वापसी पर नाइन लड़की की सिरगुदी करती है ।

बान बंधाई. विवाह से ३, ५ या ७ निश्चित दिन पहले लड़के और लड़की के यहां क्रमशः उनके नाई और नाइन तेल, हल्दी, मेंहदी, बेसन, आटे के उबटन से लड़के-लड़की की मालिश करते है। मालिश होने के बाद लड़के-लड़की को चौक मे पूर्व या उत्तर की ओर मुंह करके एक चौकी पर बैठाया जाता है। वहां लडके और लड़की के माता-पिता और बड़े सम्बन्धी दोनों हाथों में दूब की नाल लेकर उसे तेल हल्दी और मेंहदी में डुबाकर उनके पैर, घुटने, कंधे और माथे पर ३, ५ या ७ बार छुआते है । इसे तेल बांध कहा जाता है। इसके बाद वह उनके ऊपर वार-फेर करते हैं, जिसका पैसा नाइन को मिलता है ।

मढ़ा. विवाह के एक दिन पहले लड़के और लड़की दोनों के यहां मढ़ा नाम की रस्म होती है, जिसमें रिश्तेदार और परिचितों को कच्चे या पक्के भोजन की दावत दी जाती है । उसी दिन लड़के और लड़की के हाथ में सुहागिन लोहे का एक छल्ला जिसमें एक कौड़ी और एक सुपारी लिपटी होती है वाधती है । इसे कंगना कहते है ।

भात. इसी दिन लड़की के मामा उसके लिए कुछ जेवर, पलंग, कपड़ा, बर्तन रुपए और मिठाई लाता है। जेवरों में नथ और बिछुए आवश्यक हैं। यह नथ और बिछुए लड़की विवाह-संस्कार के समय पहनती है और पलंग विदा के समय उसे दिया जाता है। लड़की की मां, लड़की के मामा-मामी का टीका करती है और उन्हें रुपया और लड्डू देती है। इसके बाद मामा-मामी विवाह संस्कार के समय तक घर में आ नही सकते।

बरात. मढ़ा समाप्त होने पर लड़के वाले लड़की वाले के यहां एक दल बनाकर रवाना होते हैं। लड़की के नगर या गांव की सीमा पर बरात पहुंचने पर लड़की वाले के आदमी बरात की अगवानी करते हैं। बरात में प्रायः पुरुष और बच्चे होते हैं। पर पंजाब के खत्रियों, गुजरात के सारस्वत ब्राह्मणों आदि में स्त्रियां भी बरात में जाती है। अगवानी के समय शरबत पिलाया जाता है। लड़की वाला अपने समधी को इस समय १ या १०१ रुपए दुशाला या कुछ और सामान भी देता है, जिसे बाग कहा जाता है। इसके बाद लड़की वाले बरात को न्योतने आते है।

शाम के समय बाजे-गाजे के साथ बरात निकलती है और लड़की वाले के घर के सामने जाकर रुक जाती है। यहां स्त्रियां लड़के का स्वागत करती हैं। लड़की की मां लड़के की आरती उतारती है और लड़की लड़के के गले में और लड़का लड़की के गले में वरमाला डालते है।

फेरे. इसके बाद निश्चित मुहूर्त पर विवाह का असली संस्कार होता है, जिसे फेरे कहते है। लड़की के घर के चौक में केले के पेड़ों से एक मण्डप बनाया जाता है। उसके चारों ओर आम के पत्तों और छुहारों की बन्दनवार लगी होती है। बंगाल में लड़के-लड़की के बैठने के स्थान पर सुन्दर अल्पना-चावल की पिट्ठी के डिजाइन बनाते है। लड़का मंडप में अपने निश्चित स्थान पर पूर्व या उत्तर की ओर मुंह करके बैठता है। यहां पर पण्डित उससे गणेश, नवग्रह और कुलदेवता की पूजा कराता है। लड़की मामा द्वारा दिये गये नथ और बिछुए तथा माथे पर एक 'सुहाग पूड़ा' जिसे बहनोई लाता है, धारण किए होती है। उसे मामा गोद में उठा कर लड़के के दाहिनी ओर बिठा देता है।

कन्या-दान. इसके बाद लड़की का पिता हाथ में चावल-पानी लेकर संकल्प पढ़ता हुआ लड़की का हाथ लड़के के हाथ में देता है और लड़के-लड़की की चादर में हल्दी और पैसे बांध उनके पल्ले के कोने मिलाकर गांठ बांध देता है। इसके बाद वह कन्यादान के दोष की निवृत्ति के करने के लिए ब्राह्मण को एक गौ या उसके स्थान पर कुछ रुपये का दान करता है।

सप्तपदी. उसके बाद लड़का-लड़की मंडप की अग्नि के चारों ओर दाहिने से बायें कहीं पर ४ कहीं पर ७ फेरे लेते हैं। उसके बाद वह दोनों एक-दूसरे को

पति-पत्नी के रूप में स्वीकृति देते हैं। दूसरे फेरे के बाद लड़की-लड़के के बाँई ओर बैठ जाती है ।

शिलारोहण. इसके बाद लड़का लड़की दोनों एक सिल पर पैर रखते हैं और इस बात की घोषणा करते हैं कि वह अपने वचनों पर चट्टान की तरह दृढ़ रहेंगे। इस प्रकार विवाह की मुख्य रस्म समाप्त हो जाती है।

अन्तर्पट. इसके बाद लड़के-लड़की के चारों ओर ओट कर दी जाती है और वह घी से भरी एक कांसे की कटोरी में अपना-अपना मुंह देखते हैं। इस रस्म को अन्तर्पट कहते हैं। यहां घी, ५ आने, कुछ कपड़ा महाब्राह्मण को नजर के रूप में दिया जाता है।

उक्त रस्म पूरी होने पर स्त्रियाँ लड़के को घर के अन्दर ले जाती है। वहां सालियाँ लड़के के जूते छिपा लेती है। सवा रुपया और गोला देने पर वह वापिस किये जाते है। इस मौके पर स्त्रियां गाली गाती हैं। कुछ जगह इसके बाद लड़के-लड़की को नहलाया जाता है। लड़की वाला लड़के को बदलने के लिए कपड़े देता है।

बरी का सामान. अगले दिन सवेरे लड़के वाले के यहा से कुछ फल, छोटे बच्चों के लिए खिलौने, जेवर और कपड़ा लड़की वाले को भेजा जाता हैं। इसे बरी का सामान कहते है।

बटेरी मिनसना और पलंग. लड़की वाला दहेज के सामान को फैलाकर उसे पानी से मिनसता हैं। इसे बटेरी मिनसना कहते है। इसके बाद उस सामान का जिसमें मामा द्वारा दिया गया पलंग भी होता है, प्रदर्शन किया जाता है। वर-वधू को उस पलंग पर बैठा दिया जाता है। लड़की के मां-बाप और उनकी ओर के बड़े उस पलंग के सात बार परिक्रमा करते हुए वर वधू के हाथ मे धान देते है।

विदा. इसके बाद लड़के वाले लड़की को लेकर विदा होते है। उस समय लड़की अपने परिजनों से गले मिलती है और प्रायः पर्याप्त दुःखांत दृश्य उपस्थित होता है।

कंगना खुलना. लड़के के घर पहुंचने पर वर वधू एक-दूसरे के हाथ का कंगना खोलते हैं। इस कंगने को एक अंगूठी और एक रुपया मिलाकर लड़के की भाभी उछालती है और तब वर-वधू दोनों उसे ऊपर पकड़ने की कोशिश करते है। इस प्रकार सात बार किया जाता है। और वर-वधू की हार जीत निश्चित होती है।

मुंह दिखाई. वर के घर में वर पक्ष के बड़े पुरुष और स्त्री लड़की को देखने आते हैं। वह उनके पैर छूती है और वे उसे रुपये और आशीर्वाद देते है। उसे सूई कहते हैं।

गौना या चाल्ला. कभी विवाह के समय ही और कभी-कभी विवाह के कई साल बाद भी गौने की रस्म होती है, जिसमें लड़का स्थायी रूप से लड़की को पत्नी के रूप में अपने घर ले आता है और वह इस प्रकार नये परिवार की स्थायी सदस्य

बन जाती है।

इस प्रकार हिन्दू-विवाह की मुख्य रस्में समाप्त होती हैं।

मुस्लिम विवाह

मुख्य रस्म को छोड़कर भारत के मुसलमानों की शादी के रिवाज अपने हिन्दू पड़ौसियों से बहुत मिलते-जुलते हैं। हालांकि इस्लाम के असर से उनमें महत्व-पूर्ण परिवर्तन हो गये हैं। उनके यहां भी लड़की वाला लड़के को तालाश करता है। वह भी अपनी ही जाति का लड़का देखता है, हालांकि वह बहुत-से उन लोगों से रिश्ता तय कर सकता है, जो कि हिन्दुओं में सपिण्ड की श्रेणी में आते हैं। उनके यहां गोत्र या प्रवर-जैसा भी कोई विचार नहीं है।

शुरू की बातचीत हो जाने पर, लड़की वाले की तरफ से नाई लड़के वाले के लिए चिट्ठी ले जाता है और इस तरह मंगनी की रस्म पूरी होती है। उसके बाद लड़के वाले की तरफ से उसका बाप या भाई लड़की की गोद भरने जाते हैं। वह अपने साथ अंगूठी, मिठाई आदि सामान ले जाते हैं। इस रस्म को निशानी भी कहा जाता है।

शादी से पांच-सात दिन पहले लड़के-लड़की के यहां बान बंधने की रस्म शुरू हो जाती है। लड़के-लड़की दोनों के रोज उबटना मला जाता है। शादी से एक दिन पहले मढ़ा होता है। उसी दिन ब्यानिया सेहरा बाधता है और न्यौछावर मंजूर करता है। सेहरा बांधकर दूल्हे को किसी मशहूर मजार पर ले जाते हैं और वह वहां पर इबादत करता है।

इसके बाद लड़की वालें के मुकाम के लिए बारात रवाना होती है, जिसमें सिर्फ मर्द होते हैं। पहुंचने के बाद एक मुकर्रर वक्त पर लड़का, बाराती और लड़की वाले के आदमी लड़की वाले के घर या मस्जिद में जमा होते हैं। वहां मौलवी आता है। वह लड़की के किसी रिश्तेदार को अन्दर भेजता है, जो कि लड़की को लड़के के बारे में बताता है। उसकी मजूरी लेकर वह बाहर आता है और कहता है कि लड़की ने उसे इस बात का हक दिया है कि वह मेहर यानी दहेज देने वाले आदमी के साथ उसकी शादी तय कर दे। उसके बाद मौलवी मेहर की रकम कागज पर लिखता है जो कि तलाक होने की हालत में लड़की को मिलती है। इस पर लड़के और लड़की या उसके नुमाइन्दे के दस्तखत लेकर वह कुरान की कुछ आयते पढ़ता है। इस तरह निकाह या विवाह संस्कार पूरा हो जाता है। निकाह के बाद छुहारे बांटते हैं।

अगले दिन दहेज दिखाया जाता है, लड़की की विदा होती है, बखेर की जाती है, ताकि लड़का-लड़की आफतों से महफूज रहें।

लड़के के घर पहुंचने पर एक बकरे की कुरबानी दी जाती है। साथ

सुहागिनें लड़की को खीर खिलाती हैं, उसकी मुंह दिखाई होती है और उसकी गोद में एक बच्चे को भी रखा जाता है। मुसलमानों की शादी के साथ या उसके बाद में गौने की रस्म की जाती है।

जहां हिन्दू और मुसलमानों की विवाह की रस्मों में कुछ बाह्य समानताएं है वहां मौलिक भेद भी हैं। जैसा कि हम जिक्र कर चुके है कि हिन्दुओं में विवाह एक अविच्छिन्न बंधन है, मुसलमानों में वह एक ठेका या समझौता है, जिसें समाप्त किया जा सकता है। मुस्लिम कानून तलाक की इजाजत देता है, जब कि वर्तमान हिन्दू धर्म इसके विरुद्ध है। फिर भी जब कि इस्लाम के कानून में पर्याप्त कठोरता निश्चितता और स्थायित्व है, हिन्दुओं मे ऐसा कम है। किसी समय हिन्दू समाज में विशेष अवस्थाओं में तलाक की अनुमति थी। मध्यकाल मे उसे बन्द कर दिया गया। हाल के विशेष विवाह कानून और हिन्दू विवाह कानून ने इस दिशा में महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित किये है। अतः इनका सक्षिप्त परिचय भी आवश्यक है।

नये विवाह कानून

पिछले दो वर्षों में भारतीय समाज की विवाह-पद्धति मे मौलिक परिवर्तन करने वाले दो महत्वपूर्ण कानून पास हुए है : (१) १९५४ का विशेष विवाह कानून, (२) १९५५ का हिन्दू विवाह कानून।

१९५४ का विशेष विवाह कानून. यद्यपि यह १८७२ के विशेष विवाह कानून का संशोधित रूप है, किन्तु इसके कई संशोधन सर्वथा नवीन और क्रान्तिकारी है।

विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच विवाह और तलाक की व्यवस्था. इस कानून का उद्देश्य हिन्दू-मुसलमान-ईसाई आदि विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच विवाह की व्यवस्था करना है। इसकी मुख्य विशेषता तलाक की सुविधा तथा इस कानून के बनने से पहले और पीछे होने वाले विवाहों को इसके अनुसार रजिस्ट्री कराकर तलाक पाने की सुविधा देना है। किसी पक्ष के व्यभिचारी होने, तीन वर्ष तक अकारण परित्याग करने, सात वर्ष या इससे अधिक अवधि का कारावास पाने, क्रूरता, कम-से-कम तीन वर्ष के असाध्य पागलपन, दूसरे को छूने से लगने वाली यौन व्याधि अथवा कुष्ठ से पीड़ित होने, सात वर्ष तक कोई सूचना न मिलने, कानूनी पार्थक्य की आज्ञा के बाद दो वर्ष तक सहवास न करने, दाम्पत्य अधिकारों की पुनः प्राप्ति की आज्ञा के बाद दो वर्ष तक इस अवस्था की अवहेलना करने तथा पति के बलात्कारादि जघन्य अपराधों का अपराधी होने पर दूसरा पक्ष अदालत से तलाक प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त इस कानून की एक महत्वपूर्ण व्यवस्था पारस्परिक सहमति द्वारा तलाक की है।

तलाक की शर्तें. इसके लिए निम्न शर्तें आवश्यक हैं : तलाक का आवेदन पत्र दोनों पक्षों द्वारा दिया जाना चाहिए, इसमें तीन कारणों का निर्देश होना चाहिए : (क) वे एक साल या इससे अधिक समय से पृथक् रह रहे हैं, (ख) वे इकट्ठा रहने में असमर्थ हैं (ग) उन्होंने विवाह-विच्छेद करने के लिए आपस में समझौता कर लिया है। इस आवेदन पत्र देने के एक वर्ष बाद भी यदि दोनों पक्ष अदालत से सम्बन्ध-विच्छेद चाहते हैं और अपना तलाक का आवेदन पत्र नहीं लौटाते तो उनका तलाक अदालत अपनी जांच के बाद स्वीकृत कर सकती है।

तलाक की इन व्यवस्थाओं के करते हुए भी इसका दुरुपयोग रोकने तथा विवाह संस्था को सुरक्षित रखने की दृष्टि से यह विधान किया गया है कि विवाह के बाद पहले तीन वर्ष के भीतर तलाक का कोई आवेदन पत्र नही दिया जा सकता और तलाक पाने के एक वर्ष बाद तक पुनर्विवाह नही हो सकता । इन प्रतिबन्धों के कारण पारस्परिक सहमति से तलाक प्राप्त करने वाले पति-पत्नी भी पांच वर्ष से पहले दूसरा विवाह नहीं कर सकते ।

१९५५ का हिन्दू विवाह कानून व गोत्र जाति और सपिण्डता की शर्तों में ढिलाई. इसके अनुसार हिन्दू विवाह में गोत्र के नियम की पाबन्दी या जाति के बन्धन का पालन आवश्यक नही रहा। सपिण्डता की नई व्याख्या के अनुसार सपिण्ड संबन्धियों की संख्या कम कर दी गई है।

एक विवाह और तलाक की व्यवस्था. बहु विवाह को निषिद्ध ठहराते हुए एक विवाह का नियम बनाया गया है। इस कानून द्वारा पहली बार हिन्दू विवाह में तलाक की व्यवस्था की गई है। निम्न नौ कारणों के आधार पर पति या पत्नी तलाक के लिए आवेदनपत्र दे सकता है : किसी पक्ष का व्यभिचारी होना, हिन्दू धर्म छोड़कर अन्य धर्म ग्रहण करना, निरन्तर तीन वर्ष से असाध्य रूप से पागल, कोढ़ी या दूसरे के सम्पर्क द्वारा होने वाली असाध्य यौन-व्याधि से पीड़ित होना, संन्यासी होना, सात वर्ष से जीवित होने का समाचार न मिलना, कानूनी पार्थक्य की आज्ञा के बाद दो वर्ष तक सहवास न करना, दाम्पत्य अधिकारों की पुनः प्राप्ति के आदेश के बाद दो वर्ष तक उसका पालन न करना ।

तलाक की अवांछित वृद्धि को रोकने के लिए इस कानून में भी यह व्यवस्था है कि विवाह के पहले तीन वर्षों में कोई आवेदन पत्र नही दिया जा सकता और तलाक का आवेदन पत्र स्वीकृत होने के एक वर्ष के भीतर नया विवाह नहीं किया जा सकता । हिन्दू विवाह कानून में पारस्परिक सहमति द्वारा तलाक की व्यवस्था नहीं रखी गई। इस कानून का भी दुरुपयोग होने की संभावना बहुत कम है क्योंकि तलाक की शर्तें बांड़ी कड़ी हैं और विवाह करने के लिए तलाक पाने वाले व्यक्तियों को कम से कम पाँच वर्ष की दीर्घ प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ।

: ७ :

हिन्दू और मुस्लिम संस्कार

संसार के सभी उन्नत और अनुन्नत समुदायों में व्यक्ति के जीवन के कुछ अवसरों और घटनाओं को बहुत महत्वपूर्ण पवित्र या रहस्यपूर्ण माना जाता है और उस समय विशेष विधि-विधान और कर्मकाण्ड की व्यवस्था होती है। गर्भाधान, जन्म, युवावस्था का आगमन, विवाह, मृत्यु ऐसी ही महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं। हिन्दुओं में यह संस्कारों के रूप में विकसित हुए हैं। सामाजिक जीवन पर धर्म की गहरी छाप होने के कारण, उन संस्कारों का धार्मिक महत्व है। ईसाइयों का बपतिस्मा, मुसलमानों का खतना ऐसे ही संस्कार कहे जा सकते हैं। आगे हम कुछ संक्षेप में कुछ प्रमुख हिन्दू और मुस्लिम संस्कारों का विवरण दे रहे है

हिन्दू संस्कार

सामान्यतः हिन्दू शास्त्रों के अनुसार हिन्दुओं के दस मुख्य संस्कार गिनाए गए हैं। उनकी संख्या के बारे में विभिन्न शास्त्रकार एक मत नहीं है। गौतम, अंगिरस और आश्वलायन जैसे अधिकारियों में उस विषय पर मतभेद है। पर दस प्रमुख संस्कारों को सभी मानते हैं। हिन्दुओं में विवाह, अर्थात् परिवार का निर्माण एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। अतः यह संस्कार विवाह से शुरू होते हैं और विवाह में ही समाप्त होते है। इस प्रकार विवाह, गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, निष्क्रमण, उपनयन और समावर्तन दस प्रधान संस्कार है। हिन्दुओं का विश्वास है कि इन संस्कारों के करने से शरीर शुद्ध होता है और इस लोक के पाप दूर होते हैं और परलोक में सुख की प्राप्ति होती है

१. विवाह. विवाह संस्कार का वर्णन हम पीछे कर चुके है अतः उसे दोहराने की जरूरत नहीं है। कन्यादान, सप्तपदी और शिलारोहण इसके मुख्य अंग है। इसमे सन्तानोत्पत्ति की इच्छा को लेकर आजन्म एक-दूसरे के प्रति निष्ठावान होने का निश्चय लेकर विवाह के पवित्र बन्धन में बंधते हैं।

२. गर्भाधान. जैसा कि नाम से प्रकट है, इस संस्कार का उद्देश्य स्त्री में गर्भ की स्थापना है। ऐसा विश्वास है कि विवाह के एकदम पश्चात् पति-पत्नी का संभोग ठीक नहीं है। यदि पति संभोग करना चाहता है, तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह उससे पहले उचित धार्मिक कृत्य सम्पन्न करे। संभोग से चार दिन पहले एक बलि देने का विधान है। इस बलि को कुशण्डिका कहते है। इसके अन्त

में पतिपत्नी के लिए प्रार्थना करता है कि ईश्वर उसे गर्भवती होने की क्षमता प्रदान करे और उसे अच्छी संतान प्रदान करे। निश्चित रात्रि को वह शय्या के बीच में पड़ी हुई उदम्बरा वृक्ष की लकड़ी को उठाता है, और फिर अध्यान्द नामक पौधे या घास के रस को अपनी पत्नी पर छिड़कता है। शायद उनका विश्वास था कि इससे संभोग की इच्छा बढ़ती है और उसका कोई और गुण भी है। इसके बाद पति-पत्नी संभोग करते है।

३. **पुंसवन.** पुंसवन का शाब्दिक अर्थ पुत्र की कामना है। यह संस्कार गर्भाधान होने के तीसरे और चौथे महीने के बाद में सम्पन्न किया जाता है। इसमें निश्चित दिन पर होम किया जाता है। माता को फूल की माला पहनाई जाती है और उसकी गोद में कछुए की खाल रखी जाती है। इसका कुछ जादू का असर समझा जाता है। माता को दही का सेवन कराया जाता है और नाक से पानी पिलाया जाता है। पति उसके पेट को छूता है। इसके अलावा पति-पत्नी के हाथ में जौ की एक बाली रखता है और उसे छूकर कहता है कि यह पुरुष लिंग है, यह उसके अण्डकोष हैं, इत्यादि जिससे कि माता के मन में सदा पुत्र का ही चित्र बना रहे।

४. **सीमंतोन्नयन.** इसका शाब्दिक अर्थ माता के बालों को ऊपर करना है। वास्तव में यह पत्नी के गर्भवती होने की सार्वजनिक और औपचारिक सूचना है। इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य गर्भवती स्त्री की इच्छाओं की पूर्ति है। यह संस्कार गर्भावस्था के पांचवें या छठे महीने में किया जाता है। माता के सिर के बालों की मांग निकालने के अतिरिक्त, इसमें उसे सजाया जाता है, उसके गले में उदुम्बरा पुष्प की माला पहनाई जाती है, इच्छित खाने के पदार्थ दिये जाते हैं और गाना-बजाना सुनाया जाता है।

५. **जातकर्म.** यह संस्कार बच्चा पैदा होने पर किया जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य नवागत शिशु का अभिनन्दन, पिता के व्यक्तिगत प्रभाव का उस पर स्थानान्तरण, उसको एक गुप्त नाम देना, नजर से रक्षा करना और उसके जीवन और स्वास्थ्य के लिए कामना है। प्रारम्भिक विधि की समाप्ति पर पिता बच्चे के शरीर को छूता है, दुर्भाग्य से उसकी रक्षा करने के लिए उसे सूंघता है और उसकी बुद्धि की वृद्धि के लिए उसके ऊपर सांस छोड़ता तथा उसकी समृद्धि के लिए प्रार्थना करता है। नजर से बचाने लिए बच्चे को स्नान कराया जाता है और उसके हाथ में एक सोने का तार बांधा जाता है। इसके पीछे यह जादुई भावना छिपी हो सकती है कि बच्चा सोने-जैसा ठोस और चमकीला हो। अन्त में पिता बच्चे के सिर के ऊपर एक पानी का घड़ा पकड़ता है और माता और जमीन की ओर मुंह करके फुसफुसाता है कि कुदृष्टि, दुर्जनों और भूत-प्रेतों से उसकी रक्षा करें। इसके

बाद माता बच्चे को शहद, मक्खन खिलाती है और स्तन पान कराती है। इस सम्बन्ध में यह दृष्टव्य है कि बच्चे को प्यारा नाम देने की प्रथा अभी भी जारी है, पर पहले जमाने में यह नाम केवल माता-पिता ही तक सीमित रहता था और बाहर के लोगों से छिपाकर रखा जाता है।

६. **निष्क्रमण.** इसका अर्थ बच्चे को घर से बाहर लाना है। जन्म के तीसरे या चौथे महीने में होम करने के बाद बच्चे को चांद और सूरज की रोशनी दिखाने के लिए बाहर लाया जाता है ताकि वह इनका अभ्यस्त हो सके। इसमें चाद और सूरज से यह प्रार्थना की जाती है कि यह बच्चे की दृष्टि को ठीक रखे।

७. **अन्नप्राशन.** बच्चे के लगभग छः या आठ महीने का होने पर, जब कि उसके दांत निकल आयें, अन्नप्राशन का आयोजन किया जाता है। इसमें होम और पूर्वजों की पूजा करने के पश्चात् दही, शहद, मक्खन, मछली और मांस का पका हुआ भोजन पहली बार बच्चे को खिलाया जाता है।

८. **चूड़ा कर्म.** इस संस्कार को मुंडन भी कहते हैं। इसका उद्देश्य बच्चे के मस्तिष्क की रक्षा और वृद्धि है। इसमे पहली बार बच्चे के सिर के बाल उतारे जाते हैं, पर एक चोटी छोड़ दी जाती है। इसमे पहले उसके सिर को गुनगुने पानी से धोया जाता है, मक्खन मला जाता है, फिर चुभने वाली कुशा घास बालों पर रखी जाती है और अंत में उस्तरे से बाल उतार दिये जाते है। बाद मे यह बाल गोबर में दबा दिए जाते है। बहुत-से लोग मुण्डन कराने के लिए गंगा के किसी तीर्थ पर जाते है, वह इन बालों को गंगा मे बहा देते है।

९. **उपनयन.** उपनयन का अर्थ बच्चे के हाथ को गुरु के हाथ में देना है। पांच या सात साल की अवस्था में पिता बच्चे को यज्ञोपवीत पहनाता है और वस्त्र, दंड और मेखला प्रदान करता है। संस्कार के समय बच्चा दोनों हाथ मिलाकर चुल्लू बनाकर उसमे पानी भरता है और इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करता है, अपनी दृढ़ता प्रदर्शित करने के लिए पत्थर पर पैर रखता है, बुद्धि की शुद्धि के लिए दही का सेवन करता है। उसके बाद पिता उसका हाथ गुरु के हाथ में दे देता है और अंत में गुरु उसे स्वीकार करता है। इस प्रकार बच्चा द्विजत्व को प्राप्त करता है। उपनयन संस्कार बच्चे के लिए शिक्षा के द्वार खोलता है। केवल उच्च वर्गों को ही इसका अधिकार है।

१०. **समावर्तन.** गुरुकुल की शिक्षा समाप्त होने पर यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। समावर्तन का अर्थ है घर लौटना। इसमें ब्रह्मचारी अपनी शिक्षा समाप्त करके घर लौटता था। यह आजकल के दीक्षांत का पुराना रूप कहा जा सकता है। इसकी मुख्य रस्म केवल स्नान ही थी।

व्यावहारिक रूप. ऊपर हमने संस्कारों के शास्त्रीय रूप का वर्णन किया है

जो कि शायद आज से दो हजार साल पहले प्रचलित रहा हो। इस दीर्घ काल में उसमें अनेक संशोधन और परिवर्तन हो गये हैं। कई संस्कार तो प्रायः छूट ही गये है, जैसे कि गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोनयन, समावर्तन आदि, और कइयों का रूप आश्चर्यजनक रूप से बदल गया है। इस परिवर्तित व्यावहारिक रूप का अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण और मनोरंजक है।

मुस्लिम संस्कार

हिन्दुओं की तरह मुसलमानों में भी कुछ महत्वपूर्ण संस्कार है, यद्यपि मुसलमान उन्हें संस्कार नही कहते। तुलनात्मक दृष्टि से उनका परिचय भी उपयोगी होगा। मुसलमानों के छः प्रमुख संस्कार कहे जा सकते है। वह है : गोद भरना, अजान, अकीका, खतना, बिसमिल्ला और निकाह।

१. निकाह. निकाह यानी विवाह संस्कार का जिक्र हम पीछे कर चुके हैं। किसी भी हिन्दू की तरह एक मुसलमान के जीवन में यह एक महत्वपूर्ण घटना है। यह व्यक्ति को सर्वथा एक नये जीवन में प्रवेश कराता है।

२. गोद भरना. स्त्री के गर्भवती होने के पांचवें-सातवें महीने मे उसकी गोद में सात किस्म के मेवे, गर्भवती स्त्रियों के लिए बनाई गई गोंद इत्यादि की विशेष पंजीरी और गुलगुले रखते है। पास में हिफाजत के लिए तलवार या छुरी भी रख देते है। जिस स्त्री का पहला बच्चा मर जाता है, वह यह संस्कार नहीं मनाती। गोद भरने का यह संस्कार समंतोन्नयन से मिलता-जुलता है।

३. अजान-तकबीर. बच्चा पैदा होने के बाद मौलवी को बुलाया जाता है, वह उसके दाहिने कान में अजान और बायें कान में तकबीर पढ़ता है। ऐसा माना जाता है कि इससे वह ओजस्वी बनता है और उसकी रक्षा होती है।

४. अकीका. जन्म के सात दिन बाद बच्चे के सिर के बाल उतारे जाते है। बालों के वजन की चांदी तोलकर गरीबों में तकसीम कर दी जाती है। लडके के जन्म पर दो और लड़की के जन्म पर एक बकरे या मेढे की कुरबानी दी जाती है। यह संस्कार हिन्दुओं के चूड़ाकर्म से मिलता-जुलता है।

५. खतना. जन्म के तीसरे दिन से लेकर बारह साल तक लड़के का खतना किसी भी समय किया जा सकता है। खतना मुसलमान बनने की निशानी समझी जाती है।

६. बिसमिल्ला. जब बच्चा चार साल, चार महीने, चार दिन का हो जाता है उस दिन उसे अच्छे कपड़े पहनाकर हाथ में कलम, तख्ती देकर मदरसे में कुरान शरीफ पढ़ने बैठाते हैं। उस दिन से वह शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश करता है। यह संस्कार हिन्दुओं के उपनयन संस्कार के समकक्ष कहा जा सकता है।

सहायक शब्द-कोष

Accommodation	समवस्थापन
Acculturation	पर-संस्कृति-ग्रहण
Adaptation	अनुकूलन
Adjustment	समीकरण
Adrenal Gland	अधिवृक्क-ग्रन्थि
Affective	रागात्मक
Aggregation	राशीकरण
Amphibian	उभयचर
Anatomy	शरीरशास्त्र
Animism	जड़पूजा, जीववाद
Anthropoid	मानवसम
Anti-social Individuals	समाजविरोधी व्यक्ति
Arbitration	पंचनिर्णय
Archeozoic	आदिजीवीय
Artificial Selection	कृत्रिम चुनाव
Assault	आक्रमण
Assimilation	सात्मीकरण
Association	समिति
Attributes	गुण
Aurignacian Culture	परवर्ती संस्कृति
Behaviour	व्यवहार
Behaviour Mechanics	व्यवहार यन्त्र, व्यवहार प्रक्रियायें
Bimodal Curve	द्विविध वक्ररेखा
Biological Nature	प्राणिक प्रकृति
Birth Rate	जन्म-दर
Blood Pressure	रक्तचाप
Bushman	झाड़वासी
Business Cycle	व्यवसाय चक्र
Calendar	पंचांग
Capitalism	पूंजीवाद

Caste	जाति
Chemistry	रसायनशास्त्र
Chromosomes	वर्णसूत्र
City	नगर
Civilization	सभ्यता
Clan	गोत्र, बिरादरी
Class	श्रेणी, वर्ग
Climate	जलवायु
Collective Behaviour	सामूहिक व्यवहार
Communal Society	साझी समाज
Communication	संवादवहन, संचार
Communism	साम्यवाद
Competition	प्रतियोगिता
Compromise	समझौता
Conciliation	मैत्रीस्थापन, प्रसादन
Conditioned Reflex	अभिसंहित उत्क्षेप
Conditioned Response	अभिसंहित प्रत्युत्तर
Conduct	आचार, व्यवहार
Cognitive	बोधात्मक, ज्ञानात्मक
Conative	क्रियात्मक
Conflct	विरोध
Confoımity.	अनुरूपता
Conservatism	रूढ़िवाद
Consumption	उपभोग
Control	नियन्त्रण
Convention	परम्परा
Conversion	मतपरिवर्तन
Co-operation	सहयोग
Cranium	कपाल, खोपड़ी
Crescive Institutions	स्वयं उद्भूत संस्थाएं
Crime	अपराध
Cross Fertilisation	मिश्रित फलीकरण
Crowd-Rhythm	भीड़-ताल

Cultural Environment	सांस्कृतिक वातावरण
Cultural Inertia	सांस्कृतिक जड़ता
Cultural Lag	सांस्कृतिक पिछड़न या मन्दता
Culture	संस्कृति
Culture-Complex	संस्कृति संकुल
Culture-Pattern	संस्कृति प्रतिमान
Customs	रिवाज,
Dark Ages	अन्धकार युग
Death Rate	मृत्यु दर
Delinquency	अपराधवृत्ति
Democracy	प्रजातन्त्र
Depressions	मन्दियां
Diffusion	प्रसार
Discrete Variations	विभिन्न परिवर्तन
Disorganisation	विघटन
Displacement	स्थानभ्रंश, स्थानच्युति
Division of Labour	श्रम विभाजन
Divorce	तलाक
Domestication of Animals	पशुपालन
Dominance	प्रभुता
Drives	चालक
Ecology	परिस्थितिशास्त्र
Economic Institutions	आर्थिक संस्थाएं
Economics	अर्थशास्त्र
Education	शिक्षा
Elections	निर्वाचन
Electorate	मतदाता, निर्वाचक
Electricity	विद्युत
Embryo	भ्रूण
Emigration	प्रवास
Emotions	संवेदन, भाव, उद्वग
Enacted Institutions	विधिगत संस्थाएं
Endogamy	अन्तर्विवाह

Environment	वातावरण
Eocene	प्रादिनूतन
Ethnocentricism	जात्यामान, जाति-अहंकार
Ethos	विशेषताएं,
Eugenics	सुप्रजननशास्त्र
Evolution	विकासवाद
Exogamy	बहिर्विवाह
Experience	अनुभव
Exponential Principle	व्याख्यात्मक सिद्धान्त
Extroversion	बहिर्मुखता
Family	परिवार
Farm population	कृषि जनसंख्या
Fascism	फासिस्टवाद
Feeble-minded	मन्दधी
Feral Man	[illegible] मनुष्य
Feudalism	सामन्तवाद
Folkways	जनरीति
Genes	वाहकाणु
Genotypes	प्रजननरूप
Geography	भूगोल
Gift	उपहार
Glandular system	ग्रन्थि संस्थान
Gonad Gland	प्रजनन ग्रन्थि
Gossip	गपशप, चर्चा
Government	सरकार
Group Habits	समूह स्वभाव
Group Interaction	समूह अन्तःक्रिया
Group Life	समूह जीवन
Group Marriage	समूह विवाह
Growth	वृद्धि
Habit	स्वभाव
Handicrafts	दस्तकारी
Heredity	आनुवंशिकता

Heritage	विरासत
Holocene	सर्वनूतन
Homo-Sapiens	मेधावी मानव
Hormones	अन्त:स्राव
Hospitality	आतिथ्य
Hypnosis	सम्मोहन
Hysteria	उन्माद
Ideas	विचार
Identification	एकरूपता
Ideologies	विचारधाराएं
Imitation	अनुकरण
Immigration	आवास
Inbreeding	अन्तर्जनन
Individual	व्यक्ति
Industrial Revolution	औद्योगिक क्रान्ति
Inferiority Feeling	हीन-भावना
In-Group	अन्त:समूह
Inheritance of acquired characteristics	अर्जित गुणों का वंशागम
Inhibition of Self	आत्म-निरोध
Inorganic	अनैन्द्रियिक
Insanity	पागलपन
Instinctive Behaviour	सहज व्यवहार
Instincts	सहजप्रवृत्ति
Institutions	संस्थाएं
Intelligence test	बुद्धि परीक्षा
Intermixture	अन्त:मिश्रण
Introversion	अन्तर्मुखता
Invention	आविष्कार
Isolation	पार्थक्य,पृथक्करण
Joint Stock Company	संयुक्तपूंजी की कम्पनी
Kinship	रक्तसम्बन्ध, बन्धुता, साकुल्य
Labour	श्रम

Language	भाषा
Law	कानून
Leadership	नेतृत्व
Learning	सीखना
Life-expectancy	जीवन-काल
Lineal	एकवंशीय
Localism	स्थानवाद
Mammals	स्तनधारी
Marginal Man	सीमान्त मनुष्य
Marital Status	वैवाहिक दर्जा
Marriage	विवाह
Matrilocal Residence	मातृस्थानीय निवास
Maturation	परिपक्वता
Mediation	मध्यस्थता
Medicine Man	ओझा
Megalopolis	वृहन्नगर
Mental Conflict	मानसिक संघर्ष
Mental Disorders	मानसिक विकृति
Metazoa	बहुकोषीय जीव
Migration	प्रव्रजन, निष्क्रमण
Monarchy	राजतन्त्र
Money	मुद्रा
Monogamy	एकविवाह
Monopoly	एकाधिकार
Monotheism	एकेश्वरवाद
Mood	मूड, तरंग
Mores	रूढ़ियां
Morphology	स्वरूपशास्त्र
Motivation	प्रेरण
Mutation	अन्त:परिवर्तन
Nationalism	राष्ट्रवाद
Natural Selection	प्राकृतिक चुनाव
Neighbourhood	पड़ौस

Neolithic Culture	नवपाषाण संस्कृति
Nervous System	नाड़ी-संस्थान
Normal Probability Curve	सामान्य संभावना वक्ररेखा
Occupational Survey	पेशेवार पड़ताल
Oligocene	आदिनूतन
Opposition	विरोध
Out-group	वहिर्समूह
Paleolithic Period }	पुरापाषाणकाल
Paleozoic	पुराजीवीय
Parothyroid	परचुल्लिका
Partnership	साझेदारी
Patrilocal Residence	पितृस्थानीय निवास
Patterns	प्रतिमान
Perception	प्रत्यक्षबोध
Personality	व्यक्तित्व
Phenotypes	आकृतिरूप
Pithecanthrope	वानर मानव
Pituitary Gland	पोषणिक ग्रन्थि
Pleistocene	प्रतिनूतन
Pliocene	अतिनूतन
Politics	राजनीति
polyandry	बहुभर्तृता
Polygyny	बहुभार्यता
Population	जनसंख्या
Prehistoric Communities	प्रागैतिहासिक समुदाय
Pressure Groups	प्रभावी समूह
Primary Group	प्राथमिक समूह
Primates	प्रधानक वर्ग
Professions	पेशे
Profit Motive	लाभप्रवृत्ति
Projection	परारोपण
Propaganda	प्रचार
Proterzoic	सुपुराजीवीय

Psychosis	चित्त विकृति
Public	जनता
Opinion	जनमत
Relations	सार्वजनिक सम्बन्ध
Utility	सर्वजनोपयोगी उद्योग
Punctuality	समयपालन
Race	नस्ल
Rationalisation	युक्तीकरण
Rebelliousness	विद्रोह वृत्ति
Reflex Arc	उत्क्षेप चाप
Reform	सुधार
Regions	प्रदेश
Relief Families	दानोपजीवी परिवार
Religion	धर्म
Repression	दमन
Response	प्रत्युत्तर
Role	भूमिका
Secondary Group	माध्यमिक समूह
Secularisation	ऐहिकीकरण
Sex	काम, लिंग
Shaman	शमन
Share-holder	हिस्सेदार
Slums	गन्दी बस्तियां, चाल
Social Class	सामाजिक श्रेणी या वर्ग
Control	नियन्त्रण
Distance	दूरी
Heritage	विरासत
Institutions	संस्थाएं
Interactions	अन्त:क्रियायें
Inventions	आविष्कार
Organisation	संगठन
Planning	आयोजन
Pressure	दबाव

'oblem	सामाजिक समस्याएं
·esses	प्रक्रियाएं
us	पद, दर्जा
:ation	समाजीकरण
gy	समाजशास्त्र
:isation	विशेषीकरण
s	जीव-जाति
	भाषण, बोली
rd of living	रहन-सहन का दर्जा
	राज्य
	पद, दर्जा
ssi n	आधीनता
ces	उप-नस्लें
ge	मताधिकार
n	सुझाव, संकेत
ty Feeling	श्रेष्ठ-भावना
aturalism	अतीन्द्रियवाद
ganic	अधिजैविक
y	सहानुभूति
c Materials	संयोगजन्य पदार्थ, मिश्रित पदार्थ
	टैबू वर्जित, निषद्ध
ological Advance	यान्त्रिक उन्नति
nology	यंत्रशास्त्र
d	चुल्लिका ग्रन्थि
xin	चुल्लिका स्राव
F arianism	समग्रशक्तिवाद, सर्वेसर्वावाद
tion	सहिष्णुता
	औजार
	टौटम, गणचिन्ह
	व्यापार
portation	यातायात, परिवहन
	जुड़वां
oyment	बेकारी

Value	मूल्य, मान्यता
Variability	अन्यथाकरण, विपर्यय
Vertebrate	पृष्ठवंशी
Vested Interests	निहित स्वार्थ